भारतीय नरेशों की हिंदी-सेवा

संपादक

डॉ. किरन पाल सिंह

भारतीय राजभाषा विकास संस्थान
देहरादून

प्रवर शिक्षाविद्,

डॉ॰ चन्द्रप्रकाश आर्य को,

सादर-सप्रेम —

किरनपाल

4.9.2020

डॉ॰ किरन पाल सिंह
196-दक्षिण वनस्थली.
मंदिर मार्ग, बल्लूपुर.
देहरादून-248001 (उत्तराखण्ड)
09456157016

भारतीय नरेशों की हिंदी-सेवा

संपादक
डॉ. किरन पाल सिंह

भारतीय राजभाषा विकास संस्थान
देहरादून

भारतीय राजभाषा विकास संस्थान

देहरादून

भारतीय नरेशों की हिंदी-सेवा

-: परामर्शदाता-मण्डल :-

डॉ. राज नारायण राय
डॉ. कौशलेन्द्र पाण्डेय
डॉ. माधव प्रसाद पाण्डेय
डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह 'संजय'
श्री पी. सी. विश्वकर्मा

संपादक
डॉ. किरन पाल सिंह

भारतीय राजभाषा विकास संस्थान
देहरादून
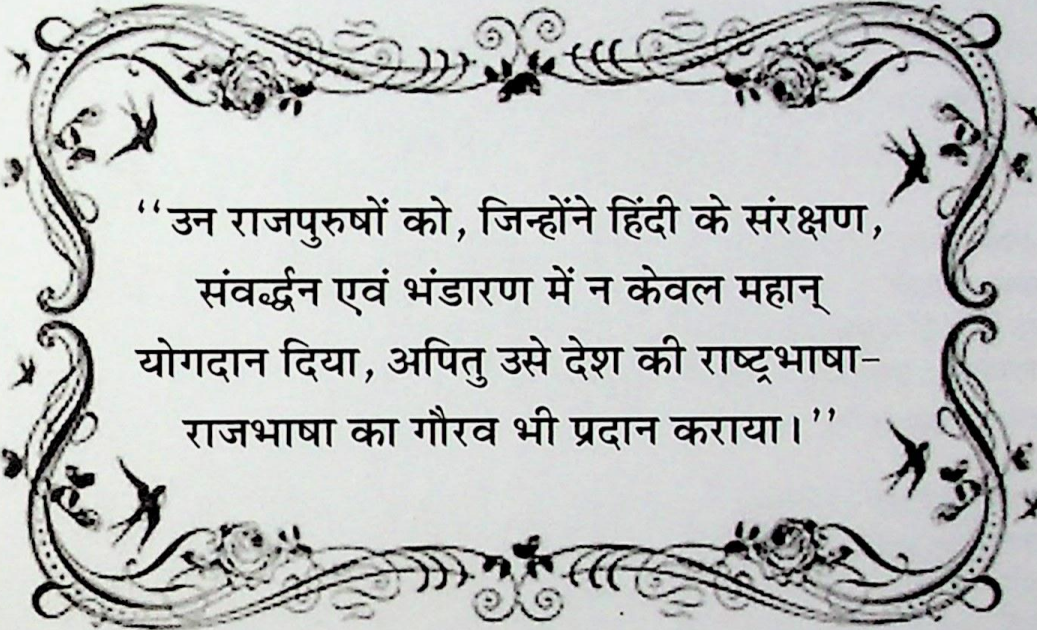
ISBN : 978-93-83651-04-7

मूल्य : निःशुल्क

प्रथम संस्करण : 2018

प्रकाशक : भारतीय राजभाषा विकास संस्थान
100/2, कृष्ण नगर
देहरादून-248001 (उत्तराखंड)

फोन : 0135-2753845

शब्द-संयोजन : समय साक्ष्य, देहरादून

आवरण एवं सज्जा : जी. एस. ग्राफिक्स, दिल्ली

मुद्रक : पारस एडवरटाइज एण्ड प्रिन्टर, दिल्ली-32

Bharatiya Nareshon Ki Hindi-seva
By Dr. Kiran Pal Singh

समर्पण

"उन राजपुरुषों को, जिन्होंने हिंदी के संरक्षण,
संवर्द्धन एवं भंडारण में न केवल महान्
योगदान दिया, अपितु उसे देश की राष्ट्रभाषा-
राजभाषा का गौरव भी प्रदान कराया।"
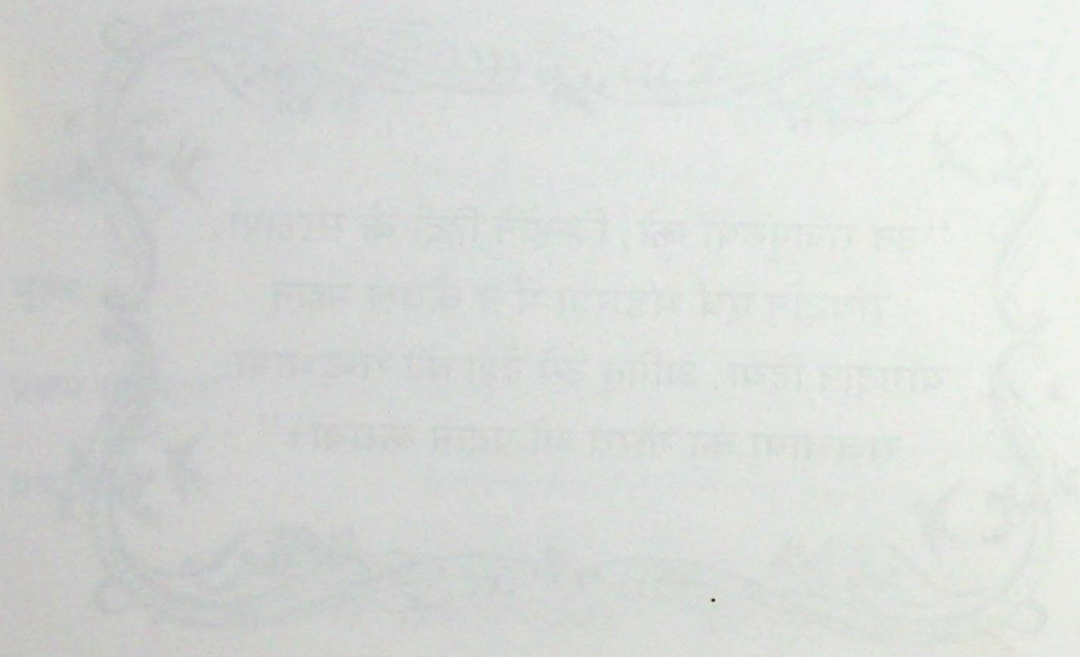
आमुख

"....अलि कली ही सौं बँध्यो आगे कौन हवाल।" किसी दोहे की इस पंक्ति ने एक भारतीय राजा का मन बदल कर उसे युद्ध में जाने की प्रेरणा दी थी। 'गीता' जैसे ग्रंथ युद्ध और शांति दोनों का संतुलित संदेश देते हैं। कभी रणभेरी, रणसिंगे तथा अन्य वाद्य-यंत्र सैनिकों में जोश-खरोश भरते थे और शत्रु के छक्के छुड़ाने के लिए 'आल्हा' जैसी लोक कृतियाँ-शौर्य गाथाएँ गाई जाती थीं। पृथ्वीराज चौहान को मोहम्मद गौरी पर तीर से प्रहार करने के लिए चारण पंक्तियाँ सृजित होती थीं। राजाओं के साथ युद्ध में जाने वाले ये भाट और वीर रस के कवि अथवा वाद्य-पुरुष किसी मनोविज्ञानी से कम नहीं थे। भूषण, केशव आदि कवि जहाँ राजाओं की प्रशस्तियों में पन्ने रंगते थे, वहाँ उन्होंने उन्हें प्रसन्न रखने-करने के लिए श्रृंगार भी खूब लिखा। एक विचित्र छटा बिखेरती थी उनकी भाषा-शैली। इन पंक्तियों के लेखक का कविता संग्रह 'लहू के फूल' तथा 'युद्ध के स्वर: प्रेम की लय', 'सैनिक समाचार' के सम्पादन करते हुए 'वार रिपोर्टर' के रूप में भारत-पाक युद्ध 1971 के दौरान तथा 'नाथुला' में भारत-चीन सीमा पर पत्रकारिता करते हुए रचित काव्य-कृतियाँ हैं। भारतीय सेना में मेजर-कर्नल तक के सिविल अधिकारी के पदों पर रहते हुए सत्तर के दशक में इन विषयों पर हिंदी-अंग्रेजी में मैंने खूब लिखा था। मेरा युद्ध-साहित्य गद्य-पद्य दोनों में फील्ड मार्शल मानेकशा, एडमिरल नन्दा आदि के इन्टरव्यू सहित कागजों पर उतर आया था। यह एक अलग वीर-गाथा है जो डॉ. किरन पाल सिंह के पॉयनर ग्रंथ 'भारतीय नरेशों की हिंदी-सेवा' की पांडुलिपि पढ़ते हुए मानस पटल पर उतर आई।

प्रतिष्ठित लेखक पं. क्षेमचन्द्र 'सुमन' जी का सानिध्य मुझे मिलता रहा है। उनके जीवन-काल में मेरी इस विषय पर भी यदा-कदा चर्चा होती थी। एक बार राज-परिवार के कवि-चित्रकार तथा भारत के पूर्व प्रधानमन्त्री विश्वनाथ प्रताप सिंह से भी साहित्यिक चर्चा के दौरान इस प्रकार के प्रश्न उभरे थे। अंग्रेजी में तो मेरा एक ग्रंथ 'द मार्शल कम्युनिटीज़ ऑफ इंडिया' अधूरा ही रह गया। अलबत्ता अपने अंग्रेजी ग्रंथों - The Dependence of India. Victory of Peace and Liberty' तथा Jawan The Pride of Nation' आदि में मेरा शौर्य-मन उभरा था।

मुझे प्रसन्नता है कि डॉ. किरन पाल सिंह ने विपरीत परिस्थितियों में एक ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न किया है। इस प्रकार के शोध-पूर्ण ग्रंथ का हिंदी जगत् में स्वागत होगा, मेरा विश्वास है। इस ग्रंथ में पराधीन भारत की 51 रियासतों के 75 राजा-महाराजाओं की काव्य-साधना का विवेचन-विश्लेषण निश्चय ही लेखक को शीर्षस्थ शोध-लेखकों में स्थापित करता है। मुझे खेद है कि मुझे देश-विदेश की यात्राओं तथा अन्य अनेक सारस्वत कार्यों में व्यस्तता के कारण नए ग्रंथ पढ़ने का अवसर नहीं मिल पाता। गत वर्ष 'ओपन हार्ट सर्जरी' के बाद स्वास्थ्य बिगड़ने लगा है। आयु का घटना-बढ़ना भी एक ध्रुव सत्य है।

इस शोधपरक विशद ग्रंथ के निर्माण पर माँ भारती के उपासक लेखक को हार्दिक साधुवाद! अभिनन्दन!

'कार्तिक पूर्णिमा'-2074 वि.सं.
4 नवम्बर, 2017
'अनुसंधान'
बी-4/245, सफ़दरजंग एन्क्लेव,
नई दिल्ली - 110029
मोबा - 09818202120

'पद्मश्री' डॉ. श्याम सिंह 'शशि'
पी-एच.डी., डी.लिट्. (हिंदी-अंग्रेजी)
पूर्व महानिदेशक-प्रकाशन विभाग (भारत सरकार)
कुलाधिपति-
अंतर्राष्ट्रीय रोमा संस्कृति विश्वविद्यालय,
बेलग्रेड, सर्बिया

संपादकीय

बचपन में राजा-महाराजाओं की कहानियाँ सुनी थीं। स्कूल-कॉलेज में शिक्षा-ग्रहण करते समय उन्हें पढा भी। ये सभी बहादुर और युद्ध-प्रिय होते थे। कुछ दृढ़-संकल्पी नरेशों ने देश-रक्षा के लिए विदेशी आक्रांताओं से युद्ध किए, कुछ प्रजापालक अपनी रियासत की स्वतंत्रता-अस्मिता को बचाए रखने के लिए लड़े, तो कुछ अति उत्साही अपने राज्य-विस्तार की लालसा के वशीभूत हो अपने ही देश-भाइयों से लड़ते-झगड़ते रहे। इनमें कौन विजयी हुआ और किसकी पराजय हुई, यह सब इतिहास के पन्नों पर अंकित है। इतिहास के पृष्ठों में यह भी अंकित है कि ये केवल योद्धा और कुशल प्रशासक ही नहीं, अपितु इनमें से कुछ अति संवेदनशील विद्यानुरागी तथा काव्य-कला में निपुण भी थे और अवकाश के क्षणों में अपने मनोभावों-अपनी अनुभूतियों को कागज पर उतारते रहते थे। ऐसे ही हिंदी-रचनाकार नरेशों का वर्णन, विवरण और विवेचन किया गया है इस ग्रंथ 'भारतीय नरेशों की हिंदी-सेवा' में।

प्राचीनकाल से ही देश राजा-महाराजाओं के सुकृत्यों से गर्वित रहा है। अतीत में भी अनेक साहित्यसेवी प्रजापतियों का उल्लेख मिलता है। उज्जयनी नरेश (अनुमानत: 550 ईसापूर्व) संस्कृत मुक्तककाव्य परंपरा के सुविख्यात कवि थे जिन्होंने 'नीतिशतक'; 'शृंगारशतक'; 'वैराग्यशतक' जैसी कालजयी कृतियों की रचना की। उनके पश्चात् उनके अनुज विक्रम संवत् के प्रवर्त्तक, सम्राट् विक्रमादित्य के शासनकाल में साहित्य-संस्कृति एवं विभिन्न ललित कलाओं ने अभूतपूर्व उन्नति की। संस्कृत की विश्वविख्यात 'मेघदूतम्'; 'कुमारसम्भवम्; 'रघुवंशम्' जैसी उत्कृष्ट रचनाओं के प्रणेता महान् कवि कालिदास उन्हीं के नौरत्न-मंडल के प्रमुख सदस्य थे। थानेश्वर और कन्नौज के अधिपति सम्राट् हर्षवर्द्धन (सन् 590-647), जिन्हें भारत का अंतिम सर्वाधिक प्रभावशाली हिंदू सम्राट् के रूप में जाना जाता है, एक उच्चकोटि के कवि तथा विद्वानों के संरक्षक थे। उन्होंने 'नागानन्द'; 'रत्नावली' तथा 'प्रियदर्शिका' नामक तीन श्रेष्ठ ग्रंथों की रचना की थी। 84 उत्तम ग्रंथों से संस्कृत साहित्य का संवर्द्धन करने वाले धार नागराधीश राजा भोज (सन् 1018-1060 ई.) का नाम तो इस शृंखला में लोकसमादृत है। अभिसूच्य है उस कालखण्ड में साहित्य की भाषा संस्कृत थी और हिंदी थी भविष्य के गर्भ में।

संकेत्य है कि साहित्यिक भाषा के रूप में हिंदी का प्रयोग हिंदी साहित्य के आदिकाल (वीरगाथाकाल) से माना जाता है, परंतु इस काल में जो रचनाएँ मिलती हैं वे चारण अथवा राज्याश्रित कवियों की हैं, किसी राजा या राजकुमार द्वारा रचित नहीं। हिंदी साहित्य में रचनाधर्मी नरेशों का प्रादुर्भाव हुआ है भक्तिकाल (सन् 1318-1643) से लेकर बाद के काल में। यह कहना अनुचित न होगा कि ईसा की बारहवीं शताब्दी से ही देश की राजनीतिक परिस्थिति में आकस्मिक तथा अकल्पनीय परिवर्तन आने शुरू हो गए थे। विदेशी आक्रांताओं के रूप में पहले यवन-मुसलमान आए। देशी राजाओं के आपसी वैमनस्य के कारण वे विजय प्राप्त करते चले गए और अपने-अपने राज्य स्थापित कर यहीं बस गये। तत्पश्चात् व्यापारियों के रूप में अँग्रेज आए और धीरे-धीरे उन्होंने समूचे देश पर अधिकार कर लिया। यद्यपि इस अंतराल में देश की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी, लेकिन आश्चर्यजनक रूप से देश की भाषाएँ और उनका साहित्य ऐसी जटिल परिस्थितियों में भी न केवल बचा रहा, वरन् उत्तरोत्तर पल्लवित और पुष्पित होता रहा और इसका श्रेय जाता है साधु-संतों-फकीरों, साहित्य-प्रेमियों तथा विशेष रूप से देशी राजा-महाराजाओं को।

15 अगस्त सन् 1947 को जब देश अँग्रेजों के चंगुल से आज़ाद हुआ तब देश में छोटी-बड़ी कुल मिलाकर 562 देशी रियासतें थीं जिन्होंने स्वतंत्र भारत के तत्कालीन गृहमंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल के अनुरोध पर अपने सभी अधिकार त्यागकर भारत में विलय होना स्वीकार किया। प्राप्त पुष्ट साक्षों के आधार पर इनमें-से बहुत सारी रियासतों की शासन व्यवस्था, शिक्षा आदि का माध्यम हिंदी भाषा थी, जिसका प्रयोग बहुत पहले से होता आ रहा था। उत्तर भारत के हिंदू राज्यों में हिंदी की सर्वत्र यही स्थिति

थी। ऐसे राज्यों के दरबार की ही नहीं, राजपरिवारों की भाषा भी हिंदी ही थी। हिंदी कवियों-साहित्यकारों को पूरा सम्मान-प्रोत्साहन और प्रश्रय प्राप्त था; और सबसे मुख्य बात यह थी कि अधिकांश भूपतियों सहित राजपरिवारों के सदस्य भी हिंदी-प्रेमी तथा हिंदी-सेवी थे – बड़ी सुंदर कविताएँ किया करते थे।

आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन' कृत 'दिवंगत हिंदी-सेवी' (दो खण्ड), ठाकुर शिवसिंह सेंगर का 'शिवसिंह सरोज, डॉ. नगेन्द्र संपादित 'हिंदी साहित्य का वृहत इतिहास', डॉ. राजकुमारी कौल कृत 'राजस्थान के राजघरानों की हिंदी-सेवा,' डॉ. शिववंश पाण्डेय कृत 'हिंदी एवं प्रमुख भारतीय भाषाओं के विकास में राजा-महाराजाओं का योगदान' सहित अनेक संदर्भ-ग्रंथों और हिंदी साहित्य के इतिहास का पारायण करने के उपरांत जो तथ्य उभर कर आए हैं, उनके अनुसार सन् 1359 में प्रथम कवि-नरेश के रूप में हमारे सामने आए हैं राजपूताना के गागरौन (झालावाड) के महाराजा प्रतापरावजी, जिन्होंने बाद में विरक्त होकर सन्यास धारण कर लिया और 'संत पीपाजी' के नाम से सुविख्यात हुए। तत्पश्चात्, सन् 1359 से लेकर सन् 1931 तक अर्थात् 572 वर्षों के अंतराल में लगभग 95-100 काव्य-रसिक राजाओं के नामों का उल्लेख मिलता है।

यद्यपि भारतीय नरेशों की हिंदी-सेवा विषय पर कार्य करने का कई वर्ष पूर्व ही मन बना लिया था- कुछ साक्ष्य और सामग्री भी एकत्रित कर ली थी, परंतु बढ़ते वार्द्धक्य और घटते स्वास्थ्य के कारण संकल्प पर संशय के बादल मँडराने लगे। ऐसी अशक्त स्थिति में समय भी अधिक लगता और कार्य की गुणवत्ता भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहती। अत: विषय की महत्ता को देखते हुए इसे स्थगित न कर, इसके निष्पादन की प्रक्रिया ही बदल दी गई जिससे यह कार्य शीघ्र तथा सुचारुरूप से सम्पन्न हो सके। तद्नुसार निर्णय लिया गया कि इन राजाओं के प्रभावित क्षेत्रों के विद्वान्-साहित्यकारों से आलेख आमंत्रित किए जाएँ। निर्धारित प्रक्रिया के अंतर्गत ज्ञात-अज्ञात और संभावित विद्वान् लेखकों को खोजकर, अपना मंतव्य समझाकर तत्संबंधी निबंध आमंत्रित किए। परिणाम आशानुकूल रहा और इस प्रकार 64 आलेख प्राप्त हुए जिनमें लगभग 75 राजपुरुषों की हिंदी-सेवाओं की विशद व्याख्या की गई है। अभिसूच्य है कि इनमें सिंहासनारूढ़ नरेशों के साथ-साथ उन रावराजाओं एवं राजकुमारों के कृतित्व पर भी प्रकाश डाला गया है जो माँ-सरस्वती के उपासक थे। इन सभी शोध-निबंधों को यथानुकूल संपादित कर 'भारतीय नरेशों की हिंदी-सेवा' शीर्षक से प्रकाशित कराया जा रहा है।

प्राप्त आलेखों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि पराधीन भारत में 51 रियासतें ऐसी थीं जहाँ के शासक हिंदी साहित्य के भंडारण में बड़ी उदारता से योगदान दे रहे थे। इनमें से कई रियासतों में तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी रचनाधर्मिता का पालन होता आ रहा था, जिनमें विशेषोलेख्य हैं- अमेठी (उ.प्र.) सूर्यपुरा (बिहार), रीवा (म.प्र.), जोधपुर, किशनगढ़ (राजस्थान)। इस सुकार्य में हिंदीतर भाषी रियासतों की भूमिका भी कुछ कम सराहनीय नहीं रही। यद्यपि वहाँ के शासकों का हिंदी-प्रदेय परिमाण में कम है परंतु उसके परिणामस्वरूप ही उन राज्यों में आज हिंदी खूब फल-फूल रही है।

ध्यातव्य है कि सरस्वती तथा लक्ष्मी में शाश्वत मतभेद है। दोनों एक स्थान पर नहीं बैठतीं। सरस्वती को साहित्यकार प्रिय हैं, लक्ष्मी को अप्रिय। श्रीसम्पन्न व्यक्ति से सरस्वती दूर ही रहती है। परंतु इन भूपतियों पर दोनों की समान कृपा रही है। एक ओर जहाँ लक्ष्मी माता की अनुकंपा से राजसी वैभव प्राप्त हुआ है वहीं दूसरी ओर माँ सरस्वती भी इन पर द्रवीभूत हुई हैं अपनी वंदना सुनकर। असि और मसि दोनों के प्रयोग और उपयोग में ये सिद्धहस्त रहे हैं। अपने शासकीय-राजकीय दायित्वों का बड़ी कुशलता से निर्वहन करते हुए इन नरेशों ने उच्चकोटि के साहित्य की सर्जना कर हिंदी-साहित्य को नए आयाम दिए हैं। फलत: हिंदी की कुछ बेजोड़ रचनाएँ इन राजाओं के नाम से लोकख्यात हुई हैं।

जिन कालजयी कृतियों से हिंदी साहित्य को गौरवान्वित किया है इन भारतीय नरेशों ने उनमें विशेषोलेख्य हैं- राजा (बीकानेर) पृथ्वीराज कृत 'वेलिक्रिसन रुकमणी री'; जोधपुर नरेश जसवंत सिंह

रचित 'भाषा भूषण'; किशनगढ़ महाराज रूपसिंह की 'ब्रजविलास सतसई'; मराठाधिपति 'नृपशंभु' की 'नायिकाभेद'; सेंवढ़ा (दतिया) के राजा पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' रचित 'रतनहजारा'; तंजाऊर (तमिलनाडु) के मराठा शासक शाहजी कृत 'राधा बंसीधर विलास नाटक'; अमेठी राजा गुरुदत्त सिंह 'भूपति' की 'सतसई'; राजकोट के राजकुमार महेरामण सिंह कृत 'प्रवीण सागर', रीवा महाराज विश्वनाथ सिंह का नाटक 'आनंद रघुनंदन'; तेरवाँ (कन्नौज) के राजा जसवंत सिंह 'द्वितीय' की 'शृंगार-शिरोमणि', डुमराव (बिहार) के महाराजकुमार शिव प्रकाश सिंह कृत 'लीलारसतरंगिणी'; माण्डा के महाराजा रुद्रप्रताप सिंह का 3700 पृष्ठीय महाकाव्य 'सुसिद्धान्तोत्तम रामखण्ड महाकाव्य'; खीरी के राजा सुब्बासिंह 'श्रीधर' प्रणीत 'विद्वन्मोदतरंगिणी' आदि।

संकेत्य है कि इन महिपतियों ने तद्युगीन साहित्य-प्रणेताओं से प्रभावित हो श्रेष्ठ शृंगारिक रचनाएँ तो की ही हैं साथ ही भक्तिपरक पद लिखकर जगत्पति के प्रति विशेष श्रद्धा का परिचय भी दिया है। लेकिन आश्चर्य है कि वीरता-शौर्य के प्रतीक इन नरेशों ने आयुपर्यंत युद्धों में अपने पराक्रम का प्रदर्शन किया, पर अपनी रचनाओं में वीर-रौद्र रस को स्थान नहीं दिया, यद्यपि इनके आश्रित कवियों ने इनकी प्रशस्तियों में वीर रस को प्रधानता दी है।

भारतीय नरेशों की हिंदी-सेवा विषयक कार्य करने की मेरी दशकों पुरानी इच्छा रही है, इसके एकाधिक कारण भी हैं। पहला-इन नरेशों की यशोगाथा लोकख्यात है पर इनके साहित्यिक अवदान से लोकमानस अनभिज्ञ है। दूसरा-कुछ भूपतियों के साहित्य को छोड़कर अन्य की रचनाएँ अभी भी प्रकाश में नहीं आई हैं। तीसरा-किसी एक ग्रंथ में इन सभी राजाओं की कृतियों-इनकी साहित्य-साधना को समेटा नहीं गया है। यही सोचकर इस ग्रंथ को प्रकाश में लाया जा रहा है। इस तथ्य को असत्य नहीं ठहराया जा सकता कि कोई भी कार्य अपने आपमें दोषमुक्त और पूर्ण नहीं होता। अति सतर्क और सचेत रहते हुए भी कुछ-न-कुछ छूट जाता है, कभी-कभी बाध्य होकर कुछ छोड़ना भी पड़ता है। यह ग्रंथ भी इसका अपवाद नहीं है। इसमें भी बहुत कुछ छूट गया है। विषय प्रपादन के मध्य ऐसे अनेक विद्यानुरागी-सारस्वत साधक भूपतियों के नाम उजागर हुए जो कृपाण और कलम दोनों के धनी थे। अपने सीमित साधनों, सामर्थ्य तथा समयाभाव के कारण मैं उन मनीषियों के साहित्यिक अवदान को खोजने-प्राप्त करने में असमर्थ रहा साथ ही प्रस्तुत ग्रंथ के कलेवर के प्रति चिंतित भी। अत: विषय को एक सीमा में बाँधकर समेटना पड़ा। परंतु हिंदी का एक अध्येता होने के नाते यह मेरा परम कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं उन साहित्य-सेवी नरेशों का नामोल्लेख अवश्य करूँ जो मेरे संज्ञान में आ चुके हैं जिससे भविष्य में कोई साहित्यान्वेषी उनके साहित्य को खोजकर-अनुशीलन कर हिंदी जगत् के समक्ष प्रस्तुत कर सके।

ऐसे प्रचेता नरेशों में गणनीय हैं - उदयपुर के महाराणा कुम्भा (सन् 1433) व महाराणा अरिसिंह (सन् 1761); झालावाड़ के महाराजा भवानी सिंह व महाराजा भीमसिंह; खेतड़ी महाराजा अजितसिंह (सन् 1861-1901); बीकानेर के महाराजा गजसिंह (सन् 1745); जैसलमेर के रावल मूलरावजी (सन् 1762-1819); ध्रागंध्रा के महाराजा मानसिंह (सन् 1868-1900); सौराष्ट्र के राजा अमरसिंह, राजा रणमलसिंह व राजा मानसिंह; मध्य प्रदेश स्थित अजयगढ़ के महाराज माधवसिंह (सन् 1793); खैरागढ़ के राजा कमलनारायण सिंह (सन् 1871-1908); मालवा के राजा सर रामसिंह मोहन (काछी-बड़ौदा, सन् 1880-1907); ग्वालियर के निकट मगरौरा के राजा मीरेन्द्रसिंह जू देव (सन् 1910-1986); दक्षिण भारत में बीजापुर के हिंदी-उर्दू कवि अली आदिलशाह द्वितीय (सन् 1673); अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह 'जफ़र' (सन् 1837-1858); बिहार के अंतर्गत बनैली के राजा कीर्त्यानंद सिंह (सन् 1875) ; गिद्धौर के राजा पूरनमल, हथुआ के राजा कृष्ण प्रताप शाही; दरभंगा नरेश लक्ष्मेश्वर सिंह; उत्तर प्रदेशांतर्गत कालाकाँकर के राजा रामपालसिंह (सन् 1849-1909) तथा उनके वंशज राजा रमेशसिंह (सन् 1875-1910) व राजा अवधेश सिंह (सन् 1906-1934); बस्ती नरेश शीतलाबख्श सिंह (सन् 1884); अवध के शासकद्वय लाल त्रिलोकीनाथ सिंह (सन् 1875-1880) व राजा सर

प्रतापनारायण सिंह 'ददुआ साहब' (1855-1906)।

कहना न होगा कि इनकी उपस्थिति और रचित साहित्य हमें वरदान के रूप में प्राप्त हुआ है। इनके प्रांगण में हिंदी की निर्मल धारा सतत प्रवाहित रही है। यदि इस ग्रंथ के पारायणोपरांत कोई सुधी साहित्यान्वेषी इन महिपालों के साहित्य का उद्घाटन और अनुशीलन कर साहित्य-जगत् के समक्ष प्रस्तुत करेगा तो मैं समझूँगा कि मेरा मनोरथ-मेरा उद्देश्य सफल हो गया।

प्रस्तुत ग्रंथ में कुछ लघु-कुछ दीर्घ, कुल मिलाकर 64 निबंध हैं जिनमें देश के मूर्द्धन्य विद्वानों ने आबद्ध किया है 51 रियासतों के 75 राजा-राजकुमारों के द्वारा किए गए हिंदी अवदान को। ये रियासतें उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में केरल-तमिलनाडु तथा पश्चिम में गुजरात-महाराष्ट्र से लेकर पूर्व में उड़ीसा तक के विस्तृत भू-भाग में अवस्थित रही हैं। इन आलेखों को इनमें विवेचित नरेशों की जन्मतिथि के अनुसार क्रम में रखा गया है। ध्यातव्य है कि इनमें 15 रियासतें हिंदीतर भाषी क्षेत्रों में हिंदी की पताका फहरा रही थीं।

व्यक्ति किसी कार्य को करने का संकल्प तो अकेला ले लेता है परंतु उसे पूरा करना अति कठिन हो जाता है। इसके लिए उसे अनेक महानुभावों का सहारा लेना नितांत आवश्यक हो जाता है। कहते हैं कि यदि कार्य और उद्देश्य पवित्र हों तो साधन और सहयोग भी मिलते चले जाते हैं। मेरे संकल्प को सराहना और सहारा मिला देश के मूर्द्धन्य विद्वानों तथा साहित्यकारों से। अत: जिस कार्य को मैं कठिन समझ रहा था उसके प्रति मेरी निष्ठा और लगन बढ़ी, साथ ही इन महानुभावों की आशा-आकांक्षाओं का भार भी मेरी प्रतिष्ठा से जुड़ गया। कर्त्तव्य-पालन में मेरी रुचि गहरी होती गई, कार्य ने भी गति पकड़ी, विद्वान् परामर्शदाताओं का आशीर्वाद-मार्गदर्शन मिला और कार्य सम्पन्न हो गया। अवांछित अड़चनें आईं, कठिन-साध्य परिस्थितियों से साबिका हुआ पर कोई भी संकल्पित उद्देश्य से डिगा नहीं सकी।

इस पुनीत कार्य को सम्पन्न कराने में जिन वरेण्य महानुभावों ने महत् भूमिका का निर्वहन किया है उनके प्रति आभार प्रकट करना मेरा परम कर्त्तव्य हो जाता है। मैं अत्यंत आभारी हूँ अपने साहित्यिक गुरु आदरणीय डॉ. राज नारायण राय, पूर्व प्रोफेसर एवं प्राचार्य, भारतीय सैन्य अकादमी, देहरादून का, जिन्होंने मुझे इस पुनीत कार्य के लिए न केवल प्रेरित ही किया वरन् बीजांकुरण से लेकर पुष्पित-पल्लवित तथा फलीभूत होने तक, आद्यांत मेरे संबल एवं पथ-प्रदर्शक बने रहे। उनका आभार प्रदर्शन के लिए मेरे पास सार्थक शब्द नहीं हैं- मैं उन्हें सादर नमन करता हूँ।

मैं आभारी हूँ विश्व विख्यात साहित्यकार पद्मश्री डॉ. श्यामसिंह 'शशि', पूर्व महानिदेशक प्रकाशन विभाग (भारत सरकार) तथा कुलाधिपति, अंतरराष्ट्रीय रोमा संस्कृति विश्वविद्यालय, बेलग्रेड (सर्बिया) का, जिन्होंने अति व्यस्त रहते हुए भी मुझे उपकृत किया इस ग्रंथ के आमुख लेखन से।

मैं नतमस्तक हूँ सरस्वती के उन वरेण्य उपासकों के समक्ष, जिन्होंने मुझ अकिंचन के अनुरोध को आदेश मानकर इस ग्रंथ को अपने विद्वत्तापूर्ण, सारगर्भित, तथ्यपरक तथा सुरुचिपूर्ण शोधालेखों से सुष्ट-पुष्ट किया है।

इस ग्रंथ के संकलन, आरेखन से लेकर प्रकाशन तक समस्त कार्य-कलापों में अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ जुड़े अनुजसम श्री पूरन चन्द्र विश्वकर्मा विशेष बधाई के पात्र हैं।

जिन संस्थाओं-महानुभावों ने उदारता का परिचय देते हुए इस सारस्वत् कार्य के लिए आर्थिक सहयोग दिया है उनके प्रति मैं, हार्दिक अभिनंदन तथा आभार व्यक्त करता हूँ।

भारतीय राजभाषा विकास संस्थान, देहरादून, जो राजभाषा-राष्ट्रभाषा के प्रचार-प्रसार के लिए वचनबद्ध एक ग़ैर-सरकारी संस्था है, ने इस ग्रंथ के प्रकाशन और नि:शुल्क वितरण का दायित्व संभाला है। इस पुनीत एवं प्रशंसनीय कार्य के लिए इस संस्था को कोटिश: धन्यवाद। इस संस्थान से जुड़े अपने सभी सहयोगियों को भी मैं साधुवाद देता हूँ।

यहाँ मैं उन विद्वद्बंधुओं का भी आभार व्यक्त करना चाहूँगा जिन्होंने सदाशयता का परिचय देते हुए वांच्छित सामग्री अथवा तत्संबंधी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध कराई। इनमें विशेषोलेख्य हैं - भरतपुर राजवंशी रावराजा रघुराज सिंह; डॉ. भगवंत सिंह, निदेशक-मालवा शोध-संस्थान, पटियाला; डॉ. अमित मित्तल, उप पुस्तकालयाध्यक्ष पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला; डॉ. रामलखन सिंह परिहार 'प्रांजल', प्रख्यात साहित्यकार एवं अध्यक्ष कृषि संकाय, एम.एम. पी.जी.कॉलेज, कालाकाँकर, प्रतापगढ़ तथा श्री राजेन्द्र प्रताप सिंह 'प्रेमी', प्रेम महाविद्यालय, वृंदावन।

श्री टेकचन्द चौधरी एवं श्री नवीन नेगी के सहयोग को भुलाना आसान नहीं है, उन्हें साधुवाद-शुभाशीष।

संपादक का कार्य अति कठिन होता है और श्रम-साध्य भी। अत्यंत सावधान रहते हुए भी कुछ कमी-कुछ त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक है। इसके लिए मैं क्षमा चाहते हुए यह अनुरोध करता हूँ कि सुधी पाठक उन्हें सुधार कर पढ़ने का कष्ट करें।

मुझे आशा है और पूर्ण विश्वास भी कि इस ग्रंथ के पारायण के पश्चात् इन नरेशों के प्रति पूर्व निर्धारित जन-सामान्य की धारणा में बदलाव आएगा और हिंदी के प्रति रुझान में सकारात्मक परिवर्तन होगा, तो मैं समझूँगा कि मेरा श्रम सार्थक हो गया। यह एक गंभीर प्रश्न है कि ऐसी विशद सर्जनाओं-अनुपम कृतियों के बावजूद भी इन साहित्य-सेवी नरेशों में अधिकांश को हिंदी साहित्य में अपेक्षित स्थान-सम्मान नहीं मिल पाया है। आशा है साहित्यवेत्ता इस पर गंभीरता से विचार करेंगे जिससे आगे आनी वाली पीढ़ियाँ इनके साहित्य से परिचित हो सकें।

निवास :
196, दक्षिण वनस्थली
मंदिर मार्ग, बल्लूपुर
देहरादून (उ.खं.) - 248001
मोबा. 09456157016

महा शिवरात्रि
मंगलवार
13 फरवरी, 2018

डॉ. किरन पाल सिंह
संपादक
कार्यक्रम निदेशक
भारतीय राजभाषा विकास संस्थान
देहरादून (उ.खं.) - 248001

अनुक्रमणिका

राजर्षि संत पीपाजी
महाराज प्रतापराव का साहित्यिक अवदान
डॉ. पूरन सहगल

भारत में मध्ययुग, अत्यंत विद्रूपताओं, विसंगतियों, विषमताओं का युग था। राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक द्वन्द्व में डूबते-उतराते भारत की आंतरिक स्थितियाँ अत्यंत दयनीय थीं। इस्लामिक सत्ता अपना प्रभाव जमा चुकी थी। उनके कट्टरवाद के कारण एक असहनीय भय सर्वत्र व्याप्त हो गया था।

लोगों का विश्वास देशी राजाओं और मन्दिर के भगवान् से उठ चुका था, न तो राजा अपनी और अपनी प्रजा की रक्षा करने में सक्षम थे और न मन्दिरों के भगवानजी। व्यापारियों का व्यापार तथा किसानों का कृषि-व्यवसाय लगभग असुरक्षित हो गया था। मध्यम वर्ग की स्थिति तो सबसे दयनीय थी। श्री श्यामसुन्दरदासजी ने अपने ग्रन्थ कबीर ग्रंथावली की भूमिका में लिखा है-''भारत की लक्ष्मी पर लुब्ध मुसलमानों का विकराल स्वरूप जिसे उनकी धर्मान्धिता ने और भी अधिक विकराल बना दिया था, अलाउद्दीन खिलजी (सं. 1352-1372) के समय में भली-भाँति प्रकट हुआ। खेतों में खून और पसीना एक करने वाले किसानों की कमाई का आधे से अधिक अंश भूमि कर के रूप में राजकोष में जाने लगा। प्रजा दाने-दाने को तरसने लगी। सोने-चाँदी की तो बात ही क्या, हिन्दुओं के घरों में ताँबे-पीतल के थाली, लोटे तक का रहना सुलतान को खटने लगा। उनका घोड़े की सवारी करना और अच्छे कपड़े पहनना महान् अपराधों में गिना जाने लगा। नाम मात्र के अपराध के लिए भी किसी की खाल खिंचवा कर उसमें भूसा भरवा देना एक साधारण बात थी।'' (कबीर ग्रंथावली - श्यामसुन्दरदास, भूमिका भाग पृष्ठ, 11)।

''ऐसी भयावह परिस्थितियों में सबके पैर लड़खड़ा रहे थे। धर्म, समाज तथा राजनैतिक गतिविधियाँ आपस में सामंजस्य स्थापित करने में विफल हो चुकी थीं। परस्पर विरोधी सिद्धांतों तथा सामाजिक दुराशापूर्ण स्थितियों में मध्यम वर्ग अधिक त्रस्त था और निम्न वर्ग सुबक-सुबककर सिसकियाँ भर रहा था। उच्च वर्ग, जो स्वयं को सर्वशक्तिमान तथा सर्वसुख सम्पन्न मानता था, समस्त सामाजिक रीति-नीतियों, मर्यादाओं और धर्मादि के अनुशासनों को एक ओर रखकर बावला बन चुका था। उस समय धार्मिक वातावरण आडम्बरयुक्त होता जा रहा था तथा सर्वजन हिताय की भावना समाप्त हो चुकी थी। (मध्यकालीन धर्म साधना - डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 10, कबीर की विचाराधारा - डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत, पृष्ठ ,69, इलियड एण्ड डाउसेन वॉल. III, पृष्ठ 397, संत पीपाजी एवं भक्ति आंदोलन, पृष्ठ 27).

''ऐसी उहापोह की स्थिति में जिस जनजागरण की क्रांति का उद्घोष संतों द्वारा किया गया वह क्रांति की मशाल बाह्याडम्बर, रूढ़िवादिता, भेदभाव तथा सामाजिक असमानता को समूल नष्ट कर देने का विश्वास तथा शक्ति लेकर प्रज्ज्वलित हुई वह सब किसी तत्कालीन कारण विशेष का प्रतिफल नहीं था अपितु दीर्घकाल से पोषित शक्ति का सुफल था। इस महान् क्रांति के पोषक संतगण जनजागरण में अपना संदेश पहुँचाने के लिए सुप्त तथा भ्राँतियों में उलझे हुए समाज को सन्मार्ग तथा उचित दिशाबोध हेतु जुट गए'' (भक्तिकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि - डॉ. गुलाबराय, पृष्ठ 130, संत पीपाजी एवं भक्ति आंदोलन, डॉ. पूरन सहगल) इसी सामाजिक सांस्कृति, और धार्मिक क्रांति को हम ''भक्ति आंदोलन नाम से

अभिहित करते हैं।

''भक्ति आंदोलन अपने समय का एक महत्त्वपूर्ण समाज सुधारक सुकृत्य और धर्म-सुधारक अभियान माना जाता है। इसी भक्ति भावना के बल पर हमारे संत-भक्त एक शक्तिशाली एवं सर्वसम्मत विचारधारा का विकास कर सामाजिक विषमता तथा रूढ़ियों को समाप्त करने में सफल हो सके। दक्षिण में जिस भक्ति का उदय हुआ, उसे स्वामी रामानंद उत्तर में लाए और चहुँओर भक्ति के सकारात्मक गुणों, प्रवृत्तियों का निनाद किया।'' (संत पीपाजी एवं भक्ति आंदोलन - डॉ. पूरन सहगल फ्लेप -1) ''भक्ति दक्षिण ऊपजी - लाए रामानंद'' ऐसा कहा गया। रामानन्दजी ने अपने 12 शिष्यों के माध्यम से सम्पूर्ण भारत में सामाजिक पुनर्जागरण का शंखनाद किया। यही नाद आगे चलकर निनाद में परिवर्तित हुआ फिर अणहद का रूप धारण कर भारतीय जनमानस के अन्तर्मन में गूँज उठा।

रामानन्द के द्वादश शिष्यों में कबीर, पीपा, धन्ना, सेन और रैदास का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। इनमें पीपाजी और सेन भक्त ने सामाजिक सुधारों पर विशेष बल दिया। जिस प्रकार मौर्य सम्राट् प्रियदर्शी अशोक ने बौद्ध मतावलम्बी होकर देश-विदेश में भारतीय चिन्तन और अवधारणा का प्रसार किया, वैसे ही संत पीपाजी ने समाज में भक्ति और जीवन-सुधार के लिए सद्मत और सद्गत होकर समाज के कल्याणकारी कर्त्तव्यों पर जोर दिया। उनकी सहचरी - साध्वी सीता भी परम सहयोगी के रूप में उनके साथ रहीं।

संत पीपा पूर्व में गागरोनगढ़ के परम प्रतापी राजा थे। गढ़ रक्षिका कालिका उनकी इष्टदेवी थी। कालिका के सामने आए दिन होने वाली बकरों एवं पाड़ों की नृशंस बलि को देखकर उनके मन में ग्लानि हो उठी। उन्हें लगने लगा कि यह कैसी माता है जो अपने ही पुत्रों की बलि लेकर प्रसन्न होती है, तभी उनके मुँह से यह साखी फूट पड़ी-

''महामाई मार्‍या घणा, तार्‍या सुण्या न कोय।
पीपा थोड़े अन्तरे, घणी बिगूती होय।।
(संत पीपा एवं भक्ति आंदोलन-डॉ. पूरन सहगल प्रसंग, पृष्ठ, 130, साखी 95)

पीपाजी ने अपने राज्य में बलि-प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया। राज-रसोड़े में मांसाहारी भोजन बंद करवा दिया। इसी बलि-प्रथा और मांस-भक्षण पर उन्होंने कहा -

''जिवमारे जिम्मण करे, खातां करे बखाण।
पीपा परतख देख ले, थाली माहिं मसाण ।। (वही- पृष्ठ 320, साखी 267)

छिमा दया हिरदै नहीं, करी न साँची कूत।
पीपा जे जिव पीड़ते, ते पसु सुद्र अछूत ।। (वही- पृ. 122, साखी 50-51)

इसी प्रसंग में अपनी कृति 'पीपा इन वंदन करुँ' में वे कहते हैं कि -

''पीपा इन वंदन करुँ, करे नहीं अनचार।
बलि न करे जनावरा करे न दारु धार ।। (वही- पृ. 320, साखी 267)

पीपा इन निन्दन करुँ, बलि चढ़ावे भेंट।
जिवमारे जिम्माण करे, भरे आपणों पेट।। (वही - पृ. 320, साखी 2)

धीरे-धीरे पीपाजी के मन में विरक्ति का भाव उदित होने लगा। तभी संयोगवश गागरोन गढ़ में स्वामी रामानंदजी अपने शिष्यों कबीर, सेन, धन्ना, रैदास आदि सहित पधारे। उनके साथ धर्म-चर्चा के

उपरान्त पीपाजी ने राजपाट त्यागकर संन्यास धारण करने का निर्णय मन-ही-मन कर लिया। अन्ततः समस्त राजपाट त्याग अपनी रानी सीताजी के साथ काशी जाकर संवत् 1455 वि. में स्वामी रामानन्दजी से दीक्षा ग्रहण कर संन्यास धारण कर लिया। संत पीपा के इस त्याग से प्रभावित होकर रैदासजी ने एक साखी में कहा है –

'ना कबीर के लच्छमी, ना कोई मेरे ठाठ।
धन पीपा जिन तज दियो, सगरो ठाठ अर बाट। (वही, पृ. 284)

संन्यास धारण करते ही पीपाजी अपनी सहचरी सीता सहित देश भ्रमण के लिए निकल पड़े। अपनी यायावरी में उन्हें जो सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक कटु अनुभव हुए उनके कारण उन्होंने समाज की कुरूप तसवीर देख-समझ ली। बलि-प्रथा, मदिरा पान, स्त्री जाति की दुर्दशा, जैसी अनेक कुप्रथाएँ समाज में जड़ें जमा चुकी थीं। ईश्वर पर अनास्था के कारण समाज में निराशभाव व्याप्त था। देश की रक्षा करने वाला क्षत्रीय समाज आततायी हो चुका था। उनकी तलवार सदा म्यान से बाहर ही रहती थी। लूट, राहजनी तथा हिंसा उनका धर्म बन चुका था। इसी प्रकार ब्राह्मण, वैश्य यहाँ तक कि, शूद्र भी अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो चुके थे। राजपूत समाज में कन्या हत्या तथा युवा बेटियों को राजनैतिक संधि का आधार बनाया जा रहा था। पीपाजी ने इन सब कुरीतियों पर प्रहार किया और समाज में पुनर्जागरण का सूत्रपात्र किया।

संत पीपा ने न केवल मालवा और राजस्थान बल्कि गुजरात तक जाकर अपना संदेश जन-जन को दिया। राजपूत समाज के भटके हुए खड्गधर्मी समाज को हिंसा त्यागकर अहिंसा के मार्ग पर लाने का सफल प्रयास किया। अपनी साखियों में उन्होंने कहा- हृदय में धर्म और हाथ में कर्म धारण करो सफलता अवश्य मिलेगी –

'हिरदै राखे धरम ने, कर महिं करम कमाण।
पीपा सत री ढाल दे, भेदो निहिच निसाण।। (वही, पृ.178, साखी 5)

उन्होंने स्वयं भी खड्ग और दण्ड का त्याग कर अपने हाथों में कर्म तथा हृदय में धर्म व राम को धारण कर लिया था। उन्हीं के अनुसार साधू को भी चाहिए कि, वह भी इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए धर्म और उद्यम को धारण करे। उन्होंने अपनी साखी में कहा भी है –

हाथां सो उद्यम करे, सों उच्चरे नाम।
पीपा साधां रो धरम, रोम रमाड़े राम।। (वही, पृ. 120, साखी 36)

पीपा इन वंदन करुँ-जिण त्यागी तरवार।
रूई रो उद्यम करे, पारे निज परवार।। (वही, पृ. 321, साखी 269)

पीपा इन वंदन करुँ, करे सुई को मान।
खांडा तो फाणा करे, सूई करे मिलान।। (वही, पृ. 322, साखी 277)

संत पीपाजी ने भी अपने हाथ में सुई धारण कर ली और वस्त्र सीना प्रारम्भ कर दिया। सती सीताजी भी उनके इस धर्म-कर्म में सहभागिनी बन गई। संत पीपा केवल आदर्शवादी ही नहीं अपितु व्यावहारिक भी थे।

मुख और हृदय में राम रहे, हाथ में उद्यम रहे ; इसी को जनक भाव कहा जाता है। संत पीपाजी ने अपने अनुयाइयों को भी यही संदेश दिया - उनसे हिंसक तलवार छुड़वा कर सुई थमा दी। मन में से हिंसाभाव निकाल कर अहिंसाभाव की स्थापना कर दी। उन्होंने हिंसा की इस कारण निंदा की क्योंकि वह

परपीड़क है। वे एक साखी में कहते हैं-

''पीपा इन निंदन करुँ, निस दिन पाप कमाय।
राहजानी लूटण करे, धाड़ो घालण जाय।। (वही, पृ. 297, साखी 92)

पीपाजी ने खड्ग त्यागकर जिस क्षत्रीय राजपूत समाज को सुई का काम करने का संदेश दिया, वह एक सभ्य एवं अहिंसक समाज के रूप में स्थापित हुआ। आज वे स्वयं को पीपाजी का अनुयाई मानकर पीपावंशी क्षत्रीय समाज कहलाते हैं, उन्होंने पीपाजी का यह संदेश -

पीपा इन वन्दन करुँ, फाटां कर दे एक।
सुई को सादन करे, तागो करे विवेक।। (वही, पृ. 189, साखी 92)

पीपा इन वंदन करुँ, म्यान करे तरवार।
सुई ने धारण करे, करे न कण पे वार।। (वही, लोक वाणी पृ. 189)

पारख ज्ञान के रूप में स्वीकार कर स्वयं को धन्य कर लिया।

संत पीपाजी ने अपने अनुयाइयों को समझाया कि सूरमा वह नहीं होता जो किसी को तलवार से एक झटका और दो बटका कर दे, बल्कि सूरमा वह होता है जो फटे हुए को जोड़ दे। सुई जैसे छोटे से साधन से ही यह सम्भव है। ''जहाँ काम आवे सुई कहा करे तरवार'' जैसा सिद्ध मंत्र उन्होंने एक विशाल समाज को समझा दिया। सूरमा वह होता है जो आलस्य, अधैर्य, छल, ईर्ष्या, काम, क्रोध, मद और क्रूरता पर विजय प्राप्त कर ले-

''अलस, अधीर, छल, ईर्ष्या, काम, क्रोध, मद, क्रूर।
पीपा जिन ई जीतिया, तेई जन साचा सूर।। (वही- पृ. 124, साखी 58)

उन्होंने जब बलि का विरोध किया तब दारू और मांस का भी विरोध स्वत: हो गया। बलिमांस का भक्षण, मदिरा पान, छल, कपट, क्रोध, क्रूरता आदि दुर्गुण तो इससे जुड़े हुए ही होते हैं। इसलिए वे कहते हैं -

''मांस खान है स्वान को, मानव देह क्युँ खाय।
जो कोई खावे मानवी, सीध नरक में जाय।। (वही-पृ.180, साखी 19)

मांसाहारी मानवी, परतख राक्षस जान।
जाँ रो दरसन सपन में, पीपा तू मत आन।। (वही-पृ. 180, साखी 22)

यही बात वे दारू पीने वालों को भी समझाते हैं -

''दारु में दुरमत घणी, कुत्ता पिये न काग।
जो कोई पीवे मानवी, जा को बड़ो अभाग।। (वही, पृ. 180, साखी 21)

नसो नास को मूल हे, धरम-करम भ्रष्टाय।
पीपा असो नसेड़ियो, छीज-छीज मर जाय।। (वही, पृ. 194, साखी 1)

नशा शराब का हो या अमल और तम्बाकूँ का, पीपाजी प्रत्येक नशे की वर्जना करते हैं-

''अमल, तंबाकू, सोतरा, करमों के लगभग।
पीपा परतख देख ले, चौरासी को पग।। (वही- पृ. 180, साखी 17)

संत पीपाजी स्वयं राजपरिवार से थे। वे राजपरिवारों व राजपूत समाज की अच्छाइयों-बुराइयों से भली-भाँति परिचित थे। मुस्लिम सत्ता की कट्टरता एवं नृशंसता के रहते भारत की सम्पति, सत्ता और सम्मान असुरक्षित हो चुके थे। विशेषरूप से बेटियाँ और बहुएँ अर्थात् समग्र स्त्री समाज बहुत ही असुरक्षित हो चुका था। संभवत: इन्हीं कारणों से कन्या हत्या एवं जौहर प्रथा का चलन हुआ हो। वैसे पर्दाप्रथा भी उसी युग की ही देन है। कन्याओं को, विशेषकर राजपूत समाज में पैदा होते ही मार दिया जाता था। यह जघन्य हत्या भी बहुधा जननी को ही करनी पड़ती थी। उसे अपने दूध में अफीम का घोल बनाकर उसे घुट्टी के रूप में पिलाकर मार दिया जाता था। कन्या हत्या के और भी अनेक हृदय विदारक तरीके अपनाए जाते थे ?

आफू की घुट्टी पिला, कन्या दीधी मार।
पीपा कस तर वंद सके, तोरण घर के द्वार ।। - लोकवाणी - 1

बेटी जनमी कोख ती, कर दियो काम तमाम।
पीपा बेटो परणवा, भेजोगा कण गाम ।। - लोकवाणी - 2

डोली आंगण ती उठे, कण की, करो विचार,।
पीपा बेटी जनमतां, जामण दीधी मार ।। - लोकवाणी - 3

संत पीपाजी ने जहाँ कन्या की जघन्य हत्या एवं उससे उत्पन्न पारिवारिक-सामाजिक अव्यवस्था पर अपने विचार प्रकट किए हैं, वहीं उन्होंने जौहर प्रथा पर भी अपनी चुप्पी तोड़ी है। वे कहते हैं -

पीपा साका में करे, प्राणा हो बलिदान।
नारी क्युँ जौहर करे, वा क्युँ होमे प्रान।। - लोकवाणी - 4

इसी साखी का पाठ भेद भी है।

''केसरियों, साको करे, करे प्राण बलदान ।
पीपा जौहर की लपट, नारी क्युँ दे प्रान ।। - लोकवाणी - 5

पीपाजी एक और साखी में कहते हैं, साका हो जाने के बाद यदि नारी को मरना ही है तब इससे अच्छा है वह दुर्गा का रूप धारणकर रणचण्डी बन जाय और खड्ग धारणकर दुश्मन का सर्वनाश कर दे। यही हमारी परम्परा भी रही है।

''अबला क्युँ जौहर करे, क्युँ लपटों धधकाय ।
पीपा दुर्गा बण उठे, दुसमण ने ढकराय ।। - लोकवाणी - 6

इसी संदर्भ में वे संदेश देते हैं कि, जिस समाज में नारी का सम्मान नहीं होता वह समाज निश्चितरूप से नष्ट हो जाता है ।

''सुण लो, जणी समाज में, नारी को नहिं मान।
(पीपा) ऊ समाज विनसे अवस, पूरो पक्को जान ।। – लोकवाणी – 7

संत पीपाजी अपनी एक अन्य साखी में कहते हैं – मैं उनका वंदन करता हूँ जो कन्या, केरड़ी (गाय) कुआ (जल) और काँचरी – कंचुकी – जननी का सम्मान करते हैं।

''पीपा इन वंदन करुँ, कन्या, केड़ी, कूप।
चौथी पूजूँ काँचरी, थान धवायो खूप ।।"
(संत पीपाजी एवं भक्ति आंदोलन– डॉ. पूरन सहगल, पृ. 302, साखी 133)

''पीपा इन वंदन करुँ" प्रकरण में ही वे एक साखी में कहते हैं –
''पीपा इन वन्दन करुं, जल, गऊ, बिरछ पनाह ।
जो इन पे घातो करे, पीढी सात फनाह ।। (वही, पृ. 299, साखी 110)

संत पीपाजी ने अपनी स्वतंत्र कृति ''पीपा इन वन्दन करुँ'' में समाज, धर्म, पर्यावरण, आध्यात्म, दर्शन आदि समस्त विषयों पर खूब खुलकर अपना सटीक संदेश समाज के प्रति दिया है। यह कृति पीपाजी के जीवन के अंतिम वर्षो का अनुभव है। ऐसा कहना अतिशयोक्ति न होगी कि संत पीपा की यह एक अनुपम कृति है तथा सामाजिक पुनर्जागरण के लिए 'आचार संहिता' की भाँति महत्त्वपूर्ण है।

अपनी एक रचना 'वरण विचार' में उन्होंने भारतीय समाज के चारों वर्णो को उनके उत्तरदायित्वों का स्मरण करवाते हुए कहा है –

'बामन ब्रहम पिछाणे सोई ।
परहित रो निहचौ मन होई ।
विद्या विनय करे सिणगार ।
पीपा ते जग तारण हार ।। (वही, पृ. 161, साखी 1)

ब्राह्मण वही है जिसे ब्रह्म का ज्ञान है। जिसके मन में परहित का संकल्प है तथा जिसके पास विद्या और विनय का श्रृंगार है वही ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी है। यदि वह इन गुणों से सम्पन्न है तब वह संसार का तारक माना जायेगा।

''छत्री छत्र धरैं रिच्छा को ।
जम भय विचलति करें न जाको ।।
जनम भूमि रिच्छा री सिच्छा ।
पीपा करते सफल परिच्छा ।। (वही, पृ. 161, साखी 2)

क्षत्रीय वही है जो जन्म–भूमि की रक्षा का छत्र धारण करे। उसे उसके इस कर्त्तव्य से यम भी नहीं डिगा सके। जिसे जन्म भूमि की रक्षा की शिक्षा दी गई हो तथा वह अपने कर्त्तव्य में सदा दृढ़ रहे, वही क्षत्रीय कहलाने का सच्चा अधिकारी हो सकता है।

'वैश्य करे सत रो बेपार ।
न्याव धरम ने राखे लार ।।
दया, दान में राखे मन ।
पीपा ते सबते बढ़ जन ।। (वही, पृ. 161, साखी 3)

वैश्य कहलाने का अधिकार उसी को है जो 'सच्चा-व्यापार' करे । व्यापार में सत्य, न्याय और धर्म का ध्यान रखे। दान और दया में सदा तत्पर रहे। ऐसा व्यक्ति ही सच्चा वैश्य हो सकता है। इसी प्रकार वे श्रम-संहिता की चर्चा करते हुए कहते हैं -

'करते नित प्रति करम कमाई ।
छोट-मोट सकल प्रिय भाई।।
करम देव की करते पूजा ।
पीपा तिन ते नहीं बढ़ दूजा।। (वही, पृ. 161, साखी 4)

जो कर्मशील है। उद्यम करने से ही अपनी कमाई करता है। जिसके मन में कभी भी छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का भाव नहीं आता। कर्म ही जिसकी पूजा है। वह सब वर्णो से श्रेष्ठ व्यक्ति है। संत पीपाजी शूद्र को अपने ही ढंग से परिभाषित करते हैं। अपनी वाणी में वे पूर्व निर्धारित शूद्र वर्ण को पृथक् रखकर कहते हैं। शूद्र तो वह है जो क्रूर है, कपटी है, छली है। जो हिंसक है, जो ओछी वाणी बोलता है। मैं केवल उसी को शूद्र मानता हूँ। इसमें मैं जाति का आधार नहीं मानता। जो जनपीड़क है, छुद्र भोजी है, वही शूद्र है।

'क्रूर, कपट, छल राखे मन ।
जिव पीड़ैं, कुरलावे जन ।
ओछा भाखैं, खावे छुद्र ।
पीपा तिन को माने शुद्र । (वही, पृ. 161, साखी 5)

इसी 'वरण विचार रचना' में वे अंत में कहते हैं -

''सरब जगत को एकऊ राया ।
छोट मोट भ्रम जग भरमाया ।।
एक राम के सकल सपूता ।
पीपा साध जना अस कूता ।। (वही, पृ. 161, साखी 6)

सारे जगत् का एक ही मालिक है। छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा यह सब भ्रम व्यर्थ में फैलाया गया है। सब एक ही राम के पुत्र हैं। ऐसा मेरा मानना है। न कोई छोटा है न बड़ा, न ऊँचा न नीचा।

इस रचना संदेश में उन्होंने जन्म से जाति या वर्ण को नकारते हुए कर्म को प्रमुखता दी है। समाज की पुनर्स्थापना का ऐसा संदेश देकर उन्होंने वर्ण-व्यवस्था पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता पर बल दिया है। रामानन्द सम्प्रदाय के द्वादश शिष्यों में से अन्य संतों ने संत पीपा की तरह इस प्रकार मुखर होकर वर्ण-व्यवस्था और जाति व्यवस्था पर, कन्या हत्या पर, जौहर व्यवस्था पर तथा पर्यावरण पर अपने विचार कम ही प्रकट किये हैं। संत पीपा ने आध्यात्म पर और दर्शन पर भी अपने विचार अत्यंत स्पष्टरूप से व्यक्त किये हैं। वे सगुण और निर्गुण पर अपना मत किसी पर थोपना नहीं चाहते। वे स्पष्टरूप से कहते हैं-

''सरगुण मीठो खांड सो, निरगुण करवो नीम ।
पीपा सतगुरु परस दें, निरभ्रम हो अर जीम ।। (वही, पृ. 116, साखी 14)

सगुण आनंद देता है। निर्गुण विकार दूर करता है। जैसा सद्‌गुरु कहें वैसी आस्था निर्धारित करो। वे तो सदाचरण पर बल देते हैं। सदाचार, आवश्यक है। सत्य, शुचिता, दया, दान आदि यदि हमारे आचरण में निहित हैं तब हम धार्मिक हैं। फिर तो सगुण और निर्गुण का भेद ही मिट जाता है।

वास्तव में संत पीपाजी एक समाज-सुधारक के रूप में हमारे समक्ष प्रकट होते हैं। इनमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हो गई। समग्र मालवा, गुजरात, राजस्थान में विपुल मात्रा में उनके अनुयायी हैं, जो उन्हें अपना इष्ट मानते हैं तथा उनके बताए मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते हैं। जिन्होंने तलवार त्यागकर सुई धारण की, हिंसा त्यागकर अहिंसा का सहज कर्म स्वीकार किया और एक सभ्य शालीन और आस्तिक समाज के रूप में अपना जीवन यापन करना निर्धारित किया।

संत पीपा, हिन्दी साहित्य की निर्गुण धारा के अग्रगण्य संत थे। उनके जीवन को हम तीन भागों में बांट सकते है। (1) एक सिद्धहस्त कवि के रूप में, (2) एक आध्यात्मिक विचारक, सत्यान्वेषी तथा धर्म के वास्तविक रूप को प्रकाशित तथा प्रचारित करने में संलग्न सफल साधक के रूप में, (3) समाज सुधारक एवं प्रकृति-प्रेमी के रूप में। वे अपने समय के महान् समाज-सुधारक, क्रांतिदृष्टा और संस्कृति समिष्टा के रूप में प्रकट होते हैं।

संत पीपा ने केवल क्षत्रीय समाज को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय सामाजिक व्यवस्था को ऊर्ध्वखलित तथा विघटित होने से बचाकर समाज के पुनरुत्थान में व्यावहारिक तथा सैद्धांतिकरूप से महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया। वे सामाजिक रिनांसा (पुनर्जागरण) के सूत्रधार थे। उनकी वाणी में निहित संदेश आज भी प्रासांगिक है।

संत पीपाजी का कहकहरा

(वर्णमाला के 'अ' अक्षर से लेकर 'त्र' अक्षर तक 52 अक्षरों पर आधारित)

अलखहि लखे सो सांची आँख, मन री पीड़ा, तन री पाँख।
इक आखर जो नाम पुकारै, पीपो रुके न राम दलारै।
उमग्यौ उमग्यो राखो मन, तन सुध बिसरे सांचो जन।
एई भरम की राखै मन, तो तलफेगा मछली तन।
ओटत रहे कपास कबीरा, राम मिले पाई मन धीरा।
कका कलजुग लाग्यो कान, मूरख जाग जगोड़ा मान।
घघा घर न ल्यो बुहार, काम, क्रोध, छल फैंको बार।
जजा जनम न खोयो भाई, करम कमाओ राम कमाई।
तता तार लगी जिण पी, मन की कलस मिटी तिन की।
फफा फीको सब सिणगार, जे पी न हो तो उरले पार।
ममा मरम न जाण्यो जिन, भूल भरम पछताये मन।
लला लग्यो रहे पी ओट, तो आये काहे को खोट।
शशा शालिग राम न पूजो, मन सूं बड़ां न ठाकुर दूजो।
त्रिगुण रहित जो भगति गाये, पीपा सो जन सद्‌गति पाये। आदि

''बूंद जब सागर से मिलने चली''
(संत पीपा की स्वामी रामानंद से भेंट)
डॉ. ओंकारनाथ चतुर्वेदी

संत साहित्य समाज सेतु है, जिन्होंने समन्वय एवं सौहार्द की डोर से जन-मन को बाँधा है। समरसता के वे पुल आज भी सुरक्षित हैं। हाड़ौती अंचल ने भक्त साहित्य को जिन्दा रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। हाड़ौती अंचल और संत पीपा उसके उल्लेखनीय मणिरत्न हैं।

उत्तरी भारत में अद्यतन ऐसा कोई विचार, सम्प्रदाय और परिवर्तन नहीं, जिसमें राजस्थान की भूमिका नगण्य मात्र रही हो। उत्तरी भारत की, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक चेतना का यह प्रान्त प्रमुख सार्थवाह रहा है। वीरगाथाकाल हो या भक्तिकाल, रीतिकाल हो आधुनिक काल, इस प्रान्त की मनीषा ने कदम-से-कदम मिलाकर साथ दिया है। ऐसा ही प्रसंग भक्तिकाल के प्रारम्भिक चरणों का है, जब गुरु राघवानंद की आज्ञा पाकर रामानंद ने उत्तर भारत में भक्ति को एक सम्प्रदाय तक सीमित न रखकर आन्दोलन का रूप दिया था। तभी प्रसिद्ध हुआ - ''भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानंद'' दक्षिण के अलवार भक्तों का आन्दोलन रामानंद की समन्वयपूर्ण धारणा को लेकर आगे बढ़ा। जिसने मात्र सगुण और निर्गुण की ही खाई को नहीं पाटा, शताब्दियों से तिरस्कृत उपेक्षित वर्ग के लिए भक्ति के द्वार खोल दिये। देश की सांस्कृतिक चेतना के विकास में रामानंद का योगदान शंकराचार्य के समान ही महत्त्वपूर्ण है एवं अविस्मरणीय भी है। रामानंद का राजस्थान के भक्ति आन्दोलन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध एवं सम्पर्क रहा है। इसके कुछ ऐतिहासिक सूत्र उपलब्ध हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण है कि रामानंद के शिष्यों में से कृष्णदास पयहारी ने नाथ मार्गी योगियों के प्रतिष्ठित अखाड़ों को अपने प्रभाव में लाकर उनके शिष्यों को अपना अनुयायी बनाया था। जयपुर के पास जो गलता की गद्दी है, वह पहले नाथमत के अनुयायियों के हाथ में थी। अपने प्रभाव से रामानंद के शिष्य कृष्णदास पयहारी ने उसपर अधिकार किया था। संत कबीर, रैदास और पीपाजी रामानंद के ही शिष्य थे। रामानंद के बारह शिष्यों में रैदास, धन्ना, पीपा आदि का उल्लेख मिलता है -

अनंतानन्द, कबीर, सुखा, सुररासु पद्मावती नरहरि
पीपा, भावानन्द रैदासु, धना सेन, सुरसरिकी धरहरि'

मध्ययुगीन संत परम्परा से सम्बन्ध सेतु जोड़ने का श्रेय देवली के संत धन्ना जाट और गागरौन गढ़ के अधिपति संत पीपा को ही है, जिन्होंने अपनी भक्ति के बल पर रामानंद को कबीर सहित गागरौन गढ़ पधारने के लिए विवश कर दिया था। राजस्थान के आग्नेय कोण में अवस्थित अरावली की सुरम्य घाटियों में राजस्थान का अविजेय दुर्ग गागरौन गढ़ के नाम से सुविख्यात है, संत पीपा इस दुर्ग के अधिपति थे। संत जीवनदास ने 'पीपा परचई' एवं अनंतदास ने पीपा के प्रसंग में अनेक बार गागरौन गढ़ का उल्लेख किया है - ''गागरौन पुरी पाटन थानौ, कीन्हीं दास अनंत बखानू''

'पीपा खींची जात को, गढ़ गागरणी बास,
माता की सेवा करे, आनन्द भोग विलास

'पीपा चल्यो बनारसी, गढ़ गागरणि छोड़ि,
हरिजन हरख्यों हित भयो, कुल मरजादा तोड़ि।

परचईकार – अनंतदास के कथनानुसार बाल्यावस्था में पीपाजी के हृदय में भक्ति भावना अंकुरित हो उठी थी। प्राणिमात्र के प्रति दया, अपार क्षमाशीलता से पूर्ण इस अधिपति ने अपनी प्रजा को मुग्ध ही नहीं किया, वरन् अपनी फकीरी के आलम में सबको ही रंग डाला। सारंगी लेकर नाचने वाला अधिपति लोकमंगल की कामना से भक्ति-सागर में गोते लगाता और ध्यान मग्न रहता। राज्याधिपति होते हुए भी सदैव कुलदेवी के ध्यान में निमग्न रहते। संत अनंतदास के शब्दों में, श्रद्धा और भक्ति के बल पर संत पीपा ने कुलदेवी का साक्षात्कार किया और उन्हीं के निर्देश पर रामानंद से दीक्षा लेने का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ था –

तब देवी ने कियो उपकारा, ताते पीपा उतरै पारा
नगर बनारसी रामानंद, जाकै तन मन सदा अनन्द
सो गुरु करो बखानों भगति, निहचौ होई तुम्हारी मुकति।

इसके बाद तो बूँद महासागर में विलीन होकर, महासागर बनने की कल्पना में ही खो चली। कुलदेवी से आज्ञा पाकर स्वर्ण रजत पाश के सांसारिक एवं राजसी मोह से पीपा स्वयं ही मुक्त हो गये – गागरौन गढ़ का अधिपति बनारस के दुर्गम पथ पर भटकने को व्याकुल हो उठा। अनंतदास ने अपनी परचई में इस प्रसंग का बड़ी रोचकता से वर्णन किया है –

तुम जानेहु जिन राजनिवानूं, यह रामानंद का अस्थानूं,
नर निरंद सौ 'नाहीं' कामू। निसदिन सुमिरत रहिये रामू।

पीपाजी को राजवैभव एवं राज्यकर्मचारियों सहित दीक्षा के लिए आया देखकर द्वार पर ही टोक दिया गया – राजा और दीवान से मिलना सुलभ है, लेकिन स्मरण रखो यह रामानंद का मठ है, जो 'नर निरंद सो नाही कामू निसदिन सुमिरत रहियो रामू' में विश्वास करता है। पीपाजी का सामंती अहंकार पलभर में समाप्त हो गया और रामानंद के अनुरूप शिष्य बनने के लिए उन्हें कई कठिन परीक्षाओं के दौर से गुजरना पड़ा, तब रामानंद ने पीपाजी को दीक्षा दी –

'माथा तिलक दियो परसादा, चरनौदिक को पायो स्वादा,
दिन दस तोषि रखि मल दीन्हीं, अब घर जावहु भगतहि चीन्हीं।

संत पीपा ने गुरु रामानंद के चरण पकड़ लिये और बनारस ही रुकने का मन्तव्य रखा, लेकिन रामानंद ने ज्ञान के इस दीप को अंजुरी में सहेज कर नहीं रखा, लोकजीवन में व्याप्त अंधकार को दूर करने भेज दिया, लेकिन संत पीपा ने गुरु से विदा लेने के पूर्व वचन प्राप्त कर लिया कि वे अपनी शिष्य मंडली सहित गागरौन गढ़ को अपनी चरणधूलि से पवित्र करने पधारेंगे।

पीपाजी में भक्ति के प्रति इतना प्रबल आग्रह था कि आवास छोड़कर एक गुफा में बैठकर साधना करने लगे, राज्यपद का व्यामोह उन्हें आसक्ति में न बांध सका और उनका जीवन महान् लक्ष्य को समर्पित हो गया। संसार से विरक्त होकर सदैव ध्यान मग्न रहने लगे। एक वर्ष बीतने पर उन्होंने गुरु रामानंद को अपने वचन का स्मरण कराया –

बारहि मास भगति जब कीन्हीं, रामानंद को पाती दीन्हीं
बार एक दया करौ स्वामी, तुम कहियत हो अंतरजामी
बोल आप नौं सांचो कीजै।

राजस्थान के भक्ति आन्दोलन का वह एक महत्त्वपूर्ण क्षण था जबकि मध्यकालीन महान् सांस्कृतिक विभूतियों ने अपने ज्ञानामृत से इस क्षेत्र को अभिसिंचित ही नहीं किया वरन् उपकृत भी किया था। रामानंद के साथ कबीर, धन्ना, रैदास का गागरौन गढ़ आना और दीर्घकाल तक प्रवास करना, इतिहास का एक दुर्लभ क्षण है –

''तब रामानंद बाची पाती, लियो रैदास, कबीर संगाती
और भगत चालीस बुलाये, गिरही अरू वैरागी आये''

अपने वचन को निभाने के लिए महासागर को बूँद के निकट आना पड़ा और दीर्घकाल तक गुरु ने अपने अनन्य भक्त पीपा की भक्ति एवं उनके प्रेमपूर्ण आतिथ्य को ग्रहण किया। पीपाजी ने तभी अपने गुरु के साथ द्वारिका यात्रा की थी, जो इतिहास सम्मत है। पीपाजी के कुछ पद गुरु अर्जुनदेव द्वारा सम्पादित गुरुग्रन्थ साहिब में संकलित हैं। इसके अतिरिक्त मुझे पीपाजी के पद एवं जोग चिंतावणी ग्रन्थ देखने का सुअवसर मिला है।

रामानंद से दीक्षा लेने के उपरान्त पीपाजी राजकीय दायित्वों से सदैव के लिए मुक्त हो गये। द्वारिका भ्रमण के पश्चात् पीपाजी अपनी राजधानी लौटे तो सही, पूर्ण बैरागी बनकर और आहू-काली सिन्ध नदी के संगम पर अवस्थित एक गुफा में साधना करने लगे। आजीवन वही गुफा उनका आश्रय स्थल रही। यह गुफा भी देखने योग्य है। पूरी गुफा का तो पता नहीं चल सका, परन्तु अनुश्रुति है कि यह नदी के जल तक चली गयी है। पीपाजी इसी मार्ग से स्नान करके गुफा में लौट आते थे। गागरौन गढ़ अब झालावाड़ जिले की धरोहर है। गागरौन गढ़ में पीपाजी का समाधि मंदिर बना हुआ है। दूर ऊँचाई पर यह जीर्ण-शीर्ण मंदिर हमारे सामने एक बड़ा प्रश्न उपस्थित करता है कि वर्तमान व्यवस्था के चक्रव्यूह में आध्यात्मिकता के ये पुनीत स्मृति-चिह्न इसी तरह से खंडित होते हुए धूमिल हो जाएँगे ? कल तक जिनको समस्त लोक ने सिर झुकाकर स्वीकार किया था, क्या वे आधुनिकता के कोलाहल में सदैव के लिए उपेक्षणीय बन जाएँगे ? यदि देवस्थान भी इस मंदिर को ले ले तो संरक्षण किसका होगा ? मंदिर का या पुजारी का ?इसका निर्णय पाठक करेंगे। लेकिन भक्तिकाल के प्रारम्भिक पृष्ठ जब तक राजस्थान के लिए सुरक्षित रहेंगे और जब भी रामानंद का प्रसंग उभरेगा वहाँ धन्ना, रैदास, संत पीपा को सदैव स्मरण किया जायेगा – क्योंकि बूँद ने ही तो सागर आमंत्रित किया था। इन्हीं सरिताओं से भक्ति का महासागर लहराया है। नाथ सिद्धों की साधना परम्परा से अखंड कड़ी के रूप में जुड़ा भक्ति आन्दोलन और उसका साहित्य विश्व साहित्य की बेजोड़ कड़ी है, जिसने 700 – 800 वर्ष पूर्व जन्मे भक्ति आन्दोलन की दीर्घजीवी चेतना का मूल सूत्र बिन्दु बुना था कि 'सर्वे भवन्तु सुखिन, सर्वे सन्तु निरामया'।

संत-महिमा

सोई दिन सांचा जा दिन संत मिलाई।
संत धरम की महिमा सांची। ना कोई बरनी ना कोई बांची।।
जिन बरनी तिन कही अधूरी। सत गुरु बिन जिन कही सो कूरी।।
हरि ही संत संत ही सांई। संत हरि में अन्तर नाहीं।।
पीपा ज्यों जल बीच मीन है। त्यौं संतन में समा पीव है।।

– पीपाजी

उड़ीसा के राजाओं का हिंदी-प्रेम
डॉ. किरन पाल सिंह

पराधीन भारत में देश के अन्य प्रांतों की भाँति उड़ीसा में भी देशी रियासतें थीं। जब देश स्वाधीन हुआ तो यहाँ की छोटी-छोटी सब मिलाकर लगभग 33 रियासतें थीं जिनका भारत संघ में विलय हुआ। उनमें मयूरभंज, राजमहेन्द्री, संबलपुर, बड़खेमुंडी, आठगढ़, ढेंकानल, पुरी, आदि अनेक ऐसी रियासतें थीं जहाँ के राजाओं और उनके आश्रित कवियों को हिंदी का अच्छा ज्ञान था और वे ब्रजभाषा में काव्य-रचना भी किया करते थे। अभिसूच्य है कि 'आदिगुरु शंकराचार्य के वैष्णव-भक्ति प्रचार के बाद वृन्दावन, अयोध्या के साधु-संत जगन्ननाथपुरी में भी ब्रजभाषा में भक्ति गीत गाते थे जिसका प्रभाव वहाँ के भक्तजनों और जनता पर भी पड़ा। परिणामस्वरूप ब्रजभाषा तथा उड़िया में भाषिक आदान-प्रदान की भावना का उदय हुआ। मुस्लिम शासनकाल में उर्दू और उसके बाद मराठों के शासनकाल में मराठी का उड़िया पर प्रभाव पड़ा। चूंकि उर्दू और मराठी दोनों ही भाषाएँ हिंदी के काफ़ी निकट रहीं हैं, इसलिए उड़िया भाषियों को हिंदी समझने तथा उसका लेखन में प्रयोग करने में कोई असुविधा नहीं हुई। 16वीं शताब्दी में श्रीचैतन्य महाप्रभु के वैष्णव धर्म प्रचार तथा रामभक्त रामानंद की संस्कृत, उड़िया और ब्रजभाषा की भक्तिपरक रचनाओं के साथ ही तत्कालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक, और आर्थिक-व्यापारिक परिस्थितियों के कारण राजपरिवारों, साहित्यकारों, व्यापारियों, धार्मिक-स्थलों तथा जनता के बीच ब्रजभाषा को पनपने के अवसर सुलभ होते चले गए- (द्र. राजभाषा प्रचार का इतिहास : प्रबंधक-संपादक श्री गंगाशरण सिंह एवं अन्य, पृ. 83-84 प्रका. अखिल भारतीय हिन्दी संस्था संघ, नई दिल्ली, सन् 1982)

इस प्रकार उड़ीसा में हिंदी काव्य के अंकुर फूटने लगे। साधारण जनमानस के साथ-साथ विद्वानों और यहाँ तक कि देशी रियासतों के शासक भी ब्रजभाषा में काव्य रचना करने लगे। यहाँ पर उड़ीसा के हिंदी-सेवी राजाओं पर दृष्टिपात करते हैं। दुर्भाग्य से उनके द्वारा रचित न तो कोई हिंदी ग्रंथ ही प्राप्त हुआ और न अधिसंख्य कविताएँ। अत: उपलब्ध रचनाओं के आधार ही उनकी चर्चा करते हैं।

राय रामानंद पट्टनायक :- राय रामानंद पट्टनायक एक योद्धा थे और उड़ीसा के राजा गजपति प्रतापरुद्र देव की सेना के सेनापति थे। लेकिन मूलरूप से (आंध्र प्रदेश की) एक रियासत राजमहेन्द्री के राजा थे। उनके पिता श्री भवानंदजी पटनायक प्रसिद्ध उत्कलीय परम वैष्णव थे। अत: पिता से प्रभावित हो वैष्णव भक्त बन गए। ''आपकी लेखनी से श्री जगन्नाथ वल्लभ नाटक आदि संस्कृत रचनाएं निकली थीं। आप थे उत्कलीय वैष्णवों में अनन्य साधक। आप वैष्णवों के 'अचिंत्यभेदाभेद' मत के परिपोषक तथा मर्मज्ञ विद्वान थे। श्री चैतन्यदेवजी की दक्षिणात्य यात्रा के समय ही रामानंदजी के साथ आपका साक्षात्कार हुआ था। 'श्री चैतन्य चरितामृत' और 'श्री चैतन्यभागवत' आदि ग्रन्थों से पता चलता है कि परम वैष्णव राय रामानंदजी पट्टनायक की भक्ति तथा 'अचिंत्य भेदाभेद' मतवाद के ऊपर आपका ज्ञान तथा अधिकार देखकर समस्त शिष्य वर्गो के साथ श्री चैतन्यदेव को भी सर झुका लेना पड़ा।'' (द्र. हिन्दी साहित्य के विकास में दक्षिण का योगदान - संपा.प्रो.जी.सुन्दर रेड्डी एवं अन्य, पृ. 91-92, प्रका. राजपाल एण्ड सन्ज, सन् 1975)

एक चिंतनशील और बुद्धिमान् व्यक्ति थे रामानंदजी। बहुभाषी थे और बहुविधाओं में पारंगत, तत्त्वदर्शी ज्ञानी, अच्छे गायक तथा संस्कृत, ब्रजभाषा के रचनाकार भी। उनके द्वारा रचित ब्रजबोली साहित्य उच्च कोटि का माना जाता है। सौ से अधिक पद बतलाए जाते हैं उनके। उनका एक पद उपलब्ध हो सका है जो निम्नवत् दर्शनीय है –

''पहिलहि राग नयन भंग भेल।
अनुदिन बढ़िल अबधि न गेल।।
न सो रमणं न हाम रमाणि।
दुहुँमन मनोभव पेसल जानि।।
हे सखि सो सब प्रेम कहानी।
कानुठा मे कहबि बिधुरइ बानी।।
न खोजिलि दीति, न खोजिलि आन।
दुहुँक मिलाने मध्यत् पाँचवाण।।
अब से विराग दुहुँ मेल दीति।
सुपुरुष प्रेमिका ऐछन रीति।।
बर्धन रुद्र नराधपि मान।
रामानंद राय कवि भाण।।
(द्र. बंगला, असमिया, उड़िया तथा हिंदी, संपा. सुधाकर पांडेय, पृ. 30)

प्रस्तुत पद में उन्होंने ब्रज, मैथिली, उड़िया तथा बंगला भाषा के शब्दों का बड़ा ही सुंदर तथा समन्वित प्रयोग किया है।

प्रतापरुद्रदेव :– उड़ीसा के सूर्यवंशीय गजपति राजा प्रताप रुद्रदेव का कार्यकाल सन् 1479–1535 बतलाया जाता है। वे गजपति पुरुषोत्तम देव के पुत्र थे और गजपति कपिलेंद्र देव के पौत्र। वे महान् पराक्रमी, शौर्यवान तथा अपने समय के प्रख्यात योद्धा थे। वे चैतन्यमत के प्रवर्तक, प्रेम और भक्ति के प्रचारक चैतन्य महाप्रभु (सन् 1485–1527) के समकालीन थे जिन्होंने अपने जीवन के अठारह वर्ष उड़ीसा में व्यतीत किए थे। दोनों के बीच स्नेह-सद्भावपूर्ण संबंध थे।

राजकवि प्रतापरुद्र देव के नाम से प्रसिद्ध इन महाराज को अपनी मातृभाषा उड़िया व बंगला सहित संस्कृत तथा ब्रजबोली हिंदी का भी अच्छा ज्ञान था। जहाँ संस्कृत के 'सरस्वती-विलास' और 'प्रतापमार्तड' जैसे ग्रंथों की रचना की उन्होंने, वहीं वे ब्रजभाषा में भी कविता किया करते थे। उनके द्वारा रचित एक पद यहाँ अवलोकनीय है –

चंद्रमुखि मानिक डोले रे !
हीरादंत अमीयक बोले रे !
क्यारे रे, भाई गऊरे !
दयालुबिनु आन न भावे रे !
सुनहुं सखि आन मिलावे रे !
प्रतापरुद्राया यह गावे रे ! (द्र. वही, पृ. 31)

दिव्यसिंह देव प्रथम :- उड़ीसा में खुरुधा रियासत में गजपति राजवंश में तीन दिव्यसिंह देव हुए हैं। उनमें सबसे लब्धप्रतिष्ठ हुए थे दिव्यसिंह देव प्रथम। वे काव्य-कलाधरों के आश्रयदाता और साहित्यानुरागी थे। हिंदी भाषा में भी कविता किया करते थे वे। उद्धरण के लिए उनकी एक कविता यहाँ दी जा रही है -

''जब धरि पेखलु कालिंदी तीर
नयनुझरय कत बारि अथिर ।।
काहे कहब सखि भरमक खेद।
चित्तहीं ना भाय कुसुमित सेज।।
नवजलधर जिन बरन उजोर।
हेरत हदिमहं पैठल मोर।।
दिव्यसिंह कह सुन ब्रजरामा।
राई कान्य एकतनु दुहुं एकठामा।।''
(द्र. हिन्दी साहित्य के विकास में दक्षिण का योगदान-संपा. प्रो.जी. सुन्दर रेड्डी एवं अन्य, पृ. 96)

पुरुषोत्तम अनंग भीमदेव :- उड़ीसा की बड़खेमुंडी रियासत के राजा थे पुरुषोतम अनंग भीमदेव। यह रियासत आजकल गंजाम जिले के अंतर्गत आती है। इन महाराजश्री का समय सन् 1729 से 1776 तक रहा है। उड़िया भाषा के अतिरिक्त इन्होंने कुछ हिंदी की कविताएँ भी रची थीं। एक उद्धरण देखिए-

''रमणी शिरोमणी रामा। मउनभाव कौन कामा।।
निंदा करे निशिचंदा। गरलसम नीलमकरंदा ।।
चंदन हूँ पीहु के बिना कैसे जिअ पुरुषोतमभीम अनंगा।।'' (द्र. वही, पृ. 99)

जगबंधु हरिचंदन :- गंजाम जिलांतर्गत आठगड़ के राजा थे जगबंधु हरिचंदन। उनका समय सन् 1740-1770 था। वे बालगोपाल श्रीकृष्ण के उपासक थे। उन्होंने श्रीकृष्णलीला संबंधी अनेक रचनाएँ की हैं। श्रीकृष्णलीलात्मक एक प्राचीन ताड़पत्र पोथी में राजा जगबंधु के द्वारा रचित कुछ हिंदी कविताएँ मिली हैं। द्रष्टव्य हैं यहाँ उनकी कविताएँ -

सुगंध गंध झर झर झर,
मधुर मधुर बहे समीर,
तरुगन सब छन छन छन,
लह लह लह पल्लव सब होइए,
लपट सब लता जाल, वा पर सब पंछी माल,
घुटकत सब डार डार,
कोयल सब कुहू कुहू कुहू कोलाहल होइए।।
जगबंधु गुन गुन गुन,
बृन्दावन किए वंदन।
बलिहारी बार बार बृन्दावन वास हे।।

'महीभार निवारण जन्म लिया जो मोहन,
पूरन ब्रह्म सनातन बैकुंठवासवाला,
पूतना के जो ही मारे, शूकटा चरन को तारे,
तृणा को संहारे जो घोर-रण में डाला।
कहे जगबंधु नहीं कृष्णचंद्र नवधन कान्ह काला।।' (द्र.वही, पृ. 100)

इन नरेशों के दरबार में अनेक रचनाकारों को आश्रय मिला हुआ था जो उड़िया, बंगला और संस्कृत के साथ हिंदी में कविता किया करते थे। इनमें कवि विप्रप्रहलाद तथा ब्रजनाथ बड़जेना अति प्रसिद्ध हो गए थे। विप्रप्रहलाद संबलपुर के राजा जयंतसिंह के दरबारी कवि थे। इनकी रचनाओं में अन्य भाषाओं के अतिरिक्त 'जयचंद्रिका' नामक हिंदी ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय है। 'जयचंद्रिका' प्राचीन हिंदी में लिखित एक अनुपम कृति है। इसका रचनाकाल सन् 1791 से 1795 के बीच ठहराया गया है। यह कृति विविध प्राचीन छंदों से युक्त राजा जयंतसिंह के चारित्रिक गुणों का यशोवर्णन है। दूसरे कवि ब्रजनाथ बड़जेना (सन् 1730-1800) ढेंकानाल के राजाजी त्रिलोचन महींद्र बहादुर के दरबारी कवि थे। 'बड़जेना' इनकी उपाधि थी जो राजाजी द्वारा प्रदान की गई थी। इन्होंने वैसे तो अनेक ग्रंथों की रचना की थी परंतु इनकी 'गुंडिचाविजे' रचना अति प्रसिद्धि पा गई जो प्राचीन हिंदी में लिखित खंडकाव्य है और जिसका रचनाकाल सन् 1790-1800 के बीच है। इस पुस्तक में श्रीजगन्नाथजी की रथयात्रा का वर्णन है।

एक अन्य कवयित्री का भी उल्लेख मिलता है उड़ीसा के हिंदी कवियों में। वे थीं 'माधवी दासी, जो राजमहेंद्री के राजा राय रामानंद पट्टनायक की छोटी बहन थीं। अपने भाई की भाँति वे भी उड़िया बंगला, संस्कृत के साथ हिंदी में भी बड़ी सुंदर कविताएँ किया करती थीं। उनकी कविता का एक उद्धरण देना कोई विषयांतर न होगा, क्योंकि, यद्यपि वे किसी रियासत की शासक नहीं परंतु वे थीं तो राजवंश से संबंधित, राजा की बहन-राजकुमारी। अत: दृष्टव्य है उनकी कविता -

''राधामाधव बिलसई कुंजक माझ
अतनुतनु परस परश रस
पीबई कमलिनी
मधुकर राज।
सचकित नागर काँपई थरथर
शिथिल होयल सब अंग।
गदगद कहये राई भेल अदरश
कब होयब तछु संग।।
सेधनी चांद बदन कब हेरब
सुनब अमीयमय बोल।
इहमझु हृदयताप किये मेटब
सोई करब किये कोल।।
ऐंछन कतहुं बिलपई माधव
सहचरी दूर ही हासी।
अपरूप प्रेमे विषादित अन्तर
कहतई माधवी दासी।। (द्र. वही, पृ. 93)

यह कुछ उद्धरण हैं उड़ीसा की कुछ देशी रियासतों के कुछ हिंदी-सेवी नरेशों और उनके आश्रित कवियों के - अनुमान है कि इनसे कहीं अधिक राजा, हिंदी-प्रेमी और हिंदी-सेवी रहे होंगे। इन शासकों के द्वारा हिंदी के लिए दिए गए अवदान को कम करके आँकना अथवा हिंदी भाषी रियासतों के हिंदी-सेवी नरेशों से तुलना करना, इनके साथ अन्याय होगा।

वास्तव में, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो हिंदीतर भाषी क्षेत्रों में, आज हिंदी के जिस रूप के दर्शन हो रहे हैं, अथवा हिंदी का जो विकास और प्रचार-प्रसार हुआ है, उसके मूल में इन राजाओं तथा उनके द्वारा पोषित कवियों का बहुत बड़ा योगदान है। इन्हीं के सत्प्रयासों का प्रतिफल है कि आज हिंदी अखिल भारतीय स्तर पर न केवल भली भाँति जानी-पहचानी जा रही है वरन् बहुतायत में उसमें श्रेष्ठ साहित्य की रचना भी की जा रही है। अपनी मातृभाषा से इतर, देश की राष्ट्रभाषा को इतना गौरव इतना सम्मान देने के लिए इनकी जितनी भी प्रशंसा की जाए, वह कम ही होगी।

संबलपुर (उड़ीसा) का वर्णन

कोशल में मुखमान महानद पाटन में वसुधा वसुधाई।
संबलपुरी पवित्रपुरी प्रह्लाद कहें योही वर्णन न जाई।।
कोशल मुख्य संबलपुर देशां। जहां बसत चौहान नरेशां।।
बसे नग्रपुर गदी सीमाहीं। जेही छर्बी जंबोद्वीपसों नाही।।
चित्रोत्पला गढ़ बहें बढ़तीरा। जहाँ उपजे मनि कंचन हीरा।।
शस्त्र सशस्त्र पूरन पुरवासी। विद्या में मन लहुरें काशी।।
अलकापुरी पटांतर देशा। पहुंचे नाहीं पापु के लेशा।।
दुर्गमदुर्ग बुर्ज बहुबांके। खाई माहानद है जा के।।
आपु बैठी सिर जो समलाई। ताते संबलपुर कहाई।।

- उड़िया कवि विप्रह्लाद

हिंदी-पोषक मुग़ल सम्राट् अकबर

डॉ. किरन पाल सिंह

स्वतंत्र भारत की राजभाषा घोषित हो जाने के बावजूद भले ही हिंदी को वह स्थान, वह सरकारी संरक्षण प्राप्त न हो सका जिसकी वह अधिकारिणी है, किंतु पारतंत्र्यकाल में, जब हमारी संस्कृति-हमारा अस्तित्व तक ख़तरे में था, तब देशी रियासतों में हिंदी न केवल जनसामान्य की अपितु राजघरानों और राजदरबारों की भाषा के रूप में खूब फली-फूली। मुस्लिम शासकों ने भी इसे अछूत नहीं माना। पंद्रहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत में बीजापुर की आदिलशाही, अहमदनगर की निजामशाही, गोलकुण्डा की कुतुबशाही तथा बीदर की बरीदशाही ऐसी सल्तनतें थीं जहाँ हिंदी को राजभाषा का दर्जा प्राप्त था और हिंदी कवियों व लेखकों को संरक्षण। उत्तर भारत में जब दिल्ली पर मुग़लों का आधिपत्य हुआ, तब भी शासक और शासन के कार्यो में हिंदी का प्रयोग जारी रहा। यहाँ तक कि उनमें-से कुछ शाह तो हिंदी के इतने प्रेमी रहे कि वे स्वयं भी कविता करते थे।

मुगल सम्राट् अकबर ऐसे ही हिंदी-सेवी शासक थे। भारतीय इतिहास में उन्हें विशेष दर्जा प्राप्त था। पूरे मुग़लकाल (सन् 1483-1858) बाबर से लेकर बहादुरशाह ज़फ़र तक उन्नीस शासकों में अकबर सबसे लोकप्रिय और शक्तिशाली बादशाह था। मुग़लवंश का तीसरा बादशाह, भारत में मुग़ल साम्राज्य और राजवंश का वास्तविक संस्थापक था वह। एक विधर्मी तुर्क आक्रमणकारी बाबर का पौत्र होते हुए भी हिंदू उसे सम्मान देते थे। यह अकारण नहीं था। इसका कारण बताते हुए राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का कहना है-''अकबर का आदर हिन्दुओं ने इसलिए नहीं किया कि वह कट्टर मुसलमान नहीं था, न इसलिए कि वह इस्लाम के जबर्दस्ती प्रचार किये जाने का विरोधी था वरन् इसलिए कि इस्लाम की तरह वह हिन्दू धर्म का भी प्रेमी था तथा वह जनता के केवल तन ही नहीं मन और ईमान की भी रक्षा करना चाहता था। (द्र. रामधारी सिंह 'दिनकर-संस्कृति के चार अध्याय, नवीन संस्क., 2000, पृ. 332).

अकबर का जन्म सन् 1542 में भारत के अमरकंटक स्थान में हुआ था। उनके जन्म के समय विपदाओं से घिरे उनके पिता हुमायूँ और माता हमीदाबानू के पास जश्न मनाने के लिए कुछ भी न था। हुमायूँ की मृत्यु के उपरांत सन् 1556 में वह मात्र 13 वर्ष की आयु में, मोहम्मद जलालुद्दीन अकबर के नाम से राजगद्दी पर बैठा। युद्धकला में प्रवीण अकबर ने पहला युद्ध हेमू (राजा विक्रमादित्य) के साथ पानीपत के मैदान में लड़ा और अपने सेनापति बैरमखाँ की योग्यता से विजय प्राप्त की। इतिहासकारों के अनुसार अकबर अपने समय के योग्यतम शासकों में था। उसने उत्तर से लेकर दक्षिण तक भारत के एक बड़े भू-भाग पर अधिकार कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। राज्य की व्यवस्था को सुचारुरूप से चलाने के लिए-''अकबर ने अपने साम्राज्य को 15 सूबों में बाँटा था : (1) काबुल, (2) लाहौर (पंजाब) जिसमें कश्मीर भी था, (3) मुल्तान-सिंध, (4) दिल्ली, (5) आगरा, (6) अवध, (7) इलाहाबाद, (8) अजमेर (9)अहमदाबाद, (10) मालवा, (11) बिहार, (12) बंगाल-उड़ीसा, (13) खानदेश, (14) बरार और (15) अहमदनगर।'' (द्र. भारतीय इतिहास कोश (ए डिक्शनरी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री का रूपांतर), मूल लेखक-सच्चिदानन्द भट्टाचार्य, प्रका. हिन्दी समिति, उ.प्र. लखनऊ, 1976 ई. पृ. 2) इस प्रकार देखा जाय तो अकबर के साम्राज्य की सीमाओं में पश्चिम में अफगानिस्तान से लेकर पूर्व में

बंगाल तक और उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में अहमदनगर तक के मध्य स्थित भारतीय भू-भाग का अधिकांश भाग समाहित था।

अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखने और उसके सामुहिक विकास के लिए अकबर बादशाह ने मुस्लिम सरदारों के साथ-साथ हिंदू राजाओं तथा विद्वानों को भी ससम्मान अपने पक्ष में कर लिया। डॉ. रामबाबू शर्मा की बात मानें तो-''अकबर को प्रारंभ से ही संघर्षो से जूझना पड़ा। अस्तु ऐसी स्थिति में उसने अपने दरबार में उच्च पदों पर हिंदू कर्मचारियों को नियुक्त किया, हिंदू नरेशों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित किया। हिंदू धर्म के प्रति उदारता बरती, हिंदी कवियों और विद्वानों का सम्मान किया तथा अपने दरबार में हिंदू कवियों को नवरत्न की उपाधियों से अलंकृत किया।'' (द्र. डॉ. रामबाबू शर्मा-बारहवीं सदी से राजाकज में हिंदी, पृ. 44, प्र.सं. 1980) वास्तव में अकबर योग्य और वीर पुरुषों का बहुत आदर करता था। उसके दरबार में एक-से-बढ़कर एक योग्य व्यक्ति थे जिनमें नौ सर्वोपरि थे, जो दरबार के नवरत्न कहलाते थे। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

1. ''राजा बीरबल - वास्तविक नाम महे शदास, बादशाह का विश्वस्त मंत्री, विशेष सहयोगी, विद्वान्, और हाज़िर जवाबी, राजा की उपाधि से अलंकृत
2. राजा मानसिंह - राजपूत वीर राजा, मुगल सेना का प्रमुख सेनापति
3. राजा टोडरमल - भूमि बंदोबस्त, राजस्व व प्रशासनिक व्यवस्था प्रभारी, राजा की उपाधि से विभूषित
4. अब्दुर्रहीम खानखाना - महान् कवि और अरबी, फारसी, तुर्की, संस्कृत, हिंदी का विद्वान्, बहादुर योद्धा, खानखाना की उपाधि से सम्मानित
5. तानसेन - प्रसिद्ध संगीतज्ञ
6. अबुल फ़जल - प्रसिद्ध शायर, 'आइने अकबरी'' व ''अकबरनामा' के लेखक
7. हकीम हुम्माम - प्रसिद्ध हकीम
8. फैजी - विद्वान् तथा लेखक। फैजी तथा अबुल फ़जल दोनों भाई और बादशाह के रिश्ते में साले, व खास सलाहकार थे।
9. मुल्ला दो प्याजा - विद्वान् लेखक।'' (द्र. किस्सा ए नौरत्न और अकबर, ले. देवशंकर नवीन, सहारा समग्र (समाचार पत्र), 4 मार्च, 2006)

एक किंवदन्ति है कि अकबर अनपढ़ था, परंतु अनेक विद्वानों ने इसका खण्डन करते हुए उसे पढ़ा-लिखा और विद्वान् माना है। प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ. राम विलास शर्मा के अनुसार-''बाबर की भाषा अवश्य तुर्की थी लेकिन अकबर के समय तक मुग़ल घराने की नित्य प्रति के व्यवहार की भाषा हिंदी हो चुकी थी। अकबर को हम विदेशी शासक नहीं कह सकते, वह पूरा हिंदुस्तानी था। उसके समय में भारतीय संगीत और स्थापत्य ने खूब उन्नति की। उसके बारे में प्रसिद्ध है कि वह अनपढ़ था। संभवत: इस प्रवाद का कारण यह था कि वह फ़ारसी न जानता था। लेकिन हिंदी तो उसने बाक़ायदा पढ़ी थी। जहाँगीर ने लिखा था कि लाल कलावंत बचपन से ही अकबर की सेवा में रहा था और उसने बादशाह को हिंदी भाषा का राई-रत्ती ज्ञान करा दिया था।'' (द्र. डॉ. रामविलास शर्मा-भाषा और समाज, द्वि.सं. 1977, पृ. 288) अकबर हिंदी अच्छी जानता था। वह हिंदी प्रेमी था उसके दरबार में अनेक प्रसिद्ध हिंदी कवियों को संरक्षण प्राप्त था। उसके राज्य में एक ओर जहाँ सूर-तुलसी जैसे कालजयी कवि अपनी रचनाओं से जनसामान्य के मानस को भक्ति रस में डुबो रहे थे, वहीं दूसरी ओर अकबर के दरबार में रहीम, नरहरि बंदीजन, गंग, मनोहर कवि, होलाराय, करनेश, दुरसाजी, कुम्भदास, चतुर्भुजदास, राजा टोडरमल, राजा आसकरण, पृथ्वीराज प्रभृति गण्यमान्य कविगण हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि में लीन थे। इस काव्यरस से स्वयं अकबर

भी अभिभूत हुए बिना नहीं रह सका। इस काव्य सभा का वह मूक दर्शक-मूक श्रोता नहीं रहा वरन् उसकी हृदय-तरंगें वाणी का रूप धारणकर फूट पड़ीं। हिंदी में उसकी रुचि बढ़ती गई और वह कविता भी करने लगा। काव्य-रसिक अकबर ब्रजभाषा में 'अकबरसाह' और 'साह अकबर' के नाम से कविता किया करता था। उनकी कविताओं का कोई संग्रह नहीं हैं- फुटकर रचनाएँ हैं जो इधर-उधर संदर्भ-ग्रंथों में मिलती हैं। उनकी कविताएँ सामान्य-स्तर की हैं। एक छंद देखिए-

''जाको जस है जगत में जगत सराहै जाहि
ताको जीवन सफल है कहत अकबर साहि।।''
(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 133 अनुपम प्रकाशन, पटना, संस्क. 2008 ई.)

कवि के अनुसार उसी मनुष्य का जीवन सफल है जिसका यश-कीर्ति जग-जाहिर हो और सर्वत्र उसकी प्रशंसा होती हो।

एक अन्य छंद में नायिका एक थोड़ी-सी आहट से ही नायक को पहचान जाती है और चौंककर तेज चलने लगती है परतु नायक कृष्ण उसकी वेणी पकड़ लेते हैं। इस छंद में उपमा-उपमान का सुंदर दिग्दर्शन कराया है कवि अकबर ने-

''साहि अकबर एक समै चले कान्ह विनोद विलोकन बालहि।
आहट तें अबला निरख्यो, चकि चौंकि चलि करि आतुर चालहि।।
त्यों बलि बेनी सुधारि धरी सु भई छबि यों ललना अरु लालहि।
चंपक चारु कमान चढ़ावत काम ज्यों हाथ लिए अहि बालहि।।'' (द्र. उपरिवत्)

ठा. शिवसिंह सेंगर कृत शिवसिंह सरोज के प्रारंभ में ही अकबर कवि मोहम्मद जलालुद्दीन अकबर बादशाह के तीन छंद दिए गये हैं जिनमें से दो यहाँ अवलोकनार्थ उद्धृत किए जा रहे हैं-

''शाह 'अकब्बर' बाल की बांह, अचिंत गही चलि भीतर भौने
सुंदरि द्वारहि दृष्टि लगाय के, भागिबे की भ्रम पावत गौंने
चौंकत ही सब ओर बिलोकति, संक संकोच रही मुख मौने
यों छवि नैन छबीली के छावत, मानो बिछोह परे मृगछौने

केलि करै बिपरीत रमै, सु 'अकब्बर' क्यों न रती सुख पावै
कामिनी की कटि किंकिनि कान किधौं गनि प्रीतम के गुन गावै
बेंदी छुटी मनिमै सु ललाट तें, यों लट मैं लटकी लगि आवै
साहि मनोज मनो चित मैं, छवि चंद लए चकडोरि खिलावै''
(द्र. शिवसिंह सरोज, सं.डॉ. किशोरीलाल गुप्त, प्र.सं. सन् 1970, पृ. 11, प्रका. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद)

उपरिदर्शित छंदों में कवि अकबर ने भाव और भाषा का सुंदर प्रयोग किया है। उपमालंकार का प्रयोग अति सुंदर बन पड़ा है।

इसी क्रम में बादशाह अकबर के दो अन्य पद भी यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं। शृंगार परक प्रथम छंद में नारी रूप सौंदर्य का बडा ही मनोरम चित्र खींचा गया है। देखिए–

''सुंदर रूप अनूप तीय भंजन अंग सबै सुचिताई
कंचन षंभ नगन षरी सब जोबन संग लिये रुसनाई
सीस को अंभ करै मोतीयन जु लटी कुच से लपटाई
देषि रह्यो बिंब साह अकबर सिभु कुं पूजण नागणि आई।।
(हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 62, छं.स. 1)

बदन ढांप पोढी लीला पट पहेरे सीस रहो है प्यारी।
जब ही घुंघट पर न्यारो करत पिय मानो जीत लजारी।।
आ रस प्यारी पहरे पीतम परम विचित्र बहारी।
साह अकबर निहोर करत तिय है उठ चल हंस बोल हों बारी।।
(द्र. डॉ. सरजू प्रसाद अग्रवाल–अकबर दरबार के हिंदी कवि, पृ. 31)

अकबर के अपने दरबार के सरदारों–मंत्रियों से आत्मीय संबंध थे। बीरबल से तो उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। बीरबल योद्धा होने के साथ ही अति दयालु और दानी भी था। ''राजा बीरबल अपनी वर्ष–गाँठ पर अपना सारा सर्वस्व दान कर देते थे। जिस लड़ाई में वे मारे गये, उस पर जाने के पूर्व भी उन्होंने अपनी सम्पत्ति गरीबों में बाँट दी थी। बीरबल की मृत्यु का दु:संवाद जब अकबर को मिला, तब अकबर ने यह सोरठा लिखा था –

दीन जानि सब दीन, एक न दीन्हों दुसह दुख,
सो मो कहँ अब दीन, कछुक न राख्यौ बीरबल।''
(द्र. रामधारी सिंह 'दिनकर'–संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 291)

एक अन्य अवसर पर भी, जब संगीत सम्राट् तानसेन और राजा पृथ्वीराज भी स्वर्ग सिधार गए, तब अकबर ने अपनी मायूसी का जिक्र करते हुए कहा था –

''पीथल सों मजलिस गई, तानसेन सो राग।
हसिबौ, रमिबौ, बोलिबौ, गयौ बीरबल साथ।।''
(द्र. डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या–भारतीय आर्य भाषा और हिंदी, पृ. 195)

यद्यपि थोड़े ही सही पर अकबर द्वारा रचित छंदों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्हें ब्रजभाषा का अच्छा ज्ञान था। उनकी कल्पना तथा उक्ति वैचित्र रीतिकालीन कवियों के समकक्ष ही ठहरती है। मायाशंकर याज्ञिक ने अकबर की स्फुट रचनाओं का संकलन 'अकबर संग्रह' नाम से प्रकाशित कराया।

शहंशाह अकबर का हिंदी–प्रेम केवल कवियों के बीच बैठकर कविता का रसास्वादन करने तक ही सीमित नहीं था किंतु काफ़ी हद तक हिंदी का प्रयोग उसके राजकार्यो में भी होता था। हालांकि अकबर के राजस्व मंत्री राजा टोडरमल ने फ़ारसी को दरबार की भाषा बना दिया था परंतु वह पूर्णतया राजभाषा का दर्जा नहीं पा सकी थी। प्रजा और प्रशासन के बीच हिंदी का ही प्रयोग जारी था। संपर्क का माध्यम हिंदी

ही थी। यहाँ तक कि– ''मुगल सम्राट स्वयं जब सामन्तों, सभासदों एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों से बात करते तो उनकी अभिव्यक्ति की भाषा हिन्दी ही होती थी। फारसी भाषा तो वे अन्य लोगों की भाँति बाद को ही सीखते थे।'' (द्र. रामबाबू शर्मा–राजभाषा हिंदी की कहानी, पृ. 39, द्वि.सं. 1985)

यह निर्विवादित तथ्य है कि लोकतांत्रिक तथा राजतांत्रिक शासन–पद्धतियों में बहुत अंतर होता है। प्रथम जनाभिमुख है–जनता के अधिकारों की रक्षक है, जबकि द्वितीय शासक की हितसाधक अर्थात् संपूर्ण शक्तियाँ – सभी अधिकार राजा के पास ही रहते हैं। अकबर एकछत्र सम्राट् था हिंदुस्तान के अधिकांश भू–भाग पर उसकी पताका फहरा रही थी। अत: रीति और नीति के अनुसार वह तुर्की–फ़ारसी कोई भी राजकाज की भाषा रख सकता था, लेकिन उसके दरबार में हिंदी को वरीयता प्राप्त थी, यहाँ तक कि प्रथम नियुक्ति के समय अधिकारियों को शपथ लेनी पड़ती थी जो देवनागरी में लिखित हिंदी होती थी, जो इस प्रकार है– ''षलक के सुष, पावणे के वासते व नीति मारग के वासते पहेली राह खूब यही है जु सबका सेवा कअर परमार्थ के बीचि सुषीसाहिब कै साये दरबा साहिबर के अधीन ही कर आपणा अरपर की सकता।'' अर्थात् ''मैं जनता के सुख के वास्ते, नीति–मार्ग पर चलने के लिए सबकी सेवा व परमार्थ के लिए बादशाह के इस दरबार के अधीन अपने को समर्पित करता हूँ।'' (द्र. उपरिवत्, पृ., 36–37) जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि राजा टोडरमल ने राजकीय कार्यों के लिए फ़ारसी भाषा का चलन कर दिया था अत: उपरिदर्शित शपथ पर फ़ारसी का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। लिपि देवनागरी ही रही परंतु भाषा फ़ारसी मिश्रित हिंदी हो गई। इसके बावजूद भी हिंदी के ब्रजभाषा स्वरूप का चलन पहले की ही भाँति जारी रहा और साथ ही दिल्ली के आसपास की भाषा खड़ीबोली ने भी दरबार में अपने पैर जमाने शुरू कर दिए। इस बिंदु पर हम डॉ. रामबाबू शर्मा के इन विचारों से सहमत हुए बिना नहीं रह सकते जो उन्होंने अकबर दरबार के राजकाज की भाषा के बारे में व्यक्त किए हैं–''ब्रजभाषा जनता की सांस्कृतिक, साहित्यिक और धार्मिक भाषा थी इसलिए अकबर ने इस सब गुणों के कारण ब्रजभाषा को राजकाज की भाषा तो अवश्य बनाया, किन्तु खड़ीबोली प्रशासन और प्रशासकों तथा उस समय के शिष्ट,सभ्य और शिक्षित समाज में अपना स्थान बना चुकी थी। दक्खिन में वह शिष्ट समुदाय और शासन की भाषा के पद पर पहले से प्रतिष्ठित हो ही चुकी थी किन्तु सु–साहित्यिक रचनाओं के अभाव के कारण यह ब्रजबोली की भाँति प्रतिष्ठित तथा पूज्य भाषा (बोली) नहीं थी फिर भी यह भाषा अकबर के समय तक प्रशासन और प्रजा में अपना व्यापक स्थान बना रही थी। अस्तु अकबर कालीन राजभाषा में ब्रजबोली के साथ खड़ीबोली का पुट होना स्वाभाविक था।'' (द्र. डॉ. रामबाबू शर्मा–बारहवीं सदी से राजकाज में हिन्दी, पृ. 53)

शहंशाह–ए–हिंद अकबर नि:संदेह एक उदार हृदयी, सामाजिक तथा धार्मिक समरसता का प्रतीक था परंतु वह देश में बहुप्रचलित भाषा हिंदी का उपासक, उन्नायक और प्रसारक भी था। उसके दरबार में अनेक सुनामधन्य हिंदी कवियों–साहित्यकारों को आश्रय प्राप्त था। उसने हिंदी को राजभाषा का दर्ज़ा देकर प्रशासन में उसके प्रयोग को वरीयता दी। श्रेष्ठ पुस्तकों के अनुवाद, अध्ययन और अनुशीलन में विशेष रुचि ली तथा महाभारत (संस्कृत) का पहले हिंदी अनुवाद कराया और फिर हिंदी प्रारूप से, फ़ारसी में अनुवाद भी कराया था।

ऐसे सफल राजनीतिज्ञ, दूरदर्शी कुशल शासक, हिंदू–मुस्लिम एकता के पैरोकार, भारतीय संस्कृति एवं हिंदी के उपासक–उन्नायक तथा प्रसारक को भारतीय इतिहासकारों ने जो प्रतिष्ठा दी है–जो सद्–उल्लेख किया है वह तो उनका कीर्ति–स्तम्भ है ही, लेकिन भारतीय साहित्यकारों ने उन्हें जो सम्मान, साहित्य में जो महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है उसके वे सर्वथा अधिकारी हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास के लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की निम्नोक्ति अकबर के लिए अति उपयुक्त प्रतीत होती है–''इसमें कोई संदेह नहीं कि अकबर के राजत्वकाल में एक ओर तो साहित्य की चली आती हुई परंपरा को प्रोत्साहन मिला, दूसरी
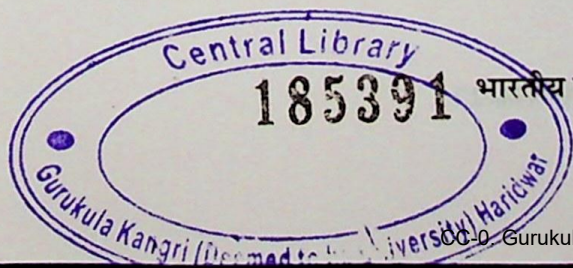
ओर भक्त कवियों की दिव्यवाणी का स्रोत उमड़ चला। इन दोनों की सम्मिलित विभूति से अकबर का राजत्वकाल जगमगा उठा और साहित्य के इतिहास में उसका एक विशेष स्थान हुआ।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 239)

लगभग 50 वर्ष तक शासन करने के बाद 63 वर्ष की आयु में सन् 1605 में मुगल सम्राट् अकबर का निधन हो गया।

यद्यपि अकबर द्वारा रचित हिंदी छंद अधिक नहीं हैं, फिर भी इनका महत्त्व कम नहीं होता। ये एक ऐसे व्यक्ति द्वारा रचित हैं जिसकी मातृभाषा हिंदी नहीं अभारतीय थी, जो विधर्मी था तथा जिसका अधिकांश समय युद्ध के मैदान में व्यतीत हुआ। अकबर को इस बात के लिए सदैव याद किया जाएगा कि उसने अपनी भाषा के बदले हिंदुस्तान की भाषा हिंदी को अपने राजकाज की भाषा बनाया और अनेक हिंदी कवियों को प्रश्रय-प्रोत्साहन देकर उसके प्रसारण-उसकी समृद्धि में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

कम कीर्ति अकबर की नहीं सत्शासकों की ख्याति में,
शासक न उसके सम सभी होंगे किसी भी जाति में।
हो हिन्दुओं के अर्थ हिन्दू, यवन यवनों के लिए,
हठ, पक्षपात तथा दुराग्रह दूर उसने थे किये।
निज राज्य में सुख-शान्ति का विस्तार वह करता रहा,
अन्याय, अत्याचार को सब भाँति वह हरता रहा।
निज शत्रुओं के भी गुणों का मान उसने था किया,
विश्वासपूर्वक हिन्दुओं को सचिव तक का पद दिया।।-

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त (भरत भारती)

बीकानेर (राजस्थान) **जीवनकाल सन् 1549-1600**

महाराज पृथ्वीराज कृत 'बेलि क्रिसन रुकमणी री'

डॉ. बद्री प्रसाद पंचोली

बीकानेर-नरेश राव कल्याणमल के बेटे और राव जैतसी के पोते पृथ्वीराज के विषय में कर्नल टॉड ने लिखा है कि 'पृथ्वीराज अपने युग के वीर सामन्तों में एक श्रेष्ठ वीर थे। अपनी ओजस्विनी कविता से किसी भी कार्य का पक्ष उन्नत कर सकते थे तथा स्वयं तलवार लेकर लड़ भी सकते थे।' उनका जन्म संवत् 1606 (सन् 1549 ई.) तथा निधन संवत् 1657 (सन् 1600 ई.) हुआ। पृथ्वीराज महाराजा रायसिंह के बड़े भाई थे। वे श्रेष्ठ कोटि के कवि थे और भगवद्भक्त थे। भक्तमाल में उनको दो भाषाओं (डिंगल-पिंगल) में निपुण कहा गया है -

रुकमिनी लता बरनन अनुप, वागीस-वदन कल्याण-सुव।
नरदेव उभै भाषा निपुण, प्रथीराज कविराज हुव।

ये अकबर के कृपापात्र थे और गागरोन का किला इनको जागीर में दिया गया था। डिंगल कवियों में पृथ्वीराज विशेष ख्याति प्राप्त थे। इनकी रचनाएँ हैं- वेलि क्रिसन रुकमणी री, दसम भागवत रा दूहा, गंगालहरी और दसरथरावउत। इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है- वेलि क्रिसन रुकमणी री। इसका रचनाकाल सं. 1637 है। विद्वानों का मानना है कि संवत् 1637 को वेलि की रचना आरंभ हुई और वैशाख सुदी 3 संवत् 1644 में यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ।

वेलि डिंगल के प्रसिद्ध छन्द वेलियों में लिखी गयी है। इसमें 500 छन्द हैं। यह शृंगार प्रधान रचना है। अन्य रसों की व्यंजना भी हुई है। शब्दप्रयोग में ये कुशल थे। शब्द की ध्वनि से ही भावचित्र साकार हो जाते हैं। प्रत्येक शब्द चित्रोपम, भावोपयुक्त और उपादेय है। काव्य में सभी प्रकार के अलंकारों का सटीक प्रयोग किया गया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, वैणसगाई आदि अलंकारों का प्रयोग देखते ही बनता है।

वेलि में कला और भावपक्ष का सुन्दर समतुलन विद्यमान् है। दोनों का विलक्षण समन्वय है। डॉ. टेसीटरी ने कहा है कि यह काव्य कला की दक्षता का विलक्षण नमूना है जिसमें आगरा के ताजमहल की तरह भाव की एकाग्रता सहजता के साथ अनेकानेक काव्य-गुणविस्तार का सुखद सम्मिश्रण हुआ है।

भाव-व्यंजना की सहजता का उदाहरण देखिये-बिहारी का दोहा है-

पति रति की बतियाँ कही, सखी लखी मुसकाय।
कै कै सबै टलाटली, अली चली मुसकाय।।

पृथ्वीराज के काव्य का ऐसा ही प्रसंग है -

वर नारि नेत्र निज वदन विलासा, जाण्यौ अन्तहकरण जई।
हँसि हँसि भ्रूहे हेक हेक हुइ, ग्रिह बाहिर सहचरी गई।।

वेलि में प्रकृतिवर्णन का भी वैशिष्ट्य देखने को मिलता है। उन्होंने षड्ऋतुवर्णन किया है। वह परम्परा से हट कर है। रात्रि, प्रभात:, ग्रीष्म, वर्षा, वसन्त आदि का चित्ताकर्षक वर्णन किया गया है। विशेषतया राजस्थान के ऋतु-परिवर्तन का अत्यधिक रमणीय चित्रण है। लू की प्रचण्डता और वर्षा का वर्णन दर्शनीय है -

काफ़ीकरि काँटलि ऊजल कोरण, धारे श्रावण धरहरिया।
गलि चालिया दिसोदिसि जलग्रम, थँमि न विरहिणि नयण थिया।। 195
वरसतै दड़इ नड़ अनड़ वाजिया, सघण गाजियौ गुहिर सदि।
जलनिधि ही समाइ नहीं जल, जलवाला न समाइ जलदि।। 196

बेलि श्रृंगार रस की सुन्दर रचना है, पर अन्त में कवि ने इसको अध्यात्म की रचना बताकर जीवन-मुक्ति की निसैनी और स्वर्गलोक की सीढ़ी भी बतलाया है -

प्रिथु बेलि कि पंच विध प्रसिध प्रणाली, आगम निगम कजि अखिल।
मुगति तणी नीसरणी मंडी, सरगलोक सोपान इल।।

उनका ब्रजभाषा पर भी असाधारण अधिकार था; पर बेलि की रचना डिंगल में ही की गई है। डिंगल ने उनकी कविता को ओजस्विनी बना दिया है। यह उनकी समाज स्वीकृत लोकप्रिय रचना है। समसामयिक साहित्य रसिकों ने इसे अमृत की बेल कहा है। इसे पंचम वेद भी कह दिया गया है।

'दसम भागवत रा दूहा' में 184 दोहे मिलते हैं। गंगालहरी में 80 दोहे हैं। 'दशरथरावउत' में रामचन्द्र की स्तुति के 50 दोहे हैं और 'वसदेरावउत' में 165 दोहों में श्रीकृष्ण की स्तुति की गई है। उनकी कविता के कुछ नमूने उनकी काव्यकला की उत्कृष्टता को प्रमाणित करेंगे। प्रभातवर्णन देखिए-

गत प्रभा थियौ ससि रयणि गलती, वरमन्दा सइ वदन वरि।
दीपक पर जलतौ इ न दीयें, नासकरिम सू रतनि नरि। वेलि 182।

रात बीतने पर चन्द्रमा कान्तिहीन हो गया जैसे पति के अस्वस्थ होने से पतिव्रता का सुन्दर मुख। दीपक जल रहा है, पर प्रकाश नहीं करता जैसे आन-बान बिना नरश्रेष्ठ।

वाणिजाँ वधू गो वाछ असइ विट, चोर चकव विप्र तीरथ वेल।
सूर प्रगटि एतला समपिया, मिलियाँ विरह विरहियाँ मेल। वेलि। 186।

सूरज ने उग कर वणिकों को अपनी स्त्रियों से, गौओं को बछड़ों से, और कुलटाओं को लम्पटों से वियुक्त किया। चोरों को उनकी स्त्रियों से, चकवा को चकवी से और विप्रों को तीर्थ की लहरों से मिला दिया।

महाराणा प्रताप की प्रशस्ति में उन्होंने लिखा -

धर बाँकी दिन पाधरा, मरद न मूकै माण।
घणाँ नरिन्दाँ घेरियौ, रहै गिरिन्दाँ राण।।
अकबर समँद अथाह, सूरापण भरियौ सजल।

मेवाड़ो तिण माँह, पोयण फूल प्रताप सी।।
माई एकड़ा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतौ ओझकै, जाण सिराणै साँप।।

गंगालहरी में भगवती भागीरथी की स्तुति के कुछ अंश द्रष्टव्य हैं।

मोड़ौ आयौ मात, तैं वेगो ही तारियौ।
पड़ियों रहसूँ पाँय, भाटौ हुय भोगीरथी।।
जब तिल जितरौ हेक, हेक कणूकौ हाड़ रौ।
मुवा पछै ही माय, मेलै गत भागीरथी।।
पुलियै मग पुलियाह, हुवै दरस अदरस हुवा।
जल पैठों जफ्रियाह, मंदा क्रम भागीरथी।।

भौं बाँकी हो राधेवर की।
रास समय पर नीकी विराजत मुरली अधर अधर की।
राधाराई सब बन आई और आई हैं घर घर की।
सुनत तान मुनि जन अकुलाये उछलि मीन सर सर की।
गजा कहै भव पीड़ मिटत है छबि निरखत गिरधर की।।

बीकानेर महाराजा गजसिंह (सिंहासनारूढ़ सन् 1745)

भक्त कवि राजा आसकरण

डॉ. किरन पाल सिंह

मध्य प्रदेश स्थित नरवरगढ़ राज्य के राजा थे आसकरणजी। सन् 886 ई. में कछवाहा राजवंश में एक अत्यंत प्रतापी राजा नल हुआ। उसने अपने नाम पर एक नगर बसाया नलवरगढ़ और उसे अपनी राजधानी बनाया। कालांतर में वही नलवरगढ़ बदल कर नरवरगढ़ के नाम से जाना जाने लगा। वही नरवरगढ़ आज ग्वालियर राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसी राजवंश में आगे चलकर सन् 1558 में जन्म हुआ राजा आसकरणजी का। उनके विषय में कोई बहुत अधिक विवरण प्राप्त नहीं होता। 'शिवसिंह सरोज के अनुसार आसकरनदास कछवाह राजा भीम सिंह नरवरगढ़ के पुत्र थे जिनका जन्म 1615 (सं.) में हुआ था।' (द्र. शिवसिंह सरोज, संपा. डॉ. किशोरीलाल गुप्त, प्र.सं. सन् 1970, पृ. 652)।

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार-"आसकरन-कछवाहा राजा पृथ्वीराज की वंश परम्परा में ये राजा भीमसिंह के पुत्र एवं एक उच्चकोटि के वैष्णव तथा कील्हदेव स्वामी के शिष्य थे। ये नरवरगढ़ के अधिपति थे। (द्र. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 2, नामवाची, प्र.सं. धीरेन्द्र वर्मा, सं. 2000 ई., पृ. 37, प्रका. ज्ञानमण्डल लि. वाराणसी) वैसे इनका उल्लेख, मिश्रबंधु विनोद, भक्तमाल, अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय तथा आइने-अकबरी में भी किया गया है।

राजा आसकरण मुग़ल सम्राट् अकबर (सन् 1542-1605) का समकालीन था। अकबर विद्या और कलाप्रेमी था। उसके दरबार में विद्वान कवियों तथा कलाकारों को विशेष सम्मान और आश्रय प्राप्त था। उसके दरबार में अनेक उच्चकोटि के हिंदी कवि रहते थे जिनमें राजा आसकरण भी शामिल थे, जैसा कि डॉ. सरजू प्रसाद अग्रवाल ने अपने ग्रंथ 'अकबर दरबार के हिन्दी कवि' में दर्शाया है। डॉ. अग्रवाल ने लिखा है-"अकबरी-दरबार के वैभव की प्रशंसा सुनकर देश के प्रत्येक कोने से कलावंत अपनी-अपनी कला के समुचित सम्मानार्थ दरबार में उपस्थित हुए थे। कवि, चित्रकार, संगीतज्ञ, वास्तुकार सभी को उचित सम्मान मिला था। हिन्दी के कवियों को भी दरबार में स्थान दिया गया था जिसका उल्लेख संग्रह ग्रंथों, वार्ता साहित्य, समकालीन कवियों की रचनाओं, ऐतिहासिक ग्रंथों तथा हस्तलिखित प्रतियों में मिलता है।"दरबार-वृत्ति पाने वाले हिन्दी-कवियों के अतिरिक्त कुछ अन्य कवि भी अकबरी दरबार द्वारा सम्मानित और पुरस्कृत हुए थे। इन सब हिन्दी-कवियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो दरबार में स्थायी रूप से रहने वाले कवि थे, इनमें राज-वृत्ति में लगे हुए स्वांत: सुखाय रूप में कविता करने वाले कई साधारण और उच्च अधिकारी भी थे। इनमें चतुर्भजदास ब्राह्मण, राजा आसकरण, राजा पृथ्वीराज, सूरदास, मदन मोहन, मनोहर कवि, राजा टोडरमल, नरहरि, ब्रह्म, तानसेन, गंग और रहीम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन कवियों में कुछ तो अधिक प्रसिद्धि-प्राप्त कवि थे और कुछ कम प्रसिद्धि-प्राप्त। दूसरी श्रेणी के कवियों का दरबार में आना-जाना तो था किन्तु उससे खास सम्बन्ध नहीं था। इनमें चन्द्रभान, व्यास, करनेश, कुंभदास, सूरदास, दुरसाजी, होलाराय मुख्य हैं।" (द्र. डॉ. सरजू प्रसाद अग्रवाल अकबर-दरबार के हिन्दी कवि, पृ. 32)

राजा आसकरण एक संभ्रांत राजवंशीय थे, एक सम्पन्न तथा पुरानी रियासत के अधिपति थे,

मुगल साम्राज्य के हितैषी और सहायक थे और थे एक उच्चकोटि के रचनाकार। अत: उन्हें अकबर दरबार में उनकी योग्यता एवं गरिमा के अनुरूप स्थान और प्रतिष्ठा मिली हुई थी। वे अकबर दरबार के गण्यमान्य समादृत सरदारों-कवियों में अग्रगण्य थे। ''राजा आसकरण का उल्लेख 'आइने अकबरी' में अबुल फ़ज़ल द्वारा दी हुई प्रभावशाली सामंतों तथा राजाओं की सूची में आया है। राजा आसकरण को राग सुनने का व्यसन था और इस कारण उनके यहाँ दूर-दूर के कलावंत आते थे। तानसेन से भी इनका इसी सम्बन्ध में परिचय हुआ था और तानसेन के विष्णुपद को सुनकर उन्हें भी वैसा ही पद सीखने की इच्छा हुई थी। इन्होंने वल्लभ-संप्रदायी गोविंद स्वामी को तानसेन का गुरु जानकर उनके पास चलने की इच्छा प्रकट की और तानसेन के साथ वे गोविंद स्वामी से मिले। फिर उन्होंने श्री गुसाई, विठ्ठल नाथ से सेवा की विधि सीखी, कृष्णलीला का भेद मालूम किया और कृष्ण-भक्ति में लीन रहने लगे।'' (द्र. उपरिवत्, पृ. 39)

भक्त कवि थे आसकरणजी। उनके उपास्य देव थे युगलमोहन (जानकी मोहनराम तथा राधा मोहन कृष्ण)। अहिल्या का उद्धार करने वाले भगवान् राम की लीला का रहस्य ब्रह्मा आदि देव भी नहीं समझ सके फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है ? यही सोचकर वे भगवान् के चरण-कमलों की वंदना करते हैं जो सभी प्रकार के पापों और दुखों का नाश करने वाले हैं -

''मोहन चरनारविंद त्रिविध ताप हारी।
कहि न जात कौन पुन्य, कर जू सिर भारी।।
निगम जाकी साख बोलैं, सेवक अधिकारी।
धींवर-कुल अभय कीन्हौ, अहल्या उद्धारी।।
ब्रह्मा नहीं पार पावैं, लीला-बपुधारी।
'आसकरन' पद-पराग, परम मंगल कारी।।''
(द्र. कल्याण : संत-वाणी अंक, सं. 1, वर्ष 29, तृ.सं. संवत् 2061, पृ. 356, संपा. हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीता प्रेस गोरखपुर)

कृष्ण की बाल-लीलाओं का स्वाभाविक वर्णन किया है आसकरण ने - माता यशोदा प्रात: काल सोते हुए गोपाल कृष्ण को जगा रही है -

''उठो मेरे लाल गोपाल लाडिले, रजनी बीती बिमल भयो भोर
घर घर में दधि मथत गोपियाँ, दुज-गन करत वेद की सोर
करो कलेऊ दधि अरु ओदन, मिश्री बाँटि परोसों ओर
'आसकरन' प्रभु मोहन तुम पर, वारों तन मन प्रान अकोर''।
(द्र. शिवसिंह सरोज : संपा, डॉ. किशोरीलाल गुप्त पृ. 32-33)

एक अन्य पद भी अवलोकनीय है -

''नन्द किशोर यह बोहनी करन न पाई।
गोरस के मिष रहहिं ढंढोरत मोहन मीठी तानन गाई।।
गोरस मेरे घरहि बिके है क्यों वृन्दावन जाय।
आसकरण प्रभु मोहन नागर यशोमति जाय सुनाय।।''
(द्र. डॉ. सरजू प्रसाद अग्रवाल : अकबर दरबार के हिंदी कवि पृ. 40)

बाल-लीला प्रदर्शन के अंतर्गत कृष्ण दूध पीने में आना-कानी करते हैं, तब माता यशोदा

वात्सल्य भाव से समझाती हैं कि दूध पीने से चोटी शीघ्र बड़ी हो जाएगी। इस पद में कवि सूरदास से प्रभावित लगता है–

"कीजै पान लला रे ओट्यो दूध लाई जशोदा मैया।
कनक कटोरा भर पीजै ब्रज बाल लाडले तेरी वेनी बढ़ैगी भैया।।
औट्यो नीको मधुरा अछूतो रुचि सो करी लीजे कन्हैया।
आसकरन प्रभु मोहन नागर पय पीजै सुख दीजै प्रात करोगी पैया।।"
(द्र. उपरिवत्, पृ. 40-41)

कृष्ण की छेड़-छाड़ से त्रस्त लेकिन कृष्ण-प्रेम में अभिभूत गोपियाँ कृष्ण की शिकायत लेकर यशोदा के पास पहुँचती हैं –

"कब को भयो रे ढोटा दधिदानी।
मटुकी फोरत बांह मरोरत यह बात कित ठानी।।
नन्दराय की कानि करत हों सुनि हो यशोदा रानी।
आसकरन प्रभु मोहन नागर गुणसागर अभिमानी।।" (द्र. उपरिवत्, पृ. 41)

शरद की चाँदनी रात्रि में कृष्ण अपने सखाओं के मध्य बैठे हुए ऐसे शोभायमान हो रहे हैं मानो तारों के मध्य पूर्ण उज्ज्वल चाँद बैठा सुशोभित हो रहा हो। देखिए कवि की कल्पना –

"गोप मंडली मध्य मनोहर अति राजत नन्द को नन्दा।
शोभित अधिक शरद की रजनी उड़गन मानो पूरण चन्दा।।
ब्रजयुवती निरख मुख ठाडी मानत सुन्दर आनन्द कन्दा।
आसकरण प्रभु मोहन नागर गिरधर नव रस रसिक गोविंदा।।"
(द्र. उपरिवत्, पृ. 40)

अपने उपास्य के गुण-गायन में-उसकी रूप-माधुरी का अवलोकन करने में भक्त को अनिर्वचनीय सुख की प्राप्ति होती है। उस ईश्वरीय सुख के समक्ष त्रिलोक के ऐश्वर्य-जनित सुख भी नगण्य हैं –

"आज दशहरा शुभ दिन नीको।
गिरिधर लाल जवारे बँधत बन्यो है माल कुंकुम को टीको।
आरती करन देत नोछावर चिर जियो लाल मामतो जी को।
आसकरन प्रभु मोहन नागर सुख त्रिभुवन को लागत फीको।।"
(द्र. उपरवित्, पृ. 41)

नरवरगढ़ नरेश एक सुविख्यात नृप थे-शौर्य और श्रीसम्पन्न; लेकिन इससे भी बढ़कर एकनिष्ठ भक्त थे मनमोहन कृष्ण के। "इनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि ये ईश्वर की आराधना करते समय पूर्णतया तन्मय हो जाते थे। एक बार इनके एक शत्रु ने इन पर आक्रमण कर दिया। इनकी तन्मयता भंग करने के लिए उसने तलवार से इनके पैर की एडी काट दी लेकिन इतने पर भी इनकी ध्यानावस्था पर कोई प्रभाव न पड़ सका। इनकी ईश्वर-भक्ति देखकर वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि इनके राज्य को विजय करने की भावना का त्याग कर वापस चला गया।" (द्र. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 2, नामवाची, प्र.संपा. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 37-38)

राजा आसकरण विष्णु की सगुण भक्ति के उपासक थे। नररूप में लीला करने वाले राम और कृष्ण के चरित्रों का वर्णन किया है इन्होंने अपने पदों में। इन्होंने सीधी, साधी सरल ब्रजभाषा में रचनाएँ की हैं-काव्योक्त गुणों के चक्कर में नहीं पड़े। प्राय: अलंकारों और तत्सम् शब्दों के प्रयोग से भी दूर ही रहे। जो भी कुछ रचा है भक्ति के आवेश में ही रचा है। इनकी रचनाओं का कोई संग्रह नहीं है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' तथा 'कीर्तन-संग्रह' ग्रंथों में इनकी रचनाएँ दी हुई हैं।

राजा वही जाको राज सराहिये काज उही जो उछाह सों कीजै
धारा वही जो सदा रहै चंचल जोरा उही जो सुगंधि सों भीजै
बात वही जो सदा निबहै कवि टोडर मानि इहि सिष लीजै
फौज वही जो रहै तैयार औ मौज उही सो मगाय कै दीजै।।

राजा टोडरमल
अकबर दरबार के हिन्दी कवि – पृ. 53

महाराजा जसवन्तसिंह की कालजयी कृति "भाषाभूषण"

डॉ. देवेन्द्र कुमार सिंह गौतम

भारत के पश्चिमी क्षेत्र राजस्थान के पश्चिम भाग में स्थित मारवाड़ राज्य के शासक जसवन्तसिंह (प्रथम) का जन्म संवत् 1683 में हुआ था। पिता राजा गजसिंह के देहावसान के पश्चात् संवत् 1695 में मारवाड़ राज्य के शासक बने। इनका सम्पूर्ण जीवन बहुत उथल-पुथल भरा रहा। अल्प वय में शासन का भार और फिर वयस्क होने पर अधिकांश समय राजनीतिक संघर्षो और युद्धों में बीता। मुगल सम्राट् शाहजहाँ के अत्यन्त करीबी और विश्वासपात्र जसवन्तसिंह को बादशाह ने अनेक बार सम्मानित किया। वह इनकी वीरता और युद्ध कौशल से विशेष प्रभावित था। मुगलिया तख़्त पर अधिकार के लिए शाहजहाँ के पुत्रों के बीच संघर्ष में ये औरंगज़ेब के विरोधीपक्ष में थे और उसके विरुद्ध युद्ध का कुशलतापूर्वक नेतृत्व किया था। अन्त में औरंगजेब को बादशाहत मिली, लेकिन औरंगज़ेब इनकी वीरता का लोहा मान गया। इसीलिए उसने इन्हें सम्मानपूर्वक बुलाकर सन्धि की। इनके जीवन का काफी समय अपने राज्य से दूर कंधार, काबुल, गुजरात आदि में युद्ध और संघर्ष करते हुए व्यतीत हुआ। महाराजा जसवन्तसिंह का देहावसान संवत् 1735 में हुआ।

एक ओर ऐसा उथल-पुथल भरा युद्ध एवं संघर्षमय जीवन तथा दूसरी ओर आधा दर्जन से अधिक उत्कृष्ट कोटिक साहित्यिक-आध्यात्मिक कृतियाँ। एक हाथ तलवार तो दूसरे हाथ कलम। अथवा एक ही हाथ में तलवार और कलम साथ-साथ। तलवार-धनी भी और कलम-धनी भी। एक ओर राजनीतिक दाँव-पेंच तो दूसरी ओर काव्यशास्त्रीय अनुशीलन। एक ओर कूटनीतिक चालें, युद्ध - संघर्ष तो दूसरी ओर तत्व-चिन्तन। कैसा विलक्षण व्यक्तित्व रहा होगा ?

महाराजा जसवन्तसिंह रचित छोटी-बड़ी 9 रचनाएँ प्राप्त होती हैं। जिन्हें दो वर्गो में रख सकते हैं - साहित्यिक और आध्यात्मिक। भाषाभूषण, दोवा, प्रबोधनाटक, ये तीन साहित्यिक कोटि में रखी जा सकती हैं और आनन्दविलास, अनुभवप्रकाश, अपरोक्षसिद्धान्त, सिद्धान्तबोध, सिद्धान्तसार, छूटकदोहा, ये छह अध्यात्म विषयक हैं।

जसवन्तसिंह प्रणीत भाषाभूषण उनकी सर्वाधिक ख्याति प्राप्त रचना है। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में बहुत से उत्कृष्ट काव्य प्रतिभा सम्पन्न आचार्य-कवि हुए और उन्होंने एक से बढ़कर एक लक्षणग्रन्थ हिन्दी को दिए, पर, जो लोकप्रियता और ख्याति भाषाभूषण को मिली वह किसी अन्य को नहीं। यद्यपि भाषाभूषण में रचनाकाल का उल्लेख नहीं मिलता तथापि कुछ विशेष आधारों पर उसका रचनाकाल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण अनुमित किया जा सकता है। अपने रचनाकाल के बाद से ही आगे लगभग दो सौ वर्षो तक यह हिन्दी के कर्त्ताओं और लक्षणग्रन्थ-निर्माताओं के लिए आदर्शरूप में प्रतिष्ठित रहा। हिन्दी साहित्य-समाज में अलंकारों को पढ़ने-समझने और लक्षणग्रन्थ निर्माण के लिए भाषाभूषण आधार ग्रन्थ के रूप में मान्य रहा।

भाषाभूषण के सम्बन्ध में सामान्य धारणा यही है कि यह केवल अलंकारों का ही ग्रन्थ है। पर, पाँच उपविभागों में विभाजित इस ग्रन्थ के केवल दो अध्याय - चतुर्थ एवं पंचम ही अलंकार-विवेचन से

सम्बद्ध हैं। शेष, प्रथम अध्याय मंगलाचरण सम्बन्धी है। द्वितीय में नायक-नायिकाभेद वर्णित है। तृतीय अध्याय रस विशेषत: शृंगाररस और उसके अवयवों से सम्बन्धित है। इस प्रकार जसवन्तसिंह ने अपने समय के दो लोकप्रिय विषयों, रस और अलंकारों को आधार बनाकर इस ग्रन्थ की रचना की है। पर, यह मानना होगा कि इसकी ख्याति का मुख्य आधार अलंकार-प्रकरण ही है।

भाषाभूषण के अलंकार-प्रकरण को पढ़ते हुए यह स्पष्टरूप से सामने आता है कि इसकी रचना से पूर्व इसके कर्त्ता ने अलंकारशास्त्र सम्बन्धी पूर्व ग्रन्थों का गहराई से अध्ययन किया था और विषय को भलीभाँति हृदयंगम किया था। जहाँ तक आधार का प्रश्न है तो भाषाभूषण के अलंकार-प्रकरण के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि इसका मुख्य आधार संस्कृत आचार्य जयदेव प्रणीत चन्द्रालोक है। या यह कहना चाहिए कि संस्कृत आचार्य अप्पयदीक्षित द्वारा कुवलयानन्द नाम से लिखी गई चन्द्रालोक की टीका अर्थात् कुवलयानन्दीय चन्द्रालोक है। जयदेव प्रणीत चन्द्रालोक की विशेषता यह है कि इसमें अलंकारों को अत्यन्त संक्षेप में और बड़े ही सरल ढंग से निरूपित किया गया है। जसवन्तसिंह ने चन्द्रालोक की इस विशेषता को भलीभाँति हृदयंगम किया था, तभी उन्हें हिन्दी में भी चन्द्रालोक की जोड़ का ग्रन्थ बनाने में सफलता सिद्ध हुई।

चन्द्रालोक के साथ भाषाभूषण के अलंकार-प्रकरण का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि यह चन्द्रालोक का हूबहू अनुवाद नहीं है। अलंकारों के लक्षणों के सम्बन्ध में भले ही ऐसा कहा जाय पर, उदाहरण पक्ष के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यही जसवन्तसिंह का, और भाषाभूषण का भी, निजी वैशिष्ट्य है। यहाँ कुछ अलंकारों को आमने-सामने रखकर इस वैशिष्ट्य को समझा जा सकता है।

व्यतिरेक अलंकार का निरूपण चन्द्रालोक में निम्नलिखित रूप में किया गया है -

व्यतिरेको विशेषश्चदुपमानोपमेययो:।
शैला इवोन्नता: सन्त: किन्तु प्रकृतिकोमला:।।57।।

जसवन्तसिंह ने इसे इस प्रकार निरूपित किया है -

व्यतिरेक जु उपमान तें उपमे अधिकौ देखि।
मुख है अंबुज सो सखी मीठीं बात बिसेखि।।89।।

व्यतिरेक अलंकार का लक्षण है - जहाँ उपमान से उपमेय विशेष (अधिक) दिखाई दे वहाँ व्यतिरेक होता है। दोनों में लक्षण समान ही है। पर, चन्द्रालोककार ने उदाहरण यह दिया कि 'सज्जन पर्वतों के समान उन्नत, किन्तु प्रकृति से कोमल होते हैं। वहाँ भाषाभूषणकार ने यह उदाहरण देकर कि 'हे सखी, मुख कमल के समान तो है, पर मुख में विशेषता है कि उसमें मीठी बात (वाणी की मधुरता) भी होती है (कमल में नहीं), उदाहरण बदल दिया है।

इसी प्रकार परिकर अलंकार का उदाहरण देखिए -

चन्द्रालोक - सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु व: शिव:।।62।।
भाषाभूषण - ससिबदनी यह नाइका ताप हरति है जोहि।।94।।

जयदेव का उदाहरण शिवजी से सम्बन्धित है, जबकि जसवन्तसिंह ने उसे नायिका केन्द्रित कर दिया है। परिकर अलंकार में विशेष अभिप्राय युक्त विशेषण का प्रयोग होता है। चन्द्रालोक में कहा गया कि 'चन्द्रमा के द्वारा सुशोभित शिव आप लोगों के सन्ताप को दूर करें।' जसवन्तसिंह ने बड़ी सूझ-बूझ के

साथ 'सुधांशुकलितोत्तंस' को 'शशिवदनी' (चन्द्रमुखी) रूप में रखकर उसे नायिका के साथ जोड़ दिया-'देखो यह चन्द्रमुखी नायिका ताप दूर कर रही है।' दोनों ही उदाहरणों में चन्द्रमा (विशेषण) साभिप्राय है।

मिथ्याध्यवसिति अलंकार के उदाहरण को परिवर्तित कर जसवन्तसिंह ने उसे इस रूप में रखा है-

कर में पारद जौ रहै करै नवोढ़ा प्रीति।। 155 ।।

अर्थात् हाथ में पारा को स्थिर रख सकने वाला ही नवोढ़ा (नायिका) से प्रीति करे (नवोढ़ा की प्रीति प्राप्त कर सकता है)। जबकि चन्द्रालोक का उदाहरण आकाश कुसुम और वेश्या से सम्बद्ध था।

युक्ति अलंकार में मर्म (रहस्य) को छिपाने के लिए क्रिया की जाती है। चन्द्रालोककार ने जो उदाहरण दिया है वह इस प्रकार है –

त्वामालिखन्ती दृष्ट्वाऽन्यं धनुः पौष्पं करेऽलिखत्।। 156।।

अर्थात् '(कोई दूती नायक से कह रही है) नायिका तुम्हारा चित्र बना रही थी, पर किसी को समीप आता देखकर उसने हाथ में पुष्प के धनुष का चित्र बना दिया।'

इसके स्थान पर भाषाभूषणकार ने निम्नलिखित उदाहरण की कल्पना की –

पीव चलत आँसू चले पोंछत नैन जँभाइ।।183।।

अर्थात् 'प्रिय के परदेश चलते समय नायिका के नेत्रों से आँसू बह चले। किसी ने देख लिया तो इस मर्म को छिपाने के लिए जँभाई लेती हुई नेत्र पोंछने लगी।'

कहना न होगा कि भाषाभूषण का उदाहरण हिन्दी वालों के लिए अधिक सहज–सरल है।

इसी प्रकार चन्द्रालोक में निरुक्ति अलंकार को चन्द्रमा के पर्यायवाची 'दोषाकर शब्द को आधार बनाकर स्पष्ट किया गया है – '(कोई विरहिणी चन्द्रमा को फटकारती कह रही है) तुम्हारे इस प्रकार हमें सताने से यह सिद्ध होता है कि तुम सचमुच दोषाकर (दोषों की खान) हो।' यहाँ दोषाकर (दोषा अर्थात् रात्रि के करने वाले) का अर्थ नए ढंग से दोष + आकर (दोषों की खान) कल्पित किया गया है।

वस्तुतः चन्द्रमा का पर्यायवाची 'दोषाकर' हिन्दी में सामान्यत: प्रचलित और परिचित नहीं है। संभवतः इसी कारण जसवन्तसिंह ने इसे ग्रहण न कर नए उदाहरण की कल्पना की है, जिसका सन्दर्भ हिन्दी वालों के लिए अत्यन्त जाना-पहचाना था/है। उद्धव-गोपी संवाद, कुब्जा प्रसंग, सगुण-निर्गुण विवाद –

ऊधो कुबजाबस भए निर्गुन वहै निदान।। 191।।

अर्थात् 'हे उद्धव, (तुम श्रीकृष्ण को निर्गुण ब्रह्म कहते हो, सो ठीक ही है, क्योंकि) श्रीकृष्ण कुब्जा के वश में होकर अंततोगत्वा वही निर्गुण (गुणहीन) ही निकले (प्रमाणित हुए) (कुबड़ी के वश में होने वाले का निर्गुण नाम ठीक ही है)।

हालाँकि भाषाभूषण में अलंकारों के बहुतेरे उदाहरण चन्द्रालोक के समान ही हैं, लेकिन भिन्नता वाले इस प्रकार के और कितने ही उदाहरण सामने रखे जा सकते हैं। विस्तार भय से हम स्वयं को यहीं रोक

रहे हैं। ये कुछ थोड़े से उदाहरण विवेचन में सम्मिलित करने का हेतु यही है कि इनके माध्यम से भाषाभूषण की उन विशेषताओं को समझा जा सके जिनके कारण वह हिन्दी-समाज में अत्यन्त लोकप्रिय अलंकार ग्रन्थ के रूप में सम्मानित रहा ।

भाषाभूषण की पहली विशेषता तो यही कही जा सकती है, इसकी संक्षिप्त शैली। उस समय का जो साहित्यिक वातावरण था, उसमें बहुत गंभीर और विस्तृत अलंकारशास्त्रीय विवेचन-विश्लेषण की अपेक्षा विषय को बिना किसी उलझाव या तर्क-वितर्क के प्रस्तुत करना ही उपयोगी था। संस्कृत के पिछले खेवे के काव्यशास्त्रीय विवेचन में भी यह प्रवृत्ति आ चुकी थी। भाषाभूषणकार ने इसे समझ लिया था। दो पंक्ति के छन्द में लक्षण और उदाहरण दोनों समाहित कर देना, इससे अधिक संक्षिप्तता क्या हो सकती थी। चन्द्रालोक के संस्कृत के दो पंक्तियों के छन्द को हिन्दी के दोहा छन्द में ढालकर विषय का प्रस्तुतीकरण जसवन्तसिंह की काव्यशास्त्रीय निपुणता ही कही जाएगी।

दूसरी विशेषता है इसकी सरलता। विषय को बिना किसी उलझाव के सीधे-सरल ढंग से प्रस्तुत कर दिया गया है। विषय के साथ-साथ भाषा में भी यही दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। कठिन शब्दावली से लेखक ने अपने को बचाया है। पारिभाषिक शब्दों का भी यथासंभव हिन्दीकरण किया गया है अर्थात् उन्हें हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल ढाल दिया गया है।

हिन्दी की उस समय की मुख्य काव्यप्रवृत्ति शृंगार थी। अपने युग की प्रवृत्ति के अनुकूल जसवन्तसिंह ने अलंकारों के उदाहरणों की विषयवस्तु को अधिकांशतः शृंगार से सम्बद्ध किया। उनके इस दृष्टिकोण को इस बात से समझा जा सकता है कि उन्होंने चन्द्रालोक के उन उदाहरणों के स्थान पर जो भक्ति आदि विषयों से सम्बन्धित थे, शृंगार सम्बन्धी उदाहरणों की योजना की। यह इस ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता है। हमारे पूर्वोक्त उद्धृत उदाहरणों में जसवन्तसिंह की इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। भाषाभूषण में ऐसे उदाहरणों की संख्या अच्छी-खासी है।

जसवन्त सिंह जानते थे कि वे यह ग्रन्थ हिन्दी में और हिन्दी वालों के लिए लिख रहे हैं। इसलिए उन्होंने चन्द्रालोककार के उन उदाहरणों को, जिनकी विषयवस्तु हिन्दी वालों के लिए अपरिचित या कम परिचित थी, ग्रहण न कर उनके स्थान पर ऐसे उदाहरण सृजित किए जिन्हें विषयवस्तु शब्दावली आदि सभी दृष्टियों से हिन्दी-समाज सहजरूप में ग्रहण कर सके, आसानी से समझ सके। ऐसे कुछ उदाहरण हमने पूर्व में उद्धृत किए हैं। भाषाभूषण में ऐसे और भी बहुत से उदाहरण देखे जा सकते हैं। इसे इस ग्रन्थ की एक और बड़ी विशेषता के रूप में देखा जा सकता है।

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि अपनी ऐसी ही विशेषताओं के कारण अपने निर्माणकाल के बाद से ही साहित्यिक समाज में इसका पठन-पाठन, इसकी लोकप्रियता दिनोंदिन बढ़ती चली गई और आगे सैकड़ों वर्ष तक यह हिन्दी के लक्षणग्रन्थों में उच्च स्थान पर आसीन रहा। आज भी जहाँ अलंकारों अथवा अलंकारशास्त्र की चर्चा-परिचर्चा होती है, विवेचन-विश्लेषण होता है, भाषाभूषण उसमें अनिवार्य रूप से उपस्थित रहता है।

आधार ग्रन्थ :-

1. जसवन्तसिंह ग्रन्थावली, सम्पादक - विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रकाशक - नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण संवत् 2029

2. भाषाभूषण, सम्पादक - विश्वनाथप्रसाद मिश्र, भाष्यकार - चन्द्रशेखर मिश्र, पूर्णा प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण संवत् 2014

3. कुवलयानन्द, व्याख्याकार- डॉ. भोलाशंकर व्यास, प्रकाशक- चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण 1997 ई.

महाराज रूपसिंह कृत 'ब्रजबिलास सतसई'

डॉ. जया

किशनगढ़ राजस्थान का बहुत छोटा राज्य है। इसकी दो विशेषताएँ हैं - पहली किशनगढ़ के पास सलेमाबाद में पाँच सौ वर्ष से भी अधिक की काव्यपरम्परा चली-निम्बार्क तीर्थ के संस्थापक कवि परशुराम देव से वर्तमान् जगद्गुरु राधासर्वेश्वरशरण देवाचार्य तक सभी आचार्य श्रेष्ठ कोटि के कवि और चिन्तक हुए। इसी तरह किशनगढ़ के संस्थापक से लेकर यज्ञनारायण सिंह तक सभी शासक श्रेष्ठ कवि हुए। यह कवि परम्परा भी 400 वर्ष की है। कवियों में महाकवि नागरीदास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनकी बहिन सुन्दर कुँवरि भी श्रेष्ठ कोटि की कवयित्री थी। उनकी विमाता बाँकावतजी ब्रजदासी के नाम से कविता करती थीं। उनका 'भागवत' ग्रन्थ विगत एक हजार वर्ष में नारी लेखन के क्षेत्र में सबसे बड़ी रचना है।

इसी परिवार की 'ब्रजविलास सतसई' एक सुन्दर एवं श्रेष्ठ रचना है। पुष्पिका में इसे 'महाराज कृत सतसया' कहा गया है। रचनाकार और रचनाकाल के विषय में पता नहीं है। अनुमान से कुछ लोग इसे किशनगढ़ नरेश रूपसिंह जी की रचना बताते हैं। डॉ. फैयाज अली खाँ साहब का विचार है कि यह रूपसिंहजी के पौत्र की रचना है। रूपसिंहजी ने 1643 से 1650 तक शासन किया। उनके पौत्र 1706 से 1748 तक शासक रहे। उनके पुत्र बहादुर सिंह ने 1749 से 1782 तक शासन किया। ब्रजविलास सतसई की रचना 1640 से 1650 के बीच में कभी हुई होगी।

सतसई के पाँचवे दोहे में आता है - 'कुछ चाहत दोहा कह्यो, ब्रज बिलास ब्रजराज'। प्रतीत होता है कि राजसिंह 'ब्रजराज' छाप से कविता करते होंगे। रचनाकार ने प्रारंभ में अपने गुरु, वल्लभाचार्यजी के वंशधर रणछोड़ का नामोल्लेख किया है। रणछोड़ के शिष्य राजसिंह हो सकते हैं।

शैली की दृष्टि से यह रचना रीतिकाल की श्रेष्ठ रचनाओं में गिनी जाने योग्य है। किशनगढ़ राजपरिवार ने हिन्दी साहित्य की बहुत सेवा की है। कई पीढ़ियों ने समर्पित भाव से रचनाकर्म का निर्वाह किया है।

किशनगढ़ की स्थापना तो किशनसिंह ने की; पर नाम को सार्थकता मिली राजमंदिर में भगवान् कृष्ण के विग्रह की स्थापना से। उनके प्रति भक्तिभाव से ही रचनाकारों में समर्पण का भाव जागा। किशनगढ़ के राजमंदिर में वल्लभकुलीय उपासना पद्धति चली है। पर पास में सलेमाबाद में निम्बार्क सम्प्रदाय की उपासना पद्धति चली। किशनगढ़ के राजा निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों की चरण वन्दना भी करते रहे। राजा का अनुकरण प्रजा ने भी किया। इस तरह किशनगढ़ छोटी ब्रजभूमि ही बन गई। इसी से राजाओं को सारस्वतसाधना करने का अवसर मिला।

रीतिकाल शृंगार काल है। यह शृंगार भक्ति का ही अन्यथा उद्रेक है। रीतिकाल के सभी कवियों ने अपने रचनाकर्म को 'राधाकृष्ण सुमिरन को बहानो' कहा है। प्रस्तुत रचनाकार ने भी ऐसा ही किया है। कृष्ण का रसिक-शिरोमणि रूप ही अधिक रुचिकर लगा। कवि ने अपनी रचना को 'रस-विलास का सिन्धु' कहा है। अपने इष्टदेव की भक्ति में आकण्ठ डूबकर कवि ने अपने रचनाकर्म का निर्वाह किया है।

रचनाकार ने कहा है कि कलियुग के विषयी जनों के उद्धार के लिए, लोकहित की प्रेरणा से उसने

यह रचना की है। महाकवि तुलसीदास ने लोकहित को साहित्य का सर्वोत्तम लक्ष्य घोषित किया है –

कीरति भणिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई।

वही लक्ष्य प्रस्तुत रचना का भी है। कवि कहता है –

रस सिंगार की भावना, धारहु चतुर सुजान।
या कलि में उद्धार यह, समुझहु छाँडि अज्ञान।।

अर्थात् विषय–वासनाओं में फँसे लोग श्रृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में रुचि नहीं लेना चाहते। इसलिए ऐसे लोगों को भक्ति की ओर प्रेरित करने के लिए श्रृंगार को ही माध्यम बनाया गया है।

ब्रजराज की श्रृंगारिक लीलाओं का वर्णन होने के कारण ही सतसई का नाम 'ब्रजविलास सतसई' रखा गया है। कवि ने अपनी पैनी दृष्टि से ब्रजराज की अनेक सूक्ष्म लीलाओं का वर्णन किया है। वर्णन शैली अत्यधिक प्रौढ़ और सरस है। ब्रजभाषा की इसे श्रेष्ठ रचना कहा जा सकता है।

श्रृंगार बिम्ब प्रस्तुत करते समय वर्णन में निश्चय ही लौकिक आधार उभर आता है। भक्ति परक दृष्टि धुंधली पड़ जाती है। बीच–बीच में कवि यह बताना नहीं भूलता कि यह आकर्षक वर्णन शक्ति–शक्तिमान् के अलौकिक युग्म की लौकिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है। सतसई के भक्ति और श्रृंगारसे आपूरित कुछ दोहे दर्शनीय हैं :–

बनी ठनी सुन्दर सुघर, कित द्रिग चली विसाल।
चढ्यो द्रिगनि बन बनि बिनाँ, जानत हौं नन्द लाल।।
रूप भयो तो कहा भयो, बोले काढ़े तोल।
सूम वचन सुक ज्यौं पटी, भिंडपाल से बोल।।
ससि मुष मैं काजर सषी, क्यों यह धर्‌यो कलंक।
मुख निरमल तेरो महा, क्यों सम कर्‌यो मयंक।।
रतनारे प्यारे नयन, न्यारे राषौ नाँहि।
रूप ढरारे रावरे, राषौ मो हिय माँहि।।
रितु बसन्त कुंजनि पुहुप, बसन केसरी साज।
चष मूँदी षेलैं चतुरि, चंचल कुँवरि समाज।।
हरे वृच्छ कारी कुयल, पिचकै केसर रंग।
हरि राधे षेलैं उमगि, जैसे ब्याह अनंग।।
छकी छकावत गाइ कै, पीय कौ बोल सुनाय।
सुनि सुजाँन मो सौं मिलै, परी विरह के दाय।।
छटा घटा ऊँची अटा, भौं मन बटा सँमान।
विरह भटा कीनौं थटा, कित ब्रज नटा सुजान।।

ए अंखियां प्यारे जुलम करें।
यह महोटी जाल लपेटी झुक झुक भूम परें।।
नगधर प्यारे होउहुने न्यारे हाहा तोसों कोटि ररें।
राजसिंह को स्वामी श्री नगधर बिन देखे दिन कठिन भरें।।
किशनगढ़ महाराज राजसिंह (मृत्यु सन् 1748)

महाराज छत्रसाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ. गंगाप्रसाद बरसैंया

महाराणा प्रताप, वीर शिवाजी, गुरुगोविंद सिंह भारतवर्ष के स्वाभिमानी राष्ट्रभक्त व बलिदानी वीरों की शीर्षस्थ विभूतियों में से हैं जिनकी कीर्तिकथा इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। बुंदलेखंड के अप्रतिम योद्धा महाराज छत्रसाल भी उन्हीं विभूतियों में से एक हैं जिनकी गाथा अविस्मरणीय है। छत्रसाल का समय (सन् 1649 - 1734 ई.) मुगलों के कट्टरपंथी अत्याचारी दुष्कृत्यों का काल था। लोगों को तलवार की धार पर धर्म-परिवर्तन करने, भारतीय धर्म-संस्कृति के विरुद्ध आचरण करने, देवी-देवताओं की प्रतिमाओं को खंडित करने, गोहत्या करने, महिलाओं के साथ जबरन दुराचार कर अपमानित करने, जनता की धन-सम्पति लूटने जैसे कुनीतिपरक अभियान चलाए जा रहे थे। जनता भयभीत, असुरक्षित और त्रस्त थी। देवालय और धार्मिक ग्रंथ नष्ट किए जा रहे थे। इसे भारतीय इतिहास का अंधकार युग कहा जा सकता है। देश के अधिकांश भागों पर मुगलों का आधिपत्य था। सारा हिंदुस्तान छोटे-छोटे राज्यों-रियासतों में विभक्त था। भय और स्वार्थवश कोई राजा, राव मुगलों का विरोध करने का साहस नहीं कर पा रहा था। उनमें परस्पर मतभेद और विद्वेष के कारण अलगाव था। इन्हीं विषम परिस्थितियों में बुंदेल वीर चम्पतराय मुगलों के अत्याचारों के विरुद्ध लड़ते-जूझते रहे।

चम्पतराय, ओरछा राज्य के संस्थापक राजा रुद्रप्रताप के पुत्र उदयाजीत के पौत्र और भगवत राय के पुत्र थे। वे स्वाभिमानी, संघर्षशील, वीर, साहसी, महान् दूरदर्शी योद्धा थे। उनकी पत्नी थी लाल कुँवरि जिसे सारंध्रा नाम से भी जाना जाता है। चम्पतराय जीवन के अंतिम क्षणों तक बुंदेलों की आन-बान-शान और बुंदेलखंड की रक्षा के लिए मुगलों से लोहा लेते रहे। इसके लिए उन्हें जंगल-जंगल भटकना पड़ा। उनकी रानी पूरे समय उनके साथ रहकर उनका सहयोग और उत्साहवर्द्धन करती रहीं। मुगलों की भारी शक्तिशाली सेना और साधनों के ख़िलाफ़ चम्पतराय की शक्ति और साधन अत्यंत सीमित थे। ऊपर से क्रूर औरंगज़ेब ने अपनी कूटनीति से लालच देकर कतिपय बुंदेलों को अपनी ओर मिलाकर धोखे से चम्पतराय को मारने या पकड़कर उसके समक्ष लाने की योजना बनाई। फलत: गद्दार इन्द्रमणि, महासिंह भदौरिया और शुभकरण बुंदेला ने धोखा देकर चम्पतराय और उनकी रानी को जंगल में, मुगल सेना के घेरे में डलवा दिया। विवश चम्पतराय ने अपने सम्मान की रक्षा के लिए दुश्मन के हाथों अपमानित होने या मरने के बजाय स्वयं अपना अंत करने का निश्चय किया। उन्होंने रानी को विवश स्थिति और अपने अंत का समय निकट होने की जानकारी दी। अंतत: चम्पतराय और रानी लालकुँवरि ने परस्पर एक दूसरे को कटार भोंककर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। क्रूरता, अमानवीयता और गद्दारी का यह एक दुर्लभ कँपा देने वाला उदाहरण है जब इन गद्दारों ने चम्पतराय और रानी का सिर काटकर, औरंगजेब के पास पुरस्कार के लालच में भेजकर इतिहास का अमिट काला अध्याय लिखा।

छत्रसाल इन्हीं वीर, स्वाभिमानी, साहसी, राष्ट्रभक्त योद्धा चम्पतराय और उनकी समर्पित रानी लालकुँवरि (सारंध्रा) के सुपुत्र थे जिनका जन्म 4 मई 1649 को, तदनुसार ज्येष्ठ सुदी तीज संवत् 1706 वि. को टीकमगढ़ जिले के ककर कचनये गाँव में हुआ था। चम्पतराय की मृत्यु के समय छत्रसाल की

आयु मात्र 12-13 वर्ष की थी। छत्रसाल की जन्म तिथि के बारे में चम्पतराय के विश्वस्त ज्योतिषी कवि बखतबली भट्ट द्वारा बनाई गई जन्मपत्री में जो पंक्तियाँ लिखी हैं, वे इस प्रकार हैं -

'उदय में राजै अग्नि मंगल विराजै जहाँ, बलकरै शुक्र शनि सहित विहार है।
बुद्ध अरि नाशै रवि राहु प्रजा को प्रकाशै, लाभ करै सुर गुरु शशि सुख सार है।
सत्रह सौ छै को बिलम्बी नाम संवत्सर, जेठ तिथि तीज सित पक्ष गुरुवार है।
शिव कै नखत में बखतबली छत्रसाल, लीन्हो नरनाह नरसिंह अवतार है।'

संघर्ष की शुरूवात :- छत्रसाल को जन्म से ही अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़े। गरीबी का घनघोर संकट, राजनैतिक-सामाजिक आतंक, अपनों की उपेक्षा, माता-पिता का वियोग, साधनों का अभाव, कोई संगी-साथी नहीं। केवल अग्रज अंगद का साथ मिला। विवश होकर कुछ दिन मुगलों की सेवकाई करनी पड़ी, पर सहन नहीं हुई। मिर्जा राजा जयसिंह के साथ रहकर कुछ अनुभव प्राप्त किया। शिवाजी ने उन्हें मुगलों के विरुद्ध लड़ने तथा अपना राज्य स्थापित करने का परामर्श दिया। अपनी भवानी तलवार भी छत्रसाल को भेंट की। फलतः बुंदलेखंड आकर छत्रसाल ने पाँच घोड़ों और पचीस पैदल सैनिक साथियों के साथ अपने मुगल-विरोधी अभियान की शुरूवात की। उनका संकल्प था अत्याचारी मुगलों का विरोध, भारतीय संस्कृति और हिंदू धर्म की रक्षा। जब कोई राव-राजा मुगल-विरोध के लिए सामने आने को तैयार नहीं था तब छत्रसाल ने सामने आकर संघर्ष के लिए आह्वान किया, जिससे लोगों में एक नई जाग्रति आई। पीड़ित जनता किसी सबल सहारे और संरक्षण की प्रतीक्षा में थी। छत्रसाल के साहस से जनता में विश्वास बढ़ा। जनता को लगा कि कोई तो हमारी रक्षा-सुरक्षा के लिए सामने आया। इसी संकल्प की भावना ने छत्रसाल को जनता में सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली बनाया।

छत्रसाल ने अपना यह अभियान 22 वर्ष की अवस्था में प्रारंभ किया। उनके आश्रित राजकवि लाल ने अपने ग्रंथ 'छत्रप्रकाश' में छत्रसाल का जीवन-चरित्र अंकित किया है। कवि लाल के अनुसार-

'संवत सत्रह सै लिखे आठ आगरे बीस ।
लगत वर्ष बाईसई उमड़ चल्यो अवनीस।' (छत्रप्रकाश, अध्या-13)

संवत् 1728 (सन् 1671 ई.) में संघर्ष की शुरूआत हुई। विपरीत परिस्थितियों में सबल मुगलों के ख़िलाफ़ धर्मरक्षा हेतु युद्ध की दुंदुभि बजाना छत्रसाल के साहस और लोकप्रियता का परिचायक है। बिना भेदभाव के सबको साथ लेकर चलना उनकी लोकव्याप्ति का बहुत बड़ा प्रमाण है। अपनी माँ के जेवर बेचकर घोड़ा खरीदने वाले छत्रसाल ने अपनी सेना में ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य के अतिरिक्त दौंवा, खंगार, राउत, ढीमर, बारी, मोदी आदि सभी जातियों-वर्गो के लोगों को शामिल किया, इतना ही नहीं फौजेमियाँ जैसे राष्ट्रवादी मुसलमान भी इनकी सेना में थे। उन्होंने अत्याचारी मुगलों और उनका साथ देने वालों का तो विरोध किया लेकिन अपनी जनता की सुरक्षा और सुविधाओं का पूरा ख्याल रखा। लूटपाट और जनता का शोषण करने वालों को दंडित करने में कभी पीछे नहीं रहे। क्षेत्र की जनता उनके संरक्षण में सुरक्षित एवं आश्वस्त थी।

प्राणनाथ से प्रेरणा :- छत्रसाल ने प्रारंभ में संघर्ष और संगठन की प्रेरणा और मार्गदर्शन तो शिवाजी से प्राप्त किया। बाद में उनके दो जीवन-गुरु बने, वृंदावन के नरहरिदास और पन्ना के प्राणनाथ। प्राणनाथ ने एक ओर तो देश की तत्कालीन विषम स्थिति, मुगलों के अत्याचार, हिंदू धर्म तथा संस्कृति की दुर्गति और उस पर हो रहे प्रहार तथा राव-राजाओं की उदासीनता की ओर ध्यान खींचा और दूसरी ओर राजपूतों को भी

उन्होंने धिक्कारते हुए ललकारा –

'छूटत है रे खड़ग छत्रियों से, धरमजात हिंदुआन।
सत न छोड़ो से सतवादियों और बढ्यो तुरकान।
त्रिलोकी में उत्तम खंड भरत को, तामे उत्तम हिंदू धरम।
ताकि छत्रपतियों के सिर आये वही इत सरम।
पन रे धारी रे पन इत से चढ्या कोई उपज्यो असुर घर अंस।
जुधने करने उठया धरम संग, सब देखे खड़े राजवंस।
X X X
राजा ने भलों राणें राए तणो धरम जाता रे कोई दौड़ो।
जागो रे जोधा उठ खड़े रहो, नींद निगोड़ी रे छोड़ो।'

प्राणनाथ ने राजपूतों के पौरुष और क्षत्रियत्व को धिक्कारते हुए कहा कि पंडित और राजपूत इतना विनाश, अत्याचार, मंदिरों की तोड़-फोड़, गोवध देख रहे हो, तब भी चुप हो। तुम्हारा धर्म कहाँ गया ? क्या यही तुम्हारा कर्त्तव्य है ?

राजकुली रे रखनरजवट जो न आया इन अवसर।
धरम जाते जो न दौड़िया ताए सुर कहिए क्योंकर।
वेद न व्याकरणी रे पीड़ित पढ़वैयो गद्य दीन इष्ट आचार।
पीछे रे बल कब करोगे, होत है एकाकार।
सिध न साधो रे संतों - महंतों वैष्णव भेष दरसन।
धरम उछे दे रे असुरै सबन के, पीछे परचा देओगे किस दिन।
लसकर असुरों का चहुँदिस फैलआ, बाढ्यो अति विस्तार।
वन रे जंगल रे हिन्दु परवतो ओर कर लिये सब धुंधकार।
हर द्वार ढहाये उठाये तापसी तीरथ गोवध कियो विघन।
ऐसा जुलम हुआ जग में जाहेर, पर कमर न बाँधी रे किन।'

(किरन्तन – प्राणनाथ, पृ. 58)

प्राणनाथ की ललकार सुनकर उनके आह्वान पर छत्रसाल सर्वप्रथम आगे आए और मुगलों के विरुद्ध युद्ध एवं मुगलसत्ता के उच्छेदन की अगुवाई का संकल्प लिया –

बात सुनी रे बुन्देल छत्रसाल ने, आगे आए खड़ा ले तलवार।
सेवा ने जेई रे सारी सिर खैंच के साइए किया सैन्यपति सिरदार।

संगठन एवं युद्ध कौशल :- छत्रसाल कुशल संगठक और दुर्धर्ष योद्धा थे। इसीलिए सैनिक अभियान में उन्हें सफलता ही नहीं लोगों से भरपूर सहयोग और सम्मान मिला। उन्होंने लोगों को स्वतंत्रता और आत्मसम्मान से जीने के लिए प्रेरित किया। क्षेत्रीय राव-राजाओं, जमींदारों, सामंतों आदि को देश-प्रेम तथा हिन्दू धर्म की रक्षा का उद्‌बोधन मंत्र देकर, उनमें परस्पर विश्वास पैदाकर अपने अभियान के साथ जोड़ा और आश्वस्त किया कि किसी के साथ भी अन्याय या धोखा नहीं होगा। उन्हें समझाया भी कि सबके संगठित होने पर ही मुगलों की गुलामी, अत्याचारों-शोषणों से मुक्ति मिलेगी और अपने राज्य की रक्षा भी हो सकेगी। इस प्रकार सबकी सलाह और सहमति से, पूरी तैयारी और सुनियोजित ढंग से सर्वप्रथम उन गाँवों पर धावा बोला जो मुगलों के आधिपत्य में थे अथवा जो स्वार्थवश मुगल-शासकों का साथ दे रहे थे।

लूटपाट में सभी की हिस्सेदारी थी। उन्होंने छापामार युद्ध की नीति अपनाई थी, क्योंकि बड़ी सेना से आमने-सामने लड़ने से नुकसान अधिक हो सकता था। यह क्षेत्र जंगली था, मुगल सरदार इस क्षेत्र से पूरी तरह परिचित नहीं थे। अत: स्थान-स्थान पर छत्रसाल ने अपनी चौकियाँ, ठिकाने, केन्द्र स्थापित किए, जहाँ से सहयोग और सहायता ली जा सकती थी। धीरे-धीरे उनके पास हाथी, घोड़ों सैनिकों की एक बड़ी फौज तैयार हो गई। छत्रसाल को छोटे-बड़े पचासों युद्ध लड़ने पड़े। कहीं विजयी हुए तो कहीं पीछे भी हटना पड़ा, परंतु उन्होंने मुगलों से कभी हार नहीं मानी और न ही उनकी अधीनता स्वीकार की। औरंगजेब ने पूरी शक्ति और साम, दाम, दण्ड, भेद एवं छल-कपट से छत्रसाल को पराजित या नियंत्रित करना चाहा, किंतु असफल रहा। अंतत: मंसब देकर, छत्रसाल से समझौता किया। बाद में तो मुगल शासकों ने अपनी पारिवारिक शादियों में उन्हें ससम्मान आमंत्रित किया, सहयोग माँगा। छत्रसाल ने भी व्यवहार भिजवाकर सामाजिकता का पालन किया, इस आशय के पत्र प्रमाण हैं।

राज्य का विस्तार :- पाँच घोड़ों और पचीस सैनिकों से अपनी संघर्ष यात्रा प्रारंभ करनेवाले छत्रसाल ने अपनी संगठन क्षमता, युद्ध कौशल, पुरुषार्थ और रीति-नीति से राज्य का दूर-दूर तक विस्तार किया जिससे दिल्ली दरबार भी आशंकित और भयभीत रहता था। अंतत: मुगलों ने संबंध सामान्य बनाने की चेष्टा की। छत्रसाल ने अपने पुत्रों व बाजीराव के बीच जो राज्य का बँटवारा किया था उसके विवरणों से स्पष्ट है कि उनके पास करोड़ों की राशि, मनों सोना-चाँदी, महल-दुमहले, किले-गढ़ियाँ तथा हजारों हाथी-घोड़े एवं लाखों की सैन्य-शक्ति थी। उनके राज्य के चवालीस परगने थे। उनके राज्य की सीमाएँ यमुना, नर्मदा, टोंस और चंबल नदियों तक फैली हुई थीं। लोकजीवन में उनके राज्य-विस्तार की चर्चा कुछ इस तरह प्रचलित है -

'इत जमुना उत नर्मदा, इत चंबल उत टोंस।
छत्रसाल सों जरन की रही न काहू होंस।'

X X X

'भैंस बँधी है, ओरछा, पड़ा होशंगाबाद।
लगवैया है सागरे, चकिया रेवा पार।'

करन कवि ने छत्रसाल के राज्य की सीमा का उल्लेख इस प्रकार किया है -

''नर्मदा कालिंदी टोंस चंबल महावर से,
विरच बुन्देली हद बाँधी हिन्दुवान की''

एक अन्य कवि ने इस प्रकार दिग्दर्शन कराया है -

उत्तर समथल भूमि गंग यमुना सुबहति है।
प्राची दिस कैमूर सोन काशी सुलसति है।
दक्षिण रेवा विंध्याचल जन सीतल करनी।
पश्चिम में चंबल चंचल सोहति मन हरनी।
तिन मधिराजे गिरिवन सहित मनोहर।
कीर्तिस्थल बुन्देलिन की बुन्देलखंड वर।

इस प्रकार देखा जाय तो एक बहुत बड़ा राज्य स्थापित कर लिया था ओरछा नरेश छत्रसाल ने।

राज्याभिषेक :- छत्रसाल का राज्याभिषेक ज्येष्ठ शुक्ल 3 संवत् 1744 वि. (सन् 1687) में पन्ना में हुआ था। उनके राज्याभिषेक समारोह में पाँच करोड़ रुपये खर्च हुए थे। उसी दिन उन्हें 'प्रजाछत्र ब्रजेश' की उपाधि से अलंकृत किया गया था। उसी दिन से 'संवत् विजयाभिनन्दन' की शुरूवात हुई थी। औरंगज़ेब ने 1 जनवरी सन् 1707 में छत्रसाल को राजा की उपाधि तथा चार हजार की मंसब प्रदान की थी। छतरपुर नगर की स्थापना छत्रसाल ने संवत् 1764 (सन् 1707) में कार्तिक शुक्ल 9 गुरुवार को पुण्य नक्षत्र के मध्यान्ह काल में की थी जिसकी अगवानी बाबा लालदास ने की थी। पन्ना के विशाल मंदिर, भवन छतरपुर नगर तथा धुबला-मऊसहानिया एवं बुन्देलखंड के विभिन्न स्थलों पर उनके द्वारा निर्मित किले, भवन आदि, दिल्ली तथा भोपाल में उनके नाम पर स्थापित स्थल, स्कूल-कॉलेज-विश्वविद्यालय, पत्र-पत्रिकाएँ उनकी अक्षय-कीर्ति और लोकप्रियता का स्मरण करा रहे हैं।

पारिवारिक स्थिति :- चम्पतराय के पाँच पुत्रों का कतिपय ग्रंथों में उल्लेख है जिनके नाम हैं - सारवाहन, अंगदराय, रतनशाह, छत्रसाल और गोपाल। संघर्ष में छत्रसाल के प्रमुख साथी अंगदराय ही थे। छत्रसाल की प्रमुख रानी देवकुँवरि थी जो पंवार वंश की थी। देवकुँवरि के अलावा हीराकुँवरि का नाम भी बताया जाता है। छत्रसाल ने जो पत्र लिखे उनमें उनके दो पुत्रों के नाम ही बार-बार आए हैं-जगतराज और हृदयशाह। बँटवारे में भी उन्हीं दो का उल्लेख है। वैसे एक पुत्र भारतीचंद भी बताए जाते हैं जिन्हें प्रारंभ में ही जागीर देकर अलग कर दिया गया था। जगतराज और हृदयशाह दोनों में सौमनस्य न होने से छत्रसाल दुखी रहते थे। उन्होंने दोनों को समझाइश देते हुए कई पत्र लिखे थे। छत्रसाल की रानी की समाधि मऊसहानियाँ में बनी हुई है।

छत्रसाल को अपनी मातृभूमि बुंदेलखंड की रक्षा की सदैव चिंता रहती थी। जीवन के अंतिम दिनों में वृद्धावस्था के कारण वे अपने आपको कमजोर अनुभव करने लगे थे। उनकी अशक्तता पर बंगश ने मौका पाकर जब उन्हें घेर लिया और बचाव का कोई रास्ता न बचा तो छत्रसाल ने पेशवा बाजीराव से सहायता माँगी ताकि अपने देश के सम्मान की रक्षा की जा सके। उन्होंने बाजीराव को पत्र लिखते हुए अनुरोध किया -

जो गति भई गजेन्द्र की सो गति पहुँची आय।
बाजी जात बुन्देल की, राखो बाजीराव।

पेशवा बाजीराव ने भारी सेना लेकर छत्रसाल की मदद कर बंगश को बुंदेलखंड छोड़कर भागने को विवश किया। छत्रसाल यही तो चाहते थे -

बंगश खाँ दल बल सहित पर्यो जैतपुर आय।
अब उपाय इमि कीजिये, मियाँ जियत न जाय।

बाजीराव की मदद से राज्य की रक्षा हुई। बदले में छत्रसाल ने अपने राज्य का तिहाई भाग बाजीराव को प्रदान किया था।

बुंदेलखंड के इस अतुलनीय साहसी वीर योद्धा का सन् 1734 में स्वर्गवास हो गया। उस समय इनकी अवस्था 87 वर्ष की रही होगी।

साहित्य-साधना :- छत्रसाल शस्त्र और शास्त्र के ज्ञाता तथा साहित्यकारों के पोषक एवं संरक्षक थे। उन्होंने स्वयं कई कृतियों एवं सैकड़ों छंदों की रचना की। वियोगी हरि द्वारा संपादित ग्रंथावली के अनुसार

उनके सात ग्रंथ हैं जो इस प्रकार हैं :-

1. श्रीकृष्ण कीर्तन (72 छंद)
2. श्री रामयश चन्द्रिका (68 छंद)
3. हनुमद् विनय (37 छंद)
4. अक्षर अनन्य के प्रश्न और तिनके उत्तर (5 छंद)
5. नीतिमंजरी (34 छंद)
6. फुटकर पद (36 छंद)
7. द्रोपदी अष्टक (8 छंद)

ऐसा लगता है कि छत्रसाल ने समय-समय पर विभिन्न छंदों, कवित्त, सवैया, दोहा आदि में जो रचनाएँ कीं, उन्हीं छंदों को विषयानुसार एकत्रित कर पुस्तक का नाम दे दिया गया है। अलग से ग्रंथरूप में छत्रसाल ने इनका प्रणयन नहीं किया। वे केवल रचनाकार ही नहीं, साहित्य और साहित्यकारों के सच्चे प्रेमी और हितैषी थे। अपने राज्य में उन्होंने कवियों को भरपूर सम्मान देकर उन्हें संरक्षण दिया। इतिहास में तथ्य सर्वख्यात है कि छत्रसाल ने कवि भूषण की पालकी में स्वयं कंधा लगाकर उन्हें सर्वश्रेष्ठ सम्मान दिया था।

कहा जाता है कि छत्रसाल के राज्य में संरक्षित कवियों की संख्या 81 थी जिनमें प्रमुख थे - भूषण, लालकवि, प्रचंड, नवलशाह, मंडन, मुरलीधर, पान, घासीराम, दयाराम आदि। छत्रसाल ने अपने आश्रित कवियों को गाँव उपहार में दिए थे जिनका लाभ उनके वंशज बाद तक उठाते रहे। उनका मानना था कि कविगण माँ शारदा के पुत्र हैं जिनके कंठ में माँ सरस्वती साक्षात् विराजती हैं। सभी को उनका आदर करना चाहिए। वे कीर्ति-पताकाओं की तरह हैं जो यश को दूर-दूर तक प्रसारित करते हैं और जनता को सद्मार्ग के लिए प्रेरित करते हैं। उनका इसी आशय का एक छंद यहाँ प्रस्तुत है -

'आवत आप कृपा करिकै, छत्रसाल कहै उठ आदर कीजै।
सारद कंठ बसै जिनके, तिनके ढिंग बैठ सुधा रस पीजै।
तार जराय जवाहर दै, गज वाजन दै सनमानहिं कीजै।
कीरति के विरवा कवि हैं, इनको कबहूँ मुरझान न दीजै।'

महाराज छत्रसाल अवसर पाकर साधु-संतों और विद्वानों का सत्संग भी करते थे। गुरु नरहरिदास और महामति प्राणनाथ जैसे संत उनके मार्गदर्शक थे। वे अनीति-अन्याय के मार्ग से दूर रहकर नीतिगत पथ के गामी थे। अपने को शासक नहीं, जनता का सेवक मानते थे। जनसाधारण के प्रति अति संवेदनशील तथा मानवता के पोषक थे। राष्ट्र और प्रजा की समृद्धि, सुख-शांति के लिए दुष्टों-अपराधियों को दंडित करना जहाँ जरूरी मानते थे, वहीं वे यह भी मानते थे कि दीन-दुखियों को कष्ट देना, जबरन पैसा वसूलना, उनकी उपेक्षा करना अमानवीय कृत्य है। व्यवस्था से जुड़े लोगों को ईमानदारी से अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों का निर्वहन करना चाहिए। प्रस्तुत छंद उनकी इन्हीं भावनाओं का परिचायक है -

'चाहो धन धाम भूमि भूषन भलाई भूरि, सुजन सहूरजुत रैयत को लालियो।
तोड़ादार घोड़ादार वीरन सों प्रीतिकरि, साहस से जीत जंग, खेत से न चालियो ।
सालियो उदंडिन को दंडिन को दीजो दंड, करिके घमंड घाव दीन पै न घालियो।
विनती छत्रसाल कहै होय जो नरेश देश, होय न क्लेश लेश, मेरो कह्यो मानियो।
जो पै कोई निबल पै सबल जनावै जोर, ताको मद तोरि आपु करै जन भायबो।
मानियो रे मनुज विचार उने आनियो, जानियो रे गजब गरीब को सतायबो।'

छत्रसाल का मानना था कि शासक को माली की तरह होना चाहिए जो पेड़-पौधों को लगाता, पालता-पोषता और काट-छाँटकर आगे बढ़ाने की व्यवस्था करता है-

'माली के सम नृप छता, सो संपति सुखलेहिं।
सतबीजन रोपहिं थलन, लघुहिं बड़ो करि देहि।
लघुहिं बड़ो करि देहि, लेहि फूले फल ताके।
फूट देहि निकास, मिलहिं कूटे बहु थाके।
नत उन्नत कर देहिं, करहिं उन्नत कँह खाली।
कंटक छुद्र निकास और सींचहिं नृप माली।
X X X
छत्रसाल जन पालिबो, अरिहिं घालिबों दोय।
नहिं बिसारियो धारियो, धरा-धरन कोउ होय।
बालक सों पालहिं प्रजा प्रजापाल छत्रसाल।
ज्यों सिसु-हित-अनहित सहित, करत पिता प्रतिपाल।
रैयत सब राजी रहै, ताजी रहै सिपाहि।
छत्रसाल तेहि राज को, बाल न बाँको जाय।'

भक्ति-भावना :- छत्रसाल ने राम-कृष्ण, हनुमान सहित तमाम देवी-देवताओं का श्रद्धापूर्वक स्तवन किया है। उनकी रचनाओं का अध्ययन करने पर लगता है कि वे मुख्यत: राधा-कृष्ण के भक्त रहे। उन्हें अपना आराध्य और सर्वस्व मानकर अपनी भावनाएँ व्यक्त करते हैं। उनकी - 'नेही चाह चाही एक श्यामा श्याम पाने को' जैसी पंक्तियाँ इसकी द्योतक हैं। वे अपने को समर्पित मानकर आराध्य के स्वरूप, गौरव, यश, औदार्य, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सहज कृपालुता आदि गुणों के साथ उनके कार्यो-पतितोद्धार की घटनाओं, सेवकों के कल्याण आदि का बखान करते हैं। साथ ही अपनी दीनता, लघुता, दुर्बला आदि का स्मरण कराकर अपने कष्टों-पापों से मुक्ति-उद्धार और कृपा पाने की याचना करते हैं। नियमित पूजापाठ मंदिर-दर्शन करना उनका नियम था। यहाँ हम कतिपय पंक्तियाँ उद्धत कर उनकी भक्ति-भावना का परिचय देते हैं -

'दया सिंधु सुनिये अरज, श्री राधे ब्रजरानि।
छत्रसाल पायन पर्‌यो, सरन राखियो आनि।
X X X
लाज है हमारी सब हाथ ब्रजराजजू के,
आप ही हैं कर्नधार, आप ही जहान हैं।'
X X X
तुम घनश्याम हम जाचक मयूर मत्त ?
तुम सुचि स्वाति, हम चातक तुम्हारे हैं।
चारु चन्द्र प्यारे तुम लोचन चकोर मोर,
तुम जग तारे हम छतारे उचारे हैं।
छत्रसाल मीत मित्रता के तुम ब्रजराज
हमहूँ कलिंदजा के कूल के पुकारे हैं।
तुम गिरधारी हम कृष्णव्रतधारी,
तुम दनुज प्रहारे हम यवन प्रहारे हैं।'

यहाँ कवि छत्रसाल ने अपने आराध्य के समक्ष यह कहकर कि 'हम यवन प्रहारे हैं' अपना मुगल-विरोधी उद्देश्य भी व्यक्त कर दिया है। वे राम तथा अन्य देवी-देवताओं के प्रति भी पूर्ण आदर भाव व्यक्त करते हैं –

'राम कहौ राम कहौ, भूलि जनि जाव कोई,
राम के कहे जग में कोने दुख पायो है।'

'मोह भ्रम जनित विदारि तम तोम अब,
सीता कह चंद्र उर मंदिर बसावेंगे।'

'सब सुख धाम वसुधाम हैं आराम राम,
राम जपि राम जपि राम जपि भाई रे।'

इसी प्रकार वे गुरुदेव की भी वंदना करते हैं –

'श्री गुरु नरहरि देव को पा असीस छत्रसाल।
जिन इंद्रिन रस विरस करि कीन्हें दास निहाल।'

वे संतों की तरह माया को घातिनी-विषैली मानते हैं जो सर्पदंश से कम नहीं है-

'माया मनमोहिनी दुनी को उपराय केरि,
खाय जात पापिन ज्यों साँपिनि संपेलुवा।'

बुन्देली भाषा-प्रेमी :– छत्रसाल ने राजा होकर भी कभी जनता के बीच राजा होने का अहंकार प्रदर्शित नहीं किया। वे जनता से जनता की बोली बुंदेली में ही संवाद करते थे। जन संपर्क के लिए स्थान-स्थान पर बैठक व चबूतरे स्थापित कर प्रजा का सुख-दुख समस्याएँ जानकर समाधान करते थे। वे केवल संवाद में ही नहीं अपितु पत्राचार तथा पदों-सनदों में भी बुंदेली भाषा का प्रयोग करते थे ताकि राजा-प्रजा के बीच की दूरी समाप्त हो। उनके समय के लिखे गए सैकड़ों पत्र प्रकाशित हैं अथवा संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। राजघराने के दस्तावेज़ भी इसके साक्षी हैं। इन पत्रों से राज्य की स्थिति, युद्ध के प्रसंग तथा उनके सोच-विचारों, पारिवारिक, राजनैतिक व सामाजिक समस्याओं का परिचय मिलता है। उनके द्वारा अपने पुत्रों को लिखे गए कई पत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ एक छोटा-सा पत्र उदाहरणार्थ प्रस्तुत है जो उन्होंने पेशवा बाजीराव को लिखा था। इस पत्र में तत्कालीन बुन्देली भाषा का रूप देखा जा सकता है –

''खातिर लिख दई श्री महाराज श्री राजा छत्रसाल जू देव ने येते श्री पेशवा बाजीराव जू को आपर बंगश की लड़ाई में हमने तुमको बुलाओ तुमने फते करी ऊकी मगाद हम तुम्हारे ऊपर खुशी हैं तुमने बुढ़ापे में मर्जाद राखी अब तुमकों राज से तीसरो हींसा मिला है अबै हम इसे नहीं देत कि लड़े-भिरे कुछ जादा और मिल गई पन्द्रा बीस लाख की तो फिर सब हिसाब लगा के तीसरो हींसा दवो जैहै ईमें संशय न समझियो हाल में दो लाख रुपैया तुमारे खर्च को दये जात सो लै जाओ और बखत बेरा की खबर लगाये रहियो बैसाख सुदी – 3 सं. 1887 । हः संतोषमन बुतायती''

महाराजा छत्रसाल की वीरता, धीरता और महिमा का यशोगान उस समय के अनेक विद्वान्-कवियों ने किया है। हिंदी साहित्येतिहास प्रसिद्ध ओजस्वी कवि भूषण ने उनके प्रताप की चर्चा करते हुए लिखा था –

'कीवो सनमान मान देखो सब आन बान,
दान शान जूझ में न कोऊ ठहरात है।
भूषण प्रचंड मारतंड को प्रताप देख,
भागवे को पक्षी न पठान नियरात है।
शंका मान काँपत अमीर दिल्लीवारे जब,
चंपत के लाल के नगारे घहरात हैं।
चहूँ ओर ताके चकत्ता के दल ऊपर त्यों,
छत्ता के प्रताप के पताके फहरात हैं।''

प्रचंड कवि के अनुसार सभी वर्ग के लोग छत्रसाल का श्रद्धा-सम्मान के साथ निरंतर स्मरण करते हैं –

'राजा लेत रावत लेत, शाह शाहजाते लेत,
प्रातः उठ नाम लेत वीर छत्रसाल को।'

राष्ट्रीय कवि घासीराम व्यास का यह छंद विशेषरूप से उल्लेखनीय है–

'आन राखी अजब अनोखी छवि दान राखी,
ठान राखी ठसक सुठीक ठकुराने की।
कान राखी कुल की बुन्देलन की बातराखी,
शान राखी सौ गुनी सपूत कहलाने की।
व्यास कहैं छत्रिकुल छत्र छिति छत्रसाल,
टेक राखी चंपत सुजान मनमाने की।
खोटी राखी खलन के तन पै लंगोटी राखी,
चोटी राखी ऊँची मूँछ मोटी हिन्दुवाने की।'

इसी प्रकार उनके जीवन को आधार बनाकर धनराय, लाल, मंडन, पान दयाराम, नवलसिंह, मुरलीधर जैसे अनेक समकालीन कवियों ने अपने-अपने ढंग से छत्रसाल की प्रशस्ति का गायन किया है। महाराज छत्रसाल ने स्वयं और अपने आश्रित कवियों द्वारा हिंदी साहित्य संवर्द्धन में जो योगदान दिया है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय है।

सागर अगम भरौ सिंसार।
पाप रूप गंभीर नीर तंह त्रगुन लहर अपार।
ग्राह गरव गाढ़ै गहि डारत क्रेध रूप छरिवार।
कालरूप भय और भ्रमत जंह ग्रसै न होत उवार।
ग्यानी गोपद सम करि लेषै माधव न्रपति विचार।।

अजयगढ़ महाराज माधव सिंह (सन् 1793)

शंभुराज भोंसले 'नृपशंभु' की साहित्य साधना

डॉ. किरन पाल सिंह

हिंदी भाषी प्रदेशों के अतिरिक्त हिंदी साहित्य की रचना हिंदीतर भाषी प्रदेशों में भी हुई, और वह भी बहुत बड़ी मात्रा में। इस बात के साक्ष्य पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, आंध्र, उड़ीसा, बंगाल, आसाम में मिलते हैं और यहाँ तक कि केरल और कश्मीर के रचनाकारों ने भी हिंदी में साहित्य रचा है। महाराष्ट्र के महान् शासकों का हिंदी के प्रति विशेष प्रेम था और उन्होंने अपने दरबार में हिंदी कवियों को न केवल आश्रय दिया, वरन् कुछ राजा तो स्वयं भी कविता करने में निपुण थे। भोंसला वंश के अधिकांश राजाओं की छत्रछाया में हिंदी खूब फूली-फली। इन राजाओं में शिवराज (छत्रपति शिवाजी), नृपशंभु तथा शाहराज 'सुकवि' के नाम हिंदी के अच्छे रचनाकारों में लिए जाते हैं। यद्यपि नृपशंभु और शाहराज दोनों ही काव्य-मर्मज्ञ थे और दोनों ने ही उत्कृष्ट साहित्य की रचना की है, परंतु हमारे विवेच्य कवि 'नृपशंभु' हैं, अत: हम उन्हीं के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विचार करते हैं।

हिंदी के रीतिकालीन कवियों में 'नृपशंभु' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके नाम, जन्म और स्थान पर साहित्यकारों में मतभिन्नता है। कहीं इन्हें सितारागढ़वाले राजा शंभुनाथ सिंह सोलंकी कहा गया तो कहीं छत्रपति शिवाजी के पुत्र संभाजी। हम डॉ. कृष्ण दिवाकर के शोध-ग्रंथ 'भोंसला राज दरबार के हिंदी-कवि' को प्रमाण मानकर आगे बढ़ते हैं। उनके अनुसार-''शिवाजी के पुत्र संभाजी का ही साहित्यिक नाम 'नृपशंभु' था। इतिहास में प्रसिद्ध है कि इनका जीवनकाल सन् 1657 ई. से सन् 1689 ई. तक था। डॉ. ग्रियर्सन तथा एफ.ई. के अनुसार इनका उपस्थिति काल सन् 1650 ई. के आसपास होना बताया है जो संभव नहीं है। उस समय इनका जन्म तक न हुआ था। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार इनका जन्मकाल सन् 1681 ई. (संवत् 1738) भी असंभव है। शिवसिंह सेंगर ने इनका उपस्थिति काल (कविताकाल) संवत् 1738 अर्थात् सन् 1681 ई. माना है जो अनेक दृष्टियों से तर्कसंगत है, क्योंकि संभाजी का राज्याभिषेक सन् 1681 ई. में हुआ था और उसके पश्चात् शंभुराज 'नृपशंभु' हुए थे।'' (डॉ. कृष्ण दिवाकर भोंसला राज दरबार के हिंदी कवि प्र.सं. संवत् 2026 वि.,पृ. 163) इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नृपशंभु मराठा शिरोमणि क्षत्रपति शिवाजी के पुत्र संभाजी थे न कि शंभुनाथ सिंह सोलंकी जैसा कुछ विद्वानों का मत है।

शंभुराज का जन्म 14 मई सन् 1657 को पुरंदर के किले में हुआ था। इनके पिता शिवाजी और माता सईबाई थीं। इन्हें बचपन में ही मातृ-सुख से वंचित होना पड़ा। अत: इनका लालन-पालन शिवाजी की माता जीजाबाई की देखरेख में हुआ। दादी जीजाबाई और पिता शिवाजी ने इनको अच्छी शिक्षा और संस्कार दिलाए। इन्होंने धनुर्विद्या आदि शस्त्रास्त्रों में तो निपुणता प्राप्त की ही, साथ ही संस्कृत सहित प्राचीन ग्रंथों का भी पारायण किया। अपने ग्रंथ 'बुधभूषण' में इन्होंने इसका उल्लेख भी किया है- "बुधभूषण में अपना परिचय देते हुए स्वयं शंभुराज ने लिखा है कि उन्होंने काव्यालंकार, शास्त्र, पुराण, संगीत और धनुर्विद्या में निपुणता पाई थी और प्राचीन लेखकों के ग्रंथों का गहरा अध्ययन कर 'बुधभूषण' ग्रंथ का सम्यक् संकलन किया है।" (द्र. वही, पृ. 164)। इनके गुरु केशव पंडित थे और उन्होंने शंभुजी को वाल्मीकि रामायण भी सुनाई थी। किशोरावस्था से ही कविता करने लगे थे। इनके काव्य में नृपशंभु,

शंभुराज, शंभुकवि, शंभुनू, संभकवि, संभजू, आदि नामों की छाप मिलती है जो शंभुराज अथवा संभाजी के ही नाम हैं।

संभाजी का विवाह बाल्यावस्था में येसुबाई के साथ हुआ था जो पिलाजीराजे शिर्के की पुत्री थीं और जीजाबाई के संरक्षण में शिक्षित हुई। वे एक सुसंस्कारवान् और धर्म-परायण महिला तो थीं ही, साथ ही राजनीति प्रवीण भी थीं और पति के सभी कार्यों में पूर्ण सहयोग देती थीं।

संभाजी अपने पिता महाराज शिवाजी के समान ही तेजस्वी, वीर-प्रतापी प्रतिभावान तथा स्वाभिमानी व्यक्ति थे। औरंगज़ेब के द्वारा जब इन्हें 'पंचहजारी' पद दिया गया उस समय ये मात्र आठ वर्ष के थे। जब औरंगज़ेब ने शिवाजी को धोखे से बंदी बना लिया था उस समय ये उनके साथ थे और शिवाजी की चतुराई से दोनों मुक्त होकर बाहर आए। इनका जीवनकाल संघर्षमय रहा। डॉ. दिवाकर के अनुसार - ''बाल्यावस्था ही में उन्होंने सांस्कृतिक तथा राजनीतिक अनुभव प्राप्त किया था। राजा जयसिंह के डेरे में सांस्कृतिक वातावरण तथा युद्धविषयक दाँव पेंच को उन्होंने प्रथम देख लिया। इसके पश्चात् मनसबदारी राजशाही के सुख दु:ख के अनुभव आगरा के प्रवास में प्राप्त किया था। मुगल दरबार का वैभव तथा वहाँ का अविश्वासपूर्ण तथा भयावह वातावरण का भी अनुभव कर लिया। आगरा के बंदीगृह से मुक्त होने पर अपरिचित प्रदेशों में बड़ी सतर्कता से रहकर अनेक कठिन प्रसंगों का उन्हें सामना करना पड़ा था। बालपन में ही अन्य नैमित्तिक तथा राजनीतिक शिक्षा के साथ प्रत्यक्ष अनुभव भी उन्हें प्राप्त हुए। शिवाजी महाराज के प्रभावी व्यक्तित्व तथा उनके दाँव पेंच के संस्कार उनके मन पर सदैव होते रहते थे। शिवाजी के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली राजमाता जिजाबाई के सान्निध्य तथा शिक्षा का प्रभाव भी संभाजी पर अवश्य रहा होगा'' (द्र. वही, पृ. 166) कहने का तात्पर्य यह है कि संभाजी के असाधारण व्यक्तित्व के विकास में इन सभी घटकों का विशेष महत्त्व रहा और यही कारण है कि संभाजी में वे गुण और वह साहस-धैर्य समय और आयु से पूर्व ही आ गए, जो एक श्रेष्ठ तथा सक्षम राजा में होने चाहिए।

महाराज शिवाजी की मृत्यु सन् 1680 में होने पर संभाजी की सौतेली माता ने कुछ सरदारों को साथ मिलाकर अपने पुत्र राजाराम को राजसिंहासन पर बिठा दिया, जबकि परंपरानुसार राजा की मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र, अर्थात् संभाजी को राजगद्दी मिलनी चाहिए थी। इस अन्याय को संभाजी ने चुपचाप सहन नहीं किया, वरन् बड़ी कुशलता एवं चतुराई से उस षड्यंत्र को विफल कर अपना उत्तराधिकार प्राप्त कर लिया और 16 जनवरी 1681 को यथाविधि राज्याभिषेक करा सिंहासनारूढ़ हो गए। शंभुराज अत्यंत सक्षम तथा प्रभावशाली राजा थे। इनकी रानी येसूबाई भी राजकार्य में निपुण थीं। अत: दोनों के सामूहिक प्रयत्नों से शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से चलने लगी। राजा अपनी प्रजा का पूरा ध्यान रखते थे, साथ ही प्रजा भी अपने राजा के लिए, अपने राज्य की रक्षा के लिए सदैव कटिबद्ध रहती थी।

शंभुराज का शासनकाल निरापद नहीं रहा। उन्हें राज्य के भीतर और बाहर दोनों ही शत्रुओं का सामना करना पड़ा। इन्हें पोर्तुगीज के साथ-साथ औरंगज़ेब जैसे शक्ति सम्पन्न मुगल बादशाह के साथ भी भयानक युद्ध करना पड़ा। इन्होंने पुर्तगालियों को तो परास्त किया ही, उसके बाद औरंगज़ेब से लगातार तीन वर्ष तक ऐसा भयानक युद्ध किया कि उसने संभाजी के सामने से हटने में ही अपनी भलाई समझी। मुगल बादशाह संभाजी के युद्ध कौशल और आसाधारण पराक्रम से भयभीत हो उठा और येन-केन-प्रकारेण उन्हें पराजित करने का यत्न करने लगा। और अवसर पाते ही उन्हें कैद करा लिया। यह औरंगजेब की छल-कपट की नीति थी। उसने संभाजी को सन् 1689 में कैद कराया और फिर उनका वध करवा दिया।

महाराज शंभुराज ने सन् 1681 से लेकर 1689 तक अर्थात् केवल नौ वर्ष ही शासन किया। कुल मिलाकर इनका जीवनकाल सन् 1657 से 1689 तक, अर्थात् केवल 32 वर्ष रहा। इतनी कम आयु में ही कई बड़े युद्ध जीतना और शासन व्यवस्था को सुचारुरूप से चलाना, दोनों ही कार्य कुछ कम चुनौतीपूर्ण नहीं थे,

लेकिन संभाजी ने इनका सामना बड़ी ही बुद्धिमत्ता और बहादुरी के साथ किया और इन प्रयत्नों में वे सफल भी रहे।

कृतियाँ :- महाराज संभाजी केवल पराक्रमी, शूरवीर, कुशल राजनीतिज्ञ तथा सुशासक ही न थे, वरन् एक उत्कृष्ट कवि भी थे। इनका साहित्यिक नाम 'नृपशंभु' था, परंतु इसके साथ ही इन्होंने अपनी रचनाओं में शंभुराज, संभुकवि, संभाराज, संभा, संभजू जैसे उपनामों का भी प्रयोग किया है। ये अपनी मातृभाषा मराठी के अतिरिक्त संस्कृत और हिंदी के अच्छे ज्ञाता थे साथ ही मुगलों के सान्निध्य से अरबी-फारसी का ज्ञान भी अर्जित कर लिया था। शिवसिंह सेंगर ने 'नृपशंभु' के नाम पर नखशिख तथा नायिकभेद दो काव्यों का उल्लेख किया है, लेकिन डॉ. कृष्ण दिवाकर ने अपने शोध-ग्रंथ 'भोंसला राजदरबार के हिंदी-कवि' में इनके चार ग्रंथों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं- बुधभूषण, नायिकाभेद, नखशिख तथा सातसतक। इसमें प्रथम संस्कृत तथा शेष तीन हिंदी के ग्रंथ हैं। यहाँ हम इन पर संक्षेप में विचार करते हैं।

बुधभूषण:- शंभुराज रचित यह संस्कृत ग्रंथ है और इसके केवल तीन प्रकरण ही प्रकाश में आए हैं। डॉ. दिवाकर के अनुसार इसके प्रथम अध्याय में 194 छंद हैं जिनमें अधिकांश संस्कृत ग्रंथों से उद्धृत सुभाषित हैं। इन छंदों में गणेश, शिव, गुरु, पार्वती, कुलदेवी भवानी की स्तुति और प्रशंसा है। कुछ छंदों में अन्योक्तियाँ भी दी गई हैं। दूसरा अध्याय राजनीति का है जो 632 छंदों में विस्तृत है। अधिकांश छंद मत्स्यपुराण, विष्णु धर्मोत्तर पुराण और कामंदकीय नीतिसार से लिए गए हैं। इनमें राजा और उसके आवश्यक गुण, उसके सहायक, प्रधानमंत्री, राजपुत्र और उसकी शिक्षादीक्षा, राजा के कर्त्तव्य, राज्य के अंग-कोष, राष्ट्र, दुर्ग, बल आदि विषयों को समाहित किया गया है। तीसरे अध्याय 'मिश्रप्रकरण' में 57 छंद हैं जिनमें राजा के लिए उपयोगी शिक्षा है। इसमें शिवाजी के राज्याभिषेक का उल्लेख होने से इसके रचनाकाल का पता चलता है। तत्संबंधी दो छंद दिए गए हैं जिन्हें यहाँ उद्धृत किया जा रहा -

(1) **श्रौतं धर्ममवाप्य सद्भिरुदितं राज्याभिषेके परं।**
छत्राधैर्नृपलक्षणैरनुदिनं सिंहासने राजते ।।

(2) **विविच्य शास्त्राणि पुरातनानामादाय तेभ्यः खुलु सोयमर्थम्।**
करोति सद्ग्रंथमभु नृपालः स शंभुवर्मा बुधभूषणाख्याम्।।

प्रथम छंद से ज्ञात होता है कि ग्रंथ की रचना का आरंभ शिवाजी की मृत्यु के पूर्व (सन् 1680 ई) हुआ जबकि द्वितीय छंद के 'नृपाल' विशेषण से अनुमान होता है कि ग्रंथ की समाप्ति संभाजी के सिंहासनस्थ होने पर (सन् 1681 ई.) हुई थी। एक अन्य विद्वान् बेंद्रेजी के अनुमानानुसार बुधभुषण की रचना का प्रारंभ सन् 1677 अक्टूबर के पूर्व में हुआ। (भोंसला राज दरबार के हिंदी कवि-पृ. 173-175)

नायिकाभेद :- शंभुराज रचित इस ग्रंथ के कुछ फुटकल छंद ही प्राप्त हुए हैं। नायिकाभेद रचना की सम्पूर्ण प्रति प्राप्त नहीं हो सकी। इसलिए इसके रचनाकाल का समय निश्चित करना संभव नहीं है। परंतु इन छंदों में 'नृपशंभु' की जो छाप मिलती है उससे यह ज्ञात होता है कि इस ग्रंथ की रचना सन् 1681 के बाद ही हुई होगी, क्योंकि संभाजी का 'नृपशंभू' के नाम से शासनकाल सन् 1681 से 1689 ई. तक रहा। अतः नायिकाभेद की रचना इसी काल में हुई होगी। यह ग्रंथ रीतिकालीन अन्य नायिकाभेद विषयक ग्रंथों के

समान ही है जिसमें नायिकाओं के भेद तथा उदाहरण दिए गए हैं। 'नृपशंभु' की कविता के तद्विषयक कुछ उद्धरण अवलोकनार्थ यहाँ दिए जा रहे है-

''सासु कह्यो दधि बेंचन को,
सुदई सुखदाई कहाँ ते धौं हाँकरी।
मोहि मिले 'नृपशंभु' गुपाल,
तमाल तरे वह गैल जो साँकरी।।
मो तन ताकि बड़ी अँखियानतें,
काँकरी लै फिरि मो तन धाँकरी।
काँकरी ओडि गई कर तें पैं,
करेजे कहाँ धौं गई गडि काँकारी।।'' (वही, पृ. 175)

काँकरी शब्द का तीन बार प्रयोग हुआ है इस पंक्ति में और वह भी विभिन्न प्रंसग तथा विभिन्न अर्थ में। 'क' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति में अनुप्रास की छटा दर्शनीय है।

नायिका के अंगों के सौंदर्यवर्णन में परंपरामुक्त उपमानों की तो एक प्रकार से झड़ी ही लगा देते हैं। देखिए निम्न सवैया-

''कौहर कौल जपादल विद्रुम का इतनी जू बधूक में कोति है।
रोचन रारि रचि मेहँदी नृपशंभु कहै मुकता सम पोति है।
पायँ धरै ढरै ईगुर सी तिनमें मनो पायल की घन जोति है।
हाथ द्वै तीन लौं चरि ह्वै और सों चाँदनी चूनरी के रंग होति है।।"
(हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास-षष्ठ भाग, संपा. डॉ. नगेंद्र, पृ. 533)

नखशिखः- नृपशंभू का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है यह। इसकी हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में सुरक्षित है। इस ग्रंथ में कुल मिलाकर 139 छंद हैं जिनमें अधिकांश कवित्त और सवैया हैं। कुछ दोहा तथा छप्पय छंद भी मिलते हैं। यद्यपि यह ग्रंथ अपने आप में संपूर्ण है, लेकिन, फिर भी इसमें रचनाकाल का उल्लेख नहीं मिलता और न ही लिपिकार का नाम। ग्रंथ का शुभारंभ इस प्रकार होता हैः-

''श्री गण जू । लिखिते संभुक्रत नषशिष वर्नन।
पद पदम् पत्र सम चरन जंघजिमि कनक करमकर ।।
नाभी ललित गभीर उदर लंबित विसाल वर ।
उर दीरघ अति मंजु चारि कर देत चारि फल ।।
एक दंत अरु संड लषत हरि जात सकल मल।
अति नैन चारू ढीली फलक श्रवन सीस छवि सो मढ़त।।
स्थान होत अग्यान के सो गुननायक के गुन पढ़त ।।1।।
विधि प्यारी को ध्याइकै भव प्यारी सिर नाइ।
हरि प्यारी के अंग सों बरनों सकल बनाइ ।।2।।

ग्रंथ के अंत में नखशिख का लिपिकाल इस प्रकार दिया है-
संवत् दस सै आठ सै रितु वसंत मधु मास ।
रस मैं उपमा मैं लसत नष सिष कियो प्रकास ।।
इति श्री राजा संभाजु कृत नष सिष वर्ननं संपूर्ण ।।"
(डॉ. कृष्ण दिवाकरः भोंसला राज दरबार के हिन्दी कवि, पृ. 176-177)

अंतिम छंद से ज्ञात होता है कि ग्रंथ का लिपिकाल संवत् 1800 वि. है परंतु यह मत या वर्ष लिपिकार का है, रचनाकार का नहीं।

एक अन्य पद में 'नपशंभु' ने नायिका की नाभि का अति सुंदर वर्णन किया है बिल्कुल नए उपमान के द्वारा। ''उरोजों को मदिरा की शीशी और नाभि को मदिरा का प्याला कहना अवश्य तत्कालीन समाज से गृहीत नूतन उपमान हैं। कामदेव के मदिरापान करने के निमित्त नाभि का प्याला बनाकर कवि ने अपनी उद्भावना शक्ति का परिचय दिया है:

रूप को कूप बखानत है कवि कोऊ तलाब सुधा ही के संग को।
कोऊ तुफंग मोहारि कहै दहला कल्पद्रुम भाषत अंग को।
बारहि बार बिचार किया नृपशंभु नया मत मों मति ढंग को।
सीसी उरोजनि ते मदधार रूमावली नाभी न प्याला अनंग को।''

(वही, पृ. 177)

सातसतक:- डॉ. कृष्ण दिवाकर को इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में देखने को मिली। इस ग्रंथ में कुल मिलाकर 100 छंद हैं। प्रारंभ में गणेश, कमला, सीता, राम की स्तुति-प्रार्थना है। यहीं पर कवि ने इसकी रचना का उद्देश्य भी स्पष्ट कर दिया है। देखें:-

''(1) सीता पग नष चंद की भजि कै संभ समाज।
सात सतक ग्रंथ हि रच्यो संतन के हित काज।।
(2) मो मन मधुकर संत हित भन्यो ग्रंथ रसविंद।
चित्रकूट के सिलनि जे फूले पग अरविंद।।
(3) सो रस पाइ छके महा सनकादिक सुक सेस।
संभराज षगराज मुनि गिरजा गिरा गनेश।।" (वही, पृ.178)

इस ग्रंथ में जिन विषयों का प्रतिपादन किया गया है, उसका संकेत भी एक दोहे के माध्यम से दे दिया है-

"उपालंभ कहि विनै कहि जगत सीष कहि ध्यान।
ब्रह्म निरूपन कछु कह्यो जाते बाढ़त ग्यान।।

समस्त ग्रंथ उपालंभ, विनय, जगतसीष, ध्यान तथा ब्रह्मनिरूपण अथवा ब्रह्मविचार इन पाँच उपशीर्षकों में विभाजित किया गया है। इसके अंतर्गत भी लिपिकार ने अपना नाम नहीं दिया। ग्रंथ में रचनाकाल का उल्लेख भी नहीं है। ग्रंथ के अंत में जो लिपिकाल विषयक छंद है उसकी भाषा, शैली आदि से स्पष्ट होता है कि 'नखशिख' तथा 'सातसतक' दोनों का लिपिकार एक ही है।" (वही, पृ. 178-179) लेकिन इस ग्रंथ में भी विशेष बात यह कि 'बुधभूषण', 'नायिकाभेद', 'नखसिख' के समान ही नृपशंभु, संभराज, संभाजू, शंभुराज, आदि की स्पष्ट छाप मिलती है और इस आधार पर इसे भी राजा नृपशंभु की रचना ही माना जाता है।

सातसतक नृपशंभु की अंतिम रचना है और जैसा कि इसमें विवेचित विनय, ध्यान, ब्रह्मनिरूपण, उपालंभ आदि पर छंद रचे हैं, उनमें कहीं वे अहंकार-रहित दिखाई देते हैं तो कहीं पश्चाताप से ग्रस्त, कहीं ईश्वर को उपालंभ देते हैं तो कहीं अपने कष्ट-निवारण हेतु गुहार लगाते हैं। नृपशंभु छत्रपति राजा थे। उनके पास ऐश्वर्य-वैभव की सभी वस्तुएँ थीं। हाथी, घोड़े, राज्य अधिकार, सैन्यबल, धनादि के सभी साधन थे। इतना होते हुए भी अंत समय में उनके मन में किसी प्रकार का अभिमान नहीं था, जैसाकि उनके

'सातसतक' के निम्न छंद से आभास होता है–

"छत्र गज चमर, तुरंग अगनित संग
एते पर मन ना गरुर गहियतु है ।।
असन विहूँने अंग वे वसन सूँने राषो
लोक निंदा भाषो सुष मानि सहिअतु है ।।
दूषन तुम्हैं जे देत मुगुध अचेत प्रभु,
करिहौ उहै पै जाको जैसो चहिअतु है ।।
सैंभ षोड महीपाल कहैं सुनिये गोपाल
हम हरि हाल तुम सौ निहाल रहिअतु है।।"(वही, पृ. 182)

एकाधिक स्थान पर बालकाल और युवावस्था में खेलकूद तथा भोगविलास में समय व्यतीत करने और ईश्वर को याद न करने का पछतावा भी है उनके मन में। दर्शनीय है उनका तत्संबंधी यह सवैया–

"ष्याल में रंगि गए नृपसंभुजी बालकताई रही जब वे है।।
जोवन में जुवतीन के साथ रँगे अनुराग लगी अति लै है।।
आवत ही जरा फीके परे कहूँ रंग फरारी को वोरन दै है।।
रंग अनेक रँगे मन मेरे कहूँ रँग साँवरे में रँगि जै है।" (वही, पृ. 183)

कवि अति संकट में है। वह प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहता है कि आप सबके संकट दूर करते हो, मेरे कष्ट भी दूर कर दो। जैसे आपने हिरण्यकशिपु के हृदय को विदीर्ण कर उसका उद्धार कर दिया था, उसी भाँति मेरा उद्धार कब करोगे? यही याचना कर रहा है कवि निम्न छंद में–

"अति प्रबल घेरे रहै आठो जाम मोहि।
दीनबंधु अब क्यों न लागत पुकारि हो।।
सब हो संकट नेवाई एक कोर ताके।
तब जानि हों जू जब मो तन निहारि हो।।
ज्यों भांति हरिन कसिप को विदार्योउर।
तौन भाँति कब मेरे दुष को विदारिहो।" (वही, पृ. 183)

जब संभाजी कवि कलस के साथ संगमेश्वर में मुगलों के द्वारा बंदी बनाकर औरंगजेब के पास लाए गए, और वहाँ औरंगज़ेब द्वारा वध से पहले जो यातानाएँ दी गई थीं, उन्हीं की ओर संकेत करता है उनका यह पद।

नृपशंभु के कुछ छंद 'शिवसिंह सरोज' ग्रंथ में दिए गए हैं। यद्यपि उसमें इन्हें सुलंकी सितारागढ़वाले बतलाया गया है साथ ही 'सोलकी नहीं मराठा थे' भी दर्शाया गया है। शिवसिंह सरोज के पृ. 799 पर लिखा है– "837/722/4 शंभु कवि राजा शंभुनाथ सिंह सुलंकी सितारागढ़वाले 1738 ये महाराज कवि कोविदों के कल्पवृक्ष महान कवि हो गए हैं। शृंगार में इनकी काव्य निराली है। नायका भेद में इनका ग्रंथ सर्वोपरि है। ये महाराज मतिराम त्रिपाठी के बड़े मित्र थे। दि.–नृपशंभु, शंभुनाथ, शंभुराज आदि इनकी छाप है। यह सोलंकी नहीं मराठा थे।" अब तक हम भी इनको मराठा मानकर ही चल रहे हैं। अतः इन्हीं उपनामों से शिवसिंह सरोज में दिए गए छंदों को यहाँ उद्धृत करना कुछ अनुचित न होगा। अवलोकनार्थ

प्रस्तुत हैं उनके कुछ छंद-

"देखा चहै पिय को मुख, पै अँखियाँ न करै जिय की अभिलाखी ।
चाहति 'संभु' कहै मन में, बतियाँ मुखते पुनि जात न भाखी ।
भेंटिबे को फरकै भुज, पै नहि जीभि ते जाई 'नहीं', 'हीं' नाखी।
लाज औ काम दुहनि बहू बलि आज दुराज प्रजा करि राखी ।।

रूठि उठै, उठि बैठै मरु, झिझकारै, झुकै बिहँसै मुख फेरै।
दूनो है जाइ छुए अँचरा, छरकै फुफुँदि के छरा तन हेरे ।
चेरे से कै लिए 'संभु' सदा, गृह काज अकाज के जाति न नेरे।
बाल के ख्यालहि में नँदलाल रहैं छकि रोज, रहैं घर घेरे ।।"

(शिवसिंह सरोज-संपा-डॉ. किशोरीलाल गुप्त, पृ. 572)

और भी देखिए - "रीति तजी, विपरीत सजी, रसना बजी मंजुल लंक के रोष ते।
द्वै उर बीच उरोज दबे, 'नृप संभु' बजे हैं अनंग के सोस ते।
चापि कपोल दुहूँ कर सों, मुख चूमति प्यारी अनंदित तोष ते।
बैर तजे अरि चंद पियै मकरंद मनो अरविंद के कोष ते।।

अंगराज जानति न, सारिन के पट रंगे-
केसरि के भ्रमनि पखारै सारी सेति है।
अधर खटाई लै घसत, क्यों ललाई जाइ,
अरुन सुभाव ही कबै धौं यह चेति है।
नैन प्रतिबिंब परै आरसी महल मध्य,
'संभुराज' द्वारन कपाट दै दै लेति है।
खंजरीट जानि दौरि दौरि गहै आनि,
जब मूठी परै झूठी तब छोड़ि छोड़ि देति है।।"

(वही, पृ. 573)

ठाकुर शिवसिंह सेंगर संगृहीत ग्रंथ शिवसिंह सरोज तथा सन् 1970 में डॉ. किशोरीलाल गुप्त द्वारा संपादित और हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित ग्रंथ में दिए गए राजा नृपशंभु के आठ छंदों में से किसी का भी यह उल्लेख नहीं है कि ये छंद 'नायिका भेद' के हैं अथवा 'नखशिख' या उनके किसी अन्य ग्रंथ के। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सभी छंद श्रृंगारपरक हैं, जैसा कि उपरि दर्शित चार छंदों के अवलोकन-पाठन से भी ज्ञात हो जाता है। रीतिकालीन कवियों में अधिकांश ने अपनी रचनाओं में श्रृंगाररस को प्रधानता दी है। नृपशंभु भी उन्हीं में से एक हैं।

राजा नृपशंभु छत्रपति राजा थे। उनकी कुल आयु 32 वर्ष (सन् 1657-1689) थी। उनकी आयु का अधिकांश भाग मुगलों आदि से अपने राज्य की रक्षा करने में या राज्य को विस्तार देने में और फिर उसकी व्यवस्था-संचालन में ही व्यतीत हो गया था। अत: उन्हें साहित्य-साधना का समय कम ही मिला और जो भी मिला उसका उन्होंने पूरा-पूरा सदुपयोग किया। वे मराठी भाषी थे इसलिए यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि उन्होंने हिंदी का ऐसा अच्छा ज्ञान कैसे प्राप्त कर लिया। 'शिवसिंह सरोज' का पारायण करने पर जो मुख्य बात सामने आती है वह यह कि मतिराम त्रिपाठी (सं. 1674-से-1773 अर्थात् सन्

1617-1716 ई.) नृपशंभु के मित्र थे और हिंदी भाषी क्षेत्र टिकमापुर जिला कानपुर के रहने वाले थे। वे भाषा काव्य के आचार्यों में गिने जाते थे। उन्होंने "ललित ललाम अलंकार ग्रंथ राव भाऊसिंह कोटा वाले के नाम से बनाया औ छंदसार पिंगल फतेसाहि बुंदेला श्रीनगर के नाम से रचा औ रसराज ग्रंथ नायका भेद का बहुत सुन्दर बनाया।" (शिवसिंह सरोज-संपा-डॉ. किशोरीलाल गुप्त, पृ. 775) इन महाशय के सान्निध्य का लाभ नृपशंभु ने अवश्य उठाया होगा। इसी संदर्भ में डॉ. कृष्ण दिवाकर ने भी एक स्थान पर लिखा है - "मराठी भाषी नृपशंभु के काव्य की हिंदी भाषा देखकर यह संदेह प्रकट करना स्वाभाविक ही है कि हिंदी भाषा पर उनका इतना प्रभुत्व कैसे रहा होगा ? इसके लिये अनेक कारण दिए जा सकते हैं। यह प्रसिद्ध है कि नृपशंभु के काव्यगुरु कविकलस थे और वे हिंदी भाषी तथा हिंदी के उत्कृष्ट कवि थे। उन्हीं ने संभाजी को हिंदी कविता सिखाई थी। अत: शिष्य के काव्य पर गुरु का प्रभाव रहना अत्यंत स्वाभाविक है। .... प्रो. वेलणकर भी इन हिंदी कविताओं के वास्तविक रचयिता नृपशंभु को ही मानते हैं और साथ ही साथ उनके हिंदी काव्य पर कविकलस का प्रभाव भी स्वीकार करते हैं।" (डॉ. कृष्ण दिवाकर-भोंसला राज दरबार के हिंदी-कवि, पृ. 185)

केवल इतना ही नहीं, नृपशंभु के हिंदी-ज्ञानार्जन के और अच्छी काव्य रचना करने के कुछ अन्य कारण भी रहे हैं-''संभाजी का मुगलों के संपर्क में आना, औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम से उनकी घनिष्ठ मित्रता, उत्तर भारत की यात्रा, बचपन में हिंदी-भाषी प्रदेश में रहना तथा अध्ययन करना आदि अनेक कारणों से इनका हिंदी भाषा से सदैव संपर्क रहा। बचपन से ही उनमें साहित्य के प्रति प्रेम था। अत: संभव है कि उन्होंने संस्कृत ग्रंथों के साथ साथ हिंदी के काव्य ग्रंथ भी पढ़े हों और अवकाश के समय संस्कृत के साथ हिंदी में भी कविता की हो। यह भी संभव है कि नृपशंभु द्वारा रचित हिंदी कविता को भाषा की शुद्धता आदि की दृष्टि से उनके काव्यगुरु के नाते कविकलस ने संस्कारित एवं परिष्कृत किया हो।" (वही, पृ. 185-186)

इन सब बिंदुओं पर विचारने से यही निष्कर्ष निकलता है कि नृपशंभु को हिंदी तथा हिंदी कविता का अच्छा ज्ञान था और जो काव्य-ग्रंथ उनके नाम से सामने आए हैं उनके रचनाकार नृपशंभु ही हैं।

भाषा-शैली :- नृपशंभु की मातृभाषा मराठी थी। उन्होंने संस्कृत और हिंदी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था और मुगलों के संपर्क में आने से उर्दू (अरबी-फ़ारसी) पर भी अच्छी पकड़ थी। वे संस्कृत तथा हिन्दी में काव्य रचना करते थे। रीतिकाल में काव्य-रचना के लिए बृजभाषा प्रयोग में लाई जा रही थी। नृपशंभु ने भी अपनी काव्य-रचना के लिए बृजभाषा हिंदी को ही अपनाया। संस्कृत के विद्वान् होने के कारण उनकी भाषा में हिंदी का परिष्कृत स्वरूप देखने को मिलता है। यद्यपि गरूर, हाल, ख्याल, फरारी, महल, तुफ़ंग, तालाब, सीसी (शीशी), निहाल, रोज जैसे अरबी, फ़ारसी के शब्द भी आए हैं उनकी भाषा में, पर उनका प्रयोग अधिक नहीं है। नृपशंभु का कविताकाल रीतिबद्ध कवियों के उत्कर्ष का काल है। उनके प्रतिपाद्य का मुख्य विषय था श्रृंगार। नायिकाभेद तथा नखशिख उनके श्रृंगार-प्रधान ग्रंथ हैं जिनमें नायिकाभेद का विशेष महत्त्व है। डॉ. नगेंद्र के अनुसार- "इनकी कविता में बाह्य वस्तुवर्णन पर अधिक बल रहता है। हृदयस्पर्शी मार्मिक अनुभूतियों एवं मर्मछवियों के अंकन की इनमें अपेक्षाकृत न्यून क्षमता थी। सादृश्यविधान के लिये इन्होंने जहाँ कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का सहारा लिया है वहाँ भी स्थूल एवं प्रत्यक्ष गोचर वस्तु को ही ग्रहण कर बिंब-विधान खड़ा किया है। अमूर्त विधान द्वारा भावयोजना की ओर इनका ध्यान ही नहीं जाता'' (हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, संपा. डॉ. नगेंद्र , पृ. 533) तथ्यत: भावों की गहराई के साथ सार्थक बिंब प्रस्तुत करने में सफलता नहीं मिली संभाजी को।

अलंकारों का बहुतायत में प्रयोग हुआ है उनके काव्य में। अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, उपालंभ, संदेह आदि अनेक अलंकारों से गर्वित और सज्जित है नृपशंभु का काव्य। अलंकारयोजन में उनकी

परिपाटी रीतिकालीन अन्य प्रमुख कवियों-देव, मतिराम, पद्माकर आदि के समतुल्य ही है। एक ही पद में अनेक अलंकारों का समावेश करने में अत्यंत पटु थे वे। ऐसा ही एक कवित्त निम्नवत् दृष्टव्य है-

"काहू कह्यौ मार काहू कह्यौ अंधकार अरु,
काहू धूम धार काहू ले सेवार संक को।
काहू अलिहार कह्यौ काहू चौरबार कह्यौ,
काहू कह्यौ सुचि रुचि मृग मद पंक को।।
राधे जू की बेनी नृपशंभु मुख देनी थकी,
गिरामति पैनी सब उपमानि रंक को।
भर्‌यौ सुधाभार भज्यौ लगौ ही न वार,
मनो ससि पीठि पार धार कढ़त कलंक को।।"

(वही, पृ. 534)

प्रस्तुत छंद में राधेजी की वेणी का वर्णन करते हुए अलग-अलग कवियों ने उसकी उपमा अलग-अलग उपमानों से की है। किसी कवि ने उसकी उपमा कामदेव से, किसी ने कालिमा, किसी ने धुएँ की धारा बताया तो किसी ने भौंरों का हार। अपनी-अपनी मति के अनुसार सभी ने उपमानों से मंडित किया राधाजी की वेणी को। लेकिन नृपशंभु को ऐसा प्रतीत हुआ मानो चन्द्रमा पीठ पर पड़ी कलंक की धारा निकाल रहा है।

दोहा, कवित्त, सवैया, छप्पय आदि का समुचित प्रयोग किया है उन्होंने काव्य में। संस्कृत की तत्सम-तद्‌भव शब्दावली प्रयोग के भी कुछ पद मिले हैं और अधिक नहीं पर कहीं-कहीं मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है। नृपशंभु की रचना श्रृंगार प्रधान होने के कारण उसमें माधुर्य और प्रसाद गुणों का समावेश है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि संभाजी या नृपशंभु एक उच्चकोटि के रचनाकार थे। मराठी भाषी होते हुए भी उन्होंने अपनी कविताओं से हिंदी भाषा को समृद्ध किया। इस सुकार्य के लिए हिंदी जगत् उनका सदैव ऋणी रहेगा।

इतिहास और साहित्य में भगवंतराय खीची

डॉ. ओउम् प्रकाश अवस्थी

श्रील भगवंतराय खीची वर्तमान् फतेहपुर (1826 में निर्मित)में असोधर राज्य के अधिपति थे और इनकी राजधानी - जहाँ से राजकाज संचालित होता था - असोधर के पास ही गाजीपुर में थी। भगवंतजी शास्त्र और शस्त्र-कला में सुप्रसिद्ध और पारंगत थे। उनके काव्य-कौशल का उल्लेख साहित्यिक ग्रंथों में और उनकी सामंती ऐतिहासिकता का विवरण इतिहास ग्रंथों में प्राप्त होता है। इनके काव्य-कौशल का उल्लेख करते हुए हिंदी में शोधकार्य भी हुए हैं और इनकी सामंती राज्य-व्यवस्था के विवरण प्राचीन ऐतिहासिक तारीखों में प्राप्त हैं -

'असोधर का राजनीति में उदय एक संयोग और प्रात: कालीन नक्षत्र की भाँति है। औरंगज़ेब के अवसान से ही मुगल साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया था और खजुहा के भयानक युद्धों ने फतेहपुर को रेखांकित स्थान बना दिया था (1658 में शुजा और औरंगजेब का युद्ध तथा 1716 में फर्रूखसियर और जहांदरशाह के मध्य खजुहा में युद्ध हुआ था)। उसके उत्तराधिकारियों में बराबर युद्ध हो रहे थे। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही कोड़ा की सूबेदारी को हस्तगत कर अड़ारू सिंह ने असोधर राज्य की स्थापना की, जिसमें भगवन्तराय खीची कवियों के लिये वरदान सिद्ध हुए। राजनीति के इतिहास में अडारू सिंह और भगवन्तराय 25-30 वर्षो में ही उदित और अस्त हुए।'

जाति व्यवस्था में क्षत्रियों की एक शाखा चौहान और चौहानों की कई शाखाओं में एक शाखा खीची या खीचर हैं। राजस्थान से मध्यप्रदेश होते हुए यह शाखा ऐंझी गाँव में आ बसी थी उसमें हरिकेश सिंह उपनाम अड़ारू, उदारू, अजारू ने अपने खेत जोतते समय कुछ गड़ा हुआ धन पाया जिससे उसने अपना क्षेत्र विस्तार किया। इन्हीं अडारू सिंह के पुत्र भगवंतराय खीची हुए जिनका समय औरंगजेब के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ होकर मुहम्मद शाह मुगल (1719-1748) के समय तक जाता है अर्थात् ई. सन् 1670 से 1735 ई. तक के मध्य है। लखनऊ के नवाब बुरहानुलमुल्क सआदत खाँ से हुए युद्ध में भगवंतराय वीरगति को प्राप्त हुए। मुस्लिम इतिहासकारों तथा अन्य इतिहास ग्रंथों में इस घटना का पर्याप्त वर्णन है। जिन ग्रंथों में इसका वर्णन है -

'हादिकितुल आकुलीन', 'सियारूल मुताखरीन', 'मुन्तखबुल तवारीख', 'तारीखे मुजफ्फरी' में इस घटना का वर्णन है। 'सादात जावेद' के लेखक हरनाम सिंह ने इसका विवरण प्रस्तुत किया है। कैफिएट आम मकतूबा मुतालका तहसीलदारी फतेहपुर ले. दलील उल्ला खाँ ने भी इस युद्ध का वर्णन किया है, जिसमें भगवंतराय के युद्ध और उनकी वीरगति का उल्लेख है। फतेहपुर गजेटियर भी इस विवरण को प्रस्तुत करता है। इस युद्ध में राजा भगवंत राय की मृत्यु पर मत वैभिन्य है। युद्ध भूमि में सआदत खाँ से युद्ध करते हुए आमने-सामने इन्हें मार दिया गया और इनका सिर काट कर देहली भेजा गया। दूसरा विवरण है कि पूजा करते समय धोखे से विरोधी घुस आए और पूजा स्थल पर इनका वध कर दिया तथा तीसरा चौधरी दुर्जन सिंह जगनवंशी ने इनको धोखा देकर इनका वध करा। कुछ भी हो तथ्यात्मक विवरण इस तरह है।

अड़ारू सिंह को संयोग से खेत जोतते समय खेत में गड़ी सम्पत्ति प्राप्त हुई जिससे न केवल उनकी निर्धनता समाप्त हुई बल्कि उन्होंने अपनी अचल सम्पत्ति बढ़ानी शुरू की और असोधर की सीमाओं को पार कर के सरकार कड़ा और सरकार कोड़ा के क्षेत्र में आधिपत्य जमाने लगे। उन्होंने सरकार को किसी प्रकार का लगान या कर देना बंद कर दिया और दिल्ली सरकार के नियमों आदेशों को स्वीकार नहीं किया। कोड़ा सरकार का सूबेदार जान निसार खाँ दिल्ली सरकार के मंत्री कमरुद्दीन का बहनोई था। अड़ारू सिंह ने जान निसार खाँ पर चढ़ाई की और उसने जान निसार की हत्या कर दी। उसकी सहायता में दतिया का राजा राव रामचंद अपने डेरे से निकला, वह भी मारा गया। अड़ारू सिंह ने लूटपाट की और हरम की औरतों को पकड़ ले गए। कोड़ा सरकार पर इनका अधिकार हो गया। इस घटना से दिल्ली की सरकार का क्षुब्ध होना स्वाभाविक था। परिणामस्वरूप दिल्ली सरकार ने फर्रूखाबाद के मुहम्मद खाँ बंगस, इलाहाबाद के सर बुलंद खाँ, लखनऊ के नवाब सआदत खां और दिल्ली से भेजी गई शाही सेना ने मिलकर 1735 के सितम्बर महीने में हथेया गाँव के ऊसर में भगवंतराय से युद्ध किया। इस युद्ध में चाहे जैसे घटना क्रम बना हो; भगवंतराय खींची मारे गए और गाजीपुर में नवाब सआदत खां का अधिकार हो गया। भगवन्त राय का बड़ा लड़का रूप राय मराठों के संरक्षण में चला गया और मराठे जमुना पार करके कुछ दिनों तक छापेमारी करते रहे। जिस समय भगवंतराय का अंत हुआ उस समय सूबा इलाहाबाद के अंतर्गत सरकार कड़ा और सरकार कोड़ा के साढ़े चौदह महाल इनके अधिकार में आ चुके थे। यह एक अति संक्षिप्त जानकारी ऐतिहासिक पुस्तकों की है। इतिहास की इन पुस्तकों में भगवंतराय खीची की काव्य-कला, संगीत कला और उनके कवि दरबार का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु होने पर जिस तरह से औरंगजेब ने अपने भाइयों को ठिकाने लगाया वह आदर्श और स्मृतियाँ तथा दृष्टांत औरंगजेब के पुत्रों और वयस्क पौत्रों, में भी थी। वे आपस में सभी दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने के लिए एक दूसरे के खून के प्यासे हो गए। इस संघर्ष में दरबारी अमीर भी सम्मिलित हो गए। मुसलमान-मुसलमान को मारने-मरने पर उतारू हो गया और मात्र 12 वर्ष के अंदर 8 शासक सिंहासन के लोभ में अपने प्राण गवाँ बैठे। इस अराजकतापूर्ण स्थिति में 1719 में सामंतों की कठपुतली मुहम्मदशाह (1719-1748) गद्दी में बैठे। इनके समय से पूर्व ही हिन्दू शक्तियाँ स्वतंत्र होने लगीं। दक्षिण में मराठे और पेशवा, राजस्थान के राठौर, कछवाह और सीसोदिया, पंजाब में सिख, बुन्देलखण्ड में बुन्देला उसी कड़ी में सूबा इलाहबाद के कड़ा और कोड़ा के सूबेदार जान निसार खाँ की हत्या कर अड़ारू सिंह ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। उस स्वतंत्रता का मूल्य राजा भगवंतराय ने अपने प्राण देकर चुकाया। तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने जिनका नामोल्लेख ऊपर आ चुका है विस्तृत विवरण दिया है जिसमें सर्वाधिक प्रामाणिक विवरण दलील उल्ला खां तहसीलदार फतेहपुर की डायरी''फेहरिस्त आम मकतूबा मुतालका तहसीलदारी फतेहपुर' का है।

जिस प्रकार राजा भगवंतराय युद्ध कला विशारद थे वैसे ही सरस्वती की उनपर अनुकम्पा थी। वे काव्य-कला और संगीत-कला के न केवल प्रेमी थे बल्कि साहित्य और संगीत में भी निष्णात थे। वे स्वयं कविता के वटवृक्ष थे साथ ही वे कवियों के आश्रयदाता और कवियों के लिए अक्षयवट ही थे। भगवंतराय के कवि-दरबार में देश के विभिन्न राज्यों से आए हुए कवियों का एक मण्डल ही बन गया था और साहित्य के इतिहास में भगवंतराय के समय के कवियों का उल्लेख 'असोधर मण्डल के कवि' शीर्षक से सम्बोधित किया जाता है। इनके दरबार के एक कवि ने इनके अवसान पर निम्न कवित्त कहा-

> आजु महादानिन को सूखि गो दया को सिन्धु-आजु ही गरीबन को सब पथ लूटिगो।
> आजु दुजराजन को सकल अकाज भयो, आजु महाराजन को धीरज ही छूटिगो।
> मल्ल कहैं आज सब मंगन अनाथ भए, आजु ही अनाथन को करम सो फूटिगो।
> भूप भगवंत सुरधाम को पयान कियो, आजु कवि गनन को कलप तरु टूटिगो। - मल्ला

जिस प्रकार इतिहास ग्रंथों में भगवंतराय की वीरता के उल्लेख हैं उसी प्रकार हिंदी साहित्य के कविवृत्त संग्रहों और साहित्यिक इतिहास ग्रंथों में भी इनकी भक्ति सम्बन्धी रचनाओं के उदाहरण मिलते हैं। जिन साहित्यिक ग्रंथों में इनका उल्लेख है उसमें कुछ प्रमुख ग्रंथ निम्न हैं –

- दिग्विजय भूषण सं. गोकुल प्रसाद वृज नया संस्करण सं. डॉ. भगवती प्रसाद सिंह प्रकाशक अवध साहित्य मन्दिर, बलरामपुर संवत् 2016 प्रथम संस्करण।
- शिवसिंह सरोज – सं. त्रिलोकी नारायण दीक्षित, 1966 ई. प्रकाशन तेजकुमार बुक डिपो लखनऊ।
- मिश्र बंधु विनोद (खण्ड 1 – 2) सं. मित्रबंधु गंगा सागर पुस्तक माला लखनऊ, 1972
- हिन्दी साहित्य का इतिहास आचार्य राम चन्द्र शुक्ल – ग्यारहवां संस्करण सं. 2014 ना.प्र.सभा
- हिन्दी सा. का वृहत इतिहास खण्ड सात सं.डॉ. भगीरथ मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा काशी सं. 2029
- हिन्दी साहित्य कोश भाग 2 सं. धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान) दूसरा संस्करण 1986 ज्ञान मण्डल काशी

क्षेत्रीय शोधकार्य :-

- भगवंतराय खीची और उनके मण्डल के कवि – शोधग्रंथ डॉ. महेन्द्र सिंह, रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स दिल्ली 1967.
- समवाय – फतेहपुर जनपद विशेषांक 1972, प्रधान सं. डॉ. ओउम प्रकाश अवस्थी
- अनुवाक – जनपद फतेहपुर, इतिहास, साहित्य, संस्कृति कला के संदर्भ, अक्षय साहित्य कला केन्द्र अमौली फतेहपुर 1984 प्रधान सं. डॉ. ओउम प्रकाश अवस्थी
- अनुकाल – जनपद फतेहपुर पुरातत्व इतिहास साहित्य संस्कृति कला के सन्दर्भ, प्रधान सं. डॉ. ओउम प्रकाश अवस्थी 2014 अक्षय सा. कला केन्द्र अमौली
- असोधर राज्य की गौरव गाथा – ले. डॉ. राम लखन सिंह परिहार 'प्रांजल' प्राँजल प्रकाशन भदवा फतेहपुर और भी हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में इनका उल्लेख हुआ है। हिन्दी सा. कोश के पृ. 395 में खोज रिपोर्ट भाग 13, शिवसिंह सरोज, दिग्विजय भूषण, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मिश्र बंधु विनोद का सहायक ग्रंथ के रूप में उल्लेख है –

भगवंतराय खींची – महाराज भगवन्त सिंह या भगवन्तराय खींची असोथर (जिला फतेहपुर) के निवासी थे। ये बड़े गुणग्राही और अनेक सुकवियों के आश्रय दाता थे। कवियों ने इनका गुणगान वैसा ही किया है जैसा भूषण ने शिवाजी और छत्रशाल का। ये सन् 1736 में लखनऊ के प्रथम नवाब वजीर सआदत खाँ वुरहानुल-मुल्क से युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। इनकी कुल दो रचनाएं बताई गई हैं – रामायण और हनुमत पचीसी। रामायण के सभी खण्डों की रचना कवित्त छन्द में ही की गयी है। हनुमत पचीसी में हनुमान के शौर्य पराक्रम और यश को लेकर पच्चीस ओजस्वी छंद लिखे गए हैं। इसके अतिरिक्त हनुमत पचासा भी पाया गया है जिसमें कुल 52 छंद हैं। हो सकता है यह रामायण का ही कोई न कोई अंश हो। प्राचीन संग्रहों में इनके श्रृंगार के भी छन्द दिखाई पड़ जाते हैं। उनकी कविता अनुप्रासमयी, ओजस्विनी और उत्साहमयी है। (पृ. 398)।

भगवंत नाम के दो कवि शिवसिंह सरोज में संकलित हैं। भगवंतराय कवि (1) रामायण सुन्दरकाण्ड और इनके दो कवित्त दिए गए हैं। भगवंत कवि (2) इनके तीन कवित्त दिए गए हैं। इसी ग्रंथ में पृ.सं. 464 में भगवंतराय कवि (1) के विषय में लिखा है 'सातो काण्ड रामायण की कवित्तों में महा अद्भुत रचना कविता के साथ की है। 238 सफा। भगवन्त कवि (2) श्रृंगार के बहुत सुन्दर कवित्त हैं।

शिवसिंह सरोज में जिन काव्य संकलनों से सेंगरजी ने सहायता ली है उनमें दिग्विजय भूषण को छोड़कर अन्य किसी संकलन में भगवंतराय का नाम नहीं है। साथ ही दिग्विजय भूषण से सेंगरजी ने जिन 47 कवियों को लिया है उनमें भी भगवंतराय का नाम नहीं है। परिशिष्ट में लिखा है भगवंतराय पृ. 464 इनका जन्म काल 1806 के लगभग है। ('शिवसिंह सरोज' पृ. 4)।

दिग्विजय भूषण के सम्पादक डॉ. भगवती प्रसाद सिंह का कथन है 'इनके अतिरिक्त सरोजकार ने निम्नलिखित 63 कवियों की रचनायें संगृहीत करते समय दिग्विजय भूषण से सहायता ली है। सरोज और भूषण की संगृहीत रचनाओं में साम्य होने से इसकी पुष्टि हो जाती है।'' दिग्विजय भूषण-प्राक्कथन पृ. 2 ; जिन 63 कवियों की सूची दी है उसमें 38 क्रमांक पर 'भगवंत' अंकित है।

दिग्विजय भूषण में भगवन्त और भगवन्त सिंह को पृथक् माना है और 118, 119 क्रमांक में इनको प्रस्तुत किया है। इस अलंकार ग्रन्थ के प्रथम सम्पादक श्री गोकुल प्रसाद 'वृज' ने भगवंत कवि के तीन और भगवंत सिंह का एक छन्द उदाहरण स्वरूप दिया है। भगवंत कवि के तीन छंद केश वर्णन (पृ.सं. 504) प्रोषित पतिका नायिका (पृ.सं. 567) तथा तीसरा 'सूम पर (पृ.सं. 589) में दिए गए हैं। भगवंत सिंह की कविता को शुद्धापन्हुति अलंकार के लिए चुना गया है (पृ. 92) जिसमें वर्षा ऋतु और कामदेव की सेना का रूपक साम्य है। रीतिकालीन काव्य प्रवृत्तियों से अगर देखा जाय तो दोनों के ही वर्ण्य विषय श्रृंगार ही ठहरते हैं। सूम पर लिखा कवित्त भी सेनापति ऐसे कवि पहले भी लिख चुके हैं।

भगवंतराय खींची पर जो विवरण मिश्र बंधु विनोद में दिया गया उसी को घटा बढ़ाकर परवर्ती साहित्यकार लिखते रहे। मिश्र बंधु विनोद में अंकित है -

(871) नाम - भगवंतराय खीची

विवरण- आप असोधर जिला फतेहपुर के प्रसिद्ध राजा एवं सुकवि थे। इनका कोई ग्रंथ हमने नहीं देखा। सरोज में इनके विषय में लिखा है 'सातौ काव्य रामायण कवित्तों में महा अद्‌भुत रचना और कविताई के साथ बनाया है।' हमें इनके रचित हनुमान जी के 50 स्फुट छंद मिले हैं शायद वे उसी रामायण के हों। खोज में इनका समय 1806 दिया है और इनका एक ग्रंथ हनुमान पचीसी लिखा है जिसका संवत् 1817 कहा गया है।

यह महाशय कवियों के कल्पवृक्ष थे। सैकड़ों कवियों ने इनकी प्रशंसा की है जिसमें एक ने इनकी मृत्यु पर यह भी कहा है 'भूप भगवंत सुरलोक को सिधारो आजु, आजु कवि गन को कलपतरु टूटिगो'। इनकी कविता उत्कृष्ट, सानुप्रास और जोरदार होती थी। हम इनको छत्र कवि की श्रेणी में समझते हैं।

इस स्थल पर भगवंतराय खीची के दो कवित्त हनुमान स्तवन के दिए गए हैं। यही विवरण सभी ग्रंथों में दिया है ऐतिहासिक और साहित्यिक ग्रंथों में भगवंतराय के जन्म सं. का कोई प्रमाण नहीं है। मृत्यु सं. के विषय में सआदत खां से युद्ध करते समय सन् 1735-1736 के उल्लेख मिलते हैं। एक कवि पुरन्दर राम त्रिपाठी जो रीवां, जयपुर, जोधपुर में रहे उन्होंने अपने एक छंद में कहा -

सत्रह सौ इकहत्तर में भगवंत जू खीची हुए परतापी
इन्द्र पुरोहित है तिहि वंश को देश विदेसन कीरति छापी।

संवत् 1771 अर्थात् सन् 1714 में भगवंतजी का राज्यारोहण, जन्म या कोई और घटना जिसका उल्लेख पुरन्दर जी करना चाह रहे हैं। इससे 1806 की तिथि असत्य सिद्ध होती है। आश्चर्य की बात है कि

नाथ कवि के 'भगवन्त राय खींची के प्रशस्ति कवित्त', मूक जी बंदीजन 'खीची वंशावली', सदानंद मिश्रकृत्त 'राजा भगवन्त सिंह का रासो', शम्भूनाथ मिश्रकृत 'भगवंत राय का यश वर्णन' गोपाल कृत 'भगवंत राय की विरुदावली' ऐसे प्रशस्ति काव्यों में कोई जीवन सम्बन्धी तिथि उल्लेख नहीं है। सब कुछ खोजबीन करने के बाद डॉ. महेन्द्र प्रताप सिंह ने 1680 ई. जन्म वर्ष अनुमानित किया।

जहाँ तक कविताई का प्रशन है। भक्ति और वीररस पूर्ण कविताएँ रचने वाले भगवंत राय खीची को काव्य मर्मज्ञ और कवि श्रेष्ठ बनाने के कारण सभी भगवंतों की रचनाएँ भगवंतराय खींची के साथ जोड़ दी गई वे चाहें कैसी भी हों। भगवंतराय खीची एक महान् योद्धा और यशस्वी काव्य मर्मज्ञ कवि थे। वैसे भी हनुमान भक्त उर्नीदी नायिकाओं के चक्कर में नहीं पड़ते।

विदित विशाल ढाल भालु कवि जाल की है,
ओट सुरपाल की है तेज के तुमार की।
जाहि सों चपेटि के गिराए गिरि गढ़ जासों,
कठिन कपाट तोरे, लंकनी सो मार की।।
भनै भगवंत जासों जागि लागि भेंटे प्रभु,
जाके त्रास लखन को छुभिता खुमार की।
औढ़े ब्रह्म अस्त्र की अवाती महाताती, वेदौं,
युद्ध मत माती छाती पबनकुमार की।।
– राजा भगवंत राय खीची

राजा पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' की काव्य-कला

डॉ. श्याम बिहारी श्रीवास्तव

ओरछा नरेश मधुकर शाह ने जब अपने पुत्रों को राज्य और जागीरें बाँटीं, तब प्रतापी और पराक्रमी वीरसिंह देव को दतिया और बड़ौनी बैठक के रूप में प्रदान की थी। ओरछा दरबार के महाकवि केशवदास ने 'वीरचरित्र' नामक काव्य ग्रन्थ में लिखा है -

''मधुकर शाह महीप मन, राखि प्रेम के भौन।
वीरसिंह को वृत्ति के, बैठक दई बड़ौन।।

वीरसिंह देव ने दतिया तथा बड़ौनी के आसपास के एक बड़े भू-भाग पर सत्ता स्थापित कर ली थी। इन्हीं वीरसिंह देव ने जब अपने पुत्रों में जागीरों का वितरण किया, तब सन् 1626 ई. में भगवानराय को दतिया रियासत दी गई तब दतिया एक पृथक् रियासत के रूप में अस्तित्व में आई। भगवानराय के पश्चात् उनके तीसरे पुत्र शुभकर्ण दतिया के राजा बने। शुभकर्ण को बादशाह औरंगजेब ने मनसब तथा बुन्देलखण्ड की सूबेदारी प्रदान की थी। शुभकर्ण की मृत्यु के पश्चात् दलपतराव दतिया के राजा हुए थे। दलपतराव भी औरंगजेब के मनसबदार थे। (दतिया जिले में पत्र-पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण - डॉ. कामिनी, डॉ. श्यामबिहारी श्रीवास्तव, डॉ. सीताकिशोर, आराधना ब्रदर्स, कानपुर, 1990, पृ. 12)

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में हुए उत्तराधिकार युद्ध में जाजऊ के मैदान में दतिया नरेश दलपतराव सन् 1707 ई. में वीरगति को प्राप्त हुए थे। उस समय दतिया में सत्ता संघर्ष हुआ था। दलपतराव के बड़े पुत्र राव रामचन्द्र ने दतिया पर अधिकार जमा लिया था। दलपतराव ने अपने जीवनकाल में ही सेंहुड़ा (सेंवढ़ा) जागीर के रूप में पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' को प्रदान कर दिया था। पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' दिल्ली दरबार से सेंवढ़ा को पृथक् रियासत के रूप में स्थापित करने हेतु सनद लाये थे। इस प्रकार 'रसनिधि' ने सेंवढ़ा को स्वतंत्र राज्य का दर्जा दिलाया था।

पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' का जन्म सन् 1677 (संवत् 1734वि.) में हुआ था। 'रसनिधि सागर' नामक काव्यकृति की पाण्डुलिपि के अंतिम पृष्ठ पर लिखे विवरण से 'रसनिधि' के जन्म एवं जीवन की प्रमुख घटनाओं का पता चलता है- "दतिया के रावराजा दलपत राव तिनके कुँवर जेठे राव राजा रामचन्द्र जू लौहरे राव राजा प्रथीसिंघ जू तिनकौ जन्म संवत् 1734 की साल में तिन्हें सेंउड़े की जागीर दई संवत् 1749 की साल में, घोरा अरु 14 तोपें, हतिया, चौंर, छत्र, तबल निसान जो कछू पादसाही डिल्ली तैं मिलौ ते ...... संवतु 1764 राजा जाजऊ की लराई में घाइल भए, देवलोक भयो सो ताही समय प्रथीसिंघ जू सैंउड़े के किले में गए रावराजा रामचन्द्र जू दतिया के राजा भए, साहि मुअज्जम नें दोउवन कों सिरोपाव बगसीस करे, तबतें सेंउड़े कौ राज अलग हुवौ। (राष्ट्र-गौरव - बुन्देली बाँकुरे - संपा. डॉ. गंगाप्रसाद बरसैंयाँ, छत्रसाल स्मारक ट्रस्ट, छतरपुर, 1994, पृ. 165)

पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' की माँ गुमानकुँअरि बेरछा के पमार राजा की पुत्री थीं। वीरसिंह देव ने

पमारों से बेरछा राज्य छीन कर दतिया में मिला लिया था। बाद में दलपतराव का विवाह गुमानकुँअरि से हो जाने पर पमारों और बुन्देलों के सम्बन्ध सामान्य हो गए थे। बेरछा सेंवढ़ा के निकटस्थ है। अतएव सुरक्षा और सहयोग की दृष्टि से दलपतराव ने सन् 1692 ई. में सेंवढ़ा की जागीर पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' को प्रदान कर दी थी, फिर भी दलपत राव की मृत्यु के उपरांत बड़े भाई राव रामचन्द्र के द्वारा विरोध करने पर 'रसनिधि' को बादशाह बहादुर शाह (साह मुअज्जम) के दिल्ली दरबार से सनद प्राप्त करनी पड़ी थी।

महाराजा पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' को वीरता और युद्ध-कौशल वंश-परम्परा से प्राप्त था। पराक्रम-प्रदर्शन के बहुत से अवसर इनके जीवन में आए। सन् 1714 ई. में दिल्ली में कुछ संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई थी और बादशाह का सिंहासन संकटग्रस्त हो गया था। उस समय दतिया से राव रामचन्द्र और सेंवढ़ा से महाराजा पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' ने अपनी-अपनी सेनाओं सहित दिल्ली पहुँचकर सम्राट् की सहायता की थी। उस विजय के उपलक्ष्य में बादशाह की ओर से भेंट सिरोपाव प्रदान किए गए थे। सन् 1721 ई. में दिलेर खाँ ने पन्ना के राजा छत्रसाल बुन्देला पर चढ़ाई की थी, उस समय पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' ने वहाँ पहुँचकर छत्रसाल को सहायता प्रदान की थी। 'रसनिधि' ने छत्रसाल और उनके लड़कों के साथ एरच नामक स्थान पर दिलेर खाँ से युद्ध किया था। दिलेर खाँ बेतवा नदी के किनारे मारा गया था। इस युद्ध में चंदेरी के राजा भी पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' तथा छत्रसाल के सहयोगी के रूप में थे। सन् 1721 ई. में ही जाट राजा बदनसिंह से युद्ध हुआ था। चंदेरी वाले राजा तथा पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' की संयुक्त सेनाओं ने जाटों की सेना को भागने पर विवश कर दिया था। सन् 1723 ई. में असोधर के राजा भगवंतराय खींची के विरुद्ध युद्ध में दतिया के राजा राव रामचन्द्र मारे गए थे, तब बड़ौनी के ठाकुरों ने दतिया के सिंहासन को हथियाने के लिए संघर्ष खड़ा कर दिया था। उस समय पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' ने बड़ी सूझबूझ से काम लेकर दतिया के सिंहासन पर इन्द्रजीत को बैठाया था। इस षड्यंत्र की जड़ राधा खवासिन थी, जिसने विषपान कर आत्म-हत्या कर ली थी।

'रसनिधि' के काल में सेंवढ़ा तथा दतिया राज्य के क्षेत्रों में मराठों के आक्रमण बहुत तेज हो गए थे। सन् 1741 ई. में होल्कर की सेना ने आक्रमण कर दिया था। इसके अनन्तर पेशवा की सेनाओं के कई बार हमले हुए। इन लड़ाइयों में चंदेरी के राजा ने दतिया तथा सेंवढ़ा की बराबर सहायता की थी। सन् 1744 ई. में जाट राजा बदनसिंह ने आक्रमण किया था। पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' ने वीरता पूर्वक युद्ध करके जाट राजा को भगा दिया था। इन सभी सामरिक घटनाओं से ज्ञात होता है कि पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' शूरवीर तथा युद्ध-कला में निपुण थे।

पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न थे। वे वीर योद्धा, सफल साधक-भक्त एवं श्रेष्ठ कवि थे। सेंवढ़ा के दुर्ग का पुराना भाग 'रसनिधि' ने बनवाया था। इस भाग को 'रसनिधि की रावर' कहा जाता है। अब यह भाग टूटने-फूटने लगा है फिर भी इसके अवशेष अपनी प्राचीन गाथा आज भी कह रहे हैं। 'रसनिधि' के आराध्य देव नन्दनन्दन कृष्ण का मंदिर उनकी माधुरी-भक्ति की गवाही आज भी दे रहा है। 'रसनिधि एकान्त साधक थे। 'रसनिधि' की रावर के पुराने भाग में एक बावड़ी के अन्दर चारों ओर बनी दालानों में उनका साधना कक्ष जीर्णशीर्ण दशा में आज भी है। इनके गुरु राधाबल्लभ सम्प्रदाय के श्री विजय सखी जी थे। विजय सखी हरिराम व्यास की वंश परम्परा में गोपीकांत के पुत्र और चन्द्रसखी के भाई थे। उस काल के परम दार्शनिक संत कवि अक्षर अनन्य से 'रसनिधि' का काव्यमय पत्र-व्यवहार होता रहता था। अन्ततः 'रसनिधि' के अनुरोध पर अक्षर अनन्य सेंवढ़ा आ गए थे।

पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' का देहावसान संवत् 1815 विक्रमी में हो गया था। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में कीर्तिधर कवि ने एक छन्द लिखा था। इस छन्द के अनुसार 'रसनिधि' की मृत्यु तिथि सवंत् 1815 ठहरती है। छन्द इस प्रकार है –

"पल्लव इन्दु वसु एक सुसंवत्सर जानौ।
कातिक सित की पंचमी सु रविवार बखानौ।
नंदनंदन कौ लाड़लौ अब बचौ न एकहु ओर।
मिलन गयौ ब्रजराज सौं, कन्हरगढ़ सिरमौर।"

(सनकेश्वर सुरभि-संपा-आचार्य गंगाराम शास्त्री,
रावतपुरा सरकार लोक कल्याण ट्रस्ट, सन् 2000, पृ. 35)

उपर्युक्त छन्द से अंकों की वाम गति के नियम से 'रसनिधि' की मृत्यु संवत् 1815 में हुई ज्ञात होती है। 'रसनिधि' का देहावसान कार्तिक शुक्ल पक्ष पंचमी रविवार को हुआ था। एक अन्य विवरण के अनुसार सन् 1760 ई. में जब देवीसिंह गूजर ने सेंवढ़ा पर आक्रमण किया था तब 'रसनिधि' जीवित नहीं थे। स्पष्ट है कि 'रसनिधि' का देहावसान संवत् 1815 तदनुसार सन् 1758 में हो गया होगा। 'रसनिधि' के निधन के उपरांत उनके पुत्र नाराइन जू तथा बहादुर जू सेंवढ़ा के राजा हुए थे पर बाद में सेंवढ़ा राज्य का विलय दतिया राज्य में कर लिया गया था।

पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' की काव्य-कला - 'रसनिधि' उच्चकोटि के कवि थे। इन्होंने विपुल काव्य-साहित्य की रचना की थी। इनका रचनाकाल 1698 से 1758 के मध्य माना जाता है। इनके द्वारा लिखी गई बारह काव्य-कृतियों को प्रामाणिक माना गया है, जो इस प्रकार हैं-'विष्णु पद और कीर्तन', 'रसनिधि के दोहा' 'कवित्त', 'स्फुट दोहा', 'रसनिधि के रेखता', 'रसनिधि की अरिल्लें और मंजे', 'हिंडोरा', 'रतन हजारा', 'रसनिधि सागर', 'गीत संग्रह', 'बारामासी' तथा 'मोहन विलास' आदि।

'रसनिधि' ने दोहा तथा पद अधिक लिखे हैं। इनके द्वारा लिखे गए दोहों की संख्या 1600 तथा पदों की संख्या लगभग 2000 है। 'रसनिधि' के 'रतन हजारा' में एक हजार एक दोहे संगृहीत हैं। 'रतन हजारा' का सम्पादन श्री हरिमोहन मालवीय ने करके इसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से सन् 1968 में प्रकाशित कराया था। शेष दोहे स्फुट संग्रहों में अप्रकाशित ही रह गए। 'रसनिधि' कृत 'रसनिधि सागर' में 277 पृष्ठों में लगभग दो हजार पदों का संग्रह हैं। 'रसनिधि सागर' की अप्रकाशित पाण्डुलिपि इस आलेख के लेखक के पास सुरक्षित है।

पृथ्वीसिंह नामक दो कवि एक ही काल में बुन्देलखण्ड में हुए हैं। इस कारण इनकी रचनाओं के विषय में बहुत भ्रान्तियाँ भी रहीं हैं। सेंवढ़ा रियासत में जिस समय पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' काव्य रचनारत थे, उसी कालावधि में ओरछा रियासत में राजा उदोतसिंह के पुत्र राजा पृथ्वीसिंह भी काव्य लिख रहे थे। अतएव स्वाभाविक था कि काव्य-प्रेमियों द्वारा इनकी कृतियाँ इधर-उधर होती रहीं होंगी। केन्द्रीय हिन्दी विद्यापीठ आगरा के अन्वेषक उदयशंकर शास्त्री ने पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' की काव्य-कृतियों की गहन खोज करते हुए अनेक निष्कर्ष निकाले। श्री उदयशंकरजी ने अपने एक आलेख में लिखा है- "ओरछे के राजा पृथ्वीसिंह के ग्रन्थ केवल टीकमगढ़ राज्य पुस्तकालय में मिले हैं। वहाँ 'रसनिधि' का कोई ग्रन्थ नहीं उपलब्ध हुआ। जबकि 'रसनिधि' के ग्रन्थ अनेक स्थानों से मिले हैं। यहाँ तक कि उनका एक ग्रन्थ 'बदलेव षटक' काँकरौली के विद्या विभाग में सुरक्षित होने की सूचना है। 'रसनिधि' के ग्रन्थों की व्यापकता और प्रत्येक पद में 'रसनिधि' उपनाम की छाप के कारण यह मानना पड़ता है कि पृथ्वीसिंह छाप वाले पद या रचनाएँ 'रसनिधि' के न होकर ओरछा के राजा उदोतसिंह के पुत्र राजा पृथ्वीसिंह के हैं। राजा पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' ने कदाचित इन्हीं पृथ्वीसिंह की रचनाओं से परिचित होने के कारण अपनी सम्पूर्ण रचनाओं में कहीं भी अपने नाम का प्रयोग नहीं किया वरन् सर्वत्र उपनाम 'रसनिधि' या 'रसिकनिधि' छन्दानुरोध से जहाँ जैसा उपयुक्त प्रतीत हुआ, वैसा प्रयोग किया है। (स्मारिका स्वर्ण जयंती, गाँधी

पुस्तकालय, सेंवढ़ा, वर्ष 1997, पृ. 35 सं. डॉ. श्याम बिहारी)।

मध्यकालीन बुन्देलखण्ड में कृष्णभक्ति का प्राधान्य था। अधिकांश कवियों द्वारा बुन्देली भाषा में पद, दोहा, कीर्तन आदि लिखे जा रहे थे। राज-दरबारों में आश्रित कवि भी कृष्ण-भक्ति से ओतप्रोत कविता लिख रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में काव्य में रुचि रखने वाले राजा लोग भी कृष्ण की भक्ति के बहाने कविता का सृजन कर रहे थे।

श्री उदयशंकर शास्त्री खोजी व्यक्तित्व के धनी थे। उन्होंने 'रसनिधि' की रचनाओं की खोज को प्रामाणिक बनाने में अपने जीवन के बहुमूल्य वर्ष लगा दिए थे। उदयशंकर शास्त्री द्वारा पृथ्वीसिंह रसनिधि की रचनाओं की जो गवेषणा की गई, उसका शोधपूर्ण विवरण इस प्रकार है –

1. विष्णुपद और कीर्तन, 24 पत्र, राजकीय पुस्तकालय दतिया
2. विष्णुपद – 48 पत्र, राजकीय पुस्तकालय दतिया, संवत् 1843 सावन वदी 14
3. कवित्त – 9 पत्र, राजकीय पुस्तकालय टीकमगढ़
4. कवित्त – 8 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, दतिया
5. स्फुट दोहा – 17 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, दतिया
6. दोहा – 27 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, दतिया
7. रसनिधि की कविता – 110 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, दतिया
8. रसनिधि की कविता – रेखता– 22 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, दतिया
9. रसनिधि सागर –
   –''– 1–142 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, दतिया संवत् 1814, माघ सुदी 5
   –''– 2 – 248 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, दतिया संवत् 1818
   –''– 3– 42 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, दतिया संवत् 1811 मु. दिलीप नगर महाराजकुमार बुधसिंह की सरकार लि. प्रधान हिम्मत सिंह
   –''– 4 – 278 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, दतिया संवत् 1818
   –''– 5 – 160 पत्र, सम्मेलन प्रयाग र.का. 1890
10. अरिल्ल – 5 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, दतिया
11. रसनिधि की अरिल्लें व माँझें – 6 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, दतिया, संवत् 1874 पौस वदी 30
12. हिंडोरा – 7 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, दतिया
13. बारामासी – 2 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, टीकमगढ़
14. गीत संग्रह, 13 पत्र, राजकीय पुस्तकालय, टीकमगढ़
15. रतन हजारा –
    1. 160 पत्र, सूपा जिला हमीरपुर, संवत् 1908, माघवदी 10
    2. 91 पत्र, रामनगर बनारस का पुस्तकालय, संवत् 1894
    3. 150 पत्र, दलीप नगर, संवत् 1936
    4. 112 पत्र, संवत, 1877
    5. 70 पत्र, संवत् 1962, कुंआर वदी 7
    6. 64 पत्र, कन्हरगढ़, संवत् 1916"6, (वही, पृ. 38)

उपर्युक्त सर्वेक्षण सूची में समय-समय पर विभिन्न स्थानों से उपलब्ध पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' की रचनाओं का उल्लेख किया गया है। इनमें किसी-किसी रचना के अनेक भागों का संकेत है। स्पष्ट है कि एक ही रचना के विभिन्न समयों तथा स्थानों में उपलब्ध रूप होंगे। एक ही रचना कई भागों में प्राप्त होगी।

जैसे ''रसनिधि सागर'' के 5 भाग दिए गए हैं और 'रतन हजारा' के 6 भागों का विवरण दिया गया है। इन भागों में एक ही रचना के दोहे या पद बार-बार मिले होंगे। एक बात और भी उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त विवरण में तीन कृतियों का उपलब्धि स्थान टीकमगढ़ दर्शाया गया है। ये ओरछा (टीकमगढ़) के राजा पृथ्वीसिंह की रही होंगी।

'रतन हजारा' तथा 'रसनिधि सागर' पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' की उल्लेखनीय काव्य-कृतियाँ हैं। 'रसनिधि' की काव्य-कला एवं लोक सम्पृक्ति का उत्कर्ष इन रचनाओं में देखने को मिलता है। यहाँ पर 'रतन हजारा' तथा 'रसनिधि सागर' के काव्य-वैभव की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

'रतन हजारा' मुक्तक काव्यकृति है। इसमें प्रबंधात्मक आख्यान का सर्वथा अभाव है। मुक्तक छन्द 'दोहा' में कवि 'रसनिधि' ने अपने हृदय के भावों को स्वतंत्र अभिव्यक्ति प्रदान की है। 'रतन हजारा' में कवि ने विभिन्न शीर्षक देकर दोहे संगृहीत किए हैं। ये शीर्षक-मंगलाचरण, ब्रह्मज्ञान, सज्जन वर्णन, मदन वर्णन, रूप वर्णन, तिल वर्णन, मुरली वर्णन, नयन वर्णन, दीठि वर्णन, बरुनी वर्णन, भौंह वर्णन, श्रवण वर्णन, केश वर्णन, उरोज वर्णन, कटि वर्णन, मन वर्णन, छवि वर्णन, विरह वर्णन, ध्यान वर्णन, दर्शन वर्णन, मिलन वर्णन, शिक्षा वर्णन आदि इकतीस प्रकार से कल्पित किए गए हैं। दिए गए शीर्षकों के अनुसार दोहों में वर्णित भाव बहुत सूक्ष्म और प्रभावकारी हैं। कवि 'रसनिधि' के हृदय के विचारों का माधुर्य कहीं भक्ति, कहीं श्रृंगार तो कहीं लोक सम्पृक्ति के रूप में प्रकट हुआ है।

'रतन हजारा' में वर्णित विषय रीतिकाल की लक्षण काव्य-परम्परा का अनुगमन करते दिखाई देते हैं। इसी कारण समीक्षकों और आलोचकों की दृष्टि में 'रसनिधि' श्रृंगारी कवि के रूप में देखे गए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रतन हजारा' के दोहों को बिहारी सतसई में वर्णित श्रृंगार परम्परा से जोड़कर देखा है। हिन्दी साहित्य के अन्वेषण कर्त्ता उदयशंकर शास्त्री ने बिहारी और रसनिधि की तुलना करते हुए लिखा है-''बिहारी का चित्त चतुर से जुड़ जाता है, जो दृगों को उरझाने की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। परन्तु मन का बंध जाना 'रसनिधि' की ही दृष्टि से सम्भव है जो सबके वश की बात नहीं है। 'रसनिधि' के सम्पूर्ण साहित्य में नेत्रों से सम्बन्धित इतनी उक्तियाँ हैं और उनमें जिस प्रकार की काव्यात्मक भाव प्रवणता एवं उक्ति वैचित्रय की इतनी ऊँचाई है कि उतनी शायद ही किसी अन्य कवि के काव्य में हो। (वही, पृ. 39)

भाव, भाषा अलंकार, रस आदि के दृष्टिगत 'रसनिधि' एक प्रतिष्ठित कवि के रूप में नजर आते हैं। आलोचकों और समीक्षकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से 'रसनिधि' की काव्य-प्रतिभा का आकलन किया है। पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' मानवीय संवेदनाओं के कवि थे। इन्होंने अपने वर्णनों में लोक-रुचि, लोक-मान्यता, लोक-व्यवहार एवं युगीन-काव्य परम्परा का निर्वाह किया है। इनके 'रतन हजारा' में वर्णित कुछ विषयों की यहाँ समीक्षा की जा रही है।

रीतिकालीन कवियों की श्रृंगारिक दृष्टि में नायिका और नायक के रूप में सौन्दर्य के अनूठे चित्र तैरते रहे होंगे। उन्होंने नायक-नायिका के शरीर के अंगों का लाक्षणिक वर्णन बहुत बढ़ाचढ़ा कर किया है। 'रसनिधि' का प्रादुर्भाव भी उसी युग में हुआ। अतएव युगीन काव्य-परम्परा का प्रभाव इनके काव्य पर पड़ना स्वाभाविक ही था, परन्तु 'रसनिधि' ने अपने वर्णनों में मर्यादा का उल्लंघन कहीं भी नहीं किया है। इनके वर्णन भावों की मादकता के साथ शालीनता के दायरे में रहे हैं। रीतिकाल के कवियों की भाँति 'रसनिधि' ने भी शरीरांगों का लाक्षणिक वर्णन किया है। कुछ बिन्दुओं को यहाँ पर उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है- 'रूप वर्णन' शीर्षक से दिए गए दोहों में रसनिधि की काव्य-कला की सहजता, संवेदनशीलता और स्वाभाविकता देखी जा सकती है। यथा -

''रूप नगर में बसत है, नगर सेठ तुव नैन।
मन जामिन लै नेहियत, लगे पुंजी छबि दैन।

और बार दृग जे परे, तेरे रूप अहोर।
मन मलाह अब सकतु नहिं, ध्यावै इन्हें बहोर।

बरुनी जोती पल पला, डाँड़ी भौंह अनूप।
मन पासंग तौलै सुदृग, हरुवौ गरुवौ रूप।
(रतन हजारा-पृथ्वीसिंह 'रसनिधि', संपा. हरिमोहन मालवीय,
हि.सा.सं., प्रयाग, 1988 पृ. 66 दोहा 165 से 167)

अर्थ है- ''रूप नगर में तुम्हारे नेत्ररूपी नगर सेठ का निवास है। उस नगर सेठ से मन रूपी जमानतदार के माध्यम से भेंट होती है और सौन्दर्यरूपी पूँजी का आदान-प्रदान होता है।'' इस दोहे में रूप-सौन्दर्य का रूपक अलंकार के माध्यम से अच्छा चित्रण किया गया है। दूसरे दोहे में रूप-सौन्दर्य को जल और मन को मल्लाह निरूपित किया जा रहा हैं। तीसरे दोहें में रूपक अलंकार की साधना में 'रसनिधि' को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। नायिका के नेत्रों का वर्णन कवि ने तराजू के रूप में बहुत सटीक किया है- ''बरौनियाँ डोरी के रूप में हैं, पलकें तराजू के पलड़े और सुन्दर भौंहें तराजू की डंडी है। मन पासंग करता है। मनरूपी पासंग कभी हल्की तौल करता है, कभी भारी। 'रसनिधि' ने बहुत शालीन शब्दावली में मर्यादित रूप वर्णन किया है।''

'रसनिधि' ने नायक-नायिका के नेत्रों का भी वर्णन किया है पर शालीन भाषा और शब्दावली में। कुछ दोहे दृष्टव्य है -

'तुव अनियारे दृगनि कौ, सुनियत जग में सोर।
अजमावत का फिरत हौ, कमजोरन पै जोर।।
मैन महावत दृग गजन, हूलतु वाही ओर।
लाखन में लखि लेतु है, वाही कौ चित चोर।।
प्रेम नगर दृग जोगिया, निसु दिन फेरी देत।
दरस भीख नंदलाल पै, पल झोरिन भरि लेत।।
दृग दरजी बरुनी सुई, रेसम डोरा लाल।।
मगजी ज्यो मो मन सियो, तुव दावन सौं लाल।' (वही, दोहा 221, 227, 229, 272)

पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' काव्य-प्रतिभा सम्पन्न थे इसमें कोई संदेह नहीं है। इन्होंने रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्ति शृंगार का वर्णन करते हुए भी अश्लीलता का भाव नहीं आने दिया। इन्होंने रूपक और उत्प्रेक्षापूर्ण वर्णनों में तो कमाल ही कर दिया है। बिहारी की भाँति इन्होंने भी गागर में सागर भरा है। छोटे से कलेवर वाले दोहा छन्द में कहीं-कहीं छोटी-मोटी कहानी कह दी है। जैसे कि उपर्युक्त उदाहरण के प्रथम दोहे में नंदनंदन कृष्ण की भक्ति के संदर्भ में 'रसनिधि' की जन-भावना दर्शायी गई है। प्रसंग इस प्रकार है। पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। इन्होंने नंदनंदन कृष्ण का एक भव्य मंदिर सेंवढ़ा दुर्ग में बनवाया था। इस मंदिर के गर्भगृह में 'रसनिधि' एकान्त साधना करते थे। एक बार उत्सुकता वश एक सेवक ने परदा उठाकर देखना चाहा तो वह बेसुध होकर गिर पड़ा। तब 'रसनिधि' ने नंदनंदन कृष्ण को संबोधित कर यह दोहा पढ़ा। दोहे का आशय है कि 'हे लाल (श्रीकृष्ण) तुम्हारे नेत्रों के बाँकपन का शोर तो दुनिया में है तुम ऐसे कमजोरों पर अपनी नेत्र-शक्ति की आजमाइश क्यों करते फिरते हो।'' अर्थात् शक्ति का प्रदर्शन शक्तिवान के ऊपर ही शोभनीय होता है।

पृथ्वीसिंह 'रसनिधि ने नायक-नायिका के शृंगार में भी अश्लीलता नहीं आने दी है। नायिका के उरोज (स्तन) के सौन्दर्य वर्णन में लिखा गया एक दोहा दृष्टव्य है -

'पुरइन बिच कंचुक हरी, ता बिच कली उरोज।
गुंजत अलि मनु जाइ तिह, उर सरसाई सरोज।।'' (वही, दोहा 487)

उपर्युक्त दोहे में उरोजों की तुलना कमल की कली से और मन की तुलना भौंरे से की गई है।

पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' लोकनीति में निपुण राजा थे। इन्होंने अपने दोहों में सामान्यजन को मार्गदर्शन करते हुए लोकनीति के कल्याणकरी स्वरुप की प्रेरणा दी है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं -

''जाही तै इहि आदरै, जगत माँझ सब कोइ।
बोलै जबै बुलाइयै, अनबोलैं चुप होइ।।

हुक्का सौ कहु कौन पै, जात निबाही साथ।
जाकी स्वाँसा रहति है, लगी स्वास को साथ।।

बिनु औसर न सुहाइ तन, चन्दन लावौ गारि।
औसर की नीकी लगै, मीता सौ सौ गारि'' (वही, दोहा 916,917,921)

उपर्युक्त दोहों में 'रसनिधि' ने स्वच्छ, सुखद और जनहितकारी लोकनीति का उपदेश दिया है। प्रथम दोहे में वाणी के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कवि कह रहा है कि वाणी ही मनुष्य को संसार में सम्मान प्राप्त करवाती है। अतएव अवसर के हिसाब से बोलना चाहिए। जब तक कोई बोलने के लिए न कहे तब तक नहीं बोलना चाहिए। दूसरे दोहे में परस्पर प्रेम, स्नेह और सौहार्द्र की प्रगाढ़ता हुक्का के उदाहरण से दर्शायी गई है। तीसरे उदाहरण में समय के औचित्य के अनुसार कार्य करने की सलाह दी गई है।

पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' ने बुन्देलखण्ड की जनभाषा बुन्देली में भी काव्य-रचना की है। इन्होंने जनभाषा बुन्देली को साहित्यिक रूप प्रदान किया है। 'रसनिधि' ने बुन्देली और ब्रजभाषा की कोमलकान्त शब्दावली के साथ अरबी-फ़ारसी आदि विदेशी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का अपनी काव्य-भाषा में खुलकर प्रयोग किया है। भाषा-माधुर्य एवं लाक्षणिक प्रयोगों से 'रतन हजारा' के दोहे सम्प्रेषणीय एवं प्रभावपूर्ण हो गए हैं।

पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' की दूसरी प्रतिनिधि कृति 'रसनिधि सागर' है। इन्होंने कृष्ण-भक्ति गोपी प्रेम एवं विरह पर बड़ी संख्या में पद लिखे हैं। ये पद महात्मा सूरदास रचित सूरसागर के पदों की शैली में हैं। 'रसनिधि' के शासनकाल में सेंवढ़ा में अक्षर अनन्य नाम के एक महान् कवि आये थे और सिंध नदी के प्रसिद्ध सनकुँआ तट पर तप साधना की थी। अक्षर अनन्य ने गोपियों के वियोग विषय पर आधारित 'प्रेम दीपिका' शीर्षक से एक श्रेष्ठ काव्य-कृति लिखी। 'प्रेम दीपिका' पदों के रूप में लिखी गई रचना है। सम्भवत: संतकवि अक्षर अनन्य के प्रभाव और नंदनंदन कृष्ण की प्रेरणा से 'रसनिधि' ने सूरसागर के पदों की भाँति 'रसनिधि सागर' की रचना की थी।

'रसनिधि सागर' के विषय में डॉ. संदीप गुप्ता ने अपने शोध प्रबन्ध में लिखा है-

'सेवढ़ा के वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. श्यामबिहारी श्रीवास्तव के माध्यम से 'रसनिधि सागर' की एक हस्तलिखित प्रति अनन्य ग्रन्थागार सेंवढ़ा में देखने को मिली। इस हस्तलिखित प्रति का आकार साढ़े ग्यारह इंच लम्बाई तथा साढ़े आठ इंच चौड़ाई के पन्नों में है। दोनों ओर लिखे पृष्ठों पर क्रमांक डाले हुए हैं। कुल

पृष्ठ संख्या 277 है। इस विशाल कृति में पदों को 108 शीर्षकों में विभाजित किया गया है। सभी शीर्षकों के अन्तर्गत कुल पदों की संख्या 1600 के आसपास है। इन पदों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि 'रसनिधि' सूरसागर की पद शैली में पद रचना करने में सिद्धहस्त रहे हैं।" (कवि नरेश पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' के रतन हजारा का काव्य शास्त्रीय मूल्यांकन – डॉ. संदीप गुप्ता, जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर द्वारा स्वीकृत शोध प्रबंध, सन् 2010, पृ. 40)

'रसनिधि सागर' की उपर्युक्त पाण्डुलिपि में द्वितीय भाग अंकित हैं इससे विदित होता है कि 'रसनिधि सागर' का प्रथम भाग भी रहा होगा जो अब अप्राप्त है। कुल मिलाकर दोनों भागों में संगृहीत पद दो हजार से अधिक रहे होंगे।

पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' कृष्णभक्त कवि थे। अतएव इनके पदों में कृष्ण की प्रेम माधुरी भक्ति के दर्शन होते हैं। गोपी और कृष्ण के प्रेम रस में 'रसनिधि' भी डूबे रहते थे, वैसी ही भावना उनके पदों में दृष्टिगोचर होती है। 'मन लगनि भाव' शीर्षक का एक पद दृष्टव्य है –

"मौहन बेनु बजावै वंसीवट तैं आवै।
ललित त्रभंगी गति उपजावै त्योंत्यों मनु ललच्यावै।
नटवर वेषु रंगीलै कीनै पट पीतांमर फहरावै।
'रसनिधि' नंद ढुटौना सुंदरु देख्यौई द्रग भावै।।"
(रसनिधि सागर, पाण्डुलिपि, पृ. 124, पद क्र0 13)

उपर्युक्त पद में बाँसुरी वादन करते हुए वंशीवट की ओर से आते हुए, नटवर वेषधारी, पीताम्बर ओढ़े, छैल छबीले कृष्ण की मोहनी छवि 'रसनिधि' के नेत्रों को बहुत अच्छी लगी। जैसे ब्रज की गोपियाँ कृष्ण के रूप और लीलामाधुरी में डूबीं रहती थीं वैसे ही 'रसनिधि' भी कृष्ण के रूप और लीला में निमग्न रहते थे। 'रसनिधि' के गुरु भी ब्रज क्षेत्र से राधाबल्लभ सम्प्रदाय के विजय सखी जी थे।

जिस प्रकार से सूरदास ने सूरसागर में कृष्ण के वियोग में गोपियों की व्याकुलता और वेदनापूर्ण दशा का वर्णन किया है, उसी प्रकार 'रसनिधि' ने भी सैकड़ों पद गोपीविरह से सम्बन्धित लिखे हैं। कुछ पद दृष्टव्य हैं –

"अजहूँ न एए री वनमाली
तारे गिनतनि सब निसि बीती दौरी अब नभ लाली।
अैसे निठुर न हे वे अबलौं सुंदर नैन विसाली।।
मेरे जान 'रसकनिधि' मोहन अनत कहूँ रति पाली।। (वही, पृ. 182, पद '80)

उपर्युक्त पद में श्रीकृष्ण के वियोग में दुखी गोपियों की दशा का चित्रण 'रसनिधि' ने किया है। कृष्ण तथा गेपियों के प्रेम और वियोग के प्रसंग में उद्धव और गोपियों ने अपने-अपने ढंग से चित्रित किया है। 'रसनिधि' ने भी उद्धव-गोपी संवाद से सम्बन्धित अनेक पद लिखे हैं। एक पद इस प्रकार है–

"ऊधौ जोगु जोग हम नाहीं
जोवन नंदनंदन संग बिहरीं डारि गरैं गल बाहीं।
सगुन सरूप स्याम सुंदर बिनु, दूजौ को मन आनें।
बेई जादौपति हैं निरगुन सो निरगुन को जानें।
द्रुमवल्ली वन वीथिन जित तिति मोहन मय चहुँ दिसि री।।
जोगु नीम पीवै को 'रसनिधि' त्यागि मधुरछवि मिसिरी।।
(वही, पृ. 196, पद-17)

'रसनिधि' ने परम्परागत प्रतीकों से हटकर उपर्युक्त पद में योग को नीम की तरह कड़वा बतलाया है और उस कड़वे नीम का पान कौन करे, यह गोपियों से कहलवाया है। सच बात तो यह है कि गोपियों की प्रेमपीड़ा को उद्धव ने बहुत पीछे से समझ पाया था। गोपियों ने उद्धव से बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा भी था –

''कोऊ हिय की पीर न पावै।
रोगु और ओखद कछु औरै आनि आनि कै लावै।
धीरज धरि कत होत विकल अति यह कहि कै समझावै।।
विरह अनल के डाढ़े तन सौं लैंके नौनु लगावै
संनिपात बारे रोगी कौं घोरि कपूर पिवावै।
मौहन वैद बिना को समुझै 'रसनिधि' प्रेम प्रभावै।।'' (वही, पृ. 188–189 पद. 4)

प्रेम की पीड़ा के रहस्य को 'रसनिधि' ने उपर्युक्त पद में बहुत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। ठीक यही बात मीराबाई ने भी अपने एक पद में कही थी – ''ऐरी मैं तो दरद दिवानी, मेरो दरद न जाने कोइ''। हिन्दी के मध्यकालीन काव्य में इस प्रकार की अभिव्यक्ति अन्य कवियों के द्वारा भी की जा चुकी है पर हर एक कवि की व्यंजना-शैली भिन्न-भिन्न होती है। 'रसनिधि' ने भी अपने ढंग से यह बात कही है।

भाषा-स्थापत्य के विषय में 'रसनिधि सागर' में कवि पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' एक कदम और आगे बढ़ गए हैं। हिन्दी, उर्दू, अरबी, फ़ारसी, ब्रज और बुन्देली शब्दावली के साथ 'रसनिधि सागर' में पंजाबी भाषा के बहुत सार्थक और सटीक प्रयोग देखने को मिलते हैं। एक पद दृष्टव्य है –

''बोदाना मीता मैनू की बहलाऊँदा।
तैड़ी बेपरवाही लखिलखि मैंडा दिल कहलाऊँदा।।
जखमी दिल नू क्या वो जालिम मन मुकलाइ सहलाऊँदा।।
येते पै तू यार 'रसकनिधि' दिल महरम कहलाऊँदा।। (वही, पृ. 57, पद-1)

उपर्युक्त पद में पंजाबी लहजा है इससे ज्ञात होता है कि 'रसनिधि' पंजाबी भाषा-भाषी लोगों के भी सम्पर्क में रहे होंगे।

निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि मध्यकालीन बुन्देलखण्ड के कवियों में पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' का ऊँचा स्थान है। 'रसनिधि' एक महान् शासक, योद्धा, नीतिवेत्ता एवं सिद्धहस्त कवि थे।

जन्म बधाई लाला प्यारी की बरन कछू
लीला सुभ गाइयत पांवन सुष सार हैं।
सारद चतुरांनन सिब पुनपत न पार पावै
नेत नेत कहैं वेद भेदहू न पार है।
जड़मत मेरी भई चरनन की चेरी सदा
रसिकन की कृपा दृष्टि चरनन सिरधार है।
कमल कुंअर हित प्रसाद श्री गुर मनाय
भाषी श्री वन कौ वास जाचौं अर्जी बहु बार है।।
– सरीला रियासत की रानी कमल कुंवरि (जीवनकाल सन् 1843–1893)

महाराजा अजीतसिंह का हिंदी साहित्य के विकास में योगदान

डॉ. महेन्द्र सिंह तंवर

जोधपुर राज्य में साहित्यिक परम्परा अत्यन्त प्राचीन रही है। यहाँ के महाराजाओं ने साहित्य के क्षेत्र में रुचि रखते हुए स्वयं अनेक साहित्यिक ग्रंथों की रचना की एवं विद्वानों को आश्रय देकर उन्हें साहित्यिक कृतियाँ लिखने के लिए प्रोत्साहित किया।

साहित्य के माध्यम से हम किसी क्षेत्र के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रवेश के विषय में जानकारी प्राप्त करते हैं। इसलिए साहित्य को समाज का आईना कहा जाता है। यदि हम जोधपुर साहित्य के बारे में बात करें तो हम कह सकते हैं कि यहां के महाराजाओं-रानियों एवं आमजन ने साहित्य रचनाओं के प्रति अगाध रुचि दिखाई एवं अनेक ग्रंथों की रचना स्वयं की एवं अन्य विद्वानों से करवाई ताकि आने वाली पीढ़ियाँ इसके विषय में जानकारी प्राप्त कर सकें। यहाँ पर जो अधिकतर साहित्य लिखा गया है वह मारवाड़ी एवं संस्कृत साहित्य है, लेकिन यहाँ के महाराजाओं ने हिन्दी साहित्य के सृजन में भी अत्यधिक रुचि दिखाई एवं हिन्दी के अनेक दुर्लभ ग्रंथों की रचना करवाई।

यदि हम महाराजा अजीतसिंहजी के साहित्य प्रेम के विषय में बात करें तो हम यह कह सकते हैं कि वह न केवल ऐसे वीर योद्धा थे, जिन्होंने मुगलों से जोधपुर को वापस लिया, बल्कि वह एक महान् साहित्य प्रेमी एवं स्वयं एक अच्छे विद्वान् थे, जिन्होंने न केवल बाहरी विद्वानों को जोधपुर आकर साहित्य रचना करने के लिए आमंत्रित किया, बल्कि स्वयं अनेक ग्रंथों की रचना की। उनके समय में रचित साहित्य की कुछ प्रतियाँ आज भी महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश में सुरक्षित हैं जो स्वयं ही अपने उच्च कोटि के साहित्य होने का प्रमाण देती हैं। महाराजा अजीतसिंहजी का हिन्दी साहित्य के सृजन एवं विकास में अद्भुत एवं अग्रणीय योगदान रहा है। महाराजा अजीतसिंह (वि.सं. 1735-1781) जीवनपर्यन्त युद्धों में रत रहे। महाराजा अजीतसिंह वीर, साहसी और स्वाभिमानी नरेश होने के साथ-साथ विद्वान एवं उच्च कोटि के कवि थे। इन्होंने हिन्दी साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हुए (1) गुणसागर, (2) गज उद्धार (3) दुर्गापाठ भासा निर्वाण दूहा एवं फुटकर दोहों एवं गीतों की रचना की। (सीतारामजी लालस, राजस्थानी शब्दकोश, पृ. 173)

'गुणसागर' महाराजा अजीतसिंहजी की उत्कृष्ट रचना है, जिसमें अनेक रचनाओं का संग्रह किया गया है। प्रथम 24 दोहों में गणेश एवं शक्ति की वंदना की गई है। इसके बाद हिंगुलाज देवी की स्तुति है, इसमें कुल नौ रचनाएँ संकलित हैं, नौवीं एवं अंतिम रचना में मोक्ष प्राप्ति से संबंधित दोहे सम्मिलित हैं।

इन नौ रचनाओं के अतिरिक्त 'गुणसागर' में 'रतना कंवर रतनावती बात' नामक एक कथा भी लिखी गई है। यह गद्य शैली में लिखी गई है। गुणसागर में विद्यमान अन्य प्रसंग इस प्रकार हैं -

1. रागों का वर्णन
2. राजा सुमति का ऋषिश्वरों को उपदेश
3. पापी की गति
4. ध्रुव वर्णन
5. महाभारतीय-राज्य स्थिरता
6. हेमाद्रि प्रयोग

7. हास्य विनोद
8. स्वप्नों के दोहे
9. पखवाड़े के दोहे
10. पति आगमन, वसंत वर्णन
11. सिंहादि गुण वर्णन
12. हिंगलाज स्तुति
13. गीता का दसवां अध्याय
14. भागवत का चौथा स्कंध
15. एक धार्मिक नृप की कथा
16. एकादशी कथा
17. माता का सतीत्व, पिता की अंतिम स्वराज्य क्रिया
18. ऋतुओं के दोहे
19. पपीहे की दोहे
20. परस्पर दम्पत्ति पत्री
21. कृतज्ञ लक्षण पुत्र–पाठन
22. पुत्र को विविध शिक्षा
23. गंगा स्तुति आदि प्रसंग 'गुणसागर' में सकलित हैं। (मीरा मित्र, महाराजा अजीतसिंहजी एवं उनका युग, पृ. 259-60)

अपनी रचना 'गज उदार' में उन्होंने अत्यन्त ही सुन्दर ढंग से गज की करुण पुकार के विषय में इस प्रकार लिखा है –

उंडै जल में ले चलौ, गज कुं विकटी ग्राह।
तब ततकार संभारीयौ, राधा नागर नाह।।
जिण सांई पैदा कियौ, सो सो पास सदाय।
अलख अपंपर ईसवर, सो क्यो अलगौ थाय।
जल आयौ गज पीठ पर, डर उपज्यौ मन मांहि।
ग्राह राह वैरी भयो, जल उंडै ले जांहि ।।

(पद्मश्री सीताराम लालस, राजस्थानी शब्दकोश, पृ. 173)

भवानी सहस्रनाम में दी गई उनकी निम्न पंक्तियां देखिये –

जब लग सुर सुमेर चंद्र मां शंकर उडगन
जब लग पवन प्रताप जगत मधि तेज अगनितन
जब लग सात समुद्र संयुगत धरा विराजैं
जब लग सुर तैंतीस कोटि आनंद समाजैं
तब लगाय दै लाषा सुक्तत सहस नाम जगमें रहों।
अगजीत कहें इनको पढ़त सुनत सुष कों लहों।।

(राजस्थान के राजघरानों की हिन्दी–सेवा : डॉ. राजकुमारी कौल, पृ. 57)

ठा. शिवसिंह सेंगर रचित ग्रंथ शिवसिंह सरोज में भी महाराज अजीतसिंह के 9 दोहे दिये गये हैं 'दूहा श्री ठाकुरां' शीर्षक से

"धनी दिहाड़ो, धन धड़ी, धन महोरत, धन वार
अवनि भार ऊतारवा, प्रभु लीयौ अवतार 1/14
पीतांबर कछनी कछैं, कर मुरली उर माल
जमुना तट क्रीड़ा करें, गोपी संग गुपाल 2/15
X X X
ऐसी नित की हरि कथा, कापैं बरणी जाहिं
नृप महाराज अजीत के, सदा रहै मन माहिं 9/22"

(शिवसिंह सरोज : संपा. डॉ. किशोलील गुप्त, पृ. 830)

इन्होंने अनेक कवियों को आश्रय प्रदान किया, जिनमें द्वारकादास दधवाड़िया, हरिदास, श्यामराम आदि प्रमुख हिन्दी कवि थे। (रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग - 1, पृष्ठ 211) इनके समय अनेक कवि आश्रय पाकर अन्य स्थानों से जोधपुर आकर रहने आये। इनमें माधवराम, रूपजी एवं त्रिलोकराम आदि प्रमुख थे। माधवराम ने शक्ति-भक्ति-प्रकाश, शंकर-पच्चीसी एवं माधवराम कुण्डली नामक ग्रंथों की रचना की है। रूपजी ने नायिका भेद एवं रसरूप की रचना की है जबकि त्रिलोकराम ने रसप्रकाश एवं भाव दीपक नामक ग्रंथों की रचना की है। इस प्रकार महाराजा अजीतसिंहजी ने अपनी व्यक्तिगत साहित्य-साधना द्वारा विभिन्न कवियों को प्रश्रय देकर जोधपुर राज्य की साहित्यिक परम्परा को आगे बढ़ाते हुए हिन्दी साहित्य के विकास में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

निष्कर्ष - निरन्तर युद्धरत रहते हुए भी महाराजा अजीतसिंह जी को जो समय प्राप्त हुआ, उसमें रचना की एवं कवियों को लिखने हेतु प्रोत्साहित करने के लिए उन्हें राज्य आश्रय प्रदान किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छन्दों के अतिरिक्त अलंकारों का प्रयोग करते हुए पद्य-शैली में अपनी अधिकतर रचनाएँ लिखी हैं।

इस प्रकार महाराजा अजीतसिंहजी ने अपनी रचनाओं में भावपक्ष व कलापक्ष का जो सुन्दर समन्वय किया है एवं विद्वानों को राज्याश्रय प्रदान किया है, उसके आधार पर उन्हें एक उच्च कोटि का साहित्यकार मानना अतिशयोक्ति नहीं है। महाराजा अजीतसिंह के पिता महाराजा जसवंतसिंहजी स्वयं हिंदी के बड़े नामी साहित्यकार और साहित्य के संरक्षणकर्त्ता थे, उन्होंने जिस हिंदी परम्परा की नींव रखी थी उसे महाराजा अजीतसिंहजी ने सिंचित किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्हें पिता से हिंदी साहित्य विरासत में मिला था, और इस विरासत को महाराजा अजीतसिंह ने बखूबी आगे बढ़ाया।

उन्होंने मुगल सत्ता के संक्रमण काल एवं राजनैतिक उथल-पुथल के दौर में हिंदी साहित्य के विकास के क्षेत्र में जो कार्य किए वह कार्य उन्हें साहित्य प्रेमी की श्रेणी में सम्मिलित करवाते हैं। हिंदी साहित्य के विकास में उनका योगदान अग्रणीय है।

जौ लौं गंगा कौ प्रवाह बहै खितिमंडल मैं
सेस धरैं भार जौ लौं सकल ब्रह्मांड कौ।
ससि को किरन जौ लौं पोषत है औषधिनि
प्रबल प्रकास तपे बिंब मारतंड कौ।
छांडत न मरजाद आपनी उदधिजल
जौ लौं आयबल महरिषि मारकंड कौ।
तेज परिवार धन दामसुखथ संपत्ति सौं
तौ लौं राज करै, महाराणा नव खंड कौ।।

- महाराजा जसवंतसिंह

शाहजी भोंसले के हिंदी में यक्षगान

- प्रो. भीमसेन 'निर्मल'

आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व आज के तमिलनाडु के तंजाऊर प्रांत के नायक राजा (जो मूलतः महाराष्ट्र के थे) ने हिंदी भाषा में यक्षगानों की रचना कर, भावात्मक एकता का ज्वलंत प्रमाण प्रस्तुत किया था। उन नाटकों में हिंदी भाषा को दक्षिण भारत के कर्नाटक संगीत के ढांचे में ढालने का भी अद्वितीय प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत लेख में इन हिंदी यक्षगानों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

सामान्य जनता अपने वातावरण तथा रुचि के अनुकूल, विनोद के साधन स्वभावतः निकाल लेती है। इन साधनों में जन-नाटक का विशिष्ट स्थान है। जनरुचि के परिवर्तन के साथ इन नाटकों की शैलियों में परिवर्तन होता जाता है। ''शास्त्रीय नाट्य पद्धति'' की अनभिज्ञता, मंच-निर्माण की विधिवत् प्रणाली का अज्ञान एवं कथागत कुशलताओं के अभाव में भी नाट्य की इस शैली को-लोकधर्मी नाट्यशैली को अपना अस्तित्व बनाए रखने का पूरा अवसर मिला है (लोकधर्मी नाट्य परंपरा-डॉ.श्याम परमार)। साहित्यिक नाटकों के प्रणयन से पहले इन जन-नाटकों ने सामान्य जनता का मनोरंजन किया है और आज भी सामान्य जनता इन जन-नाटकों से मनोरंजन प्राप्त कर रही है।

आन्ध्र प्रान्त के लोक नाटकों में ''कुरवंजि'', ''यक्षगान'', वीथि नाटक, ''बुर्रकथा'' ''हरिकथा'', ''पगटिवेषालु'' (बहुरूपिये के समकक्ष), ''तोलु बोम्मलाट'' (चर्मपुत्तलिका नाटक) आदि प्रमुख हैं। ''कुरव'' नामक पहाड़ी जाति के लोग तीर्थस्थानों में, संगीत और नृत्य द्वारा उक्त क्षेत्र के माहात्म्य को अभिव्यक्त करते हुए, यात्रियों का मनोरंजन करते थे। इस प्रकार के प्रदर्शन ''कुरवंजि'' कहलाते हैं। ''कुरव'' जाति को ''जुक्कु'', ''जक्कुलु'' भी कहते हैं। ''अक्कू'' शब्द का संस्कृत रूप ही ''यक्ष'' है। कुछ विद्वान ''यक्षगान'' को ''कुरवंजि'' का विकसित रूप मानते हैं जो युक्ति संगत है। ''यक्षगान'' नृत्य नाट्य है, जिसमें गीत बद्ध संवादों का प्रयोग होता है।

आन्ध्र के साहित्य में ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी से ही यक्षगानों का उल्लेख मिलता है। ''यक्षगान'' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले कवि सार्वभौम श्रीनाथ (15वीं शती) हैं। सुप्रसिद्ध रीतिग्रंथकार अप्प-कवि ने (16वीं शती) अपने लक्षण ग्रंथ में ''यक्षगान की विस्तृत चर्चा'' की है। उन उद्धरणों से यही प्रमाणित होता है कि 15-16वीं शती का यक्षगानों का एक सुव्यवस्थित एवं परिष्कृत रूप बन चुका था। यक्षगान की पद्धति का समुचित रूप से परिष्कार कर, 17वीं शती में सिद्धेंद्र योगी ने ''भामा कलापमु'' का निर्माण किया। यह ''भामा कलापमु'' कूचिपूडि नृत्य'' का प्राण तत्व है।

देशी साहित्य के इस विशिष्ट रूप के लिए तंजाऊर के नायक राजाओं तथा महाराष्ट्र भूपतियों का समय स्वर्णयुग माना जाता है। उन राजाओं ने यक्षगान को प्रश्रय देकर सुसंस्कृत किया और उसे ''नाटक'' की संज्ञा दी।

तेलुगु साहित्य के इतिहास में सन् 1600-1850 तक का समय ''दक्षिण आन्ध्र युग'' कहलाता है। इस युग में आन्ध्र प्रदेश के केन्द्र से हटकर, तेलुगु में साहित्य रचना सुदूर दक्षिण भारत में हो रही थी। इस युग की काव्य प्रवृत्तियों की तुलना हिन्दी के रीतिकाल से की जा सकती है। २. नायक राजाओं के (विजयनगर के श्रीकृष्णदेवराय के सामंत राजा जो कालांतर में स्वतंत्र बन गए थे) आश्रय में तेलुगु भाषा

एवं साहित्य ने मुदैर, तंजाऊर, पुदुकोटै, सेलम, मैसूर को केन्द्र बनाकर, चरम विकास को प्राप्त किया था। तंजाऊर इन केन्द्रों में सिरमौर रहा है। तंजाऊर के नायक राजाओं के उत्तराधिकारी, तंजाऊर के महाराष्ट्र राजाओं ने तेलुगु और संस्कृत साहित्य को सुसंपन्न बनाया है। उनकी मातृभाषा थी मराठी, प्रादेशिक भाषा थी तमिल और प्रशासन की भाषा थी तेलुगु। इन परिस्थितियों में इन महाराष्ट्र नरेशों की तेलुगु साहित्य की सेवा चिरस्मरणीय है। इन्होंने अपने समय में हस्तलिखित पुस्तकों का (उस समय मुद्रण कला का आविष्कार नहीं हुआ था) सुप्रसिद्ध संग्रहालय का निर्माण किया था। यह पुस्तकालय ''सरस्वती महल पुस्तकालय'' (इसके मूल संस्थापक महाराज शरभोजि थे) के नाम से प्रसिद्ध है और अपनी अमूल्य संपत्ति के कारण आज भी विद्वानों को आकृष्ट करता आ रहा है। इस पुस्तकालय के बारे में किसी अंग्रेजी विद्वान ने कहा है : ''यह पुस्तकालय देश की भावात्मक एकता का और मुख्यरूप से महाराष्ट्र नरेशों की तेलुगु शारदा की सेवा का जीता जागता प्रमाण है''

भोसल वंश के मालोजी के पौत्र एकोजी तंजाऊर के प्रथम मराठा नायक राजा थे। एकोजी और दीपांबा के सुपुत्र थे शहाजी अथवा शाहजी जिन्होंने सन् 1684 से 1712 तक तंजाऊर पर शासन किया था। संगीत और साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान, उत्कृष्ट कवि और अनन्य आश्रयदाता के रूप में शाहजी ने तेलुगु साहित्य के इतिहास में अपने लिए विशिष्ट स्थान बना लिया है। ये तेलुगु साहित्य के इतिहास में ''अभिनव भोज'' के नाम से प्रसिद्ध हैं। संगीत और साहित्य के सुन्दर सम्मेलन के रूप में शाहजी ने तेलुगु में लगभग बीस यक्षगानों की रचना की है। तेलुगु यक्षगानों के अतिरिक्त इन्होंने मराठी भाषा में ''लक्ष्मी नारायण-कल्याण-नाटक'' और हिन्दी में ''राधा बंसीधर विलास नाटक'' तथा ''विश्वातीत विलास नाटक'' लिखे हैं। इनके अतिरिक्त ''पंच भाषा विलास नाटक'' नामक अपूर्व यक्षगान की रचना की है जिसमें एक ही रंगमंच पर 6 भाषाओं का प्रयोग किया गया है।

''राधा बंशीधर विलास नाटक'' को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय श्री वाराणसि राममूर्तिजी ''रेणु'' को है जिन्होंने सन् 1959 में, आकाशवाणी के हैदराबाद केन्द्र से, इस यक्षगान को – नाटक के रूप में ही प्रसारित कराया था। सन् 1961 में ये दोनों हिन्दी यक्षगान, पुस्तकाकार में, सरस्वती महल पुस्तकालय के गणपतिराव (स्वानन्द) द्वारा संपादित होकर, विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ प्रकाशित हुए हैं। ''पंचभाषा विलास नाटक'' सरस्वती महल की पत्रिका के अंक में प्रकाशित हुआ।

हिन्दी के इन यक्षगानों की चार पांडुलिपियाँ (हस्तलिखित प्रतियाँ) प्राप्त हैं, जिनमें तीन तेलुगु लिपि में हैं तो एक देवनागरी लिपि में है। श्री स्वानंदजी तेलुगु की प्रति को प्राचीन बताते हैं उन्होंने इन कृतियों के महत्त्व के बारे में लिखा है– ''हिन्दी के नाट्य साहित्य के एक विशिष्ट अंग का निर्माण करने का गौरव शाहजी का है और इन प्राचीन कृतियों के रक्षण करने का यश ''सरस्वती महल'' के पोषकों को ही है।

''विश्वातीत विलास'' नाटक का इतिवृत्त पुराणों से लिया गया है। इस नाटक का उद्देश्य शिवाजी की अद्वितीय महिमा का वर्णन है।

एक बार महाविष्णु और ब्रह्माजी के बीच झगड़ा पैदा कर देते हैं कलहभोजी नारद। उस झगड़े को पराकाष्ठा तक ले जाकर, दोनों को जगदंबा पार्वती के पास ले जाते हैं। जगदंबा से यह निर्णय करने के लिए आग्रह किया जाता है कि दोनों में बड़ा कौन है। तब वे यों कहती हैं –

> ''भाई मैं कैसे कहूं।
> दोऊ में बड़ो नन्नो ? ऐसे मैं कैसे कहूं।।
> तुम हो भाई ये हो भतीजे मोको सच।
> एक को कहौं, दुजे आवेंगे कोप, सछि हे बात।''

वे कहती हैं ''परमेश्वरजी के पाद (चरण) की पूजा एक, सिर की पूजा एक कर जो आगे आवेगा, सो ही बड़ो कहावेगा।'' पार्वती के आदेशानुसार शिवजी के चरणों की पूजा करने के लिए विष्णु और सिर की पूजा करने के लिए ब्रह्माजी निकल पड़ते हैं। इस बीच लक्ष्मी और सरस्वती पार्वती के पास पहुँच, अपनी विरह-वेदना को अभिव्यक्त करती हैं। इस अवसर पर कवि ने विप्रलंभ शृंगार का सम्यक् वर्णन किया है। लक्ष्मीजी कहती हैं -

''सुन सखी पिउ मेरो कहां
नैना दोऊ देखे चाहे।
धीर धरूं सखी कैसे के
मन में सहे बिना रहे न जाय।
कित घुड़ों हम काहे को पूछूं
कौन बन अब जाय।।
चंद्र चंदन मलयानिल न सहे
दूर करो घनसार।

जल बिन मीन तलपत है
जैसे वो हमारी गति होय।।
पिक सुक सारिका सोर करे
बहु दूर निकालो देऊ
धरि पल छन एक युग से जाते
अब मोसु रह न जाय।

और एक पद है :-

बालपन सू इस विधि जीसूं
कछु नहीं सुख पाये माई।
सुन सखि येहि साछि-साछि
निसि दिन ऐसे घटता जाता।
सुन सखि यहि साछि-साछि बात उनके
बछुरे अंग हमारे धवली से होते।
मेरे कहे और सुन ले सखी तूं
जब ते अनेक अछत पड़े मो पे
तब ते बिमुख मारूं बास सृष्टि उद्योग
वे करते रहते मैं कैसे सुख पाऊं।
सृष्टि उद्योग वे करते रहे, मंगल सूत्र
बुन सुं पायो मैं ने अन्ना मिलावे सात।''

एक और उदाहरण लीजिए :

''बिरहा सतावे मोहे छने छन मायि।
बिरहा सतावे मोहे छने छन।
उन बिन मोहे कल न परत है
कैसे रहो निस बासर हो मायि।
तन तपता है उनके मिलाबें कूँ।''

अपने लक्ष्यार्थ में असफल होकर, विष्णु और ब्रह्मा लौटकर आते हैं और शिवजी को सर्वश्रेष्ठ महादेव मानते हैं। तब शिवजी दर्शन देकर आध्यात्मिक ज्ञान का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं :-

''विष्णु विधि कहिकूं यथे फिरें हो।
जित देखेंगे तथ हम ही परिपूर्ण
भ्रम छोड़ो तुम समझ लेवो
निस दिन मन में जान तुम
लड़ो मत तुम दोऊ बड़ाई कर कर
यामे कछु लाभ नहीं समझो
दृढ़ा मना की शंका छोड़ो।

''ऐसे बोलो सो परमेश्वर के बचन सुन सब जन आनन्द बधावे देखो।'' उसके बाद मंगल गीत के साथ नाटक की समाप्ति होती है।

''राधा बन्सीधर विलास नाटक'' की कथा वस्तु इस प्रकार है : यमुना तट पर विहार करते समय एक बार कृष्ण से रूठकर, राधा अपनी सहेली को साथ ले एक कुंज में चली जाती है और वहीं रह जाती है। कवि ने अवसर निकालकर, यहां मध्याह्न, सायंकाल, रात्रि, मेघ, चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक दृश्यों का मनोहर वर्णन किया है। उदाहरण के लिए सन्ध्या वर्णन लीजिए –

''सखि संध्याराग अरून सुहावे।
माणिक्य जैसी वारूनि अबल मानु।
गिरि पर नाथ घुड़ति कर लिय
दीप श्रेणी जो ऐसे सुहावति।
कमलिनी, नाथ रूठ गया कहकर
मुख म्लान होती।
कुमुदिनी नाथागमन सुन
मुख स्मित पूर्ण होती।
खग देखों सब श्रेणी बांद के
अपने घर चाले है।
चकई मित्र वियोग से कामिनी ताज फिरे।''

कवि ने यमुनातट के प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन निम्न गीत में किया है –

''सखि री सुन लो अब हूँ जो
कहत येक बात।
जमुना तीर देखे कैसे रम्य सोहे
सारस कैसे कीला (क्रीड़ा) करे
हंस देख सखि बिसरूह च्याहे।
चकई दोऊमिल कीला करे सखी री।
देख सखि बनरूह सब प्रफुलित भये।
लता द्रुम हम नासो देख लपटाये।
मदमत्त पिक बहुत डरावे
मधुकर झंकार करते फिरे सखी री।
फलित भय सखी तरू सब देख।
बसंत रितु देख–देख कैसे सुहावे।
बिरहिनी बनिता कूं मदन डरावे।
पवन त्रिविधि गति चाले आवे देखो।''

कृष्ण राधा के वियोग को देर तक सह नहीं सकते और ऊद्धव को उसे ढूंढ लाने भेजते हैं। उस अवसर पर श्याम कहते हैं –

''ऊद्धा तुमे जाये देख आवो
राधाजु बन में कह।
ऊधो तुमे जाय देख आवो उठ
तू सुमन ल्यायिवो।
जाय देख आवो उन बिन मोहे

कल न परत है।
बिन देखे राहे न जाये
बिरह अब मोहे साहे न जाये।
बेगे तुम मिलावू जाये देख आवो।''

श्रीकृष्ण के वचनानुसार ''ऊद्धवजी ऐसे सब बन धुंडे राधाजुको। कुछ नहीं पाया। या सो ऊधो बहुत श्रम पाय। जमुना तीर आवे तो राधाजुसीतल-कुंज-भवन बीच बैठे सखिसूं बात करिते देखों। उनके पासु जाए ऊधो बातु करे देखों।'' (ये सूत्रधार के वाक्य हैं।)

पर राधाजी को लौटा लाने में असफल हो ऊद्धवजी कृष्ण के पास आते हैं। तब उनसे कृष्ण अपनी विरह-वेदना को इस तरह व्यक्त करते हैं -

''निसदिन बिरह कैसे मैं साहो
पलछन मोहै कल न परत है।
चंद्र किरन दुख देवे मोको
मज्ज गुंज करत है मधुकर।
मलय मारूत दुख दे मोकों
सुकपिक शोरा दुख देवो मोकों
राधा नावे बिरह बाध कराना।''

बिरह वेदना से व्याकुल होने वाले कृष्ण को एक सिद्ध पुरुष इस प्रकार उपदेश देते हैं कि तुम एक बार अपनी बांसुरी की तान छेड़कर तो देखो। तब कृष्ण अपनी बांसुरी की मूर्च्छनाओं से वातावरण को परिप्लावित कर देते हैं। इसकी प्रतिध्वनि के रूप में राधा की हृदय-तंत्रियां बज उठती हैं और वह स्वयं कृष्ण के पास खिंचकर आ जाती है। भगवान से क्षमा याचना करते हुए राधा कहती हैं :-

''मेरे अपराध क्षमा कीजे
तुम दया कीजे।
जान की सो अनजान की सो
स्त्री स्वभाव की सो तुम माफ करो।
तन तुमेरो मन तुमेरो जीव तुमेरो।
देव तुहे मेरो।
कोप तजकर दया कीजे तू।
बालपन कुं मित्र तूं मोहे घर लायक।"

''ऐसे राधाजी वचन सुन शाम (श्याम) सकल जीव-दया पर, सकल दयासागर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामि या सो राधाजु के अपराध क्षमा कर, राधाजी पर दया कर, मंदस्मित कर, 'दिल बीच संतोष होयि राधाजु, श्याम अति आनन्द से सरस-सल्लाप करे देखो। ऐसे श्याम राधाजु को प्रणय कलह दूर होय। दोवू हिलमिल अति आनन्द सूं येक चित्त होय संतोष से मिल बैठी देख नारद। कन्नर किंपुरुष जय आनन्द मंगल सूं गावे देखों।'' तदनंतर मंगलगीत के साथ नाटक की समाप्ति होती है।

सामयिक प्रवृत्तियों के अनुरूप दोनों नाटकों में श्रृंगार के दोनों पक्षों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

''पंचभाषा विलास'' नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है :-

धर्मराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ कर रहे हैं, श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन में। उस यज्ञ में भाग लेने के लिए देश-देश के राजा आते हैं। उन राजाओं के साथ उनके परिवार भी हस्तिनापुर आते हैं। इस प्रकार आई हुई राजकुमारियाँ (हिन्दी, तेलुगु, तमिल, मराठी और कन्नड़) श्रीकृष्ण के प्रति अपना प्रेम-निवेदन करती हैं। सर्वज्ञ और सर्वव्यापक श्रीकृष्ण परमात्मा उन-उन राजकुमारियों को उन-उन की भाषाओं में उत्तर देते हैं और अन्तत: उनके प्रेम को स्वीकार करते हैं। इन पात्रों और दर्शकों में संपर्क बनाए रखने वाला सूत्रधार तो संस्कृत भाषा का प्रयोग करता है।

ये तीनों नाटक यक्षगान की रचना पद्धति पर ही लिखे गए हैं। समस्त देवी-देवताओं की प्रार्थना और विघ्नेश्वर की वंदना के बाद, स्वयं गणपति के रंगमंच पर प्रवेश के साथ नाटक का प्रारंभ होता है। ''यक्षगान'' में सूत्रधार का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वह आदि से अंत तक मंच पर रह कर कथा को संचालित करता रहता है। वह पात्र-प्रवेश, पात्र परिचय और कथा संविधान के सूत्रों का निर्देश करता रहता है। मंगल गीत के साथ नाटक समाप्त होता है। इन नाटकों के अंत में यह वाक्य है ''इति श्रीमतद् भोसलकुलांबुधि श्री शाहराज रचितं श्री .... नाटकं सकल रसिक विद्वज्जन प्रीतये सकल श्रेयसे श्री त्यागेश सांबशिवार्पणमस्तु''। इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये नाटक शाहजी महाराज द्वारा लिखे गए हैं।

गीतों से भरे इन नाटकों में गद्य का बहुत कम प्रयोग हुआ है। इनकी भाषा को मालवी और राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा माना गया है। भाषा के हिन्दी होने पर भी गीतों के राग-ताल कर्नाटक संगीत की शैली के अनुरूप हैं। दक्षिण भारत के संगीत के सांचे में हिन्दी भाषा को ढालने का यह सफल प्रयास कहा जा सकता है। राष्ट्रीय भाव समैक्य का यह सुन्दर और सराहनीय प्रयास है।

इन नाटकों में स्थान-स्थान पर शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का प्रयोग हुआ है। शैली और दृश्य विधान रोचक तथा आकर्षक है।

सुदूर दक्षिण के तंजाऊर के भोसल वंशीय नरेश शाहजी महाराज की ये कृतियां विद्वानों के अध्ययन का विषय हैं और इन नाटकों को हिन्दी साहित्य के इतिहास में अवश्य ही समुचित स्थान मिलना चाहिए। विशेष रूप से सन् 1918 से पूर्व दक्षिण भारत में हिन्दी भाषा में जो भी रचनात्मक प्रयास हुए हैं, उनका विशेष महत्त्व है। ये कृतियां हिन्दी भाषा के सार्वदेशिक प्रयोग के ज्वलंत प्रमाण प्रस्तुत करने वाली हैं। इन्हें प्रकाश में लाना राष्ट्रभाषा प्रेमियों का प्रधान कर्त्तव्य है।

(साभार - संकल्प : हिंदी दिवस 1990 संपा. डॉ. नारायण दत्त पालीवाल, प्रका. हिंदी अकादमी, नई दिल्ली)

चंद्रकला जटा पर। रुंड माला गला धर।
कर त्रिशुल धर। बाघांबर अंबर।
भस्म अंग छिड़ाकर। इछा फल देनो हर।
डमरू पिनाक धर। अस्वार नंदीपर।
रुद्राक्ष माला धर। शिर पर गंगाधर।
त्रिनैनो त्रिपुर हर। आतंक भय दूर कर।
सर्पभूशण धर। भोंसल शाहकू वर देनुहारा।

- विश्वातीत विलास-शाहजी

बूँदी राजघराने की हिंदी-सेवा

रामगोपाल राही

अरावली पर्वत श्रृंखला में स्थित बूँदी की नैसर्गिक, मनोरम, नयनाभिराम छवि देखते ही बनती है। पहाड़ी पर स्थित बूँदी गढ़-किले की बनावट व स्थापत्य कला देख इतिहासकार कर्नल टाड ने इसे राजस्थान के सभी गढ़-किलों में सर्वश्रेष्ठ बतलाया था। वस्तुत: बूँदी है ही सर्वश्रेष्ठ। यहाँ की धरा के कण-कण में शौर्य एवं वीरत्व के अवशेष देखने को मिलते हैं। कई अवशेष हैं - गढ़, किला, चित्रशाला, झीलें, प्राचीरें, भव्यद्वार, बावड़ियाँ, चौरासीस्तम्भों की छतरी। यहाँ के शूरवीरों-रणधीरों की शूरता-वीरता, युद्ध-कौशल, स्वाभिमान के युद्ध व लड़ाइयों के किस्से, इतिहास, सभी कुछ ''गाढ़ा हले हाडा नहीं टले'' इन चार शब्दों में यहाँ का इतिहास व शौर्य व्यक्त होता-सा लगता है।

इतिहास तो इतिहास है, परंतु हम यहाँ इतिहास की नहीं, बूँदी राजघराने की हिंदी-सेवा, साहित्य-सेवा की बात करेंगे। इस राजघराने में साहित्य, काव्य, कला-प्रेमी, कलम और तलवार के धनी शासक भी हए हैं जिनकी लिखी कविताओं व ग्रंथ-रचनाओं में, सभी प्रकार का साहित्य-सौंदर्य, भाव सौंदर्य, भाषा-शैली, यति-गति, लय, अलंकार योजनाएँ विद्यमान हैं। वैसे अन्य कुछ राजघरानों की भाँति बूँदी राजघराने की हिंदी साहित्य-सेवा का प्रमाणिक विवरण का अभाव-सा ही है।

रावराजा बुद्धसिंह :- राजा बुद्धसिंह का जन्म् सन् 1685 में हुआ था। पिता महाराव महाराजा अनिरुद्ध सिंह की मृत्यु के पश्चात् दस साल की बाल्यावस्था में बुद्धसिंहजी बूँदी की राजगद्दी पर बैठे। कुछ वर्षो के बाद मुगल शासक औरंगजेब ने उन्हें दिल्ली दरबार में बुलवा लिया तथा अपने पुत्र शाहआलम के साथ रखा। बुद्धसिंह जैसे शूरवीर, तलवार के धनी और युद्ध-नीति में निपुण थे, ऐसे ही युवा-दुर्जेय योद्धाओं की आवश्यकता थी मुगल-शासन को। बुद्धसिंह ने औरंगजेब की चरमराती शासन-व्यवस्था को संभालने के लिए उसके पक्ष में कई युद्ध लड़े और जीत भी हासिल की। शाहआलम के साथ वे काबुल युद्ध में भी गए थे। इनकी सेवा से प्रसन्न होकर औरंगजेब ने इन्हें टोंक का परगना दिया था। सम्राट् औरंगजेब का तो बुद्धसिंहजी पर विश्वास था ही, पर पुत्र शाहआलम का भी बुद्धसिंह पर पूरा विश्वास था। दक्षिण में रहते शाहआलम को औरंगजेब की मृत्यु का समाचार मिलते ही शाहआलम, बुद्धसिंह को सेनापति बनाकर दिल्ली की ओर आया था। इन्होंने जावर नामक स्थान पर आजम खाँ को हराया और मार डाला। इस पर इन्हें शाहआलम-बहादुर शाह ने महाराव राजा की उपाधि दी थी। इन्हें और भी अनेक पदवियों से नवाज़ा गया था।

यौद्धिक कुशलता के साथ ही राजा बुद्धसिंह कला व साहित्य-प्रेमी तो थे ही, अच्छे कवि भी थे। एक विवरण के अनुसार बुद्धसिंह को सैयदों से भी युद्ध करना पड़ा था, इन्होंने इसी संदर्भ को लेकर हिंदी में बड़ी सुंदर कवित्त रचना की -

''ऐसी ना करी है काहू आजलौं अनैसी जैसी
सैयद करी है ए कलंक काहि चढ़ेंगे।

दूजे को नगारो बाजै दिल्ली में दिलीश आगे
हम सुनी भागे तो कविन्द कहा पढेंगे।
कहे राव बुद्ध हमें करने हैं युद्ध स्वामी
धर्म में प्रसिद्ध जे जिहान जस मढ़ेंगे।
हाडा कहवाय कहा हारि करि कढ़े, तातें
झारि समशेर आज रारि करि कढ़ेंगे।।''

बुद्धसिंह का यह कवित्त इनके अच्छे-परिपक्व कवि-काव्यकार होने का प्रमाण है।

उल्लेखनीय बूँदी राज्य के संपूर्ण इतिहास में उल्लेख है - महाराव राजा बुद्धसिंह ने 1705 ई. में ''नेहतरंग'' नामक अच्छे ग्रंथ की रचना की थी। इन्हीं के समय राज्याश्रय प्राप्त समकालीन कवि भोले लोकनाथजी ने भी एक अलग श्रेष्ठ ''रसतरंग'' ग्रंथ लिखा था।

इस संदर्भ में आगे बढ़ने से पूर्व एक उल्लेखनीय विवरण बुद्धसिंहजी के पितामह राव राजा भावसिंह 1658 से 1681 ई. के समय ब्रजभाषा के विख्यात कवि मतिराम बूँदी आए; यह महाराव भावसिंह के दरबारी कवि रहे, इन्होंने ललित ललाम, छंद सार, साहित्य सार, लक्षण श्रृंगार तथा मतिराम सतसई आदि महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। इनकी रचनाओं का विषय काल-निरूपण तथा श्रृंगारपरक ही रहा। श्रृंगाररस का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

''दोऊ आनंद सों आंगन मांझ विराजै असाढ़ की सांझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई।
आई औ मुंह में हँसी को हि तिया पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आंखिन ते गिरि आंसू के बूंद सुहाय गयो उड़ि, हंस की नाई।।''

महाराव विष्णुसिंह :- बूँदी राजघराने की हिंदी-सेवा के संदर्भ में यदि आगे बात करें तो अग्रणीय रहे हैं - महाराव विष्णुसिंहजी। वैसे प्रारंभ में इनके जीवन में कई विविधताएँ देखने को मिलती हैं। माना जाता है कि ये बहुत ही धार्मिक वृत्ति के शासक थे। इन्होंने महलों में ही रंगजी की स्थापना करायी, चित्रशाला भी बनवायी। महाराव विष्णुसिंह रंगनाथ भगवान (रंगजी) के अनन्य भक्त थे। इनके संपूर्ण काव्यमय साहित्य में भक्ति-भाव भरपूर है। अपने इष्ट रंगजी (रंगनाथ) के प्रति इन्होंने लिखा है-

''आन को ध्यान धरौं न कबै नहिं गान करों मुख तैं पन मेरे।
कीरति रावरी कौं सुनि कानन मो मन मान गुमानन घेरे।
देकर राजन काज हमें करुणा करि कै करुनावर हेरे।
तारि अतारी दया ढर तापर हौं रंगनाथ रंग्यौ रंग तेरे।।''

रंगे हुए, जिनका नाम रंगजी (भगवान) हो भला वो अन्य रूप में हों तो कैसे? इसी संदर्भ के साथ देखें विष्णुसिंहजी की अपनी भक्ति की दृढ़ता।

महाराव विष्णुसिंहजी ने रंगजी के रूप में ही भगवान श्रीराम का वर्णन कई छंदों में किया। अपने इष्ट रंगजी के ही तरह राम को भी इष्ट मानकर उनकी चरण वंदना की है -

''काहू के कुभावत सपूत काहू के सु,
आवत है माल महा मुलकन गाम के।

केई दौर चाकरी करे है केई बैठे घर,
भोजन करत भाग फूले फले नाम के।
ऐसे बहु बिमल विलोकत विहल भयो,
मन में गह्यो है एक अवर न काम के।
जग में न जाँचि हौं जियत जन प्रति प्रति,
मेरे धन धाम धरा पद जुग राम के।।''

इन्होंने और भी मनभावन छंदों की रचना की है। उन्हीं में एक भगवान महादेव व श्रीराम दोनों के संदर्भों के साथ, बहुत ही अनूठा पद लिखा है। छंद के बारे में टीकाकार ने प्रसंग बताते हुए लिखा है कि जिनकी कांति को देखकर कैलाश वासी भगवान शिव भी एक बार तो ठगे से, हारे बैठे हों – उन भगवान श्रीराम की आभा के सामने और अन्य वस्तुएँ कहाँ तक टिक सकती हैं ? कवि विष्णुसिंहजी का वह छंद द्रष्टव्य है –

''दशरथ – नन्द महाराजा राजा रामचन्द्र,
तेरा जस चन्द्र रह्यो अवनि प्रकाश के।
ताको तौ किरनि करि कलित ललित भये,
सेत ही सकल अंग वसन विलास के।
मेरू मैनाक गंधमादन हिमाचल हुवै,
विन्ध्य के सहित सब भासै इकभास के।
दीस तन न्यारे सब एक से निहारे गिरि,
हेरि हेरि हारे हर भोरे कैलास के।।''

एक अन्य प्रसंग में–सीता की खोज के चलते, लंका पर चढ़ाई हेतु, राम नाम लिखे पत्थरों से सेतुबांध समुद्र पार करना और सफलता हासिल करना। इस सारे प्रसंग में राम नाम की महिमा, राम नाम का प्रताप, कवि महाराव विष्णुजी के शब्दों में –

''लंक प्रमान को आदि मिला नहिं तीर जलाशय के उतरायो।
देखि अगाध भयान महादल भाल कपीसन को हहरायो।
राम को नाम लिख्यो तिन ऊपर ऊपल लै जल मांहि तरायो।
ता दिन तैं वह रावरे नाम को तारक मंत्र सबै ठहरायो।।''

राम के नाम के प्रताप संदर्भो में एक और छंद का अवलोकन करें, जिसमें श्रीराम की चतुरंगिणी सेना युद्ध के लिए प्रयाण कर रही है। अश्वों की टापों से उड़ती धूल से दिशाएँ धूल–धूसरित हो गई। इस पर देवताओं ने भी अपने वाहन विमानों को रोककर, सेना के आगे पदार्पण करने के लिए मार्ग दिया –

'' श्री रघुनाथ की सेन सजी सु बजी सुनि नौबति ह्वै घन हीनों,
घोरन की खुरतारनि खुन्दि महीतल को मनु मर्दन कीनों।
धूरितै पूरि सपूरि दशों दिशि अम्बर में मिलि डम्बर कीनों,
सैल कढ़े सुर गैल न पावत रोकि विमानन को मग दीनों।।''

समझ सकते हैं उपरोक्त दोनों छंदों में कवि की कल्पना और राम की गुण–ग्राहकता सुंदर बन पड़ी है।

आगे कवि की कल्पना परवान चढ़ती गई और सुंदर–सुंदर छंद कवि की लेखनी से उतरते गए

कागज़ के श्वेत पृष्ठों पर। देखिए यह छंद –

''कानर की सुनि कानन में कहि तानन गानन आनि बसाई।
यौं करि चाहि बढ़ी उर में उरिकैन मुरयौं कढ़ि जानन चाई।
बैनन नैनन सैनन कौ लखि साँवरी सूरत मो मन भाई।
फन्द परयो मन मोहन कै निकस्यो न गयो जकरयौं जनु जाई।''

एक टीकाकार के शब्दों में उपरोक्त छंद का भावार्थ श्रवण द्वारा पूर्व की स्थिति और फिर उसका परिणाम, छंद में बिल्कुल सहज भाव से व्यक्त हुआ है। अनुप्रास की योजना छंद में चार चाँद लगा रही है। यों लगता है कि कवि की मानसिक भावना का विकास भी अनायास ही मनोवैज्ञानिक रीति से स्वतः आ गया है। इसी के चलते देखते हैं कवि विष्णुसिंहजी का एक अन्य छंद –

''मोर की पच्छ मनोहर शोभित लोभित मो मन देखि महाई।
माधुरता मुरली मुख की सुख की जनु रासी निवास बढ़ाई।
नेह–नदी उमगी न रही कुल लोक की लाज सुपाज बँधाई।
फैलि गयो परिपूरन प्रेम सु कोन अली अपने घर आई।।''

इस छंद का टीकाकार के शब्दों में भावार्थ – गोपिका सब कुछ खोकर भी अपने भाग्य की सराहना कर रही है। माना, यही सूफियों का 'बज्द' और यही वेदांत का अद्वत है। अपने को खोकर परमतत्त्व में विलीन हो जाना हिन्दू दर्शन का अध्यात्मवाद समझा जाता रहा है। सान्त और अनन्त का यह मिलन कितना सुखदायी होता है, यह केवल अनुभूति का विषय है, जिसे कवि विष्णुसिंह ने सीधे–सीधे शब्दों में कह दिया है।

भारतीय काव्य–परंपराओं में समन्वय का पुट रहा है। शैव, वैष्णव अलग–अलग होते हुए भी आपस में विरोधी नहीं हैं। तुलसी तक ने अपने–अपने इष्ट होते हुए भी अन्य देवी–देवताओं के प्रति भी, उन्हें विनम्रता से स्मरण किया ही है। विष्णुसिंह की छंद रचना में आगे कृष्ण और रुक्मिणी द्वारा शिव नाम की रट लगाने का उल्लेख है। शिवाष्टक में समन्वय की भावनाओं के साथ शिव प्रशस्ति अनुपम, सुंदर–अति सुंदर बन पड़ी है –

''भूतन भूत विभूति विभूषित भासत भास महा भय माता।
मुंडन माल कपालिक मंडल काल कहे तिन सौं सब ज्ञाता।
यौं चलि संभ्रम आवति है मन जावति है हटि हेरि हराता।
जानि न जाय वहै मति की गति है शिव शोक अशोक के दाता।।''

इसी भाँति शिव का स्मरण, कृष्ण–रुक्मिणी द्वारा : कवि विष्णुसिंह के शब्दों में –

''शिव को समाज मेरे नैनन निहार्‌यो आज
आये ब्रजराज तेरे पूजन करत हैं।
जप तप नेम व्रत यज्ञ कों करत सब
अर्चन सकल वेदवानी यों फुरत हैं।
तेरे ध्यान धारे ताते वेग मुक्ति पावें भजि
तिनतें कलेश जर मूरि तें जरत हैं।
डाक बाजे डैरू रुंडमालि कै करन ताकौं,
रुक्मिणि सहित कृष्ण रटिबों करत हैं।।''

एक अन्य छंद में गंगा संदर्भो के बारे में कवि विष्णुसिंह ने लिखा है –

> ''हेत भागीरथ लेत रहै सुख है यदि वेद पुरान विचारै।
> सागर सौं सनमन्द किते इक जानत है जस जासन हारै।
> ए गुन गंग अभंग असंक ससंक कहौ कवि के कुल सारै।
> बाप के पाप को आप मिटावन ईश के सीस चढ़ि डर ढारै।।''

कवि विष्णुसिंह का एक अन्य मनमोहक छंद प्रस्तुत है, जिसमें अनुप्रास अलंकार की छटा देखते ही बनती है –

> ''चन्द भयो विषकन्द हमें अब सूल सहेती समीर लखीरी।
> भाजन भौन भये भय भूखन भोजन भोग भले न भखीरी।
> जा छिनतैं नंद-नंद लख्यो कहि ता दिन तैं सब बात नखीरी।
> नैनन सैनन सौर लगी उर प्रीति नहीं विपरीत सखीरी।।''

कवि विष्णुसिंहजी ने हिंदी-साहित्य के अंतर्गत ऐसे ही और कई प्रसंगों को लेकर अपनी कविताएँ लिखीं, पर स्पष्टत: उनकी मूल भावना संसार से विरक्ति, वैराग्य की भावना ही रही। साहित्य में जो सफलता उन्हें मिली, वह भक्ति-काव्य लेखन में ही मिली, अन्य में उतनी नहीं। कवि विष्णुसिंहजी का व्यक्तित्व, बूँदी राजघराने में हुए शासकों में अपनी अलग ही विशेषता रखता है। यह स्वयं कवि थे, कवियों का सम्मान करते थे और कवियों के आश्रयदाता भी थे। इनकी रानी राठौड़जी भी साहित्य रसिक और ईश्वर भक्त थीं। इन रानीजी की आज्ञा से बूँदी के कृष्णलाल गोस्वामी ने भक्तमाल की टीका बनाया जाना माना जाता है। इन्हीं गोस्वामीजी का लिखा 'कृष्ण-विनोद' और 'रस-भूषण' क्रमश: नायक, नायिका भेद एवं अलंकार प्रसिद्ध ग्रंथ है।

बूँदि राजघराने में हिंदी-साहित्य के अंतर्गत काव्य संरचना एवं प्रोत्साहन की परंपरा आगे भी रही। विष्णुसिंहजी की सन् 1821 में हुई मृत्युपरांत, इनके पुत्र महाराव रामसिंहजी बूँदि के राजा बने। बताया जाता है कि इनकी हिंदी-साहित्य व इतिहास के प्रति विशेष रुचि थी। इनके पास दरबार में पंडितों-विद्वानों का जमावड़ा रहता था। इनको भी कविता का शौक था, यदा-कदा यह भी कविता कर लिया करते थे। इनका अधिकांश समय सत्संग और शिष्ट, विशिष्ट विद्वानों के बीच में गुजरता था। इन्हीं के समय महाकवि सूर्यमल मिश्रण हुए, जिन्होंने 'वंश भास्कर' की रचना महाराव रामसिंहजी की आज्ञा से ही की। वंश भास्कर इस बात का द्योतक है कि महाराव रामसिंहजी की रुचि सुलझे हुए विचारों की परिष्कृत और सुसंस्कृत संस्कारों की थी। समझा जाता है कि जोधपुर के प्रसिद्ध इतिहासकार मुंशी देवी प्रसाद ने फारसी पुस्तक 'तौकीयात किसरा' का उल्था (अनुवाद) हिंदी में करके 'नौशेरवाँ नीति-सुधा' के नाम से महाराजा रामसिंहजी को भेंट किया। इस पर महाराजा ने भेंटकर्त्ता को पारितोषिक देकर साहित्य के प्रति प्रेम, सम्मान व साहित्य गुणग्राहकता व उदारता का परिचय दिया।

महाराज रामसिंहजी की मृत्यु (सन् 1889) के बाद इनके पुत्र राजा रघुवीरसिंह गद्दी पर विराजमान हुए। कहा जाता है कि महाराज रघुवीरसिंह ने भी कविता लिखी हैं। इनके श्रीरंगजी इष्ट देव थे।

'वंश-भास्कर' के रचयिता महाकवि सूर्यमलजी, महाराव रामसिंह के समय हुए। इनके शासनकाल में और भी कवि-साहित्यकार हुए-कवियों में मुरारी दान मिश्रण (महाकवि सूर्यमल के पुत्र), जिन्होंने वंश-भास्कर किया एवं वंश समुच्चय तथा डिंगल कोश की रचना की। उल्लेखनीय है कि महाकवि सूर्यमल मिश्रण की ख्याति आज भी है, उन्हें बड़े सम्मान के साथ हर वर्ष याद किया जाता है। महाकवि सूर्यमल ने वंश-भास्कर, राम रंजात, वीरसतसई तथा संभव है और ग्रंथों की रचना की। सूर्यमल

मिश्रण वंश की आठवीं पीढ़ी में थे। यह भी कहा जाता है कि यह डिंगल, पिंगल उस समय की राजस्थानी भाषा के कवि माने जाते हैं। इनकी 'वीर सतसई' काफी ख्याति प्राप्त रचना है। उल्लेखनीय पुस्तक 'वीर सतसई' की भूमिका में सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, कोलकाता ने लिखा है –''यह पुस्तक राजस्थानी भाषा तथा हिंदी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में उपयोगी होगी। उल्लेख्य है कि संपूर्ण 'वीर सतसई' में शौर्य और वीरता के भाव जगाते दोहे हैं। देखें मात्र एक दोहा –

''इला न देणी आपणी, हालरियाँ हुलराय।
पूत सिखावे पालणो, मर बड़ाई पाय।।''

टीकाकार का भवार्थ है – अपनी पृथ्वी किसी को नहीं देनी चाहिए इस भाव के अंतर्गत ही, झूले की गीतों के साथ, झुलाते हुए, पलने में माता पुत्र रणांगण में मरने की महत्ता सिखा देती है। वीर सतसई का यह दोहा इतना प्रसिद्ध होता आया है कि वीररस-प्रसंग में-स्वाभाविक प्रसंगों में, वक्त-वक्त पर लोगों द्वारा आज भी सुनाया जाता है।

वस्तुत: बूँदी राजघराना पर्याप्त हिंदी साहित्य-सृजन व प्रोत्साहन का केंद्र रहा है। इस राज्य ने लोकनाथजी, फतहरामजी, मिश्र हीरालालजी, ज्ञारसीलाल, जगन्नाथ, बालकृष्ण (बिहारी के वंशज), अमरकृष्ण, गोस्वामी कृष्णलाल, राव रामनाथ, राव गुलाबसिंह आदि जैसे प्रसिद्ध कवियों को अपने यहाँ आश्रय दिया। बूँदि राजघराने की हिंदी-सेवा से हिंदी-साहित्य की बहुत ही वृद्धि हुई है।

ब्रज साम विहाय विदेस बसे, हरि देख कृपा सुध क्यों न लई।
निस बासर सोच रहे नितनी, दुख ताप मिटै विध को न दई।।
घन श्याम बिना घन देखी घटा, तरुनी विरहानल ताप तई।
छिरक्यो न गयो उन को अंगना, वर्षा अध बीचहुँ सूख गई।।
– जैसलमेर के रावल मूलरावजी (सन् 1762-1819)

'नागरीदास' के काव्य का वैशिष्ट्य

डॉ. राज नारायण राय

'भारत का इतिहास' और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' दोनों इस तथ्य के अकाट्य हैं कि राजाओं, बादशाहों और सामंतों की चेतना साहित्य-सृजनोन्मुखी नहीं रही है। कुछ ही की रही है; पर ऐसे हुए अंगुलिगण्य ही। वे साहित्य-श्रोता अधिक थे, सर्जक बेहद कम। हिंदी में अद्यावधि राम साहित्य और कृष्ण साहित्य का सृजन हुआ, आराध्य शिव को केंद्रीय वर्ण्य विषय मानकर कुछ कृतियाँ रची गई, पर हैं आठ-दस से अधिक नहीं। कलाढ्य रसिकेंद्र श्रीकृष्ण उनकी आह्लादिनीशक्ति के रूप में अभिचित्रित राधिका के वैशिष्ट्य से सम्मोहित नरेशों ने विशेष रुचि दिखाई। ऐसे सर्जक राजपुरुषों में विशेषोल्लेखनीय हैं-महाराज रूपसिंह (सन् 1643-1650) जिनकी 'ब्रजविलास सतसई' प्रणीत हुई; राधा-कृष्ण भक्त महाराज छत्रसाल (ओरछा) ने अपने जीवनकाल में कृष्ण भक्तिपरक रचनाएँ कीं; शाहजी भोंसले (तंजाऊर-तमिलनाडु-शासनकाल सन् 1684-1712) ने 'राधा-वंशीधर विलास' नाटक रचकर साहित्यिक सृजन चेतना का परिचय दिया; राजा गुरुदत्त सिंह भूपति (अमेठी-सन् 1703-1774) ने 'भूपति सतसई' की रचना की। किशनगढ़ (राजस्थान) के नरेश सावंत सिंह (सन् 1699-1764) ने राधा-कृष्ण भक्ति के अति आवेश में राजकीय वैभव-विलास का परित्याग कर वृन्दावन के भक्तिमय वातावरण को अपना लिया और फिर ब्रज-रज में विलीन हो गए।

राधावल्लभ कृष्ण के आराधक 'नागरीदास' जिस कालावधि में धरती पर आए, वह युग अशांति-अव्यवस्था का था। राजतंत्र विदा ले चुका था, सामंतों-नवाबों की प्रशासन व्यवस्था थी। शासक-प्रशासक राजकर्मचारी अत्याचारी, आततायी बर्बर थे। आम जनता, श्रमजीवी, कृषिकर्मी सब उनके शोषण, अपहरण, बलात्कार से अत्यंत त्रस्त, पीड़ित थे। निरंकुश शासकों, सत्ताधारियों का जीवनोद्देश्य एक मात्र था-युद्ध और पाशविक ऐन्द्रिक सुख-भोग। आध्यात्मिकता खत्म हो चुकी थी, कामक्रीड़ाओं की अभ्यर्थना में काव्य की सार्थकता मानी जाती थी। महंतों-पुजारियों पर सामंतवादी विलासप्रियता का प्रभाव प्रभूत हो गया था। जनता की अज्ञानता से अंधभक्ति को उत्कर्ष मिल रहा था। परिणामत: मठ-मंदिर में दिखावा अधिक था, ईश्वरोपासना गौण थी। ऐसे समय में श्रीकृष्ण लीला साहित्य के उत्कर्षक राजा सावंत सिंह 'नागरीदास' का अवतरण हुआ।

'नागरीदास' नाम के चार-पांच कवि ब्रज मण्डल में हुए हैं। इनमें से एक श्री बल्लभाचार्य संप्रदाय के, एक स्वामी हरिदास जी के संप्रदाय के, एक गोस्वामी हित हरिवंशजी संप्रदाय के और हमारे चरित्रनायक महाराज नागरीदासजी वल्लभीय संप्रदाय के थे।' (द्र. नागरीदास ग्रंथावली, प्र.खं0, संवत् 2022, प्र.सं., संपा, डॉ. किशोरीलाल गुप्त, पृ. 26) महाराज सावंतसिंह कृष्णगढ़ (राजपूताना) के नरेश थे और 'नागरीदास' उपनाम से कविता किया करते थे। कृष्णगढ़ अथवा किशनगढ़ राज्य की स्थापना जोधपुर के राठौर राजा उदयसिंह के दूसरे पुत्र कृष्णसिंह ने संवत् 1668 (सन् 1611) में की थी। उनकी पाँचवीं पीढ़ी में महाराज राजसिंह किशनगढ़ के सिंहासन पर आरूढ़ हुए और उन्हीं के पाँच पुत्रों में एक थे सावंतसिंह, मँझले पुत्र।

राजपुत्र सावंतसिंह का जन्म संवत् 1756 तदनुसार सन् 1699 ई. को हुआ था। साहित्यिक प्रवृत्ति उन्हें विरासत में मिली थी। इनके पिता महाराज राजसिंह तथा पितामह महाराज रूपसिंह अच्छे कवि थे। बाल्यावस्था से पराक्रमी तथा साहसी थे सावंत सिंह जी। जनश्रुति है कि दश वर्ष की आयु में ही इन्होंने एक मदस्त हाथी को वश में कर लिया था और तेरह वर्ष की उम्र में बूँदी के हाड़ा जैतसिंह को मार डाला था। संवत् 1777 में 21 वर्ष की अवस्था में भानगढ़ नरेश यशवंत सिंह की सुपुत्री से इनका विवाह हुआ। इन्हें चार संतानों का पिता होने का गौरव प्राप्त हुआ, दो पुत्र तथा दो पुत्री। प्रथम पुत्र बाल्यकाल में ही स्वर्गवासी हो गये थे और दूसरे पुत्र सरदार सिंह (जन्म सं. 1787) थे, जो उनके उत्तराधिकारी बने। शिकार खेलने का भी शौक था इन्हें। एक बार तो इन्होंने अकेले ही सिंह का शिकार किया था। इनकी वीरता के अनेक उद्धरण रहे हैं। संवत् 1793 में मराठा मल्हारराव ने इनके राज्य पर आक्रमण कर दिया परंतु वह सावंत सिंह से युद्ध में जीत नहीं सका। इनकी वीरता से प्रभावित हो बाजीराव पेशवा ने मल्हारराव से कुछ इस प्रकार उनकी प्रशंसा की थी-

''बाजीराव मल्हार सौं, कहतो गयो कथाह।
और राव सब राव हैं, साँबत बात अथाह।।''

(द्र. नागरीदास ग्रंथावली पृ. 34)

उनकी शौर्य-प्रशस्ति का एक अन्य सुंदर उद्धरण प्रस्तुत है -

''बंस बल, बंधु बल, गढ़नि के गर्व बल,
गनत न काहू बिजै समर की भीर में
धरम तैं लुंज पुंज, पाप ही के लोभी अति,
बाट के बटोही हति डारैं कूप नीर में
साँवत महीप तिन्हैं दै कैं दंड-अंजन कौ,
खोले चख अंध हुते महा मद बीर में
बाँह गहि आने, तब बकरे (से) बिललाने,
अँकरे फिरत जिन्हैं जकरे जँजीर में।। (वही, पृ. 33)

संवत् 1804 में पिता के देहावसान के बाद नागरीदास किशनगढ़ की गद्दी पर बैठे। एक वर्ष बाद इन्हें कार्यवशात् दिल्ली जाना पड़ा। इसी बीच इनके छोटे भाई बहादुरसिंह ने राज्य पर अधिकार कर लिया। इस पर इन्होंने मराठों की सहायता ली और पुनः राज्य प्राप्त कर लिया। परंतु इस गृहकलह के कारण इन्हें राजपाट से अटूट विरक्ति हो गई। परिणामतः ये संवत् 1814 में कृष्णगढ़ का राज्य अपने पुत्र सरदारसिंह को सौंपकर चले गये वृंदावन। इस विरक्त भाव को इन्होंने निम्न पद में कुछ इस प्रकार से व्यक्त किया है-

''जहाँ कलह तहँ सुख नहीं, कलह सुखन को सूल।
सबै कलह इक राज में, राज कलह को मूल।।
कहा भयो नृप हू भए, ढोवत जग बेगार।
लेत न सुख हरिभक्त को सकल सुखन को सार।।
मैं अपने मन मूढ़ तें डरत रजत हौं हाय।
वृंदावन की ओर तें मति कबहूँ फिर जाय।।''

(द्र. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामन्द्र शुक्ल,
पृ. 238-239, अनुपम प्रकाशन, पटना, सं. 2008)

अपने जीवन के शेष दिन इन्होंने वृंदावन में रहते हुए ही भक्ति-भाव में तल्लीन प्रभु-स्मरण, वंदन और लेखन में व्यतीत कर दिये। संवत् 1821 (सन् 1764) में महाराज नागरीदास अपने वृंदावन वास में ही ब्रह्मलीन हो गये।

नागरीदासजी संस्कृत और फ़ारसी के ज्ञाता थे और ब्रजभाषा पर तो पूर्ण अधिकार था। संगीत और चित्रकला का इन्हें ज्ञान था। कृष्णगढ़ में रहते हुए ही काव्य-रचना प्रारंभ कर दी थी और उस समय तक ब्रजलीला-परक छोटी-बड़ी अनेक पुस्तिकाएँ लिख चुके थे। कुछ विद्वान् इन्हें बल्लभकुल में दीक्षित मानते हैं किंतु वृंदावन में इनका संबंध निम्बार्क सम्प्रदाय से ही माना जाता है। वृंदावन का नागरकुंज निम्बार्कीय ही कहा जाता है।

वृंदावन पहुँचने से पूर्व ही नागरीदास की ख्याति वहाँ फैल चुकी थी- किसी महाराजा, एवं पराक्रमी योद्धा के रूप में नहीं, वरन् भक्त-कवि नागरीदास के रूप में। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं-''वृंदावन पहुँचने पर वहाँ के रसिक भक्तों ने इनका बड़ा आदर किया। ये लिखते हैं कि पहले तो 'कृष्णगढ़ के राजा' यह व्यावहारिक नाम सुनकर कुछ उदासीन से रहे पर जब उन्होंने मेरे 'नागरीदास' (नागरी शब्द श्रीराधा के लिए आता है) नाम सुना तब तो उन्होंने उठकर दोनों भुजाओं से मेरा आलिंगन किया-

सुनि व्यावहारिक नाम को ठाढ़े दूरि उदास।
दौरि मिले भरि नैन सुनि नाम नागरीदास।।
इक मिलत भुजन भरि दौर दौर, इक टेरि बुलावत और ठौर।।''

(वही, पृ. 239)

रचनाएँ - महाराज नागरीदास की समस्त रचनाएँ 'नागर समुच्चय' नामक ग्रंथ में संगृहीत हैं जिन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया गया है -
''(1) वैराग्य सागर,(2) श्रृंगार सागर, (3) पद सागर।

'वैराग्य सागर' में निम्नलिखित 15 ग्रंथ हैं -

1. भक्ति-मग-दीपिका
2. देह दशा
3. वैराग्य वटी,
4. रसिक रतनावली
5. कवि वैराग्य बल्ली
6. अरिल्ल पच्चीसी
7. छूटक पद
8. छूटक दोहा
9. तीर्थानन्द
10. रामचरित्र माला
11. मनोरथ मंजरी
12. पद प्रबोध माला,
13. जुगल भक्त-विनोद
14. भक्ति-सार
15. श्रीमद्‌भागवत पारायण विधि प्रकाश

' श्रृंगार सागर में निम्नांकित 51 ग्रंथ हैं -

1. ब्रज लीला,
2. गोपी प्रेम प्रकाश
3 पद प्रसंग माला,
4. ब्रज बैकुंठतुला
5. ब्रज सार,
6. विहार चंद्रिका,
7. भोर लीला,
8. प्रात रस मंजरी
9. भोजनानंद अष्टक,
10. जुगल रस माधुरी
11. फूल विलास,
12. गोधन आगम,
13. दोहनानंद अष्टक
14. लगनाष्टक,
15. फाग विलास,
16. ग्रीष्म विहार,
17. पावस पचीसी,
18. गोपी बैन विलास,
19. रासरसलता,
20. रैंन रूपारस,
21. सीत सार,
22. इश्क चमन,
23. छूटक दोहा मंजलस मंडन,
24. रास अनुक्रम के दोहा,

25. अरिल्लाष्टक, 26 सदा की मांझ, 27. वर्षा ऋतु की मांझ,
28. होरी की मांझ 29. शरद की मांझ, 30. श्री ठाकुरजी के जन्मोत्सव के कबित्त,
31. श्री ठकुरानी जी के जन्मोत्सव के कबित्त, 32. सांझी के कबित्त, 33. सांझी फूल बीननि समैं संबाद अनुक्रम
34. रास के कबित्त, 35. चांदनी के कबित्त, 36. दिवारी के कबित्त
37. गोवर्द्धन धारण के कबित्त 38. होरी के कबित्त, 39. फाग खेल समैं अनुक्रम,
40. बसंत वर्णन के कबित्त, 41. फाग बिहार, 42. फाग गोकुलाष्टक,
43. हिंडोरा के कबित्त, 44. वर्षा के कबित्त, 45. छूटक कबित्त,
46. बन विनोद, 47. बाल विनोद, 48. सुजनानंद,
49. रास अनुक्रम के कबित्त 50. निकुंज विलास, 51 गोविन्द परचई।

पद सागर में निम्नांकित तीन ग्रंथ हैं –
1. बन जनप्रशंसा, 2 पद मुक्तावली, 3. उत्सव माला।''
(द्र. नागरीदास ग्रंथावली, प्र.खं. पदावली, पृ. 55)

इनकी कुछ अन्य रचनाएं भी हैं। इस प्रकार इनकी 75 पुस्तकें हैं। इतनी अधिसंख्य रचनाएँ जानकर आश्चर्य होता है कि राजकाज, युद्ध, आमोद-प्रमोद में रत महाराजा नागरीदास ने किस प्रकार इतनी कृतियों की रचना की होगी। इस संदर्भ में हमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन सत्य प्रतीत होता है। उनके अनुसार-''इस लंबी सूची को देखकर आश्चर्य करने के पहले पाठक को यह जान लेना चाहिए कि ये नाम भिन्न-भिन्न प्रसंगों व विषयों के कुछ पद्यों में वर्णनमात्र हैं, जिन्हें यदि एकत्र करें तो 5 या 7 अच्छे आकार की पुस्तकों में आ जाएँगे। अत: ऊपर लिखे नामों को पुस्तकों के नाम न समझकर वर्णन के शीर्षक मात्र समझना चाहिए। इनमें से बहुतों को पाँच-पाँच, दस-दस, पचीस-पचीस, पद्य मात्र समझिए। कृष्ण भक्त कवियों की अधिकांश रचनाएँ इसी ढंग की हैं।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ. 240)

नागरीदास का रचना-संसार अति विस्तृत है। अत: इनकी सभी कृतियों का वर्णन-विश्लेषण करना इन सीमित पृष्ठों में अति दुष्कर है, लेकिन यदि इस प्रसंग को अनछुआ ही छोड़ दिया जाय तो यह भी साहित्यिक दृष्टि से अनुचित ही होगा। अत: यहाँ पर नागदीदास की कुछ रचनाओं पर चर्चा करते हैं :

1. ''मनोरथ मंजरी'' - इस ग्रंथ की रचना महाराज नागरीदास ने सन् 1723 में की थी। इसकी रचना करने का कारण भी अंकित किया गया है-

परम मित्र आज्ञा दई, मेरेहू हित बास।
नवल मनोरथ मंजरी, करी 'नागरीदास'। ।44

नागरीदास के परम मित्र संभवत: नटनागर (कृष्ण) ही हैं, उन्हीं की प्रेरणा पाकर इन्होंने यह 46 दोहे युक्त ग्रंथ लिखा था। इसमें कवि ने वृंदावन जाकर कृष्ण के दिव्य दर्शन के विविध मनोरथ किये हैं। इसमें भक्त कवि की वास्तविक भावना अभिव्यक्त है –

कब वृन्दाबन धरन में, चरन परैंगे जाय।
लोटि धूरि धरि सीस पर, कछु मुखहूँ मैं पाय। ।2
ऊँची नासा पर सजल, चमकत मुकता हार।
करत बुलाक हलाक मन, रहिहैं नाहि सँभार। ।4

संभवत: यह ग्रंथ एक ही दिन में लिखा गया। उपसंहार में यह दोहा दिया गया है –

जो बांचै सीखै, सुनै, रीझि करै फिरि प्रष्ण।
सो संतसंगति कीजियो, पहुंचै जै श्रीकृष्ण। ।46
(द्र. नागरीदास ग्रंथावली – भूमिका से)

2. ''**गोपी-प्रेम-प्रकाश**'' – यह संवत् 1800 की रचना है जिसमें कवि के केवल 12 पद हैं, एक इनके पिता राजसिंह तथा 35 पद सूरदास के तथा 9 पद भ्रमर गीत संबंधी है।। नामांतर से यह भ्रमर गीत ही है। श्रीकृष्ण अपने वियोग में दुखित गोपियों को समझाने-उपदेश देने के लिए उद्धवजी को ब्रज में भेजते हैं लेकिन गोपियों की कृष्ण के प्रति निष्ठा और भक्ति-भाव के समक्ष नतमस्तक हो जाते हैं। उद्धव ने गोपियों को निर्गुन ब्रह्म की उपासना करने को कहा तो गोपियों कहती हैं –

''ऊधौ निर्गुन कैसे ध्यावैं
जो ध्यावैं तो कहा कहि ध्यावैं, रूप रेख बिन ध्यान न आवैं
अगम अगाधि अगोचर कहियत, अबिनासी को पावैं
'नागर' स्वाद न आवैं, जो कोउ बहुतक वासी खावैं।''
(द्र. गोपी-प्रेम-प्रकाश, पद-8, वही पृ. 47)

जिसका न कोई रूप है, न रंग है और न ही दिखलाई देता है, उसकी आराधना-उसका ध्यान हमसे नहीं किया जाता। ऊधौ प्रेम क्या है ये तुम नहीं समझ सकते –

''ऊधौ तुम न जानत प्रेम
बसो मथुरा राजधानी तहाँ व्यापक नेम
कथन निर्गुन ज्ञान सूको राजनीत प्रबंध
प्रीत नैननि रूप रीझनि कहा जानैं अंध
इहाँ ब्रज मैं वृथा कीजै जोग नीरस पाठ
छाड़ि नट 'नागर' मधुर फल, कौंन चाबैं काठ।।'' (वही-पद 18, पृ. 49)

ऊधौ निरुत्तर हो जाते हैं गोपियों के तर्कों के सामने और उन्हें उनके प्रेम भाव को, सगुण भक्ति से प्रभावित हो, शीश झुका, चरण स्पर्श कर चले जाते हैं –

''ऊधौ बार बार सिर नावत
गदगद कंठ, पुलकि, विह्वल मन, कर पायन सौ छावत
धन्य गोपी तुम रँगी स्याम रँग, तज्यौ सकल चित चेन'' (वही पद 30, पृ. 53)

3. ''**पद प्रबोध माला**'' – 37 पदों के संगृहीत इस ग्रंथ का रचनाकाल सन् 1748 है। इसके पद मन को प्रबोध देने वाले हैं। ग्रंथ का प्रथम पद अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। कवि ने इसमें 'मेरे येई वेदव्यास' कहकर अपने से पूर्व के कवियों का बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया है। कवि ने सत्संग को महिमामंडित किया है। संतों-भगवद्भक्तों की संगति कल्याणकारी है और मन को वश में करने का उत्तम उपाय भी है। बिना सत्संग के चंचल मन लगाम विहीन घोड़े की तरह उच्छृंखल हो इधर-उधर व्यर्थ भाग-दौड़ करता है साथ ही बुद्धि भी भ्रमित रहती है तथा बिना साधन कोई सफल नहीं होता –

''बिन सत्संग मति बेढंग
फिरत डाँवाडोल मन, ज्यौं बिन लगाम तुरंग
कबहुँ गिरि गिरि उठत अति श्रम, चढ़त क्रोधि उतंग
कबहुँ मूरख भ्रमत आतुर, उपज अंग अनंग
कहा तप व्रत दान संजम, कहा न्हावैं गंग
'दास नागर' बिना साधन, सकल साधन भंग।।12''

(द्र. पद प्रबोध माला, पद0 12, पृ. 4)

4. **''राम चरित्र माला''** – इस ग्रंथ का रचनाकाल है संवत् 1806 (सन् 1749) इसमें कवि ने राम चरित्र के कुछ पद लिखे हैं। ग्रंथ के 31 पदों में केवल 11 पद इनके हैं शेष तुलसी और सूर द्वारा रचित हैं। इसकी चर्चा कवि ने प्रारंभ में ही कर दी है –

''सिया राम पद ध्याय कैं, कोमल कमल नवीन
रामचरित माला रचूं, चुनि चुनि पद प्राचीन।।''

(द्र. श्री रामचरित्र माला, नागरीदास पदावली, पृ. 61)

श्री राम के प्राकट्य के शुभावसर पर राजा दशरथ के दरबार में मंगलाचार हो रहा है। द्रष्टव्य है यह पद –

''चलि री आजु हैं मंगलाचार
राजा दशरथ के दरबार
अति सुंदर श्री राम स्याम तन प्रगटै राजकुमार
पावत गुनी दान बहु कंचन अरु मनि मुक्ताहार
'नागरीदास' अमंगल मिटि मंगल लोक अपार।।'' (वही, पृ. 61)

नागरीदास प्रणीत समग्र रचनाओं के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि भक्त कवि आकंठ मग्न रहा राधा-कृष्ण एवं गोपियों की विभिन्न लीलाओं के गान में ही; पर इन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम को सर्वथा उपेक्ष्य और अनाराध्य नहीं माना है। सूर की भाँति ही इन्होंने राम का प्राकट्य गान किया; पर विस्तार देने में रुचि नहीं दिखाई।

5. **'बन जन प्रशंसा'** – सन् 1752 में रचित इस ग्रंथ में 70 पद हैं। इनमें वृंदावन के जन, नर-पशु-पक्षी सभी का गुणगान किया गया है। कवि के अनुसार वृंदावन के पवित्र धाम में वास करने वाले, संत विरक्त, महंत, पंडित, कवि, ब्राह्मण, भाट, बजाज, मोदी, कसेरा, वैद्य, पंसारी, तेली, तमोली, राज, सुनार, दर्जी, नाई आदि जितनी भी जातियों के लोग हैं, गाय, बंदर, कुत्ता-बिल्ली आदि जितने भी पशु हैं और जितने भी पक्षी हैं-सभी प्रशंसा के पात्र हैं। वृंदावन में रहने की प्रेरणा उन्हें अपने गुरु से मिली, अतः उन्हें वे नमन करते हैं।

''धन धन श्री गुरुदेव गुसाई
वृंदाबन रस मग दरसायो, ऊबट बाट छुटांई
भूले हे बहुते जनमन के, फिरत अन्ध की नांई
'नागरीदास' बसाए कुंजनि, सबैं छुड़ाय दाहिनी बाई।।''

(द्र. पदावली पद-2, पृ. 16, नागरीदास ग्रंथावली)

केवल इतना ही नहीं, वे अपने आराध्य राधा-कृष्ण का भी आभार व्यक्त करते हैं जिन्होंने कृपा करके अपने धाम वृंदावन में स्थान दिया तथा सब दुखों से मुक्त कर उनका जन्म सफल कर दिया -

''हमारी सबही बात सुधारी
कृपा करी श्री कुंजबिहारनि अरु श्री कुंजबिहारी
राख्यौ अपने बृंदाबन मैं, जिहि ठां रूप उजारी
नित्त-केलि-आनंद, अखंडित, रसिक संग सुखकारी
कलह कलेस न व्यापे इहिं ठां, ठौर बिश्व तैं न्यारी
'नागरीदास' इहिं जनम जितायो, बलिहारी बलिहारी।।'' (वही, पद 62, पृ. 29)

भक्ति भावना - भक्त कवि हैं नागरीदास। कृष्णगढ़ का राजपाट, राजसी ठाट-बाट-यश-वैभवपूर्ण जीवन छोड़कर वैराग्य धारण कर लिया और आ बसे वृंदावन में-अपने इष्ट देव भगवान् कृष्ण की शरण में। भगवान् के लीलाधाम में आकर, पवित्र-धार्मिक वातावरण देखकर, प्रभु-भक्तों, साधु-संन्यासियों का सत्संग-सानिध्य पाकर नागरीदास को पश्चाताप हुआ कि उसने राजधानी तथा अन्य स्थानों पर रहकर, संसार के मोह माया-जाल में फँसकर यह अनमोल जीवन व्यर्थ गँवा दिया। दूसरों के कार्य करता रहा लेकिन अपने जीवन को सँवारने के लिए प्रभु-भजन नहीं किया-

''किते दिन बिन वृंदावन खोए
यौंही बृथा गए ते अब लौं राजस रंग समोए
छाड़ि पुलिन फूलनि की सज्जा सूल सरनि पर सोए
भीजे रसिक अनन्न न दरसे विमुखनि के मुख जोए
हरि बिहार की ठौर रहे नहिं अति अभाग्य बल बोए
कलह-सराय बसाय भिठ्यारी माया राँड बिगोए
इक रस ह्याँ के सुख तजिकैं, ह्याँ कभू हँसे, कभू रोए
किया न अपनौं काज, पराए-भार सीस पर ढोए
पायो नहिं अनंद लेस, मैं सबै देश टकटोए।
'नागरिदास' बसे कुंजनि मैं जब, सब विधि सुख भोए।।''
(द्र. नागरीदास ग्रंथावली, छूटकपद-137, पृ. 111)

परंतु कवि इस बात से आश्वस्त है कि श्री कुंजबिहारी और श्री कुंजबिहारिन ने कृपा करके उसे अपने वृंदावन में रहने का स्थान दे दिया है। इस पवित्र स्थान पर दुख-क्लेश आदि से तो छुटकारा मिल ही गया साथ ही रसिक बिहारी की लीलाओं का आनंद भी प्राप्त हो रहा है। नागरीदास का जीवन धन्य हो गया, मानव देह धारण करना सफल हो गया। वृंदावन में कृष्ण भगवान् का दास-भक्त बनकर जो नहीं आता, उसे पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता -

''देह धरैं को अब फल पायो
बीते बहुत दिवस असमंजस, माया नाच नचायो
थोहर बन तैं मोहि काढ़ि, थिर बृंदा बिपिन बसायो
कौन कृपा अनयास भई, हौं निज मन हेरि हिरायो
निस दिन पहर घरी छिन छिन पल निति आनँद रहैं सरसायो
'नागरीदास' दास ह्वै कैं जो यहाँ न आयो, सो पछितायो।।''
(वही पद-121, पृ. 107)

संकेत्य है कि नागरीदास ने 'वैराग्य सागर' में ''ऐसे तथ्यों और तत्त्वों का वर्णन किया है जो भक्ति भावना के लिए आवश्यक होते हैं। शरीर की क्षणभंगुरता, संसार की असारता, बंधु-बांधवों के मोह की अनुपयोगिता, अनायास संघर्षों के कारण मन की उदासीनता, अपने बाहुबल की अशक्तता आदि के अनुभव मनुष्य को यह सोचने के लिए बाध्य करते ही हैं कि उससे भी बड़ी और अधिक बलशालिनी कोई ऐसी शक्ति है जो विश्व का परिचालन करती है। इसी सत्ता के सामने वह आत्मसमर्पण करता है। यह आत्मसमर्पण ही भक्ति को जन्म देता है। 'भक्ति-सार' में तप, अष्टसिद्धि योग, निर्गुन उपासना एवं ज्ञान की व्यर्थता, 'प्रबोधमाला' में बाल, तरुण एवं वृद्धावस्था में हरि ध्यान न करने का क्षोभ, मरणागति देखकर मोह की निस्सारता, सत्संग की महिमा और कुसंग का परिणाम आदि वर्णन; 'देह-दसा' में शरीर की अपार्थिवता का वर्णन ; एवं 'वैराग्य-वटी' में निर्वेद की भावना-सभी तत्त्व भक्ति की भूमिका के अग्रदूत हैं।'' (द्र. राजस्थान के राजघरानों की हिन्दी-सेवा-डॉ. राजकुमारी कौल, पृ. 119, प्रं.सं. 1910, अनुपम प्रकाशन, जयपुर)

उपरि-निर्दिष्ट बिंदुओं के आलोक में यह कहा जा सकता है कि नागरीदास के मानस में भक्ति का अंकुरण पहले ही हो चुका था और इन कथित कारणों ने शनैः-शनैः, समय-समय पर उसे पल्लवित-पुष्पित करने में विशेष योगदान दिया और अंत में परिपक्व अवस्था में इसका प्रस्फुटन हुआ। परिणामस्वरूप उन्होंने वैराग्य धारण कर लिया और भक्ति-भावना में आकंठ डूब गये।

नागरीदास ने श्रृंगार-परक रचनाओं का निरूपण भी किया है जो 'श्रृंगार सागर' में समाहित हैं। ऐसी रचनाएँ गोपी-कृष्ण प्रेमाधारित हैं और इनमें भी उनकी भक्ति-भावना समाहित है। गोपी पनघट से जल लेने जाती है। वहाँ साँवला-सलौना-सा लड़का (कृष्ण) खड़ा था जिसने घड़ा उठाकर गोपी के सर पर रख दिया और इस प्रक्रिया में गोपी की सुंदरता का रसपान किया। गोपी उसे देख विमोहित हो गई और तभी से उसके नैनों से नींद उड़ गई। देखिये यह पद-

''पनघट ठाढ़ौ, कोऊ साँवरो सलोना ढोटा,
दीनों री उठाय घट बिनहीं कहें तें बैंन
हौं तो देखि बदन विमोहित ठगी सी रही,
गागरि कैं नीचै ह्वै रह्यौ री मिलाप नैंन
और बात कहा कहौं, कहत सकुच आवै,
दई हसि होठनि सौं निलज नई सी सैंन
ताहि छिनहू तैं भई और दसा मेरी आली,
'नागरीदास' गृह नींद न परत रैंन।।
(द्र. नागरीदास पदमुक्तावली पद. 275, पृ. 326)

नागरीदास की रचनाओं में श्रृंगार पूरित कवित्त प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। ब्रजलीला, शरद रासोत्सव, निकुंज रासोत्सव, वसंतोत्सव, होरी उत्सव, फूल रचना, रस-मंजरी आदि इसके सटीक उदाहरण हैं। कहीं श्याम मुरली बजाते हैं तो कहीं गोपियों संग नृत्य करते हैं। कहीं कालिंदी-स्नान है तो कहीं कूंजवन क्रीड़ा, सभी स्थानों पर मनमोहक-मदमस्त वातावरण बना रहता है। ऐसे ही रसिक परिवेश में 'रसिकेश' की लीलाओं को बहुत ही सुंदरता से प्रस्तुत किया है नागरीदास ने, चाहे वह रासक्रीड़ा हो या मुरलीवादन प्रसंग।

ध्यातव्य है कि रासक्रीड़ा पुराण-वर्णित है। यह स्थानभेद से थलक्रीड़ा है और जलक्रीड़ा भी। ब्रह्मपुराण और विष्णुपुराण में रासक्रीड़ा यमुना तट की ही क्रीड़ा प्रस्तुत है। भागवत पुराण की

'रासपञ्चाध्यायी' में 'क्रीड़ा थकित रास कृष्ण' और गोपकन्याएँ-सब जलसंतरण करते हैं। ब्रह्मवैवर्त्त पुराणकार भागवतोक्त का ही अनुगमन करता है। संस्कृत साहित्य के श्रीकृष्ण के शक्ति-सौंदर्य प्रचारक सरस काव्य कृति वेदांत देशिक रचित 'याद्वाभ्युदय' और कृष्णदास कविराज प्रणीत 'गोविंदलीलामृत' में दोनों क्रीड़ाओं की मोहक छवियाँ हैं। कर्णपूर कृत 'आनंदकंद चम्पू' और जीवगोस्वामी कृत 'गोपाल चम्पू' में जलक्रीड़ा उपेक्षित नहीं है। तात्पर्य यह कि संस्कृत और हिंदी-दोनों में थल और जलक्रीड़ा का समवेतरूप में सौंदर्य-सँभार प्रस्तुत है। नागरीदास अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों का ही अनुगमन करते हैं। प्रस्तुत पद में कवि ने राधा-कृष्ण की रासलीला का अति सजीव चित्रण किया है-

''सिथिल चंद्रिका मुकुट झुकौं हौं श्रमित अंग छबि पाए
उपजत गति कौतुक पायन, मग डगमग डगनि डुलाए
स्वैद सुवास अंग प्रगटत भइ, संग भौंर भहरावैं
गउर स्याम तन नील पीत पट फैल फैल फहरावै
गिरि गिरि परत बिमल नग भूषन, रही जु तन सुधि नाहीं
रसानन्द सागर अति बाढ्यो, मगन भए तिहि माहीं
मंडल रास बीच दोउ उरझे, गर बाहीं पिय प्यारी
'नागरीदास' बसो हिय राधा अरु श्री कुंजबिहारी।।''

(द्र. ब्रजलीला पद 18, नागरीदास पदावली, पृ. 40)

रास-नृत्य के पश्चात् पुराणों में सर्वत्र यमुना जल-संतरण का वर्णन नहीं मिलता, पर भागवत पुराणकार अपने कई श्लोकों में श्री कृष्ण और गोप-कन्याओं की जलक्रीड़ा का मोहक संदर्भ प्रस्तुत करते हैं। नागरीदासजी भी उन कवियों में परिगण्य हैं जो रासोत्तर जलविहार का निरूपण करना आवश्यक मानते हैं। प्रस्तुत है उनका निम्न पद -

''आए जु जमुना तट पुलिन तहाँ कँवल सौरभ साजहीं
धसे जल रस मत्त क्रीड़त, छिरकि तन छिरकावहीं
अंजुलिन जल छुटत, छबि कबि कहत जुगत विचारि कैं
गृह तरनिजा उछाह मुकता मनु उछारत वारि कैं। (द्र. उपरिवत् पद 19, पृ. 41)

पौराणिक वाङ्मय में ताण्डव नर्तक शिव डमरूवादक हैं, सरस्वती वीणावादिनी हैं और रासिकर्त्ता तथा नर्त्तक कृष्ण वेणुवादक हैं। नागरीदास के कृष्णलीला काव्य में वेणु, मुरली या वंशी का स्वर मुखर है। कृष्ण भक्तों की दृष्टि में मुरली योगमाया है, सरस्वती है, परावाक् की जननी है। यहाँ यह रेखांकनीय है कि वेणु सुदूर अतीत से ही वैश्विक वाद्य रहा है, आज भी है। संभवत: काष्ठवाद्य निर्मित होने से पूर्व अस्थिवाद्य के रूप में प्रचलित था। भागवत में वेणु अर्थात् बाँस निर्मित वेणु ही लोकादृत है, मुरली या वंशी नहीं है। 'वेणु' शब्द पुलिंग है, श्रीकृष्ण के अधरामृत पान करने के कारण गोपियों में सापत्य भाव पैदा हुआ, इसलिए 'वेणु' के स्थान पर वंशी-मुरली जैसे स्त्रीलिंग शब्द प्रयोग में आने लगे। नागरीदास कृत 'वैन विलास' में अनेक पदों में वेणु स्वर नहीं अपितु मुरली या बाँसुरी के विश्वमोहनकारी स्वर का प्रभाव वर्णित है -

''मोहन बंसी धुनि उचरी
शिव समाधि छुटि गई श्रवन सुनि, बिबस जटा बिखरी
जकि थकि चकि रहि गयौ मदन, कर धनुहीं छूटि परी
नभ बिमान भई भीर, सुर-बधू उर अंचर बिसरी

'नागरिया' सुनि तांन कौन, जाकी धीरज लाज टरी
ब्रज गोपिन कैं हेत मुरलिया, सब जग बिजै करी।। (नागर समुच्य : पृ. 603)

भारतीय हिंदू संस्कृति में शरीर एवं वस्तुओं की शुद्धि के लिए यथावसर जो कर्म किये जाते हैं, वही संस्कार हैं। मुख्य सोलह संस्कार हैं जिनमें प्रमुख हैं-जातकर्म, नामकरण, उपनयन और विवाह। समाज में प्रचलित व्रतोत्सव, पर्वोत्सव आदि भी आयोजित होते रहते हैं। नागरीदास ने इनकी महिमा को मान देते हुए आनंदोल्लास का निरूपण किया है, इनकी रचनाएँ अतंस् से फूटे हुए गेय पद हैं। वस्तुतः कीर्तन हैं-मधुर, परम आह्लादकारी। नागरीदास सचेत होकर प्रबंध काव्य नहीं रच रहे थे, इसलिए भावानुभूति की अभिव्यक्ति करते रहते थे। कभी-कभी आवृति देख आस्वादक ऊब जाता है। भक्ति-दृष्टि में आराध्य और अराध्या-दोनों का नाम स्मरण, गुणकथन, स्तुति पुनः पुनः करना अत्यंत उचित माना जाता है; अतः चिन्त्य नहीं। नीचे ऐसी रचनाएँ हैं जिनसे नागरीदासजी की रचनात्मक ऊर्जा का परिचय मिलता है साथ ही तत्कालीन प्रचलित लोकोत्सवों की झलक भी। समासतः नागरीदासजी हिंदी कृष्ण धारा को प्रगाढ़ता-गंभीरता देनेवाले कवियों में सदैव समादृत रहेंगे।

श्रीकृष्ण जन्मोत्सव का सौंदर्य देखें -

''श्री बल्लभ कुल बंदौं
करि ध्यान परम आनंदौं
धनि नंद जसुमति रानी
लयो कृष्ण जनम जग जानी
कृष्ण जनमत भयो आनँद गृह महा मंगल ठयो
घोष उच्छव भीर भारी नभ बिमान सौं छयो।।'' (नागर समुच्चय, पृ. 32)

राधिकाजी के जन्मोत्सव का वर्णन इस रूप में -

''प्राची-कीरति कूख तैं, कन्या भई अनूप।
भान-सिंधु आनंददा, चंद-मंजरी रूप।।
कुल-मंडन वृषभान की, भूषन-जगत अभूत।
वारौं कोटिन नृपन के, या कन्या पर पूत।।'' (उपरिवत् पृ. 121-122)

होलिकोत्सव का एक चित्र देखिए जिसमें रंगभरी पिचकारियाँ चलती थीं -

''रंग हो हो हो होरि मची
अगनित छुटत करन पिचकारी, चहुँ दिसी चमकत रतन खची
लाल गुलाल लयो मुख मीड़नि, मृगनैनिनि की भौंह नची
लिपटि गई घनस्याम लाल सौं, चमकि चमकि चपला ललची
दुरत गहत फिर करत मनोरथ, दंपति अँखियाँ पीक रची
'नागरीदास' मिलनि, झकझोरनि, हो हो बोलनि, कोउ न बची।।''
(उपरिवत् पृ. 187-188)

यह संकेत्य है जिस समय फ़ारसी और अरबी भाषा का भारत में प्रवेश हुआ उस विशेष कालखंड में उन्हें विदेशी-मलेच्छ मान लिया गया और उसके प्रयोग से प्रयोक्ता बचने लगे। फिर धीरे-धीरे जनमानस में उगे घृणा के कंटकों की नोक कमज़ोर पड़ गयी। नागरीदास तक आते-आते कवियों की दृष्टि बदल गई, फिर तो अपनी-अपनी रुचि और शक्ति के अनुकूल शब्दों का प्रयोग होने लगा। इन्होंने भी ब्रजभाषा में दोनों को स्थान दिया तत्सम और तद्भव रूप में ही। ऐसे शब्दों में से कुछ निम्नवत् दर्शनीय हैं -

(क) फ़ारसी - खुमार, गुल, गुलाब, चस्म, जहन, जुबान, तंग, तेग, दरिया, दर्द, निलोफर, पियाला, पैगाम, फरजंद, बलंद, बहार, महताब, यार आदि।
(ख) अरबी - अर्ज़, अजीम, आसिक, गश, गीजा, जवाहर, जाफरान, जुल्म, जन्नत, तबीब, फिराक, महबूब, मुकर्रर, रिश्वत, सदा, सलाह, सायर, साहिब, हुस्न आदि।

नागरीदास के काव्य में अरबी-फ़ारसी, दोनों भाषाओं के शब्दों के तद्‌भव रूप को ही अधिक अपनाया गया। इस अनुशीलन का निष्कर्ष यह निकला कि भक्त नागरीदासजी शब्द प्रयोग में स्वदेशी-विदेशी का भेदभाव नहीं रखते थे। तद्‌भवीकरण का अर्थ है-स्वजातीय करण। ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल बनाने के लिए यह अत्यंत आवश्यक था।

इस क्रम में नागरीदास के काव्य में प्रयुक्त 'रेखता' शब्द विचारणीय है। यह फ़ारसी का शब्द है जिसका अर्थ कोशकार रामचंद्र वर्मा के अनुसार 'दिल्ली की ठेठ उर्दू भाषा' है। विशेषणरूप में प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ होता है-'बिना बनावट के आप से आप ज़बान से निकला हुआ।'

'रेखता' में जो कुछ नागरीदासजी ने रचा, उसकी एक बानगी प्रस्तुत है -

''दीन दुनियाँ के दिल दिमाक सौं वह न्यारा
इस्क सौं न्यारा नहीं, आसिक-निवाज प्यारा
जुल्फ की जंजीर सख्त, दिल कौं दस्तगीर किया
उस्कौं खुदाबंद हरेक फंद सौं छुटाय लिया
अब्रू-ए-दु कज तेग चस्म खंजर मदहोश
इन सौं कतल होनै बिन जीनां अफसोस
'नागर' हौं उस गली का पाय खाक खूब
सर्व खुश अदाह सौं जहाँ चलता महबूब।।'' (नागर समुच्चय, पृ. 499)

यदि अरबी-फ़ारसी का फहराता हुआ परचम देखना चाहें तो इस्क चमन के दोहों का अनुशीलन करना भी होगा (देखें पृ. 508, नागर समुच्चय)

हिंदी में कृष्ण भक्तिधारा प्रवाहित हुई उसके आराध्य है - नित्य-क्रीड़ारत, लीलाधर, कलाढ्य श्रीकृष्ण और आराध्या हैं-नागरी, नृत्यपण्डिता, गन्धर्वा राधिका। वर्ण्य विषय हैं-इन दोनों की लीलाएँ, जिनकी कलात्मक सौंदर्य वर्णन के लिए कवि में अद्‌भुत आस्था-निष्ठा होनी चाहिए, संगीत में निपुणता होनी चाहिए और अभिव्यक्ति के लिए संगीतात्मक भाषा भी। सच कहिए ब्रजभाषा के इन रचनाकारों में ये सारी विशेषताएँ उपस्थित हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम और सीता को ऐसे संगीतपंडित गायक कहाँ मिले। सूरदास, नागरीदास आदि ने उस भाषा को उत्कर्षित किया जो आराध्य-आराध्या की लीला भूमि की है। यह कहना अनौचित्य का समर्थन नहीं कि ऐसे ही पूर्ण समर्पित कवियों को पाकर भाषा गर्वित होती है-क्योंकि वह शक्तिशाली और समुन्नत बनती है।

कविवर नागरीदास की भाषा ब्रजभाषा है। ब्रजवासी थे अतः भाषा पर पूरा अधिकार है। इनके भावों की अनुगामिनी है इनकी भाषा। भावों के उतार-चढ़ाव में भाषा का पूर्ण सहयोग प्राप्त रहा है। जितने तलवार के धनी थे सावंतसिंहजी उतने ही कलम चलाने में सिद्धहस्त भी। वीर-योद्धा होते हुए भी इनकी रचनाओं में कठोरता-कर्कशता नहीं आने पायी। भाषा सरल है मधुर है, कोमल है और है प्रसाद गुण से युक्त। अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग समयानुकूल है। अपनी काव्य-भाषा को सजाने-सँवारने में इन्होंने अनुप्रास, रूपक, उपमा, अन्योक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का सटीक प्रयोग किया है। नागरीदास की रचनाओं में श्रृंगार पूरित कवित्त प्रचुर मात्रा में है। ब्रजलीला, शरद रासोत्सव, निकुंज रासोत्सव, वसंतोत्सव, फूल रचना, रस-मंजरी आदि इसके सटीक उदाहरण हैं। भक्त कवि हैं-राधा-कृष्ण के दास,

अहर्निश उन्हीं के कीर्तन में मग्न रहते हैं- कहीं स्याम का मुरली वादन है, कहीं गोपियों संग नृत्य तो कहीं ब्रज के साधु-संतों की संगत।

संगीत का अच्छा ज्ञान था नागरीदास को। इन्होंने अपनी रचनाएँ अनेक रागों में रची हैं, जिनमें प्रमुख हैं-राग गौरी तिताल, राग काफी इकताल, राग सोरठा, राग भैंरू, राग असावरी, रागदेव गंधार, राग बिलावल, रागधनाश्री, राग केदारी आदि। दोहा, कवित्त, सवैया आदि छंदों का प्रयोग भी दर्शनीय है इनके काव्य में। नागरीदास ने अपने समय की प्रचलित भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन सभी शैलियों का प्रयोग किया है अपने आराध्य की लीलावर्णन में।

वस्तुतः हिंदी के पुष्टिवर्द्धन में सावंत सिंह 'नागरीदास' द्वारा प्रदत्त अवदान को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

देखन वदन चंद चतुर चकोर बना ललचि कै थकित रहि जात है।
कंपि कर घूँघट लों पहूंचि सकती नांहि होय कैं सिथल अधबीच ठहरात है।
षोल्यो न परत पट चाह कै अमल छक्यो घड़ि उर आतुरता चाव सरसात है।
नवल वनी के नैंन अति रिझवारय तें पीय को लषन अचार अकुलात हैं।।

– ब्रजदासी रानी बांकावती जन्म सन् 1703
किशनगढ़ महाराजा सावंतसिंह की सौतेली बहन

राजा हिम्मत सिंह 'महीपति' कृत 'कविकुलतिलक प्रकाश''

डॉ. माधव प्रसाद पाण्डेय

अमेठी नरेश लालमाधव सिंह के आश्रित कवि सतीप्रसाद ने 80 छन्दों में राज्य की वंशावली के साथ अपने आश्रयदाता की भरपूर प्रशंसा की है। इनके अनुसार सूर्यवंशी राजा वैवस्वतमनु के वंशधर इक्ष्वाकु थे। रामचन्द्रजी इसी प्रशस्त वंश में उत्पन्न हुए थे। इस वंश से सम्बन्धित राजागण जयपुर नामक प्रसिद्ध राज्य के राजा थे। यहीं के राजा सोढ़देव और उनके पुत्र दूलहराय की परम्परा में अमेठी राज्य के अनेक राजे-महाराजे हुए। इन्हीं की चौबीसवीं पीढ़ी के आसपास राजा हिम्मत सिंह 'महीपति' का नाम आता है। उनसे आगे भी अब तक इस प्रतिष्ठित राजवंश की परम्परा चली आ रही है। राम के ज्येष्ठ पुत्र कुश के वंशज होने के कारण इन्हें कुशवाहा या कछवाहा कहा गया जिनका मूल गोत्र गौतम है जिसे जयपुर के राजा मानसिंह के आधार पर बाद में 'मानव्य' भी कहा जाने लगा। राजा मुनिवर सिंह का उपनाम 'बंधलू' प्रसिद्ध होने के कारण आज भी अमेठी के कछवाहा राजपूतों को 'बंधल गोती' कहा जाता है। नरवरगढ़ (ग्वालियर राज्य) के राजा सोढ़देव ने 966 ई. में अमेठी के भर राजा को परास्त कर इसे अपने अधीन कर लिया। इनके पुत्र दूलहराय ने अमेठी के समीप ही रायपुर नामक नगर बसाया। बहुत बाद में इसी के बगल राजा हिम्मत सिंह ने एक गाँव बसाया, जो आज 'कटरा राजा हिम्मत सिंह' नाम से प्रसिद्ध है। विशेषर गंज बाजार के बगल 'हिम्मतगढ़' नामक एक अन्य गाँव भी है।

डॉ. व्रजकिशोर मिश्र के अनुसार 'मनोहर सिंह के छै पुत्र हुए। इन्होंने सारी रियासत आपस में बाँट ली। बैस राजा तिलोक चन्द्र ने यह बंटवारा किया था। चौथे पुत्र राजसिंह थे; यह अमेठी के राजा हुए। इनके श्री रामसिंह तथा रामसिंह के पुत्र शालिवाहन हुए; शालिवाहन के श्रीरामदेव हुए; यह समय शेरशाह का था। इस समय तक परगना अमेठी का केवल दक्षिणी भाग ही बंधल गोतियों के अधिकार में था। इसके लगभग 50 वर्ष बाद सारा परगना इनके अधिकार में आ गया। इसका उल्लेख आइने अकबरी में हुआ है। उक्त वंश क्रम का उल्लेख अवध गजेटियर्स में उपलब्ध है। (अ-अवध गजेटियर्स 1, पृ. 45/ब-अवध के प्रमुखकवि पृ.. 19) इसके आगे का वंश-विस्तार, गजेटियर्स तथा कविवर सुखदेव मिश्र कृत 'छंद विचार' नामक पिंगल ग्रंथ के आरंभ में भी प्राप्त होता है। (छंद विचार, हस्तलिखित, छंद 12-35 श्री ब्रजराज पुस्तकालय, गंधोली, सीतापुर) दोनों वर्णन समान हैं, कोई अन्तर नहीं है।

राजा हिम्मत सिंह 'महीपति' अनेक कवियों के आश्रयदाता भी थे। कविवर सुखदेव मिश्र इनके आश्रय में थे। आचार्य सुखदेव मिश्र हिन्दी, संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित उद्भट सभाकवि, नीतिधर्मा एवं रीतिधर्मा महाकवि थे। (ये मेरा वैसवारा - मधुकर खरे, पृ. 40) शिवसिंह सेंगर ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि कम्पिलावासी सुखदेव मिश्र राजा हिम्मतसिंह के आश्रित थे। (शिवसिंह सरोज, पृ. 490) अमेठी में सुखदेव मिश्र ने छंद विचार नामक ग्रंथ की रचना की। यह ग्रंथ राजा हिम्मत सिंह के आदेश पर लिखा गया था -

नृप हिम्मत के हुकुम ते, मिश्र सुकवि सुकदेव।
न्यारे - न्यारे कहत हैं, पिंगल के सब भेव ।।

(सुखदेव मिश्र - छंद विचार हस्तलिखित पृ. 2)

यह ग्रंथ आज भी सीतापुर में प्राप्य है तथा कवि के द्वारा अमेठी नरेश हिम्मत सिंह को समर्पित है। इसमें अमेठी राजवंश का विस्तृत वर्णन भी है –

...........में बांधल गोत मनि, भयो सूदि महिपाल।
यश प्रताप सों जिन कियो, जगमग कैसो भाल।।
भयो नरेश पहार के हिम्मत सिंह नरिंद।
सोहत यों नृप गणन में ज्यों उडगन में चंद।। (वही, पृ. 4)

छंद शास्त्र का इतना विशद निरूपण अन्य किसी कवि ने नहीं किया है। वृत्तविचार की भाँति पिंगल का सांगोपांग वर्णन इसमें प्राप्त होता है। इसके उद्धरणों में हिम्मत सिंह की शौर्य-प्रशंसा तथा श्रृंगाररस के अनेक छंद पाये जाते हैं। कुछ आलोचकों ने इनके ग्रंथ का नाम 'पिंगल छंद प्रकाश' बताया है, जिसे अमेठी के राजा हिम्मत सिंह के लिए लिखा गया है। (हिंदी साहित्य का मध्यकाल – डॉ. नित्यानंद शर्मा पृ. 306) 'छंद विचार' और 'वृत्तविचार' को लेकर विद्वानों में भ्रम हो गया है, किन्तु डॉ. ब्रजकिशोर मिश्र ने प्रमाण पूर्वक बताया है कि वह ग्रंथ 'छंदविचार' ही है जो अमेठी नरेश हिम्मत सिंह को समर्पित है। 'वृत्तविचार' स्पष्टतया 'राजसिंह अरजुन तनय गौर गरीब नेवाज' के लिए निर्मित हुआ है। सम्मान, राज्याश्रय एवं अधिकतम दान-प्राप्ति की आकांक्षा में आचार्य सुखदेव मिश्र ने राजा हिम्मत सिंह की इन्द्र एवं सूर्य से तुलना की है जिनके यश का प्रकाश देखकर पूर्णिमा का चन्द्र भी चेरा होकर नमित हो जाता है। 'हिम्मत सिंह हद हिम्मत सिंह नृपति सूरजकुल सूरज से दरसें', वही, पृ. 12) उनकी युद्ध वीरता का वर्णन अति रंजनापूर्ण होकर कहीं-कहीं उपहासास्पद हो जाता है। हिम्मत सिंह की सेना द्वारा शेषनाग, इन्द्र और सूर्य का प्रभावित होना अत्युक्तिपूर्ण है, फिर भी वीर-काव्य की क्षीणधारा का आभास इसमें मिल जाता है।

डॉ. रामचन्द्र तिवारी का विचार है कि हिन्दी साहित्य का मध्ययुग अपनी गरिमा में जितना महान् है, विभिन्न दृष्टियों से उसका अध्ययन और मूल्यांकन उतना ही कम हुआ है। (मध्ययुगीन काव्य साधना, पृष्ठभूमि, पृ. 1)। यह तो सामान्यत: रीति युगीन काव्य के अनुशीलन की कमी के नाते कहा गया। विशेषकर राजा हिम्मत सिंह 'महीपति' के अध्ययन की आवश्यकता की ओर कतिपय विद्वानों ने संकेत किया है। डॉ. कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह का कथन है कि राजा हिम्मत सिंह ने 'कविकुल तिलक प्रकाश' नाम का उच्चकोटि का काव्यशास्त्र का सर्वांगनिरूपक विशाल ग्रन्थ लिखा। खेद है कि इसका सम्यक् मूल्यांकन अब तक नहीं हो पाया है। (स्वतंत्र भारत, साप्ताहिक परिशिष्ठ, 27 अप्रैल 1980) डॉ. भगवती प्रसाद सिंह जी ने पाँच खण्डों में 'राधा-कृष्ण भक्त कोश' का अतीव श्रमसाध्य संपादन किया है। इसमें उन्होंने लिखा है कि राजा हिम्मत सिंह जू देव 'महीपति' का जन्म अमेठी राज्य के रायपुर स्थित दुर्ग में हुआ था। अनुमानत: इनके जन्म का समय 16वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इनके पिता राजा पहाड़ सिंह उक्त राज्य के शासक थे। राजा हिम्मत सिंह सन् 1709 ई. में अमेठी राज्य के अधिपति हुए। राजा हिम्मत सिंह सफल रचनाकार थे। इनके यहाँ कवियों, विद्वानों, साधु-संतों का जमघट लगा रहता था। (राधाकृष्ण भक्तकोश, भाग – 5, पृ. 84) इनके शासनकाल, लक्षणग्रंथ की विशेषता, काव्यत्त्व आदि के विषय में अनेक ग्रन्थों एवं पत्र-पत्रिकाओं में लगभग् एक जैसा संदर्भ प्राप्त होता है। (गढ़ अमेठी का इतिहास, डॉ., राधेश्याम तिवारी, पृ. 88-89) सुधी पाठकों के लिए ज्ञातव्य है कि उक्त कवि पर आधारित एक सर्वांगपूर्ण शोध 1992 ई. में अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद से प्रस्तुत किया जा चुका है।

उदयनाथ 'कविन्द्र' महाकवि कालिदास त्रिवेदी के पुत्र थे। अपने पिता के समान ये भी महान् कवि थे। ये अमेठी के राजा हिम्मत सिंह 'महीपति' और गुरुदत्त सिंह 'भूपति' के आश्रय में बहुत दिनों तक रहे। पहले यह कविता में अपना नाम उदयनाथ ही रखते थे, किन्तु राजा हिम्मत सिंह ने 'रसचन्द्रोदय' नामक ग्रंथ पर उन्हें ''कवीन्द्र'' की उपाधि दी। तब से ये अपना नाम 'कविन्द्र' लिखने लगे (शिवसिंह

सरोज – शिवसिंह सेंगर, पृ. 289) अन्यत्र इनके विषय में लिखा गया कि – "बनपुरा निवासी कवि कालिदास जी के पुत्र सं. 1804, ये कवि अपने पिता के समान महान् कवीश्वर हो गुजरे हैं। प्रथम राजा हिम्मत सिंह बंधल गोती अमेठी महाराज के यहाँ बहुत दिन तक रहे और कविता में नाम उदयनाथ वर्णन करते रहे। जब राजा के नाम से 'रस चन्द्रोदय' नामक ग्रन्थ बनाया तब राजा ने कवीन्द्र पदवी दी, तब से अपना नाम कवीन्द्र करके लिखते रहे। इस ग्रन्थ के चार नाम हैं – रति विनोद चंद्रिका, रीति विनोद चन्द्रोदय, रसचन्द्रिका, रस चन्द्रोदय। यह ग्रन्थ भाषा साहित्य में महा अद्‌भुत है। तेहि के पीछे कवीन्द्र जी थोरे दिन राजा गुरुदत्त सिंह अमेठी के यहाँ रहि काल व्यतीत करते रहे।" (श्री सूरसागर–खेमराज, श्रीकृष्णदास–मुंबई सं. 1880, पृ. 32)

कवि हरिवंश बिलग्रामी का संबंध अमेठी के राजा हनुमन्त सिंह से बताया जाता है। अमेठी के इतिहास में इस नाम का कोई शासक नहीं हुआ। अत: बहुत संभव है कि इतिहासकार राजा हिम्मत सिंह को हनुमन्त सिंह लिख गये हों। दोनों का स्थितिकाल भी लगभग एक ही है। मिश्रबन्धुओं ने लिखा है कि इनका रचनाकाल 1719 ई. है। ये राजा हनुमन्त सिंह अमेठी के यहाँ थे (मिश्रबन्धु विनोद – लखनऊ, सं. 1984, पृ. 64) शिवसिंह सेंगर और डॉ. ग्रियर्सन भी इसे स्वीकार करते हैं।

अमेठी राज्याश्रित ठाकुर दास शर्मा नामधारी संस्कृत के कोई प्रकृष्ट पंडित रहते थे। संभवत: अपने आश्रयदाता की इच्छानुसार ही उन्होंने "सूर्यान्वय सिन्धु काव्य" की रचना की। इसमें सूर्यवंश का संक्षिप्त परिचय देते हुए अमेठी राजवंश के राजाओं को उनसे संलग्नकर इस प्रख्यात सूर्यवंश में उनकी स्थिति स्पष्ट की गयी है। प्रकारान्तर से यह ग्रंथ अमेठी राजवंश की चरितमूलक वंशावली ही है। इसके अनुसार राजा जयसिंह के पुत्र पहाड़ सिंह थे, ओर पहाड़ सिंह के पुत्र राजा हिम्मत सिंह हुए, जो अपनी शरण में आए हुए शत्रुओं की प्रार्थना से द्रवित होकर धन, जन और प्राणों से उनकी रक्षा करते थे। उनके पुत्र राजा गुरुदत्त सिंह हुए जो अपने पिता के समुज्ज्वल गुणों से सुशोभित तथा राजनीति में उनके समान थे।

जज्ञे हिम्मत सिंह नाम धरणी नाथ स्तदीयात्मजो।
योऽरक्षच्छरणागतान् धन जनैः प्राणैरपि प्रार्थितः।।
तस्यासीद् गुरुदत्तसिंह नृपतिः पुत्रो गुणैः पैतृकैः।
प्राप्तस्तत्समतां नयेन सदृशो भूपः क्षितौवर्तते।।85

(संक्षिप्त सूर्यान्वयसिन्धुकाव्यम्)

सतीप्रसाद ने अमेठी राज्य की जो वंशावली तैयार की थी, वह अनेक प्रकार के छंदों में कौशलपूर्वक लिखी गयी है। राजा लालमाधव सिंह की सर्वांगपूर्ण प्रशस्ति इसमें की गयी है। इसमें राजवंश के ढेर सारे राजाओं का तो पीढ़ी–क्रम से मात्र नामोल्लेख किया गया है, तो मात्र कुछेक राजाओं की प्रशस्ति में एक–एक छंद दिए गए हैं। राजा हिम्मत सिंह के लिए भी इन्होंने एक छंद लिखा है, जो उनकी वीरता और सैन्य–प्रमाण से सम्बन्धित है। यद्यपि इनका काव्य चारण–शैली का है किन्तु रचना में इन्हें अद्‌भुत सिद्धि प्राप्त है। देखिए उनका यह छंद –

'माधव सिंह महीप सों सादर आयसु पाइ।
कहत सती परसाद तिहिं वंशावली बनाइ।।5।।
प्रगटे प्रबल पहार के हिम्मत सिंह महीप।
जेर कियो जिन जीत के सकलदीप अवनीप।।37।।

जीवन-वृत्त :- इनकी जन्मतिथि का उल्लेख न तो इनकी कृति में उपलब्ध है और न ही इसका कोई अन्य आधार है। इनकी कृति के रचना-काल के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनका जन्म सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक के आसपास हुआ होगा। अमेठी राज्य के इतिहासानुसार इनका शासन काल 1709 से 1741 ई. रहा है। इनके ग्रंथ का रचना-काल संवत् 1766 (1709 ई.) दिया गया है। भाद्रपद की शुक्लपक्ष, दशमी दिन गुरुवार को इसकी रचना हुई।

'संवत् सत्रह सै मिले तापर छासठि दीन्ह।
भादौं सुदि दशमी गुरौ बिदित ग्रन्थ तब कीन्ह। ।कवि 1/7

'कविकुलतिलक प्रकाश' में उनके निवास स्थान का पूर्ण संकेत प्राप्त है। इसके अनुसार गढ़ अमेठी के अन्तर्गत रायपुर नामक शुभ स्थान है, जहाँ के लोग चारों आश्रमों का पालन करते हैं, सभी विद्वान् एवं सर्वज्ञ हैं। इसी सुन्दर नगर में महीपति का निवास था। उन्होंने ही इस काव्य ग्रन्थ की रचना की है।

'गढ़ा अमेठी देत है रायपुरा सुभ थान।
आश्रम चारि बसै जहाँ सब पंडित सब जान।।
सुललित ताही नगर में कियो महीपति बास।
तिन्ह कीन्हों सुखराशि यह कविकुल तिलक प्रकास। कवि-1/8

ग्रंथ के सभी आलोकों के अन्त में महीपति का नाम देकर बताया गया है कि यह उन्हीं के द्वारा रचा गया है। ('इति श्री महीप कृते कविकुल तिलक प्रकाशे ..... प्रथमालोक:)

मेरे विचार से हिन्दी के प्राय: सभी इतिहास ग्रन्थ तथा खोज रिपोर्ट आदि इनके जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध में मौन हैं। अत: उनमें एतत्संबंधी कोई सूत्र ढूँढ़ना सार्थक प्रयास नहीं होगा।

रचनाएँ :- महीपति की मात्र एक ही रचना जानी जाती है जिसका नाम है – 'कविकुल-तिलक प्रकाश'। लगभग तेरह सौ छंदों में रचित यह लक्षण ग्रंथ रीतियुग में अपना स्वतंत्र एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सम्प्रति यह ग्रंथ अप्रकाशित स्थिति में अमेठी राज्य के पुस्तकालय में प्राप्य हो सकता है। संभवत: यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहासकार आज तक इसके विषय में मौन हैं। यह ग्रंथ कुल बाईस आलोकों में लिखा गया है। शास्त्र में वर्णित है कि काव्य-कर्त्ता को यश, धन, कल्याण और आनन्द की प्राप्ति होती है। इससे पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि भी होती है। महीपति की यह लालसा ग्रंथ में आद्यन्त देखी जा सकती है। ग्रंथारंभ में उन्होंने गणेश, दुर्गा तथा श्रीकृष्ण आदि की वन्दना की है।

गणेश वंदना देखिए –

'चारि भुजा अरु चन्द्र लिलार लसै रद एक महा सुमती को।
दै मुख मण्डल वन्दन वेष धरे ही उदार बड़े ही जती को।
सेवत जाहि सदा सकनादिक वा सुनि आन करै विनती को।
आदि महीपति को सुखदायक लायक पूत है पारवती को। ।1/1

पाठकों में ग्रंथ का समादर बढ़े एतदर्थ वह ग्रन्थांत में भी उनका स्मरण करता है। यथा –

संकर सारद सेसहू संतत होंइ सहाइ।
कविकुल तिलक प्रकाश को पढ़ै सबै चितलाई।। (कविकुल ति.प्र. 22/129)

बरनत राधा रमन को कहूं कहूं रघुनन्द।
कविकुल तिलक प्रकास पढ़ि बाढ़ै सदा आनन्द।। (वही-22/127)

ग्रन्थ के प्रथमालोक में कवि शृंगार का रसराज रूप में वर्णन आरंभ करता है। उसके देवता, वर्ण आदि को बताते हुए रति स्थायी भाव को विवेचित करता है, पहले लक्षण, तदनु उदाहरण दिया गया है। नायिका भेद में उन्होंने स्वकीया, परकीया, सामान्या को माना है। स्वकीया में मुग्धा या अंकुरित यौवना के ज्ञात यौवना, अज्ञात यौवना-दो भेद किए हैं। दूसरे भेद में नवोढ़ा और विक्षुब्ध नवोढ़ा, तीसरे में मध्या तथा चौथे में प्रगल्भा वर्णन हुआ है। प्रगल्भा के रति प्रीता और आनंद सम्मोहिता दो भेद हैं। पाँचवें विभाग में धीरा, अधीरा और धीराधीरा तथा छठे में ज्येष्ठा और कनष्ठिा निरूपित हैं।

द्वितीय आलोक में परकीया नायिका का वर्णन करते हुए उसके ऊढ़ा, अनूढ़ा और गणिका तीन भेद किए गए हैं। ऊढ़ा के आठ भेद हैं - गुप्ता, विदग्धा, कुलटा, लक्षिता, अनुशयाना, मुदिता, उद्बुद्धा और उद्बोधिता। अनुशयाना के तीन भेद हैं - संकेत स्थल समाप्त होने से जो दु:खी हो, जिसका पति संकेत स्थल पर न मिले तथा जिसका पति सहेट जाय, नायिका स्वयं न जाय। गणिका की तीन कोटियाँ हैं - रूपगर्विता, प्रेमगर्विता तथा अन्य संभोग दु:खिता। विदग्धा के वचनविदग्धा और क्रिया-विदग्धा दो भेद हैं।

तृतीय आलोक में नायिकाओं के पुन: आठ भेद वर्णित हैं - प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका तथा अभिसारिका। इसके अतिरिक्त उत्तम, मध्यम, अधम, दिव्य, अदिव्य, दिव्यादि-व्यादि भेद भी बताये गये हैं। प्रोषितपतिका-स्वकीया, परकीया तथा सामान्या भेद से तीन प्रकार की है। स्वकीया प्रोषितपतिका के मुग्धा, मध्या, पौढ़ा उपभेद भी हैं। खंडिता, कलहांतरिता, अभिसारिकादि में भी यही भेद वर्णित हैं। अभिसारिका के कृष्णाभि सारिका और शुक्लाभिसारिका दो भेद बताये गये हैं। प्रवत्स्यत्पतिका तो है, किन्तु आगभिष्यत्पतिका नहीं है। इस प्रकार नायिकाओं के कुल 128×3=384 भेद बताये गये हैं।

शृंगार रस का कुछ अंश प्रथम आलोक में वर्णित है। इसके संयोग-वियोगादि भेद चतुर्थ आलोक में वर्णित हैं। इसमें वियोग की दस दशाओं का चित्रण है। मरण दशा का उदाहरण नहीं है। यहीं मान के तीन भेदों - लघुमान, मध्यमान तथा गुरुमान का भी कथन किया गया है। पंचमालोक में नायिका के उत्तमा, मध्यमा, अधमा भेद तथा सखी का लक्षण निरूपित है। शृंगार, मंडन, ओराहना, शिक्षा, परिहास सहित दूती की सारी क्रियाएँ, नायक-नायिका का मिलन कराना तथा दोनों पक्षों का विरह-निवेदन भी है। नायिका-परिहास, पुरुष-परिहास भी वर्णित है। षष्ठालोक में नायक भेद प्राय: परम्परित है। धीरोदात्तादि चार भेदों को इन्होंने छोड़ दिया है। पति के उपभेद अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट, उपपति एवं बैसिक, बैसिक के उत्तम, मध्यम और अधम भेद भी बताये गये हैं। नर्म सचिव के-विट, चेटक, विदूषक और पीठमर्द चार उपभेद वर्णित हैं।

सप्तमालोक के दर्शन-भेद में स्वप्नदर्शन, चित्रदर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन और गुणश्रवण बताये गये हैं। यहीं भाव तथा उस के दस भेद लीला, विलास आदि भी वर्णित हैं। अष्टमालोक में भाव-स्थायी और संचारी आठ रस के आठ स्थायी भाव विवेचित हैं नवमालोक में विभाव-कथन हैं। ये हैं आलम्बन और उद्दीपन। जितने प्रकार के रस हैं, उनके आलंबन और उद्दीपन भी अलग-अलग हैं। दशमालोक में कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्विक अनुभाव वर्णित हैं। प्रत्येक रस के अनुभाव भी अलग-अलग हैं। एकादशालोक में सात्विक भावों तथा तैंतीस व्यभिचारी भावों का वर्णन है। द्वादशालोक में हास्य, शृंगार, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और शांत रसों के वर्णन के साथ वीररस में युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर आदि का भी उल्लेख है। त्रयोदशालोक में स्थायी भावजन्य आठ रस दृष्टियों का वर्णन है। चूँकि व्यभिचारी भाव तैंतीस हैं, अत: रसदृष्टियाँ भी तैंतीस होनी चाहिए, किन्तु यहाँ कुछ कम हैं। चतुर्दशालोक

में रस के जन्य-जनक भाव वर्णित हैं। रस-विरोध और रस-मैत्री भी इसमें वर्णित है। पंचदशालोक में एकांगप्रीति, रसाभास, आवाभास आदि विवेचित है। रसाभिव्यक्ति के तीन भेद सनमुख, विमुख तथा परमुख बताये गये हैं। इनके उपभेद रसमुख, अलंकार मुख और भावमुख हैं।

षोडशालोक में काव्य के गुण-दोष वर्णित हैं। शब्द-भेद तीन रूढ, यौगिक एवं रूढ़ यौगिक तथा दोष के शब्ददोष, अर्थदोष दो भेद बताये गये हैं। इन दोनों के अनेक अवान्तर भेद भी हैं सप्तदशालोक में काव्य-गुणों एवं ख्यातियों का वर्णन है। काव्य-गुण दस तथा ख्यातियाँ आठ गिनायी गयी हैं। अष्टादशालोक में लगभग अस्सी प्रकार के अलंकारों का उल्लेख हैं। इनमें से अनेक अलंकारों के उपभेद भी वर्णित हैं। ऊनविशांलोक में रीति, वृत्ति एवं शब्दशक्तियों का निरूपण है। रीतियों के पांचाली, लाटी, गौड़ी, वैदर्भी आदि भेद बताए गए हैं। वृत्तियाँ मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता एवं भद्रा भेद से पाँच प्रकार की हैं। महीपति की दृष्टि में व्यंग्य काव्य सर्वोत्तम है। यह साधारण, आमंत्रित, तटस्थ, बोधित, प्रतिबोधित आदि के रूप में विभक्त है। मध्यम काव्य के बाद उन्होंने गुणीभूत व्यंग्य के आठ भेद बताये हैं। लक्षणा के भेदोपभेद परंपरित ही हैं। अभिधाशक्ति-गुण, क्रिया, वस्तु, जोग, संज्ञा, निर्देश आदि से जानी जाती है।

विंशालोक में गुरु, अतिगुरु और लघु का वर्णन है तदनु दो त्रिकल, दो चुतु:कल तथा दो पंचकल का। गणविवेचन में गण संख्या, गण देवता, गणामित्र, फल तथा द्विगुण आदि पर भी ध्यान दिया गया है। एकविंशालोक में मात्रावृत्ति, दोहा-लक्षण, गण-नियम आदि बताकर मात्रिक छंदों का वर्णन किया गया है। द्विविंशालोक में वर्णवृत्तों का वर्णन किया गया है। अंतिम आलोक की समाप्ति के साथ कवि ने सोलह श्रृंगार, द्वादश आभरण तथा काव्य-प्रशंसा आदि का वर्णन किया है। वस्तुत: इस ग्रंथ में रचनाकार अपने कवि एवं आचार्य दोनों रूपों में सफल रहा है। इसमें प्रयुक्त उदाहरण एक से बढ़कर एक सजीव, रोचक और आकर्षक बन पड़े हैं। कवि सहज प्रतिभा से भावित है। उसकी कारयित्री प्रतिभा अथ से इति तक जागरूक दिखाई देती है। उसे लोक-शास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान है, अत: वह निश्चयेन व्युत्पन्न है। फिर भी पाठकों से वह सविनय अनुरोध करता है कि उसे 'अज्ञानी' मानकर वे ग्रहण-त्याग की रीति अपनायें।

'कवि कुल तिलक प्रकाश कौं आदि अंत लौं देखि।
ग्राह त्याग मैं जानिबो जानि अजानि विसेखि।। (वही. 22/124)

चूँकि अन्य काव्यांगों सहित छन्द शास्त्र जैसे जटिल विषय को भी उन्होंने अपने विवेचन का विषय बनाया है, अत: निस्सन्देह उन्हें सर्वांग निरूपक आचार्य माना जा सकता है।

महीपति कवि-शिक्षक नहीं, अपितु सिद्धांत-निरूपक आचार्य हैं। जयदेव की भाँति उनका भी मत है कि जल, मृत्तिका और बीज की उपस्थिति में लता की भाँति कविता का जन्म होता है। उन्हीं के अनुसार-निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुण भूषिता' के ढंग पर ही वे काव्य को परिभाषित करते हैं। अभिधा-लक्षणा आदिका निरूपण आठ प्रकार का गुणीभूत व्यंग्य काव्य तथा अलंकार-विवेचन भी जयदेव से प्रभावित है। कुछ अलंकारों को तो इन्होंने छोड़ा है किन्तु अधिकांश का तो वर्णन-क्रम भी वही है। ये पूर्णत: अलंकारवादी आचार्य हैं। इनका अलंकार-लक्षण दोहा तथा उदाहरण सवैया छंद में दिया गया है। गुण-दोष विवेचन पर भी जयदेव का ही प्रभाव है। ये उनके काया एवं छायानुवाद लगते हैं। इनके काव्य लक्षण पर मम्मट के-'काव्यं यशसेअर्थ कृते' आदि का प्रभाव है। सात्विक भाव का लक्षण भानुदत्त की 'रस तरंगिणी' से प्रभावित है। विरह की दस दशायें साहित्य दर्पण के अनुसार हैं। एक कुशल पिंगलाचार्य की भाँति इन्होंने वर्णिक एवं मात्रिक वृत्तों का भी विस्तृत वर्णन किया हैं किन्तु इस विषय में वे किस पूर्वाचार्य से प्रभावित हैं, कहा नहीं जा सकता।

महीपति मात्र शास्त्रनिरूपक आचार्य ही नहीं हैं, अपितु उनका कवि व्यक्तित्त्व अत्यन्त प्रखर-प्रकृष्ट है। उनकी भावानुभूति अनुपम है। किसी भी रस-भाव के वर्णन में उन्होंने सफलता प्राप्त की

है। उनका श्रृंगार रस चित्रण सरस, मनोरम एवं हृदयग्राही है। शायद ही उनके वर्णन में कहीं ऊहा और अतिरंजना मिलती हो। इनका लोक-काव्य-शास्त्रादि का अनुभव गंभीर है। उनकी नायिका 'नाना भाव-विभाव हाव कुशला' के साथ 'क्रीडा-कला-पुत्तली' है। कलावती और रस-रीति में निपुण इस नायिका का वैशिष्ट्य द्रष्टव्य है; बिम्ब-विधान अद्‌भुत है -

कबहूँ कछु गावै कबित बँचावें नैन नचावै हंसि रस कै।
कछु छुवतहि छांहीं कटि न न नाहीं भजति लजतिढिग रहि न सकै।
कबहूं डरि भागै फिरि हिय लागै बांधि भुजनि मसकै ससकै।
यों खिनक खिझावै खिनक रिझावै प्यौ प्यारी राख्यो बस के।।

(कविकुल तिलक प्रकाश-21/24)

रूप-वर्णन में भी महीपति को सिद्धि प्राप्त है। नायक और नायिक दोनों का सजीव-स्वाभाविक सौन्दर्य वर्णन इन्होंने किया है। कल्पनाशक्ति इनकी अनुपम है, वर्णन बिम्बात्मक एवं उत्प्रेक्षामूलक है। इनके सौन्दर्य में 'औरै कछू' की अनिर्वचनीयता भी समाहित है। तीज के त्यौहार पर सज-धज कर सारी सखियाँ पूजा-हेतु चलती हैं। उनके रूप-सौन्दर्य का जीवन्त बिम्ब प्रत्यक्ष करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है-

तीज की परब पाइ पूजति सरब सखी, जरब जराय की सरब अंग छ्वै रही।
बिछिया बनक बनी जेहरि कनक की मैं झनक मनक की महल धुनि ह्वै रही।
किंकिनी के कलरव राजत रसीले अंग, राती अति चूनरी किनारी चहूँ कै रही।
तैसिए लिलार आड़ केसर की खोरि किए, बेसरि के मोती की निकाई चारु च्वै रही।।

(वही - 11/53)

कल्पना की ऊँची उड़ान और उसकी अद्‌भुत सूझ सर्वत्र दिखायी देती है। इनका प्रकृति-सौन्दर्य एवं भाव-सौन्दर्य भी अनुपम है। सौन्दर्य दृष्टि इनकी पारम्परिक है, फिर भी उसमें नयापन एवं ताजगी दिखायी देती है। कहीं ऊब या अरुचि नहीं लगती। रूप-वर्णन अथवा कल्पना-विलास की दृष्टि से महीपति किसी भी मायने में अन्यों से पीछे नहीं दिखायी देते। उनका भाषा-माधुर्य प्राय: सर्वत्र मन को बाँधता चलता है -

पातरी देह औ आँखैं बड़ी बड़ी, आनन मैं अति ही छबि छायी।
रूप सकेलि दिये सिगरो, कहुँ हेरेहु रूप रतीक न पाई।
ताको कहा बरनै कविता सब ताहि दई है दई निपुनाई।
राधिका सी इक और रचै, तौ बदौं चतुरानन की चतुराई।। (वही - 17/26)

आचार्यों ने काव्य-रीतियों को रस का उपकार करने वाली बताया है -''उपकर्त्री रसादीनां''। इनका वर्णन महीपति ने अन्यों की अपेक्षा अधिक रुचि से किया है। वैदर्भी रीति जो अपने रस माधुर्य एवं श्रुति सुखदता के लिए विशेष विख्यात है, कालिदास भी जिसके कुशल प्रयोक्ता माने गये हैं, उसका सुन्दर उदाहरण महीपति के काव्य में दर्शनीय है -

यों घुमरैं घहराइ घने घन घोर घटानि लिए झरि लावै।
विज्जु छटा उछटै चहुँ ओरनि मोरनि सोर कै दु:ख बढ़ावै।
पापी पपीहा सतायो पिया कहि मोहि महानिसिद्यौस सतावै।।
आवन भो नहिं भावन को हियरा डरपावन सावन आवै।। (वही - 19/8)

आचार्यों के अनुसार जहाँ के आदि वर्ण अनुस्वारयुक्त तथा माधुर्यव्यंजक हों, वहाँ मधुरा, रेफयुक्त वर्ण हों तो प्रौढ़ा, रेफयुक्त सकार-ककार और शकारयुक्त अनुस्वार हों तो परुषा, ण, भ, ध आदि हों, वहाँ ललिता तथा मधुरा-ललिता एवं बचे वर्ण जहाँ हों, वहाँ भद्रावृति होती है। मधुरा तो नामानुरूप अतीव श्रुति मधुर होती ही है जिसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

खंजन भंजन गंजन मीन के अंजन रंजन हू बिन नीके।
कंज कमीन लगैं जिनते अरु ऐसे लखे न कहूँ हरि नीके।
बीच में लाल लकीर लसै सो बसै हिय में अति सोभन सीके।
काम के बान से कान लौं फैलि कटाछन ही सों गड़े मन पी के। (वही - 19/10)

महीपति की भाषा अतीव मनोरम, अलंकार प्रधान है। अद्‌भुत शब्द-संयोजन के नाते इनका काव्य सरस, मधुर एवं ललित लगता है। अनुप्रास में भी विशेषकर अन्त्यानुप्रास का प्रयोग ये अधिक करते हैं। कविता में 'उत्तम शब्दों के उत्तम क्रम' को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। विवेच्यकवि इसका तत्परता से निर्वाह करता है। श्रुति मधुर पदावली की अधिकता के नाते माधुर्यादि गुणों की सिद्धि इनकी कविता में स्वत: हो जाती है। द्रष्टव्य निम्न छंद -

'अंग मरोरि कहै हँसि बैन नचावत नैन बनी छवि छाजति।
है थहराति परी पर जंक तहीं कटि किंकनी नूपुर बाजति।
केलि कला में कलामै करै कल कूक सुनै हिय कोकिला लाजति।
लीबे को लाल को लाल को हार हिए धरि प्यारह लाजहिं साजति।। (वही - 2/40)

महीपति मात्र शास्त्र-निरूपक आचार्य ही नहीं हैं, अपितु उनका कवि-व्यक्तित्त्व अत्यन्त प्रखर-प्रकृष्ट है। उनकी भावानुभूति अनुपम है। किसी भी रस-भाव के वर्णन में इन्हें सफलता मिली है। इनका रूप-सौन्दर्य-वर्णन भी सजीव-स्वाभाविक है। कल्पना-विलास की दृष्टि से कवि किसी से पीछे नहीं है। इनकी प्रेम-भावना युग-बोध से प्रभावित है, अत: उसका मर्यादित, गंभीर, अलौकिक स्वरूप स्थिर नहीं रह सका है।'बानी को सार बखानौं सिंगार, सिंगार को सार किसोर किसोरी' की बात इन पर भी पूर्णत: चरितार्थ होती है। समूचे रीतियुग में प्रकृति के आलंबनरूप को आदर नहीं मिल सका है, अत: यहाँ भी उद्दीपन रूप प्रधान है। श्रृंगार के नीचे इनका भक्तिभाव भी दबा दिखायी देता है। भक्ति यहाँ भी कुल मिलाकर 'राधिका कन्हाई सुमिरन का बहाना है'। इनकी भाषा सजी-सँवरी, परिष्कृत-परिमार्जित ब्रजभाषा है जिसमें संस्कृतनिष्ठ शब्दावलियों का प्रयोग किया गया है। अवधी लोकजीवन में प्रयुक्त देशज शब्द भी इनकी भाषा का श्रृंगार करते हैं। यह भाषा अनुप्रासमयी, समासगुणयुक्त, ललित-मधुर एवं प्रवाहपूर्ण है। इनके चाक्षुषबिम्ब जीवन्त हैं जिनमें अद्‌भुत चित्रात्मकता है। पाठक की इन्द्रियों को उत्तेजित करने तथा विविध मनोभावों को जागृत करने की अपूर्व क्षमता इनमें विद्यमान है। कवि का लोक, काव्य, शास्त्र आदि का अनुशीलन व्यापक एवं गंभीर है। संस्कृत के अनेक आचार्यों का इन पर स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है। नि:संदेह महीपति रीतियुगीन काव्य-शास्त्र की प्रशस्त परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। सर्वागनिरूपक आचार्य के रूप में इन्होंने उस परम्परा का महदुपकार किया है। इनका काव्य अब तक अप्रकाशित है, यह सबसे बड़ी विडम्बना है, अन्यथा इनसे और प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण किया जा सकता था। इस कवि की काव्य-साधना एवं इनके रस-रीति-निरूपण आदि के लिए हिन्दी ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण साहित्य-जगत् इनका सदैव ऋणी रहेगा। हिन्दी साहित्य की भी वृद्धि के लिए इनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ब्रजभाषा उन्नायक : महाराव लखपति सिंह 'लखधीर'

डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह 'संजय'

भारतीय वसुन्धरा अनेक गुणी विद्याव्यसनी शासकों की यशचन्द्रिका से आप्लावित रही है। भारत के ऐसे ही उदारमना शासकों की परम्परा में एक उज्ज्वल नाम है पश्चिमी समुद्र से आवृत कच्छपाकृति के समान उन्नतोदर राज्य कच्छ-भुज के जाडेजा वंशीय शासक और विश्व की अन्यतम काव्यशाला के संस्थापक महाराव श्री लखपति सिंह का। महाराव श्री लखपति सिंह के सन्दर्भ में प्रथित है कि चन्द्रमा की षोडश कलाएँ हैं, जो निरन्तर घटती-बढ़ती रहती हैं, किन्तु लखपति रूपी चन्द्र ने अपने देश में प्रजा के सन्ताप को शान्त करने के लिए उत्तरोत्तर वृद्धि करनेवाली कलाओं का संस्थापन किया। उन्होंने योग्य पाठशाला की स्थापना कर उत्तम ब्रजभाषा का प्रचार अपने देश में किया। उन्हें ब्रजभाषा का अच्छा ज्ञान था। इसी कारण सत्पुरुषों की वाणी अद्यतन उनकी प्ररोचना करती है।[1]

महाराव लखपति सिंह का कच्छ के जाडेजा (वस्तुत: यदुवंशी भगवान् श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ के वंशज) वंशीय शासकों में अन्यतम स्थान है। इनकी प्रथितकीर्ति का आधार इनका भव्य व्यक्तित्व, इनकी विलक्षण मेधा एवं अप्रतिम काव्य-कलाप्रियता है। महाराव श्री लखपति सिंह के साहित्य-संसार पर दृष्टिक्षेप करने के पूर्व स्वयं उनके वैयक्तिक जीवन के सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त करना अप्रासंगिक न होगा। प्रथितकीर्ति होते हुए भी महाराव लखपति सिंह के जीवन के सन्दर्भ में प्रामाणिक सामग्री का नितान्त अभाव है। उनकी जन्मतिथि के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। उनकी आयु को ही प्रमाण मानकर उनके जन्मकाल को निर्धारित किया जाता है। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् सर चार्ल्स वाल्टर ने महाराव लखपति सिंह की आयु 54 वर्ष माना है। (Sir Charles Walter : Selection from the records of the Bombay Government No 15 News Series, Page 109) महाराव लखपति सिंह का देहावसान विक्रमाब्द 1817 (1760 ई.) में हुआ था; इस दृष्टि से सर चार्ल्स वाल्टर द्वारा निर्दिष्ट आयु-प्रमाणानुसार महाराव लखपति सिंह का जन्मकाल विक्रमाब्द 1763 (1706 ई.) फलित होता है। इसी मत का प्रतिपादन परवर्तिकालिक आंग्ल विद्वानों ने भी किया है। (Bombay Gazetteer, Vol. VI, Page 141) प्रसिद्ध कवि एवं गुजराती भाषा-साहित्य के विद्वान् गोविन्द गिल्लाभाई ने भी उपर्युक्त मत को पुष्ट किया है।[2] कच्छ के स्थानीय ऐतिह्यविदों ने महाराव लखपति सिंह की सम्पूर्ण आयु 44 वर्ष निर्धारित किया है। इस प्रकार उनका जन्म विक्रमाब्द 1773 (1716 ई.) निर्धारित होता है। (द्विवेदी आत्माराम केशवजी : कच्छ देशनी इतिहास, पृ. 50 तथा जयराम जे. नयगाँधी : कच्छनो वृहद इतिहास, पृ. 103).

उपर्युक्त दोनों मान्यताओं में एक दशक का अन्तर है। इसके परीक्षण का प्रथमत: प्रयत्न महाराव लखपति सिंह के व्यक्तित्व और कृतित्व पर शोधकार्य करनेवाले डॉ. कान्तिलाल शाह ने किया है। भुज के विद्वान् चारण राजकवि शम्भुदान अयाची के सौजन्य से डॉ.कान्तिलाल शाह ने सिद्ध किया है कि महाराव लखपति सिंह की कुल आयु 51 वर्ष थी। इनके अनुसार उनका जन्म विक्रमाब्द 1767 (1710 ई.) में हुआ माना जा सकता है। उन्होंने अपने मत के प्रतिपादनार्थ निम्नांकित दो प्रमाण प्रस्तुत किया है - (1) लखपति सिंह के आश्रित राजकवि कुँवर कुशल द्वारा प्रणीत 'लखपति स्वर्ग प्राप्ति समय' संज्ञक ग्रन्थ के अन्त:

साक्ष्याधार पर- छप्पय

बरस इकावन विमल अनुज प्रभु के जब आये।
पूरन आयु प्रमानि किये तब मन के भाये।
''तुला करि तिहिं समय दानहुँ जगत कीं दीन्हें।
प्रजा नृपति हित पुन्य किये श्रवननि सुनि लीन्हें।
जप तप अनेक सुमता सहित ध्यान सदा शिव को धर्यौ।
पातक पजरि सब पिण्ड के कुन्दन तैं उज्ज्वल कर्यौ।।''

(कुँवर कुशल : लखपति स्वर्ग प्राप्ति समय, छप्पय सं. 33)

(2) श्री शम्भुदान अयाची द्वारा प्राप्त महाराव लखपति सिंह के तीसवें वर्ष-प्रवेशोपलक्ष्य में बनी फलादेश पत्रिका- 'अथ श्रीमन्नृपति विक्रमादित्य समयात्संवत् 1796 वर्षे शालिवाहन शाके 1661 प्रवर्तमाने याम्यायनगते श्री सूर्योशर धृतौ सन्मांगल्यप्रदे श्रीअश्विन मासे शुक्ल पक्षे 8 घटी 16-59 परं नवमी वर्ष तिथौ शनिवासरे। उत्राषाढ़ा घटी 47 पल 22 वर्ष मे सुकर्मा घटी 64/39 वालव करणे एवं पञ्चाङ्ग शुद्धोतद्दिने श्रीसूर्योदयाऊत घटी 26 पल 19/21/13 समये श्री चिरञ्जीवी धर्मधोरिधर गौ-ब्राह्मण प्रतिपाल भटत्रिंशराजकुल-तिलक महाराजा कुँवर श्री लाखाजी कस्य वर्ष 30 प्रवेश:। (डॉ. निर्मला आसनाणी : कच्छ की व्रजभाषा पाठशाला, पृ. 64).

उपर्युक्त वर्षफल-पत्रिकानुसार महाराव लखपति सिंह जी का जन्म 28 सितम्बर, 1710 ईस्वी, मंगलवार, प्रात: 5 बजकर 9 मिनट पर होना प्रमाणित होता है।

महाराव लखपति सिंह कच्छ के लोकख्यात नरेश महाराव देशलजी के राजकुँवर थे।[3] उनकी माता का नाम राजमहिषी महाकुँवरि था। वे अत्यन्त रसिक एवं विलासी वृत्ति के थे। उनकी 9 रानियाँ और 25 उपपत्नियाँ थीं।[4] उनके बहुपत्नीत्व का उल्लेख प्राय: उनसे सम्बन्धित सभी ग्रन्थों में प्राप्त होता है। उनके आश्रित राजकवि कुँवर कुशल द्वारा रचित ग्रन्थों में उनके जीवन पर विशेष प्रकाश डाला गया है। महाराव लखपति सिंह की उपपत्नियाँ नृत्य-संगीतादि-निपुणा-रूप-यौवनसम्पन्ना नायिकाएँ थीं। राजकवि कुँवर कुशल ने महाराव लखपति सिंह की अनेक उपपत्नियों का परिचय, उनकी विशिष्टताओं के साथ प्रस्तुत किया है।[5]

नौ रानियों में से महारानी राजकुँवरि से उत्पन्न हुए युवराज गौड़जी महाराव लखपति सिंह जी के पश्चात् राज्याधिकारी बने थे। गौड़जी के अतिरिक्त उपपत्नियों से भी अनेक पुत्र उत्पन्न हुए। इन अनौरस में मान सिंह, खानजी, सबलसंग, कल्याणजी, मेधजी, कानजी प्रभृति का उल्लेख प्राप्त होता है। (कच्छ देशनो इतिहास, पृ. 1-8; तथा कच्छनो वृहद इतिहास, पृ. 106) महाराव लखपति सिंह जी की धनकुँवरि नाम्नी दुहिता का भी उल्लेख मिलता है, जिनका पाणिग्रहण संस्कार बड़ौदा राज्य के दामजीराव गायकवाड़ के साथ सम्पंन्न हुआ था। (Historical selection from Barodara state records, Vol. III (1760-1798 P. 297) इसके अतिरिक्त महाराव के अनुज कुंवर नौधन सिंह जी का भी उल्लेख मिलता है। (वंश सुधाकर में प्रस्तुत वंशावली के आधार पर).

महाराव श्री लखपति सिंह के सम्बन्ध अपनी माता राजमहिषी महाकुँवरि से स्नेहपूर्ण थे, किन्तु पिता महाराव देशलजी से नहीं। पिता-पुत्र का सम्बन्ध यद्यपि कभी मधुर नहीं था, किन्तु परवर्तिकाल में आर्थिक दृष्टि से वैमनस्य में निरन्तर वृद्धि होती रही; जो कभी कम नहीं हुई। परिणामत: लखपति सिंह ने पिता के हाथ से राजसत्ता हस्तगत कर लिया। (L-F. Rushbrook Williams : The Black Hills- Kutch in History and Legend : A study in Indian Local Loyalities, P. 134-136) राजसत्ता को अवैधानिक रूप से हस्तगत कर लेने के बाद भी वे अपने पिता के प्रति उदार एवं सदय बने रहे। 'शिवरा मण्डप' इसका सबल प्रमाण है।

महाराव श्री लखपति सिंह जी में असाधारण योग्यता थी, किन्तु अपनी रसिकता के कारण वे अपने पारिवारिक जीवन को सन्तुलित न रख सके। आरात्रिदिवा नृत्य-संगीतादि में निमग्न एवं उपपत्नियों में तल्लीन रहनेवाले महाराव लखपति सिंह से रुष्ट होकर ईस्वी सन् 1752 में सत्रह वर्ष के लम्बे दाम्पत्य जीवन का परित्यागकर राजमहिषी राजकुँवरि अपने पुत्र गौड़जी के साथ मुन्द्रा चली गयीं। (Rustbrook Williams : The Black Hills Kutch in History P. 143) पारिवारिक विघटन की प्रतिक्रियास्वरूप पिता-पुत्र का भी वैमनस्य बढ़ता गया। यहाँ तक कि पुत्र की उद्दण्डता पर महाराव लखपति सिंह जी को मुन्द्रा पर आक्रमण करना पड़ा, जिसकी प्रतिक्रिया में युवराज गौड़जी पिता से युद्ध करने हेतु मोरवी से सेना ले आये थे। (तदैव, पृ. 146) महाराव लखपति सिंह आजीवन पुत्र से समन्वय स्थापित नहीं कर सके। इतना ही नहीं वे युवराज गौड़जी को राज्याधिकार से भी वंचित करना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि उनके बाद कच्छ-भुजाधिपति उनके अनौरस पुत्र मान सिंह बनें। (तदैव, पृ. 148).

महाराव लखपति सिंह जी के जीवन के अन्तिम वर्ष दारुण रुग्णावस्था में व्यतीत हुए। इस कारण उनकी निरन्तर श्रृंगार से अभिसिंचित मनोभूमि में भी न केवल वैराग्य एवं भक्ति के बीज अंकुरित हुए, अपितु अपनी सघन शीतलता से भक्ति-वैराग्य के उच्च दर्शन का प्रतिष्ठापन भी करने लगे। उनका देहावसान विक्रमाब्द 1817 के ज्येष्ठ मास की पंचमी तिथि को हुआ था। (रामसिंह राठौर : कच्छनुं संस्कृति दर्शन, पृ. 206 एवं 'वंश सुधाकर') महाराव श्री लखपति सिंह जी की मृत्यु का विशद्, सजीव एवं प्रामाणिक चित्रण उनके दो आश्रित कवियों ने किया है। उनके विवरण से ज्ञात होता है कि महाराव श्री लखपति सिंह जी ने दान-पुण्य करके, अत्यन्त रुग्ण शरीर होने पर भी मृत्यु का स्वागत स्वस्थ मन से किया।[6] उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी 15 स्त्रियाँ सती हुई।[7] कहा जाता है कि सती होनेवाली सभी स्त्रियाँ उनकी रक्षिताएँ (उपपत्नियाँ) थीं।[8] रानियों में से एक भी सती नहीं हुई, किन्तु महाराव श्री लखपति सिंह जी के आश्रित कवि अमर सिंह बरौट ने 'रा लखपतिना मरसिया' संज्ञक ग्रन्थ में महाराव श्री लखपति सिंह जी के स्वर्गारोहण का अत्यन्त चित्रात्मक वर्णन करते हुए लिखा है कि उनके पीछे सती होनेवाली 15 स्त्रियों में 7 रानियाँ और 8 रक्षिताएँ थीं। सुप्रसिद्ध विद्वान् राम सिंह राठौर ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। (रामसिंह राठौर : कच्छनुं संस्कृति दर्शन, पृ. 206), जबकि गोविन्द गिल्लाभाई एवं दुलेराय काराणी ने महाराव श्री लखपति सिंह जी के पीछे सती होनेवाली सभी स्त्रियों को 'रानी' की संज्ञा से अलंकृत करते हुए उनकी संख्या षोडश स्वीकार किया है।[9] इस प्रकार महाराव लखपति सिंह के रसिक व्यक्तित्व के करुण अन्त को भी उनकी पत्नियों किंवा प्रेयसियों ने चिरस्मरणीय बना दिया है। कच्छ-भुज के किसी अन्य नृपति के पीछे इतनी संख्या में रानियाँ सती नहीं हुई। रक्षिताओं का सती होना और वह भी इतनी संख्या में, एक ऐतिहासिक घटना है, जिसका दूसरा उदाहरण दुर्लभ है।

महाराव श्री लखपति सिंह जी के चतुरस्तमुखी व्यक्तित्व का एक उज्ज्वल पक्ष है उनकी साहित्य-साधना। उनकी साहित्य-प्रियता मात्र मनोरंजन तक ही सीमित नहीं थी, अपितु वे स्वयं वाणी के आराधक थे। वे कवि-कलावन्तों के उदार आश्रयदाता तो थे ही स्वयं भी एक समर्थ कवि थे।[10] बाल्यावस्था से ही उनमें काव्य-रचना की प्रतिभा और प्रवृत्ति विद्यमान थी, जो उत्तरोत्तर अपने उत्कर्ष को प्राप्त करती रही। (अगरचन्द नाहटा : आचार्य विजयवल्लभ सूरि स्मारक ग्रन्थ, पादटिप्पण, पृ. 66) महाराव श्री लखपति सिंह जी के पिता महाराव श्री देशलजी भी कवि-कलावन्तों के लिए उदार कल्पवृक्ष की भाँति थे। महाराव देशलजी के दरबार में प्रसिद्ध कवि-रत्न हमीर रतनुं को आश्रय प्राप्त था। हमीरजी रतनुं के निर्देशन में ही युवराज लखपति सिंह ने काव्य-रचना प्रारम्भ की थी। हमीरजी रतनुं महाराव देशलजी एवं उनके युवराज लखपति सिंह दोनों के आश्रय में रहे। (सीताराम लालसा : राजस्थानी शब्दकोश, खण्ड-1, पृ. 157-158) हमीरजी रतनुं ने युवराज लखपति सिंह जी के अध्ययन एवं प्रशस्ति को लक्ष्य में रखकर 'लखपति पिंगल' नामक छन्द:शास्त्र का सुन्दर ग्रन्थ रचा था, जिसमें उन्होंने युवराज

लाखा (लखपति सिंह) के पिंगल-ज्ञान की प्रशंसा की है।[11] हमीरजी रतनुं के पश्चात् राव लखपति के काव्य-गुरु हुए आचार्य कनक कुशल। इन्हें महाराव लखपति सिंह ने उचित सम्मान से अपने यहाँ बुलाकर गुरु-पदाभिषिक्त किया था।[12] कनक कुशल संस्कृत एवं ब्रजभाषा के प्रखर पण्डित थे। उनके सान्निध्य में रहकर महाराव श्री लखपति सिंह की काव्य-प्रौढ़ता निखर उठी थी। इन आचार्यों के सहयोग से महाराव लखपति सिंह ने न केवल उत्कृष्ट मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन किया, अपितु रीतिकालीन श्रेष्ठ ग्रन्थों का सम्पादन भी किया था।

महाराव श्री लखपति सिंह ने सात ग्रन्थों का प्रणयन किया है, जिनके नाम हैं-1. लखपति-श्रृंगार, 2. सदाशिव ब्याह, 3. सुरतरंगिणी, 4. रामसागर, 5. मृदंग-मोहरा, 6. लखपति-मान-मंजरी एवं 7. लखपतिभक्ति-विलास। महाराव लखपति सिंह की कच्छी भाषा में रचित स्फुट कविताओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है। (दुलेराय काराणी : कच्छनां सन्तो अने कविओ, भाग-1, पृ. 323) महाराव लखपति सिंह के उपर्युक्त सात ग्रन्थों के अतिरिक्त दो अन्य ग्रन्थों की सूचना देते हुए डॉ.निर्मला आसनाणी लिखती हैं- 'अब तक की शोध-प्रक्रिया में विभिन्न विद्वानों ने इनकी सात रचनाओं एवं फुटकर पदों का उल्लेख किया है। मुझे अपने शोध-अभियान में महाराव के द्वारा रचित एक अन्य ग्रन्थ की उपलब्धि हुई है, जिसमें प्रसिद्ध रीतिकालीन ग्रन्थ 'बिहारी सतसई' की टीका महारावजी ने लिखी है। कर्ता ने अपने ग्रन्थ का नाम 'रसविलास' रखा है। इसके अलावा 'सुन्दरश्रृंगार' की 'रसदीपिका टीका' नामक रचना जो आचार्य कनक कुशल द्वारा बतलायी गयी, मुझे प्राप्त हुई है। इस रचना की हस्तलिखित प्रति में कर्ता के स्थान पर महाराव लखपति का नाम प्राप्त होता है। पूरे ग्रन्थ के अवलोकन से मैंने इस टीका-ग्रन्थ को महाराव लखपति कृत ही माना है। ऊपर दर्शाये ग्रन्थ 'रसविलास' की शैली के अनुरूप ही 'सुन्दरश्रृंगार की रसदीपिका टीका' भी रची हुई प्राप्त होती है। इस प्रकार महाराव लखपति द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या कुल मिलाकर नौ हो जाती है। (डॉ. निर्मला आसनाणी : कच्छ की ब्रजभाषा पाठशला पृ. 114-115).

महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' कृत 'लखपति-श्रृंगार' अथवा 'रसतरंग' नायिकाभेद का प्रतिपादन करनेवाला एक महत्त्वपूर्ण लक्षण ग्रन्थ है। इसका प्रणयन आचार्य भानुदत्त कृत 'रसमंजरी' के आधार पर हुआ है इसलिए महाराव लखपति सिंह ने इस ग्रन्थ का अभिधान 'रसमंजरी' के आधार पर 'रसतरंग' किया है, किन्तु बाद में कुंवर कुशल ने इसका नामकरण 'लखपति-श्रृंगार' कर दिया। इस सन्दर्भ में डॉ. निर्मला आसनाणी लिखती हैं- 'शाहजहां के दरबार के प्रसिद्ध कवि सुन्दरदास ने 'रसमंजरी' का आधार लेकर जिस ग्रन्थ की रचना की, उसका नाम उन्होंने 'सुन्दर-श्रृंगार' रखा था। इसी प्रकार कुँवर कुशल ने 'रसतरंग' के स्थान पर इसका नाम 'लखपति-श्रृंगार' दिया है। आगे चलकर इसी नाम से यह ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ है। कुँवर कुशल ने इस ग्रन्थ की पुष्पिका में भी 'रसतरंग' को काटकर काली स्याही से 'लखपति-श्रृंगार' लिख दिया है। इसी प्रकार पृष्ठ 69 पर भी लाल स्याही से लिखे 'रसतरंग' को काटकर काली स्याही से 'लखपति-श्रृंगार' लिख दिया है। इतना ही नहीं, ग्रन्थ के अन्त में ऊपर हाशिये में एक दोहा जोड़कर 'लखपति-श्रृंगार' नाम इस ग्रन्थ को दे दिया गया है।' (तदैव, पृ. 115) डॉ. आसनाणी ने जिस दोहे का उल्लेख किया है, वह निम्नलिखित है-

महाराव लखपति कियौ, शुभ लखपति सिंगार।
रच्यो देखि रसमंजरी, सकल रसनि को सार।।

'लखपति-श्रृंगार' की उपलब्ध पाण्डुलिपि में रचनाकाल न देकर केवल लिपिकाल संवत् 1805 दिया गया है। इस ग्रन्थ में किये गये परिवर्तन एवं परिवर्द्धन को देखते हुए सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उपलब्ध पाण्डुलिपि ही मूल है, जिसे महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' के निर्देश पर कविराज कुंवर कुशल ने सुस्पष्ट लिपि में लिखा है। चूँकि पाण्डुलिपि विक्रमाब्द 1805 की है, इसलिए

इसकी रचना विक्रमाब्द 1805 के पूर्व ही हुई होगी। दोहा, सवैया, त्रिभंगी, कवित्त (घनाक्षरी), हरिपद प्रभृति विभिन्न छन्दों में निबद्ध 'लखपति-श्रृंगार' की रचना 436 छन्दों में पूर्ण हुई है। इस ग्रन्थ में महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' ने मनोयोगपूर्वक नायक-नायिका-भेद का वर्णन किया है। आचार्य भानुदत्त के लक्षण 'तत्र स्वामिन्येवानुरक्ता स्वीया' (आचार्य भानुदत्त : रसमंजरी, पृ. 5) के आधार पर स्वकीया नायिका का लक्षण-निरूपण करने के बाद महाराव लखपति सिंह ने स्वकीया का उदाहरण देते हुए लिखा है -

''नैननि कौन लौं हौत निहार बौ,
ओठनि में मुसक्यानि करै।
बोल की थोर बड़ी सुगरै,
बिबि और निहारि कै पाँय धरै।
कोप न है सपने अपने मन
जो भयो तौ मन माँहिं मरै।
लाज जिहाज बनी सिरताज,
निहारियै पीय को हीय बरै।
(महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' : लखपति - श्रृंगार : उद्धृत
- डॉ. निर्मला आसनाणी : तदेव, पृ. 116 एवं 401)

इसी क्रम में महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' द्वारा रचित अज्ञात यौवना नायिका का उदाहरण भी द्रष्टव्य है, जिसमें अज्ञात यौवन-सम्पन्ना भोली किशोरी अपने तन पर अतनु के पदचिह्न देखकर आकुल हो उठती है और इस प्रकार अपने वक्षस्थल पर कल तक जूही की कली जैसे स्तन को नींबू के रूप में बढ़ते देखकर सहेली से अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए उपचार की विनती करती है :-

दौरि सहेली की बाँह गही,
सजनी लखि व्याधि ये साँस भरानी।
तू तो निचिन्त, सचिन्त है मो मन,
ये छतिया पर कैसी निसानी।
देखि डरात सुहात न क्यों हूँ,
विख्यात उपाय करौ जू सयानी।
जाय कली-सी गये दिन जानि पै,
आज तो नींबू बराबर ठानी। (तदेव, पृ. 397)

महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' कृत 'लखपति-श्रृंगार' न केवल लक्षण-ग्रन्थ है, अपितु एक उत्कृष्ट काव्य भी है। इसमें महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' की उत्कृष्ट काव्य-कला के दर्शन होते हैं। शास्त्रीय परम्परा का अनुसरण करने पर भी महाराव लखपति सिंह ने अपनी काव्यात्मक प्रतिभा का परिचय स्वानुभूति में दर्शाया है। पुष्प-परागों से सम्पृक भ्रमर-पक्ष (पंख) की भाँति लखधीर के छन्द प्रेम के अद्वितीय चित्रों से अलंकृत हैं। केलि-क्रीड़ा करते हुए श्यामा राधिका के कर्ण से पतित हुए तर्यौना (कर्णपाशा) का मनोहारी चित्र निम्नांकित मनहरण छन्द में मुखरित हुआ है -

''चुम्बन अधर पान करिके अघातु नाँहिं,
माच्यो रंग लषधीर रस ही की कथ कौ।

पूरि पूरि काम कला भूरि भूरि भाइन सौं,
करत सुरत बहैं विपरीत पथ कौ।
श्यामा के श्रवण तैं जराय को तर्यौना छूटि,
पर्यौ पिय हिय पैं षिलौना मनमथ कौ।
मेरे जानि राह जीतैं मेरु की सिला के मध्य,
चालिबें तैं चक्र टूट्यौ चन्द्रमा के रथ कौ।'' (तदेव, पृ. 117)

महाराव लखपति सिंह ने राधिका-कृष्ण की मधुर लीला का वर्णन करते हुए श्रृंगार के एकान्तिक क्षणों को छन्दबद्ध किया है –

(1)

''सेज सँवारि बिछौननि झारिकै
आपुहि बा बिच फूलि फसाये।
मोहन राधिका बातें बनाय कैं
कुंज के भौन में आनि बसाये।
प्रेम तैं राति कैं नायक नें जब
कंचुआ नीबी के बन्ध पिसाये।
ऐसे ही में तब धीठ विदूषक
कुर्कुट नाद कियो सहसाये।'' (तदेव, पृ. 357)

(2)

''सीस सो सीस मुखै मुख सौं
छतियाँ अपनी छतियाँ बरजोरी।
बाहु सौं बाहु लपेटि लई, कटि
सौं कटि गाँठि करी है किशोरी।
जाँघ सौं जाँघनि, पींड़ी सौं पींड़ियें
बाँधे पगे पग घूंघुर डोरी।
रात की रीझि लखी मैं सीख!
तब तें मेरे चित्त में चित्र बसोरी।'' (तदेव, पृ. 425)

महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' ने 'लखपति-श्रृंगार' अथवा 'रसतरंग' में एक ऐसी पूर्वरागानुरक्ता नायिका का वर्णन किया है, जो नायक के हँसने पर मुग्ध हो गयी है और अब उस चितचोर प्रियतम के बिना उसके जीवन में विष घुल गया है –

''भूतल तैं पतल, पतलहूँ तै भूतल में,
तलफति ऐसी वह काहूँ न सुहायो है।
घूमति छकी-सी उझकी-सी होति बार बार,
चितवति चकी तन मदन तपायो है।
कोटि उपचार किये कामिनी सु जीवै क्यों हूँ,
सुधि ना सखी की ऐसी मन ले छिपायो है।
लाल हरैं हँसि आये वकौ हाल ऐसो भयो,
हाला में हलाय मानौ हालाहल पायो है।।'' (तदेव, पृ. 428)

नायिका-भेद के अन्तर्गत खण्डिता नायिका का वर्णन समस्त आचार्यों ने किया है। आचार्य भानुदत्त ने खण्डिता नायिका को परिभाषित करते हुए लिखा है- 'अन्योपभोगचिह्नितः प्रातरागच्छति पतिर्यस्याः सा खण्डिता।' (आचार्य भानुदत्त : रसमंजरी, पृ. 102), अर्थात् परस्त्री सम्भोग-चिह्न से युक्त होकर प्रात:काल जिस नायिका के पास उसका पति आये उसे खण्डिता कहते हैं। खण्डिता नायिका के दो भेद हैं- 1. धीरा और 2. अधीरा। खण्डिता नायिका के भग्न हृदय के सुन्दर आरेखन रीतिकालीन कवियों ने किया है। महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' ने धीरा खण्डिता नायिका का सुन्दर चित्रण किया है। परस्त्री से केलि-क्रीड़ा करके प्रातः काल घर लौटे नायक के प्रति नायिका की मूक वेदना प्रस्तुत छन्द में प्रस्फुटित हुई है -

''सोये हैं स्यामा के संग निशा सुख
प्रात भये पिय आजहिं आवै।
भाल पैं जावक ओठनि काजर,
छाती नषच्छवि की छवि छावै।
ऊँचे उसाँस भरैं न सयाँनप,
लोइन माँहिं कछू न लषावै।
झारी भरी मुष धोवत पानी सौं
ता महिं आँसू की धार दुरावै। (महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' : लखपति - श्रृंगार : उद्धृत - डॉ. निर्मला आसनाणी; तदेव, पृ. 429)

प्रवत्स्यत्प्रेयसी अथवा प्रवत्स्यत्पतिका नायिका का वर्णन भी रीतिकवियों का प्रिय विषय रहा है। आचार्य भानुदत्त लिखते हैं- 'यस्याः पतिरग्रमिक्षणे देशान्तरं यास्यत्येव सा प्रवत्स्यत्पतिका।'(आचार्य भानुदत्त : रसमंजरी, पृ. 152)

महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' ने प्रवत्स्यत्प्रेयसी नायिका के उदाहरण का वर्णन करते हुए लिखा है-

कान सुनत कहूँ आँखि ना उघारति है,
भोजन की चाह न हज़ार बार कहिए।
काल्हि चले कान्ह आज देखी याकी क्रिसताई,
ह्वैगो कहा हाल विरहागि झाल दहिए।
पलकिन पौंन तैं उड़ैगी यह जानि सखी,
आसपास बैठी अनिमेध द्रिग रहिए।
अतन भई है सो जतन करि ढूँढै जौ तौ,
मैं न नैन देखिवे की उपनैन चाहिए।

(महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' : लखपति-श्रृंगार : उद्धृत-
डॉ. निर्मला आसनाणी, तदेव, पृ. 429-430 एवं 497)

नायिका की विरह-वेदना असह्य है। प्रियतम के बिना वह बौरा-सी गयी है। उसका शरीर सूखकर पीला पड़ गया है। अन्त में वह बिना खान-पान के मरण की शरण को ही स्वीकार करती है। नायिका अपने भाग्य को कोसते हुए कहती है कि जीवनाधार पति के विदेश चले जाने के बाद भी ये पापी प्राण क्यों नहीं चले जाते ?-

एक घरी पलिका पर बैठति,
दूजी घरी उठि बाहिर दौरै।
काहूँ की रौकी रहे नहिं गेह में,
देषति नाहिंन ठौर कुठौरै।
पाँन सौं पीरो पर्यो तन पी बिनु,
बोलति है मुष ओरहिं औरै।
जा छिन तै द्रिग देषे हैं कान्ह के
ता छिन तें द्रिग में बिष घोरै। (तदेव, पृ. 431)

महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' की पुस्तक 'सदाशिव विवाह' एक खण्डकाव्य है। शिव-विवाह गुजराती कवियों का प्रिय काव्य-विषय रहा है। इसी परम्परा में 'सदाशिव विवाह' को भी देखा जा सकता है। महाराव लखपति सिंह काव्य-कला के साथ-साथ नृत्य एवं संगीत में भी पारंगत थे। इसलिए उन्होंने नटेश शिव की कथा को मृदंग के बोलों से एवं ताण्डव नृत्य के पदक्षेपों से भी गूँथा है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा-

डौं डौं डौं डौं डिम डिम डौं डौं,
डम डम डुह डिमि शब्द बजैया।
खौं खौं खौं खौं खिम खिम खौं खौं,
खिमि खिमि खां खिमि साज सजैया।
ग्रां ग्रां ग्रां ग्रां ध्रिन ध्रिन,
ग्रांझा झिम झिम जु मचैया।
नां नां नां नां गिड़दिकी नां नां ग्डिदिकि,
नां नां ग्डिदिकि नाच नचैया। (तदेव, पृ. 117 - 118)

'सदाशिव विवाह' की रचना विक्रमाब्द 1817 के श्रावण मास में हुई है। इसका उल्लेख स्वयं महाराव लखपति सिंह ने ग्रन्थान्त में किया है -

संवत् ठारह सैं उपरि, सत्रह वर्ष सुजान।
सावन सित पाँचै सुकर, पूरन ग्रन्थ समान।

(महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' : सदाशिव - विवाह, छं.सं. 379 : डॉ. कान्तिलाल शाह : महाराव लखपति सिंह - व्यक्तित्व एवं कृतित्व पृ. 74, अप्रकाशित)

'सुरतरंगिणी' संज्ञक ग्रन्थ महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' के संगीतशास्त्र विषयक ज्ञान का उत्कृष्ट उदाहरण है। गुजराती साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् गोविन्द गिल्लाभाई एवं राजस्थानी साहित्य के पण्डित अगरचन्द नाहटा ने 'सुरतरंगिणी' को निर्विवाद रूप से महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' रचित बतलाया है। 'मृदंग मोहरा' एवं 'रागसागर' भी संगीत विषयक ग्रन्थ हैं। 'लखपति-मान-मंजरी' की प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। 'लखपति-भक्ति-विलास' की खोज डॉ. कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने की थी। उनको इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि भुज के 'आयना महल' में प्राप्त हुई थी, परन्तु आजकल इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि बड़ौदा विश्वविद्यालय के हस्तलिखित ग्रन्थ विभाग में सुरक्षित है। इसका प्रणयन विक्रमाब्द 1816 में हुआ था। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त डॉ. निर्मला एन. आसनाणी ने 'सुन्दर-श्रृंगार की रसदीपिका टीका' और 'बिहारी सतसई की रसविलास टीका' का रचयिता भी महाराव लखपति सिंह को ही स्वीकार

किया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त श्री दुलेराय काराणी ने अपनी पुस्तक 'कच्छानां सन्तो अने कविओ' में और डॉ. कान्तिलाल शाह ने अपने शोधप्रबन्ध में महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' के कच्छी भाषा में लिखे छन्दों का भी उल्लेख किया है।

महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' एक ऐसे प्रतापी शासक थे, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ललित कलाओं के उत्कर्ष में व्यतीत किया। ब्रजभूमि से दो हजार किलोमीटर दूर कच्छ की खाड़ी में ब्रजभाषा की काव्यशाला स्थापित करके महाराव लखपति सिंह ने उस समय में कविता को रोज़गारोन्मुखी बनाया था। इस काव्यशाला से काव्य-रचना की शिक्षा प्राप्त करके अनेक कवियों ने काव्य-रचना में महारत प्राप्त किया। स्वयं डॉ. निर्मला आसनाणी ने अपने शोधप्रबन्ध 'कच्छ की ब्रजभाषा पाठशाला : उससे सम्बद्ध कवियों का कृतित्व' में परिशिष्ट - 2 'पाठशाला से सम्बद्ध कवि-नाम-सूची' के अन्तर्गत 325 कवियों को सूचीबद्ध किया है। तत्त्वत: महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' कच्छ के राजसिंहासन पर आरूढ़ होनेवाले लोकप्रिय शासक रहे हैं। महाराव लखपति सिंह की उदारता, कलाप्रियता एवं रसिकता कच्छ के शासकों में अद्वितीय है। विविध कलाओं में पारंगत एवं कवि-कलावन्तों के संरक्षक महाराव लखपति सिंह जी की यशचन्द्रिका से हिन्दी-ब्रजी का काव्याकाश शताब्दियों तक आप्लावित रहेगा। राजकवि कुँवर कुशल कृत 'लखपति-जससिन्धु' के छन्दों के माध्यम से महाराव लखपति सिंह 'लखधीर' की यशोगाथा जन-जन का कण्ठहार बनी रहेगी -

दानी सीखैं दान, भोग सीखैं आय यहाँ,
जोगी जन जोगिन के सीखत हैं मेव जू।
ग्यानी सीखैं ग्यान, कवि कविताई सीखैं या पै,
पण्डित सुपण्डिताई सीखैं करि सेव जू।
रागी सीखैं राग औ रसिक रसिकाई सीखैं,
सिपाई सिपाईगीरी सीखैं अहिमेव जू।
कुँवरेस हुन्नरी तैं सीखत हैं हुन्नर कौं,
और सबै कीय लखधीर गुरुदेव जू।

(कुँवर कुशल : लखपति - जससिन्धु : उद्धृत -
डॉ. निर्मल आसनाणी : तदेव, पृ. 82)

सन्दर्भ (Reference)

1. राज्ञा तेन स्वविषय चित्र सन्ताप शान्तये।
वर्धमाना अविच्छिन्ना स्थापिता: बहुलाकला।।
परिकल्प्य पाठशाला सद्ब्रज वाचं प्रचारयाभास।
स्वयं मध्यगीष्ट चात स्तुवन्ति सद्ब्रज गिरस्त मद्यायि।।
- पण्डित ज्येष्ठानन्द मुकुन्दजी : कच्छमहोदय, श्लोक संख्या 54-55

2. 'कच्छदेश के महाराव श्री देशलजी के ईस्वी सन् 1707 में एक कुमार जन्मा। उसका नाम लखपति सिंह रखा गया। .... वह जब 34 वर्ष के भये तब उनके बाप की हयाती में आप ईस्वी सन् 1741 में गद्दी पर बैठे।' - गोविन्द गिल्लाभाई : भाषा कविन के टूँक जीवन-चरित्रो

3. (क) महाकुँवर-सी लच्छिमी, देसल-सौं यदुमान।
लाजाषंम लखधीर सौ, सुत गौड़सौ सुजान।
- कुँवर कुशल: लखपत-मंजरी-मान-माला

(ख) Bombay Gazetteer, volume & VI, Page 246
(ग) राम सिंह राठौर : कच्छनुं संस्कृति दर्शन, पृ. 57

4. सुघर रानियैं जदपि शुभ, बरनी लछिन बतीस।
तदपि लखपती के परम, पढ़ि गायिनि पच्चीस।।
– कुंवर कुशल : लखपत जससिन्धु

5. रतन जोम आछी खनी ककू कान्ति को राशि।
धरा इन्दु लषधीर कै पासा चारि खबासि।
– कुंवर कुशल : लखपत जससिन्धु

(क) '.... और हिन्दुस्तानी एक नायकन गायन कला में महा प्रवीण थी। उन्होंने घर में रख ली थी। उन्हीं की और हिन्दी गवैये की सहायता से सुरतरंगिणी, मृदंग मोहरा, रससागर आदिक ग्रन्थ बनाये हैं......।'
– गोविन्द गिल्लाभाई : भाषा कविन के टूँक जीवन चरित्रो

(ख) रूप सची विधि विधि रची, जीवा पी कौ जीय।
मिलि मृदंग जा अंगुरिन, भयो रंग रमनीय।
– कुंवर कुशल : लखपत जससिन्धु

6. (क) तप जप अनेक सुभीता सहित
ध्यान सदाशिव को धर्यौ
पातिक पजारि सब पिण्ड के,
कुन्दन तैं उज्ज्वल कर्यौ।
तिहि समय ध्यान थिर चित कियो
बैभव साहिब को दुरग।
तजि पाप आप नृप लखपति
सुमन सिधायो सुभ सरग।
– कुंवर कुशल : लखपति सिंह स्वर्ग प्राप्ति समय

(ख) एहि श्रवण सामले, राउ चित हरि मझि राखे।
गीता कथे ग्यान, भेद अरजण जे भाखे।
दान हेम अस दिया, किया ब्रह्मभोज किते।
दान भोग गौदान गज आदि बन्दी गाये।
सहि राज काज बिध सारियाँ,
एहि हित हर चरणै पगो।
भ्रम रन्ध्र तजै देह भुजपति,
लखपति सरग मारग लगो।
– अमर सिंह बारौट: रा लखपतिना मरसिया

7. संवत् अठारह सत्तर, जेठ सुद पंचम रव जुत।
लाखा राउ संग जले, सती पनरह झाले सत।
– अमर सिंह बारौट : रा लखपतिना मरसिया

8. (क) L- F- Rushbrook Williams : The Black Hills- Kutch in History and Legend: A Study in Indian Local Loyalties, Page 148

(ख) डॉ. कान्तिलाल शाह : महाराव लखपति सिंह जी-व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 41 (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध) : उद्धृत-डॉ. निर्मला आसनाणी : कच्छ की ब्रजभाषा पाठशाला- उससे सम्बद्ध कवियों का कृतित्व, पृ. 67

9. (क) '..........यह महाशय ई. सन् 1817 (यहाँ गोविन्द गिल्लाभाई ने भूल से विक्रमाब्द के स्थान पर ईस्वी सन् लिख दिया है) में स्वर्गवासी भये तब उन्हीं के साथ 16 रानियाँ सती हो जर्ली।' - गोविन्द गिल्लाभाई : भाषा कविन के टूँक जीवन चरित्रो

(ख) दुलेराय काराणी : कच्छ कलाधर, भाग - 2, पृ. 435

10. (क) '.........राव लखपति सिंह जी खुद भी कवि थे। उन्होंने लखपति-श्रृंगार, लखपति-मान-मंजरी, सुरतरंगिणी, मृदंग मोहरा, रागसागर आदिक ग्रन्थ बनाये हैं .... यह कविता में अपना नाम लखधीर लिखते थे।' - गोविन्द गिल्लाभाई : भाषा कविन के टूँक जीवन चरित्रो

(ख) 'it was here that Maharao Lakho composed the poems which are still read-" & L- F- Rushbrook Williams: The Black Hills- Kutch in History and Legend: A Study in Indian Local Loyalties] Page 141

(ग) दुलेराय काराणी : कच्छनां सन्तो अने कविओ, भाग-1, पृ. 315

11. करमी लाखो कुँवर कहायो।
भुजपत भुजरौ भार भलायो।
विचषण लषण बत्रीस बड़ाई।
चवदह विद्या कन्ह चतुराई।
पिंगल रूप अनेक अनोपम।
गण प्रस्तारन सट डढ़ सिंहगम।
तरह मरकती मरे पताषा।
भेद वेद समझण षट भाषा।
- हमीरजी रतनुं : लखपति पिंगल

12. महाराव लखपति हुतै, जबहिं कुमार पद।
तब पढ़वै पर-प्रान्त बढ़ी प्रिय गुन हद।
कनक कुशल विद्यानिधान मरुधरा निवासी।
ह्याँ बुलाइ दै मान भूप राजा गुनरासी।
तिन अग्र आप अभ्यास करि 'रेहा' ग्राम बक्सीस में।
दीनों सुदान देसल तनय, तुम धावत अब लौं हमें।।
- जीवन कुशल : अरज पत्रिका

भरतपुर नरेशों का हिंदी-अवदान

- डॉ. किरन पाल सिंह

परतंत्र भारत में छोटी-बड़ी पाँच सौ से अधिक देसी रियासतें थीं, जिनमें से उत्तर भारत की पटियाला, कपूरथला, जींद, भरतपुर, बल्लभगढ़, धौलपुर, कुचेसर, साहनपुर आदि अनेक रियासतों पर जाट शासकों का अधिकार था। ध्यातव्य है कि इनमें भरतपुर रियासत दिल्ली, आगरा और आमेर के मध्य स्थित होने के कारण अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही। अपने शौर्य-पराक्रम और सामरिक सूझबूझ के कारण यहाँ के शासकों ने कभी मुगलों, मराठों और अंग्रेजों से हार नहीं मानी। जब पूरे देश पर अंग्रेजी-सरकार का आधिपत्य था तब भी भरतपुर का दुर्ग लोहागढ़, अजेय बना रहा। सन् 1947 में जब देश आज़ाद हुआ और भारत के गृहमंत्री सरदार वल्लभ भाई पटेल ने सभी देशी रियासतों को भारत संघ में एकीकरण का कार्य आरंभ किया, तो भरतपुर के देश-प्रेमी शासक महाराजा बृजेन्द्र सिंह ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और भरतपुर रियासत का भारत में विलय कर भारत का अभिन्न अंग बना दिया।

भरतपुर जाट राज्य के संस्थापक थे ठाकुर बदन सिंह (सन् 1723-1756)। सन् 1723 से लेकर सन् 1948 तक, 225 वर्ष की अवधि में भरतपुर के सिंहासन पर 13 महाराजा आरूढ़ हुए। विषय प्रतिपादन हेतु इनका उल्लेख करना अनिवार्य है जो निम्नवत् है -

1- ठाकुर बदन सिंह (सन् 1723-1756)
2- महाराजा सूरजमल (सन् 1756-1763)
3- महाराजा जवाहर सिंह (सन् 1764-1768)
4- महाराजा रतन सिंह (सन् 1768-1769)
5- महाराजा केहरी सिंह (सन् 1769-1776)
6- महाराजा रणजीत सिंह (सन् 1777-1805)
7- महाराजा रणधीर सिंह (सन् 1805-1823)
8- महाराजा बलदेव सिंह (सन् 1823-1825)
9- महाराजा बलवंत सिंह (सन् 1826-1853)
10- महाराजा यशवंत सिंह (सन् 1853-1893)
11- महाराजा रामसिंह (सन् 1893-1900)
12- महाराजा कृष्ण सिंह (सन् 1900-1929)
13- महाराजा बृजेंद्र सिंह (सन् 1929-1948)।

(द्र. रामवीर सिंह वर्मा : भरतपुर का इतिहास प्र0सं. 2012 पृ. 96)

यद्यपि यह सभी राजा हिंदी प्रेमी थे तथा राजा-प्रजा दोनों की मुख्य भाषा भी हिंदी ही थी, लेकिन इनमें से कुछ ने हिंदी कविताओं की रचना भी की थी और वे हैं - ठाकुर बदन सिंह, महाराजा बलदेव सिंह तथा महाराजा बलवंत सिंह - और यही हैं हमारे वर्णन-विवेचन के आधार। यहाँ इन्हीं तीनों महराजाओं की हिंदी-सेवाओं का क्रमवार उल्लेख करते हैं।

ठाकुर बदन सिंह : ठाकुर बदन सिंह की जन्म तिथि अज्ञात है। उनके पिता का नाम भाव सिंह था। पिता के देहांत के बाद उनका पालन-पोषण उनके चाचा ठाकुर चूरामन की देखरेख में हुआ, जिसे जाटों का प्रथम सरदार माना जाता है और भरतपुर राज्य का भावी संस्थापक भी। यहाँ एक दृष्टि ठाकुर चूरामन के

व्यक्तित्व पर डालना कुछ अप्रासंगिक न होगा। भरतपुर राज्य से संबंधित 'जाट शासकों का इतिहास' के लेखक श्री दामोदर लाल गर्ग के अनुसार ठाकुर चूरामन "बड़ा ही नीतिनिपुण, कुशल, साहसी, दिलेर योद्धा और गुरिल्ला युद्ध का प्रणेता, संगठनकर्त्ता, पारदर्शी, अवसरवादी, सफल मित्र और धूर्त राजनयिक था। यह किसान, मजदूर और जाट एकता का पक्षधर था तथा स्वदेश प्रेम, धर्म और संस्कृति की भावनाओं का प्रबल समर्थक रहा। इसके चरित्र में जाटों का अड़ियलपन, मराठों की चतुरता और राजनैतिक सूक्ष्म दूरदर्शिता का सुन्दर मिश्रण था। यह लड़ाकू और रणनीतिज्ञ था, इसलिए इसके लिए अवसर आने पर मित्र-शत्रु में कोई भेद नहीं था। साथ ही इसने कभी किसी पर विश्वास किया हो, ऐसा भी प्रतीत नहीं होता। .... यह भावुकता की नीति का भी पोषक नहीं रहा बल्कि क्रोध से दूर रहते हुए अपने मस्तक को सदैव ठंडा रखता था। इसकी वीरता और बुद्धिमता ने ही इस योग्य बनाया कि जाटों की विद्रोही शक्ति को इसने राज्यशक्ति में बदल दिया। सही मायने में इसे हम भावी भरतपुर राज्य का संस्थापक कह सकते हैं।"(जाट शासकों का इतिहास-दामोदर लाल गर्ग, प्र.स. 2009, पृ. 91)

यह सत्य है कि चूरामन वीर था, योग्य तथा कुशल शासक था और था एक निपुण राजनीतिज्ञ। उसने अपने राज्य-अधीन क्षेत्र का विस्तार भी किया और सैन्य-संगठन में वृद्धि भी, परंतु उसने अपने भतीजे ठाकुर बदन सिंह को न राज्य ही दिया और न ही कोई अधिकार जिसका कि वह हकदार था। परंतु बदनसिंह ने अपना अधिकार छोड़ा नहीं और जयपुर-नरेश सवाई मानसिंह की सहायता से वह राज्य प्राप्त कर लिया। ठाकुर बदन सिंह विनम्र स्वभाव तथा शिष्ट आचरण के व्यक्ति थे लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी सवाई जयसिंह के प्रति उनकी निष्ठा और स्वामिभक्ति। यही कारण था कि महाराजा ने उन्हें वह सब कुछ-भूमि तथा अधिकार-उपाधियाँ भी दे दीं जो ठाकुर चूरामन को प्राप्त थीं। इस प्रकार -"जयसिंह ने आगरा के सूबेदार होने की हैसियत से इसे नगाड़ा, निशान तथा पंचरंगे झंडे के उपयोग करने की भी अनुमति दे दी थी। आगरा नगर की कोतवाली का कार्य भी इसे सौंप दिया। इन सब बातों के अतिरिक्त 50-60 लाख रुपयों की आय के मथुरा, वृन्दावन, महावन, छाता और होडल परगनों की जागीरें भी ठाकुर बदन सिंह को प्रदान कर दीं। 19 जून, 1725 को सवाई जयसिंह ने ठाकुर बदनसिंह को उसके प्रशासनिक परगनों का प्रशासन स्थाई रूप से हस्तान्तरित कर दिया।" (द्र. वही, पृ. 98).

इस प्रकार बदनसिंह एक शासक के रूप में प्रतिष्ठापित हो गया। अपने आपको सुरक्षित तथा सम्मानित समझ अब उसने सैनिक आवास, हवेली, बाग बनवाए और बदनपुरा नामक गाँव बसाया। इसके साथ ही एक सुरक्षित स्थान दीर्घवती (डीग) को राजधानी के रूप में विकसित कर सभी सुविधाओं, किला, महल, बाग-बगीचे आदि से सम्पन्न किया। इस प्रकार डीग में जाट-राज्य की स्थापना कर बदन सिंह सिंहासनारूढ़ हुआ। इनकी मृत्यु सन् 1756 में हुई लेकिन उससे पहले ही इनके उत्तराधिकारी सुपुत्र सूरजमल ने भरतपुर शहर और किले का निर्माण (सन् 1743-1753) कराया जो बाद में भरतपुर नाम से जाटों की सुदृढ़-समृद्ध और शक्तिशाली रियासत के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

महाराज बदन सिंह एक वीर प्रतापी राजा थे। वे साहित्य और स्थापत्य कला-प्रेमी थे। जहाँ उन्होंने अनेक महल, दुर्ग, परकोटे बनवाए और उनके सौंदर्यकरण के लिए वाटिकाएँ बनावाई, वहीं स्वयं कवि तथा साहित्यानुरागी भी थे। वे अनेक कवियों के आश्रयदाता थे जिनमें 'रसपीयूषनिधि' के रचयिता प्रसिद्ध कवि सोमनाथ भी थे। बदनसिंहजी कवि सोमनाथ (कविताकाल सन् 1733-1753, हि.सा. कोश डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 657) को मथुरा से लाए थे, अपने दरबार में उसे उचित सम्मान दिया और युवराज सूरजमल की शिक्षा-दीक्षा का दायित्व भी उसे सौंप दिया। यद्यपि राजा बदन सिंह का अधिकांश समय यौद्धिक कार्यो में ही व्यतीत हुआ परंतु जब उनके सुयोग्य एवं प्रतापी पुत्र सूरजमल ने राज्य का कार्यभार संभाल लिया तो वे शांतिपूर्वक अपने डीग के किले में ही रहते हुए साहित्य-साधना में लगे रहे।

महाराज बदनसिंह ब्रजभाषा में कविता किया करते थे और इस हेतु उन्होंने साहित्यिक उपनाम रखा था 'बदन'। उनका कोई काव्य-ग्रंथ तो प्रकाश में नहीं आया है, कुछ फुटकर छंद ही मिलते हैं। उनके द्वारा रचित दो छंद उपलब्ध हुए हैं जो निम्नवत् दर्शनीय हैं -

"पूरब हरित बनिता कौ मुख पत्र तामें,
रचना रुचिर वरु मृगमद रंग की।
कैधों नभ सरवर फूल्यौ पुण्डरीक मध्य,
मेचक प्रभा है अलि अवली अभंग की।
और कवि सुकविन उपमा अनेक कहीं,
'बदन' बखानें एक इहि बिधि अंग की।
विरही निरखि याहि नाखन निसास याते,
दागिल दिखात मानों आरसी अनंग की।।

रस अनुकूल जामें धुनि झलक होहि,
खोय जतिभंग होय रुचिर सुछन्दगति।
जाकौ पान करत 'बदनकवि' सुधा कौन,
कामिनी अधर-मधु-माधुरीह ना रुचति।
जोपै ऐसे बचन की रचना कै जानै तौ,
निसंक सुख भूप कौ कवित्त कहि पै है पति।
बोलै तौ सभा में आइ आगे सुकविन के तू,
आपने कुलिश करेजेसों निकारै मति।।"

(द्र. स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ - डॉ. कुंजबिहारी लाल गुप्त, पृ. 21, प्रका. हिन्दी साहित्य समिति, भरतपुर, सवंत् 2017)

'बदन कवि' की कविता सरल है परंतु इसमें सरसता और सहजता भी है। कविता कलापूर्ण और अलंकृत भी, लेकिन अलंकार स्वाभाविकरूप में ही चित्रित हैं, सायास लादे हुए प्रतीत नहीं होते। भाषा माधुर्य गुण से युक्त है।

महाराजा बलदेवसिंह :- ठाकुर बदनसिंह के निधन के बाद उनका पुत्र सूरजमल भरतपुर के सिंहासन पर विराजमान हुआ। उसके शासनकाल में भरतपुर का चहुँमुखी विकास हुआ, न केवल राज्य का ही विस्तार हुआ वरन् साहित्यिक दृष्टि से भी। वे महाराजा स्वयं तो कवि नहीं थे परंतु उनके दरबार में अनेक हिंदी कवियों को सम्मान मिला। अत: हिंदी साहित्य भी खूब फूला फला। उनके बाद भरतपुर के आठवें शासक के रूप में महाराजा बलदेवसिंह सन् 1823 में सिंहासन पर विराजमान हुए जिन्हें माँ सरस्वती का आशीर्वाद प्राप्त था। बलदेवसिंहजी महाराजा रणजीतसिंह (सन् 1777-1805) के छोटे पुत्र थे और वे अपने बड़े भाई महाराजा रणधीरसिंह (सन् 1805-1823) के नि:संतान निधन के बाद राजगद्दी पर बैठे और केवल दो वर्ष ही शासन कर अपने अवयस्क पुत्र राजकुमार बलवंतसिंह को उत्तराधिकार सौंप दिए। उसके कुछ समय बाद ही 26 फरवरी सन् 1825 को उनका स्वर्गवास हो गया।

विद्याव्यसनी महाराज बलदेवसिंह उच्चकोटि के कवि थे। उन्हें आयु के अंतिम पड़ाव पर राजपाट मिला था, उससे पहले उन्हें काफी समय मिलता था जिसका सदुपयोग वे साहित्यकारों-कवियों की संगोष्ठियों तथा संगत में रहकर व्यतीत करते थे। अनेक कवियों को प्रश्रय मिला हुआ था उनके दरबार

में, जिनमें विभिन्न प्रांतों के कलाकार-विद्वान् रचनाकार भी रहते थे। वे 'चतुर छैल', 'चतुर प्रभु', 'चतुर' उपनामों से साहित्य-रचना किया करते थे। उनके कविता के कतिपय उद्धरण निम्नवत् दर्शनीय हैं -

ठुमरी

''पंचरँग पाग जरद वाकौ पटका साँवरे बदन पर मेरा मन अटक्या।
तोषे तोषे नैन भोंह रतनारी मृदु मुसक्यान चमक चित लटक्या।।
'चतुर छैल' मुकटि मनि राधे मदन फंद मेरा मन लपट्या।

उपरि प्रदर्शित पद्यांश तथा नीचे दिए गए राग ठुमरी काफी से उनकी भक्ति भावना की झलक मिलती है। उनका चित्त राधा-मोहन के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में नहीं रमता। देखिए -

ठुमरी राग काफी

मन मोहन मेरे जाल हो जी मही बाला एजी सेली बाला मेरे जाल।
छुपि छुपि के क्यों नाम धरत हौ वाही से लग्या मेरा ख्याल।।
'चतुर पीव' मैं हाल बे हाली अब हो ज्या परमाल।''

(द्र. स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ - डॉ. कुंजबिहारी लाल गुप्त, पृ. 68)

भक्ति में लीन होकर वे कभी प्रभु राम का स्मरण करते हैं तो कभी विघ्नविनाशक श्रीगणेश का, कभी बुद्धि प्रदायिनी माँ शारदे को कभी निर्मल ज्ञान प्रदाता अपने गुरु को शीश झुकाकर प्रणाम करते हैं। निम्न पद में उन्होंने 'बलदेव' तथा 'चतुर' दोनों नामों का उल्लेख किया है -

''मंगल मूल राम जस गायो।
कोटिक विघ्न विनासन के हित गनपत चरन मनायो।
सकल सुबुद्धि सिद्धि हेत कूं सारद को सिर नायो।
निर्मल ज्ञान उदय के कारन श्री गुरु रूप सुहायो।
हिये अधिक जलधार होन कों मन वांछित फल पायो।
रसिक समाज रंजन सुग्रंथ यह श्री लक्ष्मण मन भायो।
नृप बलदेव आपने जन के अंतर में प्रगटायो।
'चतुर' कृपा ही तें सुख संपति अति आनंद दरसायो।''

(डॉ. राजकुमारी कौल - राजस्थान के राजघरानों की हिन्दी-सेवा, पृ. 215-216)

कवि 'चतुर' को यह भली भाँति ज्ञात हो गया कि इस संसार में ईश्वर को छोड़कर अन्य कोई किसी का हितकारी-साथी नहीं है। मनुष्य का सच्चा साथी केवल परमात्मा ही है। शेष स्त्री, पुत्र तथा अन्य सगे-संबंधी सभी स्वार्थवश साथ जुड़े हैं। इसी को लक्ष्यकर वे मन को सावधान कर रहे हैं। -

हरि बिन कोई नहीं मन साथी।
सुत दारा अरु कुटुम कबीलौं झूठे सुजन संगाथी।।
बरज रही बरज्यौ, नहिं मानें घूमत है जस हाथी।
'चतुर' कहाय चेत जा प्यारे फिर न मिले रस साथी।।

(स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ - डॉ. कुंजबिहारी लाल गुप्त, पृ. 68)

भरतपुर शहर में श्रीलक्ष्मणजी का मंदिर है। महाराजा बलदेवसिंह श्रीलक्ष्मणजी के भक्त हैं जो

सभी पाखंडों-दुखों को समूल नष्ट कर भक्तों को सुख देने वाले हैं। शेषनाग के अवतार लक्ष्मणजी सांसारिक मायाजाल को काटनेवाले तथा बौद्धिक अज्ञानता को मिटानेवाले हैं। वे संसार-सागर से पार उतारने में सक्षम हैं। निम्न पद में यही कह रहे हैं कवि 'चतुर' -

भजौ मन लक्ष्मण राजकुमार।
सकल सकल सुखदायक भक्तन को अभिमत के दातार।
तेज प्रताप पुंज एक ही जग प्रगट सेस अवतार।
पाखन्डन के तुम समूह कौ दावानल सु पजार।
चारवाक से जन फोरन को इन्द्र बज्र सम त्यार।
बौध अंधकार मेटन को सूरन उदय उदार।
जैनी मत मतंग मर्दि को पंचानन बन सार।
माया वाद भुजंग भंगहित गरुड़ कहत निरधार।
विश्व शिरोमणि श्री रघुवर ने जब की ध्वनि आकार।
शरणागत के पाप-पुंज मेटन को गंगाधार।
ऐसे प्रभु को सेवन सर्वस और व्यथा ब्यौहार।
चित्त लग्या 'चतुर' ताही में तरि भव पारावार।
(डॉ. राजकुमारी कौल - राजस्थान के राजघरानों की हिन्दी-सेवा, पृ. 215)

और अंत में कवि आर्तभाव से ब्रजनाथ श्रीकृष्णजी को पुकारता है कि हे नाथ ! मैं तन-मन-धन, सब प्रकार से आपकी शरण में हूँ। आप दीन-दुखियों का उद्धार करनेवाले हैं। मैं महादीन हूँ अत: एक बार मेरी ओर अपनी कृपादृष्टि डालो। हे गिरिधारी ! दर्शन देकर मेरा उद्धार करो। देखिए उनका ये पद-

हे ब्रजनाथ नाथ अब तुम सों अरजी नेक विचारो।
कैसे बदन दुरावत हो हरि पिछली मीति सम्हारो।
नंद नंदन करुणारस भरि कै मेरी ओर निहारो।
तुम बिन जग में और न कोई महादीन मैं नाथ तिहारो।
तन मन धन औ नैन प्रान सौ मन मोहन घनस्याम हमारो।
'चतुर पीव' गिरवर गिरधारी दरस देहु अब मोहि उबारो।। (द्र. उपरिवत् पृ. 214)

महाराज बलदेवसिंहजी स्वयं तो एक कवि थे ही उनकी रानी अमृतकौर भी बड़ी सुंदर-सरस कविताएँ किया करती थीं। वे अपनी रचनाओं में 'चतुर सखी' 'चतुर प्रिया' नाम का प्रयोग करती थीं।

महाराजा बलवंत सिंह:- महाराजा बलदेवसिंह और महारानी अमृतकौर के सुपुत्र थे बलवंतसिंहजी। इनका जन्म सन् 1819 में हुआ था। जब ये 6 वर्ष के थे तभी सन् 1826 में इन्हें भरतपुर का शासक नियुक्त कर दिया गया था। इन्हें प्रारंभ में अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। वयस्क होने से पूर्व ही इन्होंने राजकार्यों को भली प्रकार समझ लिया था; अत: राज्य का प्रबंध कुशलतापूर्वक चलाने में इन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। ये न्यायप्रिय थे और अपनी प्रजा का पूरा ध्यान रखते थे, किसी पर कोई अत्याचार-अन्याय नहीं होने देते थे। महाराजा बलवंतसिंह ने 27 वर्ष राज किया। सन् 1853 में जिस समय इनका स्वर्गवास हुआ तब इनकी आयु 34 वर्ष की थी और इनके पुत्र यशवंतसिंह मात्र तीन वर्ष के थे।

महाराजा बलवंतसिंह को साहित्य-सेवा विरासत में मिली थी। माता-पिता दोनों ही साहित्यानुरागी थे तथा कविता करते थे जिसका प्रभाव इन पर पड़ा। ये एक उच्चकोटि के कवि थे और इनके दरबार में अनेक प्रसिद्ध कवियों को आश्रय मिला हुआ था। डॉ. कुंजबिहारी लाल गुप्त के

अनुसार–''शासन एवं सभी ललित कलाओं के विकास की दृष्टि से बलवंतसिंह का समय भरतपुर का स्वर्णयुग माना जाता है। राज्याश्रय एवं प्रोत्साहन पाकर इनके समय में काव्य कला ने विशेषरूप से प्रगति की। इसी काल में महाकवि रामलाल और कविवर रसानंद आदि जैसे प्रतिभाशाली कवि हुए, जिन्होंने अपने काव्य सौरभ से भरतपुर ही नहीं समस्त हिन्दी संसार को सुरभित कर दिया। यह अत्युक्ति न होगी कि जितने सत्कवि अकेले महाराज बलवंतसिंह के समय में हुए और जितने सुन्दर-सुन्दर काव्य इनके आश्रय में लिखे गये, उतने सत्कवि भरतपुर के समस्त नरेशों (महाराज बदनसिंह से लेकर महाराज ब्रजेन्द्रसिंह तक) के समय में नहीं हुए और न इतनी सुन्दर कृतियां ही लिखी गई।''(स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ - डॉ. कुंजबिहारी लाल गुप्त, पृ. 97).

इस कथन की सत्यता का प्रमाण है डॉ. राजकुमारी कौल रचित ग्रंथ 'राजस्थान के राजघरानों की हिंदी-सेवा,' जिसके पृष्ठ 272 पर विद्वान् लेखिका ने भरतपुर के प्रसिद्ध कवियों और उनकी कालजयी कृतियों का उल्लेख किया है, जिसे यथावत् यहाँ उद्धृत किया जा रहा है –

''(1) सोमनाथ : रसपीयूषनिधि, प्रहलाद चरित्र
(2) सूदन कवि : सुजान चरित्र
(3) चतुर्भुज दास मिश्र : अलंकार आभा
(4) रसानंद : संग्राम रत्नाकर''

महाराजा बलवंतसिंह के दरबारी आश्रित कवियों का उल्लेख तद्युगीन भरतपुर निवासी एक अन्य विख्यात कवि चम्पालाल 'मंजुल' ने किया है जिसमें उपरिवर्णित कवियों को भी दर्शाया गया है। देखिये उनकी निम्न कविता –

''सूरज सूरज उदित बहुरि बलवंत प्रभाकर।
कियौ कला - सर -सलिल जोतिमय परम प्रभाकर।
सोमनाथ, सूदन, ब्रजेश, बिरही रस नायक।
राम, रसानंद, कलित - कमल बिकसे सुखदायक।
सिंगार, बीर, बैराग्य-रज, अरुन पीत सित संचरत।
मधु-पान हेत 'मंजुल' रसिक, अजहु मधुप मृदु गुंजरत।।''
(स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ - डॉ. कुंजबिहारी लाल गुप्त, पृ. 97).

बलवंतसिंहजी केवल काव्य-रसिक ही नहीं थे, साहित्य-सर्जक भी थे। बड़ी ही सरस, सुंदर और भावपूर्ण कविता करते थे। अपनी कविताओं में 'हरिनाम' उपनाम का उपयोग करते थे। परंतु यह बड़े दुर्भाग्य की बात है हिंदी साहित्य इनकी रचनाओं से वंचित रह गया। महाराजा का कोई काव्यग्रंथ उपलब्ध नहीं है, केवल एक कवित्त ही प्राप्त हो सकता है जो अवलोकनार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है–

''कटित कटीले कोट बिकट मबासे तेरे,
कुंजर तुरंगन कौ पुंज हू बिलायगौ।
जोर धर्‌यौ जो घर करोरन कौ धन सों तौ,
धरनी में धसक पाताल ठहरायगौ।
ऐसौ समौ न पावै कवि 'हरनाम' कहि,
कृपन कपूत कूर पाछे पछितायगौ।
खाय लै खरच लै खेम कुसल सो ही तू तौ,
एक दिना अकेलौ पसारें हाथ जायगौ।।'' (द्र. उपरिवत्, पृ. 97)

मातृभाषा ब्रजभाषा थी कवि 'हरिनाम' की और तद्युगीन काव्यभाषा के रूप में भी इसी भाषा का प्रचलन था। अत: महाराजश्री ने भी अपनी कविता के लिए इसी को माध्यम बनाया। इनकी कविता जहाँ सरल है, सरस है वहीं सुसंस्कृत भी है। उद्धरण के रूप में दिए गए इस एक ही पद से यह ज्ञात हो जाता है कि कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार है और काव्योक्त-गुणों, अलंकारादि के सटीक प्रयोग में भी सक्षम है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भरतपुर राजवंश ने राष्ट्रभाषा हिंदी की विविध प्रकार से सेवा की है। ये महाराजा स्वयं तो साहित्य-साधना करते ही थे साथ ही अपने दरबार में अनेक कवियों - साहित्य सेवियों को आश्रय देकर उनको प्रोत्साहित भी करते थे। इनके 225 वर्ष के राजत्व काल मे हिंदी न केवल विकसित ही हुई, वरन् प्रचुर मात्रा में साहित्य भी रचा गया। इनके द्वारा दिए गए योगदान को न तो नकारा ही जा सकता है और न ही भुलाया जा सकता है।

प्यारी निकसी है खेलन तीज राधे निकसी है खेलन तीज।
पंचरंगी दामिन लावन सों ओढ़े दक्खिनी चीर।
कैसें कहू अंगिया की सोभा आभूषन की भीर।।
बेंदी में हीरा की झलकनि बेसरि लटकन धीर।
पायल तौ घायल करि डारें पिय सामल बलबीर।
'चतुर सखी' या बिधि सौं खेलौ वा जमुना पै तीज।।

महारानी अमृतकौर (भरतपुर)
महाराजा बलदेवसिंह की रानी

राजा गुरुदत्त सिंह 'भूपति' और उनकी 'सतसई'

डॉ. अनुज प्रताप सिंह

राजा गुरुदत्त सिंह 'भूपति' उत्तर प्रदेश, जनपद-सुल्तानपुर (अब अमेठी) में स्थित अमेठी राज्य के राजा और हिन्दी के उत्तर मध्यकाल या रीतिकाल के प्रमुख कवि थे। उनका बनवाया हुआ 'भूपति भवन' आज भी अमेठी-रामनगर में विद्यमान है-जिसमें उनके वंशज रहते हैं। वह एक प्रतापी राजा, कुशल योद्धा और आचार्य कवि थे। वह अमेठी के राजा हिम्मत सिंह 'महीपति ' के पुत्र थे। राजा हिम्मत सिंह स्वयं महाकवि थे तथा उनके दरबार में पिंगलाचार्य सुखदेव मिश्र और कालिदास त्रिवेदी, त्रिवेदीजी के पुत्र श्री उदयनाथ 'कविंद' पौत्र श्री दूलह कवि तथा हरिवंश मिश्र आदि अनेक कवि रहा करते थे। राजा हिम्मत सिंह कृत ''कविकुल तिलक प्रकाश'' एक अत्युत्तम लक्षण ग्रन्थ है।

राजा गुरुदत्त का अमेठी नरेश के रूप में 1741 ई. में राज्यारोहण हुआ। अमेठी का प्रथम दुर्ग देवीपाटन के समीप रायपुर में था और वहीं राजधानी थी। लगभग 260 वर्ष हुए राजा गुरुदत्त सिंह ने नवीन राजभवन बनवाकर रामनगर में राजधानी स्थापित की। वह स्वयं श्रृंगारी कवि और आश्रयदाता रहे। उनकी 6 रचनाओं के नाम मिलते हैं - 1- 'भूपति सतसई' 2-'भाषा भागवत' 3-'कण्ठाभरण', 4- सुरसर रत्नाकर 5-रसदीप, 6-'रस रत्नावली'। 'रस रत्नावली' संस्कृत भाषा में श्लोकबद्ध वैद्यक ग्रन्थ है। 'भूपति के पुत्र राजा लालमाधव सिंह ने इसको अब से 100 वर्ष पूर्व छपवा दिया है। 'हिन्दी विश्वकोष' में जिस रत्नावली के रचयिता का अन्य नाम लिखा है- वह इससे भिन्न है। इसके अन्त में लिखा है -''इति श्रीमद, राजागुरुदत्त सिंह कृत 'रत्नावली समाप्ता''। कण्ठाभरण और 'रस रत्नाकर' दोहों में है। संवत् 1934 वि. में प्रसिद्ध साहित्य सेवी स्वर्गीय शिवसिंह सेंगर ने अपने ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' में राजा गुरुदत्त सिंह 'भूपति' को महाकवि और कविकोविदों का कल्पवृक्ष लिखा है। दो कवित्तों का उदाहरण भी दिया है। मिश्र बन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' की भूमिका में लिखा है कि ''अमेठी के राजा गुरुदत्त सिंह ने उसी समय दोहों में परमोत्कृष्ट कविता की है।'' मिश्रबन्धु विनोद' के प्रथम भाग के इतिहास प्रकरण में लिखा है कि ''इनके दोहे बिहारी से बिल्कुल मिल जाते हैं।'' स्वतंत्र रूप से भी इनका महत्त्व है। द्वितीय भाग में राजा गुरुदत्त सिंह के वृत्तान्त में लिखा है - ''प्रत्येक विषय पर उन्होंने बहुत मनोरंजक और सच्ची कविता की है।'' सामाजिक गुणों का बहुत अधिक समावेश है। रूपक, उत्पेक्षा, उपमा, अन्योक्ति आदि अलंकारों की छटा सतसई में फैली हुई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में उनके लिए लिखा है। ''ये महाशय जैसे सहृदय और काव्य मर्मज्ञ थे वैसे ही कवियों का आदर-सम्मान करने वाले भी थे। क्षत्रियों की वीरता भी इनमें पूरी थी'' (पृ. 259, संस्करण -11) इतिहास मर्मज्ञ हिंदी सुधाकर रायबहादुर लाला सीताराम अवधवासी ने उनकी बड़ी प्रशंसा की है-''नवाब सआदत खाँ का प्रबल सामना करनेवाला अमेठी का राजा गुरुदत्त सिंह था-जिसकी वीरता का बखान उसके दरबार के कवि कवीन्द्र ने यों किया है'' -

''समर अमेठी के सरोष गुरुदत्त सिंह
सआदत की सेना समसेरन ते भानी है।

भनत 'कविन्द्र' काली हुलसी असीसन को,
सीसन को ईस की जमात हुलसानी है।
तहाँ एक जुग्गिनी सुमट खोपरी ले उड़ी;
सोनिन पियत ताकी उपमा बखानी है।
प्यालों ले चिनी को छकी जोवन तरंग मानो
रंग हेत पीवति मजीठ मुगलानी है।'' (अयोध्या का इतिहास पृ. 155)

विद्वानों की सर्व सम्मति से उनमें पाण्डित्य और शौर्य का अदभुत समन्वय था। उनमें मर्यादा कूट-कूटकर भरी थी। शृंगार रस भी मर्यादित है। उनका हर दोहा उनकी काव्य शक्ति का परिचायक है। 'सतसई' के दोहों में अश्लीलता न होकर सहृदयता है। शांतरस के भी दोहे हैं। हिन्दी के शृंगारी, रीतिकारों और सतसईकारों में 'भूपति' का विशेष स्थान है। उनमें न लफ्फाजी है न कल्पना की उड़ान और न अतिशयोक्ति का चमत्कार ही है। रीति साहित्य के मूक प्रतिपाद्य हैं रस, छन्द, अलंकार और नायक-नायिका भेद। छन्दों पर उनका कोई विशेष कार्य नहीं है, पर रस, अलंकार और नायक-नायिका भेद में अच्छी गति है। दोहा छन्द को उन्होंने विशेष महत्त्व दिया है। वैसे पिंगल शास्त्र पर कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं है। भाव, भाषा, छन्द के मर्मज्ञ 'भूपति' का स्थान हिन्दी साहित्य में सदा अमर रहेगा। राजपरिवार एवं हिन्दी साहित्य में उनके कवित्व की प्रतिष्ठा सदैव बनी रहेगी। देश के इतिहास और साहित्य में उनका स्थान प्रतिष्ठित है। राजवंशों में ऐसी प्रतिभा कम देखने को मिलती है। हिन्दी सेवी राजवंशों में अमेठी राजवंश का प्रमुख स्थान है-गायकवाड़, जयपुर, जोधपुर, ओरछा, दतिया, पन्ना, चरखारी, छत्तीसगढ़, कश्मीर, नेपाल, दरभंगा, काशी, अवध, कालाकाँकर, भिनगा, प्रतापगढ़, माण्डा, ग्वालियर, भरतपुर, कंतित, गोण्डा, मनकापुर आदि।

आज 'भूपति सतसई' एक अच्छे कलेवर में टीका सहित प्रकाशित है। इसका निर्माण काल दूसरे दोहे में लिखा हुआ है -

सत्रहसत एकानबे कातिक सुदि बुधवार।
ललित तृतीया में भयो सतसैया अवतार।।

अर्थात् सम्वत् 1791 में कार्तिक माह के शुक्लपक्ष तृतीया दिन बुधवार को सतसई (काव्य संग्रह) का अवतार हुआ। इसमें 103 विषयों पर 701 दोहे हैं। ग्रन्थारम्भ मंगलाचरण से होता है -

विघन विनासन है सदा गणपति को सुभनाम।
लोक लोक में धाम है लोक लोक में धाम।।

बिहारी सतसई की भाँति इसमें भी शृंगार के साथ-साथ भक्तिपरक दोहे भी हैं। सतसई के विषय इस प्रकार हैं - 1. मंगलाचरण, 2. ग्रन्थ निर्माण 3. ईश्वर वन्दना, 4. कवि परिचय 5. नायिका 6. नेत्र 7. नेत्र संलग्नता 8. बन बिहार 9. अज्ञात-यौवना 10. ज्ञात-यौवना, 11. चिबुक, 12. वेणी, 13. सपत्नी, 14. नासिका मुक्ता, 15. पायल, 16. अनवट, 17. हंसक, 18. उपवन, 19. केश, 20. अलक, 21. ताटंक, 22. कटि, 23. वेंदी, 24. सुकुमारता, 25. बावली, 26. सुषमा, 27. विरह निवेदन, 28. बाँसुरी, 29. उत्तर- प्रत्युत्तर, 30. हास्य, 31. हास्य रस, 32. नृत्य, 33. मेंहदी, 34. तड़ाग, 35. हिंडोला, 36. सुरत, 37. विपरीत, 38. सुरतांत, 39. संध्या, 40. अंधकार, 41. चन्द्रोदय, 42. प्रभात, 43. अनूढ़ा, 44. गुप्ता, 45. अभिलाषा, 46. विरह, 47. स्वप्नदर्शन, 48. संकल्पदशा, 49. पत्तिका, 50. आगतपतिका, 51. समीर, 52. गवाँरी, 53. वयस्संधि, 54. सज्जन, 55. दुर्जन, 56. प्रथम मिलन संकेत, 57. चोर महीचिनी, 58. लक्षिता, 59. परिहास, 60. चुरहेरिन दूती, 61. अन्योक्ति 62: मान 63. रंगरेजिनि दूती, 64. नटी, 65. ललाट,

66. उपपति, 67. नौमी, 68. मानीनायक, 69. नायकान्तन् भेद 70. मालिनि दूती, 71. जल- विहार, 72. रामजनी दूती 73. शरद ऋतु, 74. हेमंत ऋतु, 75. शिशिर ऋतु, 76. फाग, 77. बसंत ऋतु, 78. ग्रीष्म ऋतु 9.वर्षा ऋतु, 80. नखशिख, 81. हाव, 82. दूती, 83.चेटक, 84. धीरादि भेद, 85. नर्मसचिव वचन, 86. खंडिता, 87. स्वाधीनपतिका, 88. सखी वचन, 89. व्यंग्य वचन, 90. मानमोचन, 91. अनुशयाना, 92. संन्यासिनी दूती, 93. अभिसारिका, 94. उद्दीपन, 95. प्रेमगर्विता, 96. उदबुद्धा, 97. कलहान्तरिता, 98. बानी, 99. सात्विक, 100. इतिहास, 101. चिंता, 102. लोक शिक्षा, 103.शांतरस।

प्रारम्भ में कवि मोर मुकुट सिरपर धारण किये हुए गोपियों के साथ विहार करने वाले ब्रजनाथ कृष्ण की वन्दना करता है। कवि स्वयं अपने सम्बन्ध में लिखता है -

भूपति श्रीगुरुदत्त जू सकल सुखन की आस।
राधा-राधारमन के बरनत सदा विलास ।।7।।

ग्रन्थभाव नायिकाभेद और अलंकार-प्रयोग पर केन्द्रित है। रस तो शृंगार ही है। जहाँ भक्ति और उपदेश के दोहे हैं, वहाँ भी इसका प्रभाव बना हुआ है। अन्त में कवि ने शान्तरस की रचना की है। यमक, अनुप्रास और अन्योक्तियों की भरमार है। सौन्दर्य-निरूपण में ये सहायक हैं। कवि नेत्र-वर्णन में कहता है-

रच्यो कुरंग सुरंग दृग जान्यों विधि रस भंग।
वै कानन में करि दये ये कानन के संग ।।15।।

यहाँ सौन्दर्य-वर्णन के साथ-साथ यमक का चमत्कार भी है - दूती, नायिका की सराहना नायक से करती है - विधाता ने नायिका के नेत्रों को कुरंग (मृग) की तरह चंचल (मृगनयनी) बनाया और पुनः श्याम, श्वेत और रतनार जैसे सुन्दर रंगों से रंजित कर सुरंग बनाया तो विधाता को रसभंग होता हुआ जान पड़ा। इसलिए उन्होंने एक (कुरंग) को तो जंगल में कर दिया और दूसरे (सुंरग) को कानों के पास कर दिया। अन्य उदाहरण भी इसी कोटि के हैं। उपमा, रूपक, व्यतिरेक, अनुप्रास, उत्पेक्षा के माध्यम से भी कवि ने नेत्र-सौंन्दर्य-निरूपण किया है। रस, अलंकार और नायिकाभेद में कवि की मौलिक उद्भवनाएँ सराहनीय हैं (देखिए दोहा 16 से 31 तक)। कवि को नारी मनोविज्ञान की अद्भुत पहचान है। उत्कट काम-प्रसंगों में भी धैर्य, शील और लज्जा के भाव सुरक्षित हैं। विवशता अपनी जगह है और मर्यादा अपनी जगह। नायक-नायिका प्रसंग में श्रीकृष्ण को बार-बार याद किया गया है, वे आदर्श नायक हैं; भक्ति और शृंगार के केन्द्र हैं। रीतिकाल के नायक-नायिका भाव और प्रसंग में कृष्णगोपी या कृष्ण-राधा भाव और प्रसंग परम सहायक हैं। 200 वर्षो तक वे हिन्दी पर छाये रहे; उत्तरी भारत वृन्दावन बना रहा। ज्ञात-यौवना, अज्ञात-यौवना, प्रौढ़ा, दूती नायिकाएँ भी कृष्णाश्रय लेती हैं। कामुक वातावरण की चर्चा अधिक है, भक्ति तो बहाना है। यहाँ न भक्ति है न योग, बल्कि संयोग की उत्कट कामना और वियोग के विविध दुःख हैं। वियोग प्रायः प्रचलित दशाओं का विश्वसनीय चित्रण और वर्णन है, मरण की कोई घटना नहीं घटती, पर सम्भावनाएँ प्रकट की गयी हैं। यौवन के सुख और संकट दोनों महान् हैं। मन और शरीर की विविध दशाएँ अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। इनसे कोई परे नहीं रह पाता है। आस्थाजन्य भाव और सौन्दर्य बड़े विस्तार के साथ निरूपित हैं। इनसे सम्बद्ध सुन्दर चित्र भी बनाये जा सकते हैं। काव्य की चित्रोपमता अपना अलग से कलागत महत्त्व बनाती है। यौवन, कामुकता, आभूषण और सामन्ती परिवेश इसको बढ़ावा देते हैं। आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन के पर्याप्त चित्र बनते हैं। पूरी सतसई पर इस दृष्टि से काम किया जा सकता है। इसको सचित्र प्रस्तुत किया जा सकता है। आज इन दोहों पर ध्वनि और प्रकाश के कार्यक्रम भी चलाये जा सकते हैं, चलचित्र बनाये जा सकते हैं। इनसे नैसर्गिक, अलंकृत और आरोपित सौन्दर्य को दर्शाया जा

सकता है। कलाओं का भी रूप उतारा जा सकता है। शब्द-शक्तियों, रस-योजनाओं, छन्द विधानों, रागों और अनुरागों को अलंकृत रूप में देखा और सुना जा सकता है। नायिकाभेद को और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। इससे साहित्य और विज्ञान के सम्बन्ध भी दृढ़ होंगे।

सतसई में कृष्ण-प्रेम को केन्द्र माना गया है। उनका सब कुछ प्रेम का स्रोत है। उनकी बांसुरी के गुण, कर्म, स्वभाव और प्रभाव को बड़े विस्तार से कहा गया है। वह उद्दीपन विभाव का काम करती है। कृष्ण श्रृंगार-शिरोमणि हैं, रसराज हैं, गोपी बल्लभ, राधा सर्वस्व और रीतिकाल के नायक हैं। श्रृंगार की समस्त आचार संहिताओं का इसमें भी निरूपण किया गया है। अतिशयोक्तियों से बचने का प्रयास किया गया है। नैसर्गिकता को अधिक महत्त्व दिया गया है - नागरी स्त्रियाँ सौन्दर्य-वृद्धि के लिए कितने आभूषण आदि धारण करती हैं। गँवारी तो सामान्य-सी एक माला पहनती हैं और फिर भी सौन्दर्य-शिखर बन जाती है-कोई दूती नायक से कहती है-कुचों की शोभा के लिए नागरी स्त्रियाँ कितने ही आभूशण (तन पर) सजाती हैं, किन्तु गँवारी नायिका के सीपों की माला से युक्त ये वक्ष (कुच) शोभा के पहाड़ बन जाते हैं -

सजति रही सब नागरी कुछ भूषन छवि हेत।
सीपहार जुत उरज ये सीपहार दुति लेत।।329।।

बिहारी ने गाँव की नायिकाओं को महत्त्व नहीं दिया है। कवि उपदेश और भक्ति की ओर कुछ देर के लिए चला जाता है, परन्तु पुनः नायिका-वर्णन की ओर आ जाता है। यह परिवेश और परम्परा का प्रभाव है। उदाहरणों में भी यही बात है - फिर भी कवि निश्छलता, स्थायी प्रेम, सज्जनता, नैसर्गिकता, सत्संगति आदि को महत्त्व देता है; कोई श्रेष्ठ अनुभवी किसी व्यक्ति को सत्संगति की महिमा बता रहा है - संसार में सत्संगति से ही बड़ाई मिलती है। गंगा का सत्संग पाकर सभी नदियाँ प्रसन्नता से सिन्धु तक पहुँच जाती हैं। गंगा तो निश्चितरूप से सागर से मिली है, अन्य छोटी-बड़ी नदियाँ भी गंगा के साथ समुद्र तक पहुँच जाती हैं। इसलिए कुसंगति को छोड़कर सत्संगति करनी चाहिए -

होत बड़ाई जगत् में सत संगति को पाइ।
सुरसरि को मिलि सिंधु सब मिलै सिंधु सरसाइ।।376।।

अन्यत्र भी कहा गया है -
1. सत्संगति मृदु मंगल मूला'
2. सत्संगति : कथय किं न करोति पुंसाम्।
3. नाक बास बेसरि कह्यो वसि मुकतन को संग।
स्वयं कवि ने अनेक दोहों में इसकी महत्ता को कहा है (दे. दो. 377, 378, 379, 380, 381, 382, 383 आदि) अनेक किस्से-कहानियों और किंवदंतियों का भी उन्होंने सहारा लिया है। कुसंगति के प्रभाव को उसने अनेक ऐसे ही उदाहरणों से कहा है। (दे. दो. 394, 395, 396, 397 आदि) इसी प्रकार अन्योक्ति के माध्यम से कवि ने उपदेश के अनेक बिन्दुओं पर प्रकाश डाला है। नीति वचन भी कहे गये हैं। अच्छा सदा अच्छा रहता है और बुरा सदा बुरा - यह सब को सदा स्मरण रखना चाहिए। ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, सांसारिक चमत्कार, क्षणिक वैभव से भी बराबर दूर रहना चाहिए। इतनी हितोपदेश की बातें अन्य सतसइयों में दुर्लभ हैं।

एक शास्त्रीय परम्परा और समाज की चर्चा अधिक है। नायक, नायिका, सहेट, प्रेम, संयोग, वियोग और सौन्दर्य की चर्चा अधिक है। कहीं-कहीं उपदेश और नारी-दोष पर भी प्रकाश डाला गया है। बाह्याचार एवं आंगिक सौन्दर्य की बातें अधिक हैं। काम-क्रीड़ा, प्रेम-पीड़ा और आंगिक सौन्दर्य में डूबा

हुआ समाज है। मानिनी नायिका के साथ-साथ कवि ने मानी नायक का बड़ा स्वाभाविक चित्रण किया है। (दे. दो. 440, 441, 442) दूती नायक और नायिका के बीच तालमेल बैठाती रहती है। वह एक संयोजिका के रूप में है। सहेट और जलविहार के लिए दोनों को तैयार करती है। पानी में डुबकी लेकर मिलन की बात बड़े आकर्षक ढंग से कही गयी है। (दे. दो. 452) इसी प्रकार ऋतु-वर्णन में भी नायिका और नायक की विविध दशाओं का चित्रण है। ये उद्दीपन विभाव के रूप में अधिक चित्रित हैं। इनका स्वतंत्र एवं आश्रय-आलम्बन के रूप में नाममात्र का चित्रण है। इन ऋतुओं में कामदेव की विविध दशाओं का सुन्दर चित्रण है। अवध में प्रचलित बारहमासा का यहाँ प्रभाव है। नखशिख वर्णन भी है -

जलसाई ह्वै, तप किये रविसेवा सरसाइ।
बाल-चरण की तब जलज उपमा गाई जाइ।।511।।

क्रमश: सभी अंगों का चित्रण है। नख से केश तक का चित्रण है। (दे. दो. 511 से 531 तक) अभिसारिका प्रकरण में उसकी गन्ध की भी सुन्दर चर्चा है। (दे. दो. 602) वह चूरी से काम की नौबत बजाती हुई चलती है। वह ज्योतिपुंज की तरह चलती है। (दे. दो. 604)

ग्रन्थ के अन्तिम चरण में कवि ने इतिहास सन्दर्भों पर प्रकाश डाला है - ये सन्दर्भ राम-कृष्ण और पाण्डव कथा के हैं। यहाँ कृष्ण का उद्धारक रूप है न कि रसिक शिरोमणि का -

राज कहा घन राज चित जो मन श्री वृजराज।
उतरन को भवसिन्धु यह मुनि उपदेश जहाज।।670।।

थोड़ी लोक शिक्षा के बाद कवि शांतरस में जीवन-जगत् का उपसंहार निरूपित करता है। अन्य सतसईकारों ने ऐसा नहीं किया है। यहाँ कविमानस का अन्तिम विश्राम शांतरस में न कि श्रृंगार में। चर्चा श्रृंगार की अधिक है। मानसिक उपासना एवं चिंतन को श्रेष्ठ बताया गया है न कि तीर्थ और कर्मकाण्ड को-

''तीरथ चढ़ि मन भ्रमतु है मन तीरथ नहीं कोई।
यह मनमोहन तब बसैं जब मन मोहन होई।।681।।

पोथी पढ़ते-पढ़ते लोग मर जाते हैं, कोई उस परमतत्त्व को जान नहीं पाता, उसकी गति अगम्य है। जो निष्कपटी होता है - वही गोपाल को अपने में धारण कर सकता है। तंत्र, मंत्र, जादू-टोना से भी कुछ होने को नहीं है। हरिनाम ही जगजाल से पार कर सकता है -

यह भवसिन्धु अगाध अति गावत छन्द विसाल।
हरि तुव नाम जहाज लहि जात पार जग जाल।।687।।

श्रीकृष्ण में रमना उन्होंने सर्वोत्तम बताया है। बिना माया का परित्याग किये, कृष्ण या ईश्वर को नहीं पाया जा सकता है। यहाँ कवि ने नायिकाभेद, रस और अलंकार की बातों को अलग कर दिया है। एकमात्र मनमोहन को उपयोगी कहा है - हे कृष्ण! मेरी बुद्धि अत्यन्त थोड़ी है, आपका स्वरूप (सौन्दर्य) अनन्त और असीम है, मैं अल्पमति से उसका सम्यक् वर्णन कैसे कर सकता हूँ। सभी लोग अनेक प्रकार से उसका वर्णन करते हैं :- फिर भी उसे उसी रूप में (जैसा है) व्यक्त नहीं कर पाते -

मेरी है अति अलप मति क्योंकरि कहौं सरूप।
हरि-हरि भाँतिन सब कहत नहि पावत अनुरूप ।।601।।

उपसंहार : अमेठी के राजा गुरुदत्त सिंह 'भूपति' के वर्तमान् वंश से मैं 1977 ई. से जुड़ा हुआ हूँ; वह संस्कार अभी चला आ रहा है। आज भी यहाँ रीतिकाल का अच्छा साहित्य है। 'भूपति' राजा और आचार्य कवि के रूप में हिन्दी में सदा अमर रहेंगे। परम्परा की एक सशस्त्र कड़ी के रूप में बने रहेंगे। ऐसी बहुमुखी प्रतिभा के बहुत कम लोग होते हैं। भूपति के दरबार में कवियों का जमघट लगा रहता था। आपस में आदान-प्रदान होता रहता था। बहुत सूझ-बूझ से काव्य-रचना सम्पन्न है। रचनागत ईमानदारी सर्वत्र है।

देश की गुलामी और नमक हरामी इन,
दोनों कर लक्ष्मी देश-लक्ष्मी-सी छली गई।
आखिरी प्रणाम कर झाँसी को उसाँसी भर,
साथ कुछ सूरमों के एक थी अली गई।।
विप्र 'घनश्याम' हाँकते ही रहे बातें अरि,
ताकते ही रहे कहौ कौन-सी गली गई।
बैरियों की भीर थी, ओ हाथ-शमशीर थी,
यों चीरती फिरंगियों की तीर-सी चली गई।।

पं. घनश्यामदास पाण्डेय

काव्य कलारसिक महाराज रामसिंह

डॉ. रामनारायण शर्मा

भारत का मध्य क्षेत्र अपनी प्राचीनता के लिये अभिज्ञात है। यह शास्त्र एवं शस्त्र की भूमि रही। जहाँ कविता का उद्भव, उन्नयन व पोषण हुआ है। कविकुल गुरु महाकवि वाल्मीकि, व्याकरणाचार्य, पाणिनी एवं भाष्याचार्य महर्षि पतंजली ने काव्य-सूत्रों को निर्मित किया है, जिसके आधार पर जगनिक, तुलसी, केशव, पद्माकर, लोकनायक, ईसुरी, कविवर मैथलीशरण गुप्त के काव्य प्रणीत हुये, जिससे साहित्य के भंडार में समृद्धि हुई।

बुन्देलखण्ड एक ओर जहाँ साहित्य की काव्य-भूमि है तो दूसरी ओर रणभूमि की शौर्य-गाथाओं में कलम और तलवार का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है, जिनमें क्षेत्र व देश के महाराजाओं ने काव्य-सृजन किये हैं। इसमें श्रीकृष्ण के उद्धारक स्वरूप का भक्ति-रस काव्य देखने को मिलता है। रसिकोपासक महाराजाओं ने शक्ति-स्वरूपा ''राधा'' का मनभावन विविध रूपों का बखान कर आत्म-सुख अर्जित किया है। इन महाराजाओं में प्रमुख ओरछेश मधुकर शाह, उनके पुत्र रामशाह, इन्द्रजीत सिंह (धीरेन्द्र) विक्रमाजीत सिंह, डॉ.विश्वनाथ सिंह रीवा, छत्रसाल (पन्ना), रंजोत सिंह अजयगढ़, छत्रसिंह व रामसिंह नरवगढ़ का नाम साहित्य के इतिहास में परिगणित है। सम्प्रति आलेख में नरवरगढ़ के महाराजा रामसिंह की काव्य-साधना की चर्चा ही यहाँ सौद्देश्य है।

नरवर और नरवरगढ़ - ग्वालियर सम्भाग की सुन्दर उपत्यिका में अवस्थित नरवरगढ़ एक प्राचीन राज्य है। यह प्राचीनकाल में महाराज नल के राज्य की राजधानी के लिये विश्रुत है। इसलिये इसे ''नलपुर" भी कहा जाता है। महाभारत के ''नलोपाख्यान" के वन पर्व में यह प्रमाणित है। औरंगजेब नामा भाग-2 खण्ड-8 में दुर्ग का नाम नल दुर्ग कहा गया है। यहाँ नागराजाओं, तोमरों, कछवाहों, पड़िहारों, मुगलों व बुन्देलों का आधिपत्य रहा, किन्तु आज यह शिवपुरी (म0प्र0) जिले के अन्तर्गत आता है एवं महाराजा रामसिंह का उल्लेख शिवपुरी में 48 वें महाराजा के क्रम में देखने को मिलता है। (8 व 9) इससे नरवर के वैभव व प्रातिक सौंदर्य की जानकारी मिलती है जो रामसिंह की काव्यकला एवं रसिक-प्रियता के आधार हैं।

महाराजा रामसिंह :- महाराजा रामसिंह नरवरगढ़ का साहित्येतिहास में रामचन्द्र शुक्ल ने प्रकरण 2 में रीति ग्रंथकार कवि पृष्ठ 204 पर उल्लेख किया है। पं. गौरीशंकर द्विवेदी ने अपने बुन्देल-वैभव के पंचम खण्ड में लालकाल कवि वृन्दों में इनका नाम कमांक 139 पर दिया है। अतएव रीति-कालीन कवियों में महाराजा रामसिंह काव्यकारों में परिगणित हैं।

परिचय- महाराजा रामसिंह ने अपने ''युगल विलास'' के प्रारम्भिक छंद में परिचय इस प्रकार दिया है-

''नरवर नाथ छत्र सिंह सुत रामसिंह रुचिर बनायों ग्रंथ रसकै निवास है।
गाबें, जो गबायें, सुने प्रेम से सुहान वह ताके उर राधा मन मोहन कौ बास है।

सम्वत् अठारह बरस छत्तीसपुनि सुधि पांच गुरवार माघ मास है
रसिक उल्लास कर सुमति प्रकाश कर, नवल प्रगट भयो युगल विलास है।''

इस प्रकार महाराजा रामसिंह के जन्म आदि का विवरण स्पष्ट हो जाता है। आपका जन्म सं. 1800वि के लगभग नरवर महाराजा छात्रसिंह के पुत्र के रूप में हुआ जो स्वयं अच्छे कवि थे। इनका प्रमुख ग्रन्थ ''**मोहन नाम पचीसी**'' है जिसकी एक रचना इस प्रकार है –

''दीरघ तनु, धीरज भुजा, दीरघ पौरूष पाय।
कातर ह्वै बैठें सदर, बहु बलबन्त कहाय।।''

इस प्रकार महाराजा रामसिंह को काव्य अपने पिता की विरासत में मिला। इनका कविता काल सं. 1836वि. लगभग है। भाषा–ब्रजबुल (ब्रज और बुन्देली) है।

ग्रन्थ – हिन्दी साहित्य का इतिहास में रामचन्द्र शुक्ल जी ने इनके तीन ग्रंथों का उल्लेख किया है :–
(1) अलंकार दर्पण व रस निवास (सं. 1839वि.) तथा रस विनोद (सं. 1860वि.), किन्तु काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टो में इनके 6 ग्रन्थों का उल्लेख है (1) युगल विलास (2) मनमोहन भक्ति विलास (3) रस निवास (4) रस विनोद (5) रस शिरोमणि (6) सहस्रनाम चौपहि। रस–विनोद शुक्लजी की ग्रंथ सूची में भी है, किन्तु बाद की खोंजों पर अन्य ग्रंथ प्रकाश में आये। इतने बृहदकाय ग्रंथों का विवेचन इस आलेख में सम्भव नहीं है। अतएव महाराजा रामसिंह विरचित ग्रंथों का संक्षिप्त विमर्श ही यहाँ प्रस्तुत है।

(अ) जुगल विलास – (सं. 1836वि.) इसमें कुल 101 छंद हैं। इसमें विभिन्न रागों में राधा–कृष्ण का श्रृंगार वर्णित है। उदाहरण राग गौरी

छंदः ''सोहात मुकुट शीश कुंडल श्रवन सोहे, मुरली अधर धुनि मोहे त्रिभुवन कों।
लोचन रसाल वंक भृकुटी विशाल सोहै, बनमाला गरे हरें लेत मनकों।
रूप मन मोहन न चित ते बिसारो, बारौ, सुन्दर बदन पर कोटि मदन कों।
जगत निवास कीजे सुमति प्रकाश, मेरे उर में उलास है विशद विलास वर्णन को।।''
(खोज रिपोर्ट 6 किताब पृ. 360 सं 2027 खण्ड–11)

(ब) रस सिरोमणि– यह नायिका भेद ग्रंथ है उदाहरण प्रस्तुत है –

छद 1– ''अंग सलोने भरे रुचि सोने से कोमल गोरे लिये अरुणाई।
नैन छकय सिरसी लोचन सौ निबसे मुस्क्यानि सुधाशी मिठाई।
नैन सुनयन सरसे सुख श्रोणनि है मनमोहन चारु निकाई।
होत निहारत नैन अघानि लसे छबि ओरहि और सुहाई।''
(खोज रिपोर्ट 1226 पृ 577)

छंद 2– ''गलबाहि किये संग नागर कय रस की बतियाँ करके हंसिबो।
मुख ऊपर लटें लटकी अतिसुन्दर नैन बड़े भृकुटी करिबों।
शुभ कानन कुंडल सोहत है अरु औंठन मुरली लसबो।
मन मोहन, मोहन मोहि सदा ऐहि बानिक सो करिये बसबो।''
(छ्द 339 पृ. 674–75)

(स) सहस्र चौपहि – इस में 74 छदों में श्रीकृष्ण के एक हजार नाम हैं –

छंद– ''वन्दन नंद नन्दन कौ करिके। उनके चरन कमल उर धरि के।
करो एकहि नाम हजार। भक्तन कौ सुख सौ सुखद अपार।
अद्‌भुत, उत्तम, अखिलाधार अमल उग्रहा अमिताचार।
अमर अमोघ अनुन्तम उत्तम अम्बुज आदित्येश उरूकम।
(खोज रिपोर्ट पृ.– 676)

अन्य (द) छंद– ''सोहत सुन्दर श्याम सिर मुकुट मनोहर जोर।
मनो नीलमनि सेल पर नाचत राजत मोर।
दमकन लागी दामिनी, करन लगे घन रोर।
बोलत भांती कोयलें, बोलत भाते मोर।''

इस प्रकार रीति काव्य के कवियों में महाराजा रामसिंह नरवरगढ़ का अपना एक विशेष स्थान है। इनके समग्र काव्य की खोज कर काशी नागरी प्रचारणी सभा का योगदान स्तुत्य है। किन्तु अभी भी महाराजा रामसिंह के काव्य की आगे खोज आवश्यक है जिससे उनके काव्य कला रस निधि के योगदान से हिन्दी साहित्य की समृद्धि हो सके।

संदर्भ सूत्र –

1. नागरी प्रचारिणी सभा– खोजी दस्तावेज सं.पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र सं. 2015 (विवरण 1941, 42 व 43)
2. वरिष्ठ साहित्यकार अन्वेषक उदय शंकर दुबे
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ. रामचन्द्र शुक्ल पृ. 204
4. बुन्देल वैभव गौरीशंकर द्विवेदी
5. नरवरगढ ऐतिहासिक आलेख डॉ. के.पी. त्रिपाठी पृ. 25 (बुन्देली बसंत पत्रिका) छतरपुर म.प्र. 2002 अंक
6. शिवपुरी जिला का गजेटियर
7. बुन्देलखण्ड का साहित्यिक इतिहास – मोतीलाल त्रिपाठी अशांत पृ.185
8. बुन्देल वैभव (पंचम खण्ड) क्रम 83
9. वहीं क्रम 75 छत्रसिंह
10. बुन्देलखण्ड का साहित्यिक इतिहास मोतीलाल त्रिपाठी (छत्रसिंह) अशांत पृ. 175.

राजकुमार महेरामण सिंह कृत 'प्रवीण सागर'

डॉ. जशवंतभाई डी. पंड्या

अहिन्दी भाषी प्रदेश गुजरात में हिंदी के प्रमुख रचनाकारों में नरसिंह महेता, हेमचंद्राचार्य, दयाराम, प्राणनाथ ब्रह्मानंद, प्रेमानंद, मुक्तानन्द, प्रीतम, भोजो, आनन्दघन, खबहाउदीन बाजन, काजी महमूद दरियाई, राजा अमरसिंह, मानसिंह, महेरामण सिंह, नर्मद, दलपतराय, मीरा से लेकर आज तक करीबन तीन सौ से अधिक साहित्यकारों ने हिन्दी के विकास में सराहनीय विशेष योगदान दिया है।

गुजरात प्रमुख हिंदी-ग्रंथों में 'प्रवीण सागर' अत्यंत लोकप्रिय रचना रही है। इसमें राजकुमार सागर और राजकुमारी प्रवीण की काल्पनिक प्रेम-कथा वर्णित है। यह बृहद प्रबंध महाकाव्योचित गरिमा से मंडित प्रेमाख्यानक काव्य है।

महेरामणसिंह कृत 'प्रवीण सागर' को हम शुद्ध भारतीय प्रेमाख्यानकों की परंपरा में रख सकते हैं। इस कृति की कथा काल्पनिक है। इसमें शिव-शाप के द्वारा शिवगणों का पृथ्वी पर जन्म तथा शापमुक्त होने तक उनका लोक व्यवहार वर्णित है। नायक-नायिका में प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा प्रेम हुआ तथा गुण-श्रवण के द्वारा उसकी वृद्धि हुई। अभिशप्त होने के कारण उनके मार्ग में अनेक विघ्न आए और उनका विवाह नहीं हो सका। अंत में शिव-शाप से मुक्त होने पर उनका मिलन हुआ और वे विमानों में बैठकर शिवलोक को चले गए। इस प्रकार इस काव्य-कथानक में ऐहिक तथा पारलौकिक तत्त्वों का समन्वय है। रूपमंजरी, पुहुपावली, मधु-मालती, प्रेमलता आदि प्रेमाख्यानों में भी पारलौकिक प्रेम-कथा को लिया गया है। इस प्रेमाख्यान की कुछ विशेषताएँ भी हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि यह प्रसंग कवि की निजी प्रेम-कहानी है। आप-बीती कहने के साथ-साथ कवि का ध्यान विविध कलाओं एवं शास्त्रों का सारांश प्रस्तुत करने की ओर भी रहा है। रीतिकालीन पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति इसमें पर्यात मात्रा में है। अलंकार, छंद एवं भाषाओं का वैविध्य भी इस ग्रंथ में देखते ही बनता है। अत: भारतीय प्रेमाख्यानकों की परंपरा में मान लेने पर भी इसे एक विशिष्ट प्रकार का प्रेमाख्यान मानना होगा।

कवि-परिचय : राजकोट के जाड़ेजा राजकुमार महेरामणसिंह का नाम गुजरात के हिंदी कवियों में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। आज भी उनकी रचनाएँ कच्छ, काठियावाड़ और गुजरात के भाट-चारणों को कंठस्थ याद हैं और उन्हें प्रस्तुत करने में वे एक प्रकार के गौरव का अनुभव करते हैं।

राजकुमार महेरामणसिंह का जन्म संवत् 1816 में और मृत्यु संवत् 1852 में हुई। ये अपने पिता के राज्यकाल में ही चल बसे और गद्दी पर नहीं बैठ पाए। इन्होंने अपने छ: मित्रों की सहायता से संवत् 1838 की श्रावण सुदी पंचमी, मंगलवार को प्रवीणसागर नाम के एक बृहत् हिन्दी-ग्रंथ की रचना प्रारंभ की -

> संवत् अष्टादक्ष परजत, तीस आठसाला बरतंत।
> सावन सुद्धि पंचमि कुजवार, कियो ग्रंथ को मंगलवार।। - लहर 1 छंद 17

इस ग्रंथ का साधारण-सा उल्लेख मिश्रबंधुओं ने अपने ग्रंथ मिश्रबंधु-विनोद के दूसरे और तीसरे भाग में किया है। दूसरे भाग में वह लिखते हैं - विवरण - राजकोट-निवासी। यह ग्रंथ पूर्ण होने के पहले ही

आपकी मृत्यु हो गई। अत: संवत् 1945 में गोविंद गिल्लाभाई ने इसे पूर्ण किया। इस ग्रंथ की रचना राजकुमार महेरामणसिंह जी ने अपने छ: मित्रों की सहायता से की थी। इस बात की पुष्टि निम्नलिखित छंद से भी होती है –

मित्र सात मिल के रच्यो, प्रवीन सागर ग्रंथ।
तिनमें दरसायो भली प्रेम-नेम को पंथ।। – लहर 84, छंद-14

इस सात में से एक तो महेरामणसिंह स्वयं थे। शेष छ: मित्र कौन थे, इस संबंध में कोई प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। जनश्रुति के आधार पर इन छ: मित्रों के नाम ये हैं –

1. देवदान कवि – राजकोट के साधु और कवि
2. जैसी लांगवदरो-राजकोट के दरबार का दशोदी चारण
3. जीवन विजय पूज- कवि
4. पुरोहित अदागरजी – विनोदी
5. लालजी सुनार – उत्तर भारत के निवासी संगीतज्ञ
6. शेख रहीम – सिंध-निवासी घोड़ों का सौदागर, उर्दू-फ़ारसी का जानकार।

इन सात मित्रों के अतिरिक्त इस ग्रंथ की रचना में लींबडी की राजकुमारी सुजानबा का भी हाथ माना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि जिन छंदों में सागर को संबोधित किया गया है, वह सुजानबा के रचे हुए हैं। साथ ही इस ग्रंथ की रचना में गुजराती भाषा के सुप्रसिद्ध कवि दलपतराम डाह्याभाई और गोविंद पिल्लाभाई का भी हाथ है। इन दोनों महानुभावों ने अलग-अलग इस अपूर्व ग्रंथ का सचीट संपादन किया है और अंतिम 12 लहरों (सर्गों) में जहाँ कहीं आवश्यकता हुई है, अपने-अपने ढंग से मौलिक रचनाएँ करके इस अपूर्ण ग्रंथ को पूरा किया है।

'प्रवीण सागर' की कथा : 'प्रवीण सागर' की कहानी संक्षेप में यह है –

एक बार भगवान् शंकर की आज्ञा से कैलास में शिवरात्रि के दिन एक महोत्सव हुआ, जिसमें भाग लेने के लिये देवता, यक्ष, किन्नर, गंधर्व इत्यादि एकत्रित हुए। विचित्रानंद-नामक एक शिवगण अपनी पत्नी चित्रकला के प्रेम में रत होने के कारण इस अवसर पर शिवजी की सेवा में उपस्थित न हो सका। विकाटनंद नामक एक कुटिल शिवगण ने विचित्रानंद तथा उसकी पत्नी की इस लापरवाही की ओर शिवजी का ध्यान आकर्षित किया। शिवजी ने कुपित होकर कामासक्त दंपति को शाप दिया। परिणामस्वरूप दीर्घकाल तक विरह-दु:ख सहने के लिये दोनों को मृत्युलोक में जन्म लेना पड़ा। शिवगण विचित्रानंद के साथ उनके छ: अंतरंग मित्रों ने भी मृत्युलोक में जन्म लिया, और चित्रकला के साथ उसकी सखी पुष्पावती भी शिवलोक छोड़कर पृथ्वी पर जन्मी।

विचित्रानंद का जन्म नेहनगर के राजा प्रदीप के घर हुआ और चित्रकला का जन्म मंछापुरी के राजा नीतिपाल के यहाँ। इस जन्म में विचित्रानंद का नाम सागर और चित्रकला का नाम प्रवीण रखा गया। राजकुमार सागर अत्यंत सुंदर और सर्वगुणों से संपन्न था। काव्य, संगीत, चित्र आदि कलाओं में यह अत्यंत प्रवीण था और आखेट, युद्ध आदि पुरुषोचित कार्यों में भी वह निपुण था। इसी प्रकार राजकुमारी प्रवीण भी अलौकिक सौंदर्य और गुणों से संपन्न थी। ललित कलाओं का उसे तलस्पर्शी ज्ञान था। संगीत और काव्य में वह साक्षात् सरस्वती थी। इन दोनों की कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी। राजकुमारी के रूप-गुण की चर्चा सुनकर सिंध देश के क्रूबाद-नाम नगर के तणेज-नामक राजा ने अपने पुत्र रंगराव की

सगाई का संदेश प्रवीण के पिता के पास भेजा। घर और वर दोनों अच्छे हैं, यह समझकर प्रवीण के पिता ने यह संबंध स्वीकार कर लिया और प्रवीण की सगाई रंगराव के साथ हो गई।

राजकुमार सागर शिकार खेलने का बड़ा शौकीन था। एक बार वह खूब सज-धजकर अपने इष्ट-मित्रों तथा सेना के साथ शिकार खेलने निकला। मंछापुरी के राजा नीतिपाल ने समझा, कोई दुश्मन दल-बल-सहित राज्य पर चढ़ आया है, इसलिए वह भी अपनी सेना लेकर मुकाबले पर आया। पर शीघ्र ही उसकी शंका दूर हो गई और वह राजकुमार को मान-सम्मान के साथ मंछापुरी ले गया। मंछापुरी में राजकुमार ने राजकुमारी प्रवीण को राजमहल के झरोखे में चिक की ओट में खड़े देखा और उसके अलौकिक रूप पर मुग्ध हो गया। राजकुमारी भी हाथी के हौदे पर बैठे वीर और पराक्रमी राजकुमार का सौंदर्य देखकर मोहित हो गई। कुछ समय मंछापुरी में बिताकर राजकुमार अपने साथियों के साथ अपने देश नेहनगर चला गया।

कुछ समय पश्चात् मारवाड़ के मुदितपुर नामक नगर के राजा संग्रामसेन की कन्या से सागर का विवाह हो गया। नई रानी के साथ हास-विलास में कुछ ही समय बीता था कि एक दिन कुछ गाने-बजानेवाली पातुरियाँ नेहनगर में आईं। राजकुमार सागर के सामने उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन किया, और अंत में प्रवीण के बनाए हुए पद गाए –

> ''प्रेम वान दे गयो, न जाने किते गयी,
> सू पंथी मन ले गयो, झरोखे दूर लाय के।''

इन पदों को सुनकर सागर की सोई हुई स्मृतियाँ जाग उठीं। उसी क्षण से वह प्रवीण की याद में पागल-से रहने लगे। यह देखकर उनके मित्रों ने उन्हें राजकुमारी को पत्र लिखने की सलाह दी। मित्रों की सलाह से राजकुमार ने प्रवीण को एक प्रेम-पत्र लिखा और इस पत्र को गुप्तरूप से पहुँचाने का काम उन्होंने अपने अंतरंग मित्र कवि भारतीनंद को सौंपा। भारतीनंद मंछापुरी गए और एक सन्यासी का वेश बनाकर वहाँ रहने लगे। संयोग से उनका परिचय राजकुमारी प्रवीण की सखी कुसुमावली से हो गया। यह परिचय शनैः शनैः प्रेम में परिणत हो गया। भारतीनंद ने कुसुमावली के द्वारा सागर का पत्र-प्रवीण तक पहुँचा दिया। सागर का पत्र पढ़कर प्रवीण मूर्च्छित हो गई। एक तरफ कुल की मर्यादा और लोक-लाज थी, दूसरी तरफ था प्रेम। प्रवीण के हृदय में बहुत समय तक द्वंद्व चलता रहा। अंत में विजय प्रेम की ही हुई। उसने शिव-मंदिर में जाकर आजीवन कुँआरी रहने का 'कौमार्य व्रत' लिया और किसी अन्य पुरुष का ध्यान न करके सदा सागर के प्रेम में रत रहने का निश्चय किया। इस प्रकार भावी जीवन के प्रति निर्णय करके अंत में प्रवीण ने प्रत्युतर में सागर को आँसुओं से भीगा पत्र लिखा।

उत्तर पाकर सागर को प्रवीण से मिलने की उत्कंठा हुई। इसने एक हकीम का वेश बनाया और प्रवीण से मिलने के लिये चल पड़ा। अपने आयुर्वेद के ज्ञान से राज्य के अधिकारियों को प्रभावित करके उसने जैसे-तैसे अंत:पुर में प्रवेश पा लिया और प्रवीण से भेंट की। सागर से मिलकर प्रवीण की दशा सुधर गई। यह देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसने बहुत मान-सम्मान के साथ वैद्यराज को विदा किया।

इस क्षणिक मिलन के पश्चात् राजकुमार और प्रवीण का मन फिर चिर-वियोग के भय से भीत हो उठा। उधर भारतीनंद और कुसुमावली भी एक दूसरे से मिलने के लिये व्याकुल थे। अत: काफी सोच-विचार के बाद नेहनगर और मंछापुरी की सीमा पर नैनतरंग गाँव में राजकुमार सागर ने एक शिव-मंदिर की स्थापना की। शिव-मंदिर के उपलक्ष में एक बड़ा समारोह किया गया, जिसमें मंछापुरी के राजा नीतिपाल को भी सपरिवार आमंत्रित किया गया। इस युक्ति का आशय समझकर प्रवीण और कुसुमावली निश्चित दिन शिव-मंदिर में पहुँची। सागर और भारतीनंद मंदिर में सिद्धों का वेश बनाकर पहले से ही बैठ गए थे। इसलिए एक बार फिर इन प्रेमिकाओं का मिलन हो सका। सागर और प्रवीण अब

एक दूसरे के इतने निकट आ गए थे कि एक क्षण का वियोग भी उन्हें असह्य प्रतीत होता था। समय को व्यतीत करने के लिए वे सदा एक दूसरे को लंबे काव्यात्मक पत्र लिखा करते थे। इन पत्रों में विविध ऋतुओं का और विरह-विह्वल प्रेमियों की मनोदशा पर उनके प्रभावों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन है।

एक पत्र में प्रवीण ने लिखा कि वह अपनी सखियों के साथ द्वारका की यात्रा के लिये जानेवाली है। सूचना पाकर राजकुमार सागर भी अपने अंतरंग मित्रों के साथ द्वारका के एक मंदिर में व्रजराज गोसाई के नाम से जा विराजे। प्रवीण और कुसुमावली अपनी सखियों के साथ दर्शन करने के बहाने मंदिर में आई। दीक्षा देने के बहाने व्रजराज गोसाई (सागर) ने राजकुमारी को निकट बुलाकर मनचीती बातचीत की। भारतीनंद और कुसुमावली का भी मिलन हुआ।

इस क्षणिक मिलन और फिर चिरवियोग के कारण राजकुमार के मन को सदा क्लेश होता रहता। इस बार इष्ट-साधना के निमित्त वे अपने मित्रों के साथ जोगी होकर घर से निकल पड़े और मंछापुरी में अलख जगाते हुए बद्रिकाश्रम की ओर चले गए। सागर का यह रूप देखकर राजकुमारी को भी बड़ा दुःख हुआ, उसने भी कीमती वस्त्र और आभूषण त्याग दिए और जोगन का वेश धारण करके रहने लगी।

बद्रिकाश्रम में राजकुमार की भेंट प्रभानाथ सिद्ध से हुई। सात मित्रों की दृढ़निष्ठा से प्रसन्न होकर उन्होंने उन्हें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, घटचक्र, कुंभक, महामुद्रा-समाधि और शिव-भक्ति की विधि बताई। आदेशानुसार इन मित्रों के हृदय में ऐहिकता एवं पारलौकिकता का समन्वय होता आया। रूपमंजरी, पुहुपावली, मधुमालती, प्रेमलता आदि आख्यानों में पारलौकिक प्रेम की कथा है। प्रस्तुत प्रेमाख्यान में भी शिव-शाप के द्वारा शिवगणों के पृथ्वी पर जन्म लेने और शापमुक्त होकर शिव-लोक चले जाने का जो प्रसंग है, वह प्रेमाख्यानों की परंपरागत प्रवृत्ति का ही परिचायक है।

'प्रवीण सागर' महाकाव्योचित गरिमा से मंडित एक भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य है। इसका नायक दैवी गुणों से संपन्न, क्षत्रियकुलोत्पन्न राजकुमार है। काव्य का अंगी रस श्रृंगार है। शेष रसों की भी काव्य में सुंदर अवतारणा हुई है। कथानक यद्यपि पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा परंपरा-सम्मत नहीं है, पर वह दैवी गुणों से संपन्न एक राजकुमार और राजकुमारी की प्रेम-कथा से संबंधित है और उसमें अलौकिक तत्त्वों का समावेश है। ग्रंथ के प्रारंभ में परंपरागत मंगलाचरण तथा गणपति, शारदा, शिव, ब्रह्मा, राधा-कृष्ण आदि देवी-देवताओं की स्तुतियाँ हैं तथा ग्रंथ, धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का देनेवाला है।

इस 84 सर्गो के बृहद् प्रबंध काव्य कृति में प्रातः मध्याह्न, संध्या, रात्रि, दिवस, वन, पर्वत, सागर, यज्ञ, मृगया, सैन्य आक्रमण, युद्ध, स्वर्ग, षड्ऋतु, संयोग, वियोग, विवाह आदि का सविस्तार वर्णन है। इन महाकाव्योचित एवं परंपरागत वर्ण्यविषयों के अतिरिक्त यह ग्रंथ ज्योतिष, राजनीति, आयुर्वेद, काव्यशास्त्र, संगीतशास्त्र, नाट्यशास्त्र, अलंकार शास्त्र, छंदशास्त्र, नायक-नायिका-भेद, शकुनास्त्र, सामुद्रिकाशास्त्र तथा अष्टांग योगादि शास्त्र के ज्ञान-विज्ञान का अतुलित भंडार है। निम्नलिखित छंदों का प्रयोग विशेषरूप से किया गया है - दोहा, चोपाई, सोरठा, कवित्त, गाया, पद्धरी, मुक्तदाम, छपाय, सवैया, झूलना, नोटक मालती, मनहरण, भुजंगप्रयात, तोमर, नराच, उपजाति, हाकलि और चामर। इनके अतिरिक्त - हनुफाल, मधुभार, चंद्रावली, विजोह, चंपकलाल, सरस्वती महालक्ष्मी, चंद्रिका, आभीर, निशिपलिका, दोधक, प्रिया आदि अप्रचलित छंदों का भी प्रयोग मिलता है।

प्रवीण को विरह में आकुल-व्याकुल देखकर उसकी गुर्जरी, कच्छी, महाराष्ट्री, मरूदेशी, माधुरी, यावनी, गर्वाजा आदि सहेलियों उसे अपनी-अपनी भाषा में सीख देती हैं। निस्संदेह सखियों की ये उक्तियाँ कवि के बहुभाषा-भाषी होने की परिचायक हैं। गुर्जरी, महाराष्ट्री, यावनी और गीर्वाणा सखियों की उक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं -

गुर्जरी सखी उक्त – कवित्त

कहे गुजराती तारी पीड़ा को कलाती नथी ।
मनमाँ मुँझाती डीले दूबली देखाती छे ।
न्हाती न थी खाती न थी गुत मुखे गाती नथी,

(गुजराती सखी कहती है – तेरा दुःख समझ में नहीं आता। तू मन–ही–मन में घुल रही और पहले से क्षीण दिखाई पड़ती है। तू न नहाती है, न खाती है, न पहले की तरह गीत ही गाती है, ऐसा लगता है जैसे तूने तो न बोलने का प्रण कर लिया हो। पहले तू रायेण की जैसी लाल थी, लेकिन अब तू दिन–दिन सूखती जाती है। तेरी आँखें लाल हो रही हैं और तेरी छाती गरम है। बात क्या है ? हे प्रवीण ! तू तो बहुत सयानी है, तेरी गणना गुणियों में होती है, पर मुझे तो ऐसा लगता है कि तू पागलपन के चक्कर में फँस गई है।)

महाराष्ट्री सखी उक्त – कवित्त

प्रवीणे ! मी तुझे तोड, पाहुन साँमताँ आतौ,
कुठे गेली फार बरी, कान्ति तूझी कायाची ?
चाँगली मुलील आतां, काय असा रोग झाला,
आहे गति ही विचित्र ईश्वराची मायाची !

(हे प्रवीण ! मैं तेरा मुँह देखकर कहती हूँ कि तेरी काया की वह अत्यधिक कांति कहाँ विलीन हो गई ?हा दैव ! ऐसी सुंदर कुमारी को ऐसा रोग क्यों हो गया ? ईश्वर की माया विचित्र है ! वैद्य को आने दे और नाड़ी देखने दे, वह तुझे देखकर खाने की गोलियाँ देगा, जिससे तेरा रोग दूर हो जायगा और तू सुखी होगी। मैंने तुझे यह सच्ची बात कही है)

विविध भाषाओं और भाषा–शैलियों में रचित प्रस्तुत ग्रंथ में सर्वत्र अलंकार योजना और छंद–योजना का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। कैसा भी प्रसंग क्यों न हो, कवि ने अपनी छंद और अलंकार योजना के चमत्कार से प्रभावी बना दिया है। छंद–योजना में वह जिस तरह प्रसंगानुकूल भाषा–शैली को बदलता चलता है, वैसे ही वह छंदों का भी चुनाव करता है। शब्दालंकारों की छटा ग्रंथ में सर्वत्र देखने को मिलती है। ऋतु–वर्णन हो चाहे प्रकृति–वर्णन, मिलन की बेला हो चाहे वियोग की घड़ियाँ, शब्दालंकारों की सजावट और छंदों की छटा सर्वत्र विद्यमान है।

वसंत वर्णन – कवित्त

बकुल बसंत बेल, बारव बदाम बर,
बोलत बिहंग–बूंद बगन बन बन।
माधवी मधूर मल्ली मंजर महोर मंडि । (लहर 39, छंद–7)

(सोलह शृंगार करके, सोलह सखियों को साथ लेकर, मदिरा पीकर, सोलह सखियों को पिलाकर, शिव–पूजा के साधन रचकर, षोडश विधि से शिव–पूजा करके, सोलह मार्गो को पारकर सागर से मिलने आई। सोलह वर्ष की बालाओं की सोलहों कलाएँ प्रकाशित हैं। सोलह सखियों के मध्य में घूँघट काढ़े षोडशी चल रही है। सोलह मार्गो में होते शोर को सुनकर सोलह सखियाँ मार्ग बताकर सोलह मार्गो से चली गई।)

कवि का शब्दालंकारों के प्रति अत्यधिक मोह रहा है। ऋतु–वर्णन अथवा वियोग–वर्णन में भी कवि अपनी इस प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो पाया है।

'प्रवीण सागर' ग्रंथ में अनेक चित्रकाव्य भी हैं। इन काव्यों की रचना बड़ी श्रमसाध्य रही होगी। काव्य-रचना के अतिरिक्त इन्हें कुशल चित्रकारों ने चित्रों में सजाया भी है। महेरामणसिंह अपने समय के प्रभाव से अछूते नहीं रहे। छंद, अलंकार, नायिकाभेद, चित्रकाव्यादि रीतिकालीन काव्य-चातुर्य के मुख्य विषय रहे हैं। अपने समय की माँग के अनुरूप 'प्रवीण सागर' में भी इन सभी चीजों का समावेश किया गया है। 'प्रवीण सागर' में लगभग 100 चित्रकाव्य हैं जिनमें से गोमूत्र गति, अश्वगति, गज प्रबंध, नाग प्रबंध, मयूर प्रबंध, कटार प्रबंध, त्रिशूल प्रबंध, पद्य प्रबंध, चतुष्कोण प्रबंध, अष्टकोण प्रबंध, चक्र प्रबंध, स्वस्तिक प्रबंध, चौकी प्रबंध, चौसर प्रबंध आदि का प्रभावी चित्रण किया गया है।

'सूर बिना चक, बाग बिना पिक, बार बिना इक है झख जैसे,
हंस बिना सर, पंख बिना पर, पत्र बिना तरु राजत तैसे। (लहर 36, छंद 9)

'मौर की ध्यान लगी घन घोर से, डोर से ध्यान लगी नट की,
दीपक ध्यान पतंग लगी, पनिहारि की ध्यान लगी घर की। (लहर 36, छंद-22)

इन छंदों में सागर के मन की व्यथा व्यक्त हुई है। प्रेमिका के बिना प्रेमी की जो हालत होती है, उसी के भाँति-भाँति के उदाहरण देकर कवि ने यहाँ दिग्दर्शन कराया है। अब प्रवीण की बिरह - विह्वलता देखिए -

'डोलव बावरो ह्वैके भलो, कि भलो है बिझतन को धरबो:
ईश को शीष अरोप भलो, कि भलो जय भैरव को करबो । (लहर 71, छंद-26)

अँसुवन के नीर हुते मंजत शरीर नित्य,
बिरह की धूनी उरताप को बिसेखले।
नैन के कटोर कर माँगत दरस भिच्छा। (लहर 71, छंद-25)

'प्रवीण सागर' महाकाव्य ऐसी ही मार्मिक उक्तियों से भरा पड़ा है। कितने ही दोहे ऐसे हैं. जिनमें थोड़े में बहुत अधिक कहा गया है। कवि की वाणी जहाँ कहीं शब्दाडंबर के झंझट को झटककर आगे बढ़ी है, वहीं उसमें वास्तविक काव्य-सौंदर्य झलकने लगा है। कुछ उद्धरण देखिए -

भेद कुरान पुरान न भाषित, बेद कितेब बदन्त वृथा:
प्रोढ लहे सुग्रहे मन के मन, मूढ़ अरूझत गूढ़ गथा। (लहर 46, छंद- 14)

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि गुजरात-ख्यातिप्राप्त कवि राजकुमार महेरामणसिंह कृत प्रवीण सागर' ग्रंथ हिन्दी साहित्य में मूल्यवान-महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय ग्रंथ है।

चतुर्भुज श्याम सुन्दर मोय भावे।
गउवन से संग आवत वन में, बंसी मधुर बजावै।
मैं जल जमुना भरन जात ही, मोये देख मुसकावै।
मुंह चढ़ाय नचाय नेन का, तिरछी नीजर चलावै।
व्रंदावन की कुंज गलीन में, नित उठ धूम मचावै।
जामसुता को श्याम कहावे, मही माखण मीस आवै।।

- जामसुता प्रतापबाला (जन्म सन् 1834)
जामनगर के महाराजा रिड़मलजी की राजकुमारी,
जोधपुर महाराज तखतसिंह जी की रानी

कुँवर जगतसिंह का रचना-संसार

डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह 'संजय'

कुँवर जगत सिंह - ये भिनगा राज्य जिला बहराइच के ताल्लुकेदार ठाकुर दिग्विजय सिंह के पुत्र थे। सरयू नदी के उत्तरतट पर अवस्थित देउतहा, जिला गोंडा में रहा करते थे। इनका रचनाकाल सन् 1763-1820 ई. में है। नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज रिपोर्ट से कुँवर जगत सिंह के 12 ग्रन्थों का पता चला है।

1. अलंकार साठि दर्पण (1923/179A) : लगभग 200 अलंकार कहे गये हैं, जिनके हजारों भेदोपभेद हैं। इनमें से मम्मट ने 60 मुख्य अलंकार चुन लिये थे। मम्मट के आधार पर कुँवर जगत सिंह ने साठ अलंकारों का वर्णन 'अलंकार साठि दर्पण' में किया है-

सत सहस्त्र मथि साठि जे मम्मट लिये निकारि।
तिनै प्रगट भाषा करौं नाना शास्त्र विचारि ।। 25

(डॉ. किशोरीलाल गुप्त : सरोज - सर्वेक्षण, पृ. 296)

यह ग्रन्थ 'साहित्य सुधानिधि' के बाद की रचना है जिसका उल्लेख इसमें हुआ है -

कहे एक सै आठ जे अलंकार परिमान।
भरत सूत्र के मत समुझि अगनित भेद बखान।।
मम कृत साहित सुधानिधि कह्यो सबै तेहि माँहि।
अलंकार बासौं सबै जानि लेहु कवि नाह।। 26 (वही. पृ. 296)

'अलंकार साठि दर्पण' की रचना दोहा छन्द में की गयी है। इसमें कुल 124 दोहे हैं। इसकी पुष्पिका में इन्हें 'श्रीमन्महाराजकुमार बिसेन वंशावतंश दिग्विजयात्मज जगत कवि' कहा गया है। पुष्पिका से ही इसका रचनाकाल सं. 1864 (1807 ई.) ज्ञात होता है।

2. उत्तम मंजरी (1923/179O) : यह चार पन्ने का छोटा सा ग्रन्थ है। इसमें 'बिहारी सतसई' के चयनित अष्टादशदोहों की टीका की गयी है। यह 'साहित्य सुधानिधि' की परवर्ती रचना है। इसमें लक्षण 'साहित्य सुधानिधि' से दिये गये हैं और उदाहरण 'बिहारी सतसई' से -

अलंकार चुनि वनि सहित, दोष रहित रसखान।
सतसैया मथि कैं रच्यो उत्तम काव्य-प्रमान।। 27 (वही. पृ. 296)

3. चित्र मीमांसा (1909/127B, 1920/64C) : इसका अन्य नाम 'चित्र काव्य' है। यद्यपि आचार्य भरत आदि ने चित्र काव्य की चर्चा नहीं की है, पर व्यास के अनुसार, अन्य कवियों के आग्रह से कुँवर जगत सिंह ने इस ग्रन्थ की रचना की है -

चित्र काव्य भरतादि मत नहीं कियो परिमान।
तदापि व्यास मत समुझि कै करत पक्ष संज्ञान।।28 (वही. पृ. 296)

4. जगत प्रकाश (1923/179C) : इस ग्रन्थ में दोहों में नायक-नायिका का नखशिख-वर्णन किया गया है। यह 'रसमृगांक' के बाद की रचना है, क्योंकि इसमें 'रसमृगांक' का उल्लेख है। 'जगत-प्रकाश' की रचना विक्रमाब्द 1867 (1810 ई.) में हुई -

घर-तरु रस बसु ससी, कहि वितसर स्वंवार।
माधव सित सुख सप्तमी, लियो ग्रन्थ अवतार।।29 (वही. पृ. 296)

अर्थात् घर-तरु = कल्पतरु का घर = सिन्धु = 7 (क्षार सिन्धु, इक्षु सिन्धु, दक्षि सिन्धु, दुग्ध सिन्धु, मधु सिन्धु, मदिरा सिन्धु, घृत सिन्धु), रस = 6 (मीठा, खारा, चिरपिरा, कसैला, कड़वा, खट्टा), वसु = 8 (धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभास) ससि (शशि) = 1 अंकानां वामतो गति: सूत्रानुसार 1876 विक्रमाब्द के चैत्र मास (माधव मास) के शुक्ल पक्ष की सप्तमी तिथि सोमवार को 'जगत-प्रकाश' संज्ञक ग्रन्थ पूर्ण हुआ।

5. जगतविलास (1926/192A) : इसका अन्य नाम 'रसिकप्रिया का तिलक' (1923/179 H,I,J) है टीका गद्य में है।

6. नायिकादर्श (1923/179E) : इस ग्रन्थ में कुल 119 छन्द हैं, 1. छप्पय, 33 दोहे, 85 कवित्त (घनाक्षरी)। यह नखशिख वर्णन का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करनेवाला ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल सं. 1877 (1820 ई.) है-

संवत नग नग नाग ससि, ससिवासरसुभ चारु।
माधव सित तिथि पंचमी, लियो ग्रन्थ अवतारु।।30 (वही. पृ. 296)

अर्थात् नग = 7, नग = 7, नाग = 8, ससि = 11 'अंकानां वामतो गति: सुत्रानुसार 1877 विक्रमाब्द के माधव मास (चैत्र मास) के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि सोमवार को 'नायिकादर्श' संज्ञक पूर्ण हुआ। नागरी प्रचारिणी सभा काशी में सुरक्षित पाण्डुलिपि क्रमांक 1909/127C में 'नखशिख' नाम की एक खण्डित प्रति है, जिससे 59 छन्द हैं, जो 'नायिकादर्श' की ही अन्य प्रति है।

7. नक्ष शिख (1923/179D) : यह ऊपर वर्णित ग्रन्थ से पूर्णतया पृथक् है। इसमें रचनाकाल अंकित नहीं है। नायिका के अंगों के वर्णन के साथ-साथ राधाकृष्ण का मिलन भी इसमें वर्णित है। इसमें कवित्त-सवैये का प्रयोग हुआ है।

8. भारतीकण्ठाभरण (1923/179B, 1947/106K) : यह पिंगलग्रन्थ (छन्दशास्त्र) है। इसमें कुल 555 छन्द हैं -

पंचावन अरु पाँच सै, सकल छन्द परिमाण।
सेस मतो उर आनि कै, भाषा कियो विधान।।31 (वही. पृ. 296)

उपलब्ध प्रति का लिपिकाल विक्रमाब्द 1864 (1807 ई.) है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सम्भवत: इसी ग्रन्थ का उल्लेख 'छन्द श्रृंगार' नाम से किया है। 'भारतीकण्ठाभरण' में कुँवर जगत सिंह ने अपने वंश का भी वर्णन किया है। वत्स गोत्र में मयूर नामक कवि हुए हैं। उन्हीं मयूर के वंश में बिसेन हुए। बिसेनों ने मझौली (देवरिया) में राज किया। इसी वंश के एक राजकुमार ने गोंडा राज जीता। इस

राजकुमार का नाम प्रताप मल्ल था। 'भारतीकण्ठाभरण' में वर्णित गोंडा, भिनगा और देउतहा की बिसेन-वंशावली निम्नांकित है -
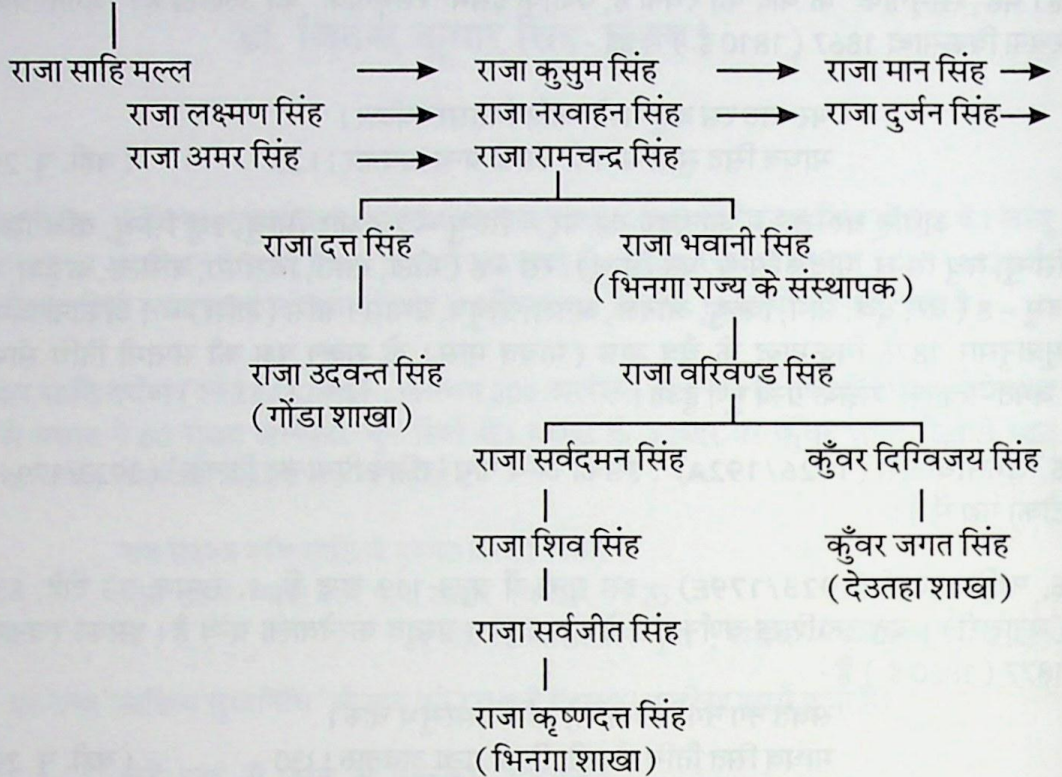
(द्र. डॉ. जितेन्द्रकुमार सिंह कृत्त राष्ट्रकवि बृजेश सिंह और महाराणा प्रताप-साहित्य, पृ. 111)

उपर्युक्त वंशावली में वर्णित देउतहा शाखा के नर-रत्न कुँवर जगत सिह बिसेन और भिनगा नरेश राजा शिव सिंह परस्पर चचेरे भाई हैं और दोनों ही श्रेष्ठ कवि हैं। कुँवर जगत सिंह ने लिखा है-

दत्त सिंह को बन्धु लगु नाम भवानी सिंह।
हाटककस्यप रिपु भये उदै आय नरसिंह।।
महा युद्ध कीने अमित जानत सब संसार।
बसि लीन्हें भिनगा सकल भाजे सब जनवार।।
भरतखण्ड मण्डन भयो ताको सुत वरिवण्ड।
जिन उजीर सों उन रचे अपने ही भुजदण्ड।।
शिव पुरान भाषा कियो जानत सब संसार।
सकल शास्त्र को देखि मत सुने पुरान अपार।।
ता सुत भो दिग्विजय सिंह सकल गुनन को खानि।
सबै महीपति भूमि के राखत जाकी आनि।।
जाहिर या संसार में जस विवेक को ऐन।
जाके गुन जानै गुनी जो देखै निज नैन।।

जगत सिंह ताको तनय वन्दि पिता के पाय।
पिंगल मत भाषा करत छमियो सब कविराय।।
(डॉ. किशोरीलाल गुप्त : तदेव, पृ. 298 : भारतीकण्ठाभरण, छन्द 23-29)

9. रत्नमंजरी कोष (1923/179L) : क से ह तक और क्ष तथा स्वरों के नाम संज्ञा का वर्णन है। इसमें कुल 61 दोहे हैं। सृजनकाल विक्रमाब्द 1863 (1806 ई.) है। यथा –

कहे राम रस नाग ससि कातिक दुतिया सेत।
जगत सिंह भाषा कियो जानि लेहु कवि हेतु।।
(डॉ. किशोरीलाल गुप्त : तदेव, पृ. 298 : रत्नमंजरी कोश, छन्द 60)

यह ग्रन्थ क्षपणक के अनुसार है –
छपनक मतो विचारि के निज मति के अनुसार।
रतन मंजरी नाम कहि रचे कवित करतार।। (वही, पृ. 298 छंद 57)

10. रसमृगांक (1923/179K): यह रस-विमर्शक कृति है। इसमें रस, अलंकार, नखशिख और नायिका भेद सभी कुछ हैं। इसमें केवल उदाहरण हैं, लक्षण नहीं। इसकी रचना आद्योपान्त दोहा छन्द में हुई है। इसका लिपिकाल विक्रमाब्द 1863 (1806 ई.) है।

11. रामचन्द्रचन्द्रिका (1923/179F) : इसका दूसरा नाम 'रामचन्द्रिका की चन्द्रिका' (1923/179G) है। कुँवर जगत सिंह ने इसमें महाकवि केशवदास कृत्त 'रामचन्द्रिका' के छन्दों का लक्षण दिया है–

केशव दास प्रकास करि, राम चन्द्रिका चारु।
वह छन्दनि जुत पावनी, रामचरित सुख सारु।।
छन्द ज्ञान जिनको नहीं, लिखि लिखि कियो अशुद्ध
ताते मैं लक्षन कियो, होइ न छन्द विरुद्ध।। (वही, पृ. 298-299)

12. साहित्यसुधानिधि (1909/127A, 1920/64AB, 1923/179MN, 1926/192B, 1947/106ख) : यह हिन्दी काव्यशास्त्र है। इसकी रचना बरवै छन्द में हुई है। इसमें कुल 636 छन्द (बरवै) हैं। ग्रन्थ 10 तरंग में विभक्त है –

कहे छ सै छत्ती सै बरवै बीनि।
दस तरंग कर जानी ग्रन्थ नवीन।। (वही, पृ. 299)

ग्रन्थ की रचना विक्रमाब्द 1858 (1801ई.) में हुई। यथा –

संवत वसु सर वसु ससि अरु गुरुवार।
शुक्ल पंचमी भादों रच्यो उदार।। (वही, पृ. 299)

प्रथम तरंग में काव्य-निरूपण-उत्तम-मध्यम-अधम, द्वितीय में शब्द-निरूपण, तृतीय में उत्तम और मध्यम गुणीभूत काव्य, चतुर्थ में कुटिला वृत्ति लक्षणा, पंचम में सरला वृत्ति अमिधा, षष्ट में अलंकार, सप्तम में गुण, अष्टम में भाव, नवम में रीति और दशम में काव्य-दोष वर्णित है। 'साहित्यसुधानिधि' में

कुँवर जगत सिंह ने दो बरवै में अपने निवास स्थान का परिचय दिया है –

श्री संरजू के उत्तर गोंड़ा ग्राम।
तेहि पुर बसत कवित गन आठों जाम।।
तिनि महँ एक अल्प कवि अति मति मन्द।
जगत सिंह सो बरनत बरवै छन्द।। (वही, पृ. 299)

ग्रन्थ संस्कृत के प्राचीन आचार्यो के आधार पर रचा गया है। यह 'रसमृगांक' का परवर्ती ग्रन्थ है। कुँवर जगत सिंह ने नायिकाभेद आदि को 'रसमृगांक' में देखने का निर्देश दिया है –

नायिकादि संचारी सात्विक हाव।
रसमृगांक ते जानौ सब कविराव।। (वही, पृ. 299)

ठाकुर शिवसिंह सेंगर के संग्रह ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' से कुँवर जगत सिंह के तीन सवैये और एक घनाक्षरी यहाँ उद्धत हैं –

मोर पखानि बनो सिर मौर, लसै अति केसरि भाल अनूप।
बार छुटे झलकैं स्रुति कुण्डल, माल गरे लखिए सुर भूप।
पीत पटौ तन अंगद बाहु, कलानिधि सों मुख है अनुरूप।
बेनु बजावत आवत साँझ, गये गड़ि नैन नलीनन रूप।।

सीस लसै ससि-सी नवरेख, खरी उपटी उर पै नग मालै।
पेंच खुले पगरी के बने, जनु गंग-तरंग बनी छबि जालैं।
जागत रैनहु के अलसाय, कियो विष-पान रहे दृग लालै।
देखहु अंग सखी हरि को, हर को धरि आवत रूप रसालै।।

तन सोहत नील दुकूल गरे, अरु त्यों मनि-माल विराजत सुन्दर।
बिबि कुण्डल कानन बीर जरे, अरु फैलि रहे कच आनन ऊपर।
नव रत्न भुजानि भरी-छबि-पुंज बने कल कंचन कंचन के कर।
बिन अंजन रंजन, कंजन-भंजन, खंजन-गंजन नैन मनोहर।।

हालि हालि हुलसि हुलसि हँसि हँसि देखै,
बदन बतीसी मीसी दीसी दिन-राति है।
जामा पायजामा सब सामा की चलावै कौन,
'जगत' जनानन की सीखी सब घात है।
लोक की न लाज परलोक को न करै काज,
ठाकुर कहाइ कहा चोरी उतपात है।
गनिका ज्यों डोली पर, बैठत खटोली पर,
चालु पर चोली पर बोली पर मात है।। (वही, पृ. 179-181)

कुँवर जगत सिंह कृत 'भारतीकण्ठाभरण' के दोहा सं. 26 से ज्ञात होता है कि कवि के पितामह राजा वरिवण्ड सिंह ने 'शिवपुराण' का भाषानुवाद किया है।

कुँवर जगत सिंह द्वारा रचित साहित्य हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। उनके इस योगदान को हिंदी जगत् कभी विस्मृत नहीं कर सकता।

महाराजा प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' वीर शिरोमणि से कवि शिरोमणि

डॉ. सुषमा शर्मा

इतिहास गौरवशाली है। इसके दो स्पष्ट कारण हैं, एक है साहित्य चेतना में चिंतन और दूसरा है नए अनुशीलन, नए अनुसंधान हैं, अत: शोधपरक दृष्टि होती है। समय परिवर्तनशील है अत: विकास का सोपान है। समय के साथ समाज चलता है समाज से साहित्य बनता है - एक युगबोध के साथ एक दिशाबोध के साथ। तभी कहा गया है अतीत वर्तमान् को प्रभावित करता ही है तो वर्तमान भी अतीत को। यहां पर बात आती है ऐसा हुआ-प्रमाण के साथ कहना होता है ऐसा ही है। इस प्रकार प्रमाण में सच्चाई होती है- सच्चाई में प्रमाण-यहां पर वास्तविक घटनाएं होती हैं जो तथ्य के साथ तत्त्व के साथ, विवरण के साथ विवेचन होता है, विश्लेषण होता है और खुलासे के साथ निष्कर्ष। जिज्ञासा प्रवेशद्वार खोलता है कल्याणमार्ग की ओर। इतिहास अतीत का इतिवृत्त प्रदान करता है तो साहित्य सत्यं शिवं सुंदरम् का पर्याय बन जाता है। साहित्य सृजन है प्रवृत्तियों का सूचक है। साहित्यकार की अपनी भूमिका अपने परिप्रेक्ष्य में होती है, अपनी विधा में होती है। इसी कथन के साथ महाराजा प्रतापसिंह के व्यक्तित्व-कृतित्व पर विहंगम दृष्टि डालते हुए उनकी जीवन यात्रा को वीर शिरोमणि से कवि शिरोमणि तक को इस आलेख में स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रही हूँ -

रीतिकालीन कवि पद्माकर ने महाराजा प्रतापसिंह की अपने कवित्त में एक युद्धवीर, कर्मवीर, दानवीर, दयाशील आदि गुणों से मीमांसा की है। इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि वह नीतिज्ञ थे, यशस्वी थे, कलाप्रेमी के साथ कलारभ थे विशेषरूप से भक्त कवि भी थे। राजस्थान जो आन, बान, शान से गौरवशाली है तो रंगीला राजस्थान भी है, शिक्षा कला संस्कृति की दृष्टि से इसे 'दूसरी काशी' की संज्ञा दी गई है। राजस्थान के राजघराने में जो नरेश हुए उनका अपना स्थान है जैसे मानसिंह, जगतसिंह, ईश्वरसिंह, प्रतापसिंह, जयसिंह आदि; आश्रयदाता, आश्रित कवि की परंपरा रही, पर वह भी स्वाभिमान से, योग्यता से। इनके समय सुप्रसिद्ध कवि कुलपति मिश्र, कवि पद्माकर, कवि शिरोमणि बिहारी आदि की रचनाओं से हिंदी साहित्य का इतिहास गौरवशाली है।

महाराजा प्रतापसिंह का समय सन् 1764 ई. से 1803 ई. तक माना जाता है। यह केवल आश्रयदाता ही नहीं वरन् उच्चकोटि के कवि थे, अनन्य भक्त थे। उनका जीवन संघर्षशील रहा, उनकी वीरता का वर्णन कवि पद्माकर की 'प्रतापसिंह विरदावली' में चित्रित है। महाराजा प्रतापसिंह ''बृजनिधि'' के नाम से कविता करते थे। उनकी साहित्य साधना में उनके व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। एक सुविख्यात कवि के रूप में, संगीत प्रेमी के रूप में, ज्योतिष के ज्ञानी, कलाप्रेमी, आयुर्वेद के ज्ञाता आदि।

उनके जीवन के कई संदर्भ ऐसे हैं जो रोचक हैं तो एक विशेष गुणवत्ता है जिसमें वह वीर शिरोमणि से कवि शिरोमणि हुए। आज भी ''बृजनिधि'' के नाम से उनका नाम अजर-अमर है। कवि पद्माकर ने अपने प्रतापसिंह विरदावली के मंगलाचरण में गोविंद देवजी से शुभकामना की है उनके प्रति .. ..! कहा जाता है कि एक बार उन्हें सपने में आदेश मिला कि तुम प्रेम के साथ अपने हाथ से मेरी प्रतिमा बनाकर.स्थापित करो तो मैं अवश्य दर्शन दूंगा। प्रतापसिंह ने अपने हाथों से प्रभु की मूर्ति का मुखारविंद

बनाया, पूरी मूर्ति स्थापित की। नुंगायुद्ध के विजय के पश्चात् दौलतराम हलदिया ने ठाकुर बृजनिधि की प्रिया को अपनी कन्या मानते हुए उनके साथ विवाह करवाया। आज भी बृजनिधि के साथ राधिका की मूर्ति विद्यमान है। दौलतराम हलदिया ने सिंजारा भेजा – उस प्रसंग का वर्णन महाराजा ने अपने कवित्त में किया जो 'ब्रज ग्रंथावली' में मिलता है –

सिंजारे की शादी में आना था
जा दिन राधिका का रूप अजब बना था
सब उमर का सवाद जो चश्मो से पाना था
'बृजनिधि' भी उस बहार में दिल का दीवाना था''

कहा जाता है आज भी दौलतराम हलदिया के वंशज का सिंजारा उस मंदिर में भेजा जाता है। महाराजा प्रतापसिंह की बृजनिधि मुक्तावली में यह कवित्त मिलता है –

हवा महल चाहें कियो सब समझो यह भाव।
राधे कृष्ण सिधारती दरस परस को हाव।।

इनके जीवन का एक प्रसंग है जो उनकी उदारता को स्पष्ट करता है। जन्माष्टमी के दिन पूजा करने के पश्चात् कर्नल कालिन्स से भेंट करने की बात थी। प्रतापसिंह के सम्मुख दो प्रश्न उठे; एक शरणागत अवध के नवाब वजीरोद्दौला की रक्षा करना और दूसरा बनारस के एजेंट क्वेरी की जघन्य हत्या करने वाले को दंड देना। महाराजा ने वजीरोद्दौला को कालिन्स के सुपुर्द कर उन्हें आजीवन कारावास का दंड देना पर नवाब वजीरोद्दौला के हथकड़ियाँ न पहनाई जाए न बंदी बनाकर रखा जाय। महाराजा प्रतापसिंह का ध्यान उनके इष्टदेव गोविंददेवजी के चरणों में लगा रहता, भक्ति और भजन उन्होंने अपनी दिनचर्या बना ली। कहा जाता है रक्षाबंधन के दिन उन्होंने कवि पद्माकर को 'कविराज' की उपाधि दी, सम्मानित भी किया था। महाराजा के कलाई में पद्माकर ने ''येन बद्धो बलि राजा' से राखी बांधी थी, रक्षाकार्यो के लिए उत्साहित किया था। जयपुर के बगीचे में सावन के महीने में झूला झूलने का रिवाज था – महाराजा भी देखने आए कवि पद्माकर के साथ! उन्होंने कवि को समस्या दी ''सावन में झूलिबो सुहावनो लगत है'' कवि ने बड़ी कुशलता से सौंदर्य की छटा बिखेरते हुए समस्यापूर्ति की। इसी प्रकार काशी में पहले सावन के महीने में शेबु उद्धका मेला लगता है उसमें गौनहारिनें गीत गाती चलती हैं और मनचले भी लठ्ठ लेकर उनके साथ हंसी मस्करी करते चलते –''रंग है री रंग है'' की ध्वनि के साथ, जिसका अर्थ था शाबाश! प्रतापसिंह 'रंग' के अर्थ को समझ न सके, उन्होंने कवि पद्माकर से समस्या पूर्ति करवाई। एक यह भी प्रसंग उल्लेखनीय है एक दिन उनके दरबार में एक बांसुरी बजाने वाला आया, उसकी बांसुरी की धुन से प्रतापसिंह इतने प्रभावित हुए कि उनकी आंखों से अश्रु बहने लगे। उन्होंने कवि से पूछा ''बांसुरी बजत आँख-आँसुरी दरक परै''?इसका क्या कारण है। कवि पद्माकर ने उसी समय समस्यापूर्ति से महाराजा के प्रश्न का उत्तर दे दिया। कवि की काव्यशक्ति से प्रभावित हो उन्हें 'कविराज' से संबोधित किया। अनहोनी टलती नहीं, शाश्वत सत्य के सम्मुख हम सभी नतमस्तक हैं। कविंद्रों के कल्पतरु महाराजा प्रतापसिंह का देहान्त हो गया। आत्मा अमर है, शरीर नश्वर। इसी दर्शन से प्रतापसिंह का व्यक्तित्व-कृतित्व आज भी अमर है – उस अमरत्व में उनकी साहित्य साधना, भक्ति, आस्था, श्रद्धा है – हमारे लिए आनंद की अनुभूति है जिसका कोई विलोम नहीं है।

अब आते हैं महाराजा की रचनाओं पर जो उनकी साहित्य साधना है उसका कलापक्ष, भावपक्ष सौंदर्य का दिग्दर्शन होता है।

''प्रीतिकला'' छोटी सी रचना है जिसमें राधा कृष्ण की लीला वर्णन है केलि कोतुक है-इसमें 82

छंद हैं, छंदों में दोहा, सोरठा का प्रयोग है

झुकि झांकति झिझकी करती, उझकि झरोखनि बाल।
छिन लखि दृग उन मय भए छके छबीले लाल।।

प्रसंग मिलता है साधिका राधा अपनी सखियों के साथ यमुना तट पर जा रही है, मार्ग में कृष्ण रास्ता रोकते हैं। राधा उनसे कुछ नहीं कहती। अपनी सखी द्वारा कहलाती है ऐसा मजाक ठीक नहीं - इस चितवन से कृष्ण तुरंत मार्ग छोड़ देते हैं। पर नायक नायिका का प्रेम यहां प्रतिपादन हुआ जिससे सारा जगत ही रसमय हो गया। पर इस प्रेम में कुल मर्यादा भी रही तो संयोग से वियोग का प्रवेश हुआ। विरह वर्णन में नायक कृष्ण, नायिका राधा के प्रेम की अभिव्यंजना हुई। किसी ने राधा के अनन्य प्रेम की सराहना की तो किसी ने कृष्ण के अनन्य प्रेम की बात की वाह! वाह लूटी; इस प्रकार यह रचना अनन्य प्रेम पर आधारित है इसके रसास्वादन में प्रभु का अनुग्रह प्रतीत होता है।

''सनेह संग्राम' में 26 कुंडलियां हैं, रूपक अलंकार की प्रधानता है राधाकृष्ण के प्रेम में पक्ष-प्रतिपक्ष है। प्रत्युत्तर का रूपक लुभावना है, प्रतापसिंह के शब्दों में ''जो सुघर सनेही है, वही राधाकृष्ण के इस स्नेह संग्राम को समझ सकते हैं।''

'फाग रंग' इसमें 53 छंद हैं दोहे, सोरठे, सवैये, कवित्तों का प्रयोग है। होली का वर्णन इतना अद्‌भुत है कि हम मानो नंदगांव, बरसाने की होली में मिल जाते हैं ''आइयो खेलन होरी'' की ध्वनि के साथ बुरा ना मानो होली है। मर्यादा भी नहीं रख पाते।

''मुरली विहार'' में 33 छंद हैं, दोहा, सोरठा छंदों का प्रयोग है। विषय मुख्य 'मुरली' है तो उसके प्रति गोपिकाओं का भाव प्रदर्शन है। आरंभ ही मुरली के प्रति उपालंभ से है। मुरली की तान में जो प्रेम का स्वाद है रसिकों के लिए मुग्ध कर देता है।

'रमक जमक बत्तीसी' में 32 छंद हैं, दोहों की प्रधानता है, यमक अलंकार का प्रयोग है। द्रष्टव्य है -

झलकी दुति झलकी वहै, रही झलक इक लागि।
छुटी अलक लखि कै अलख, अलख भयो जिय जागि।।

'रंग चौपड़' में 25 छंदों का समावेश, एक सोरठा शेष दोहे हैं। कवि की दृष्टि में तो कहना होगा कि रसिकगण भी धर्म, अर्थ, काम,मोक्ष सभी को पाने के अधिकारी बन जाते हैं।

'प्रीति पचीसी' में 29 छंद हैं, कवित्तों की प्रधानता है, गोपियों की तर्कशीलता उनकी कुशलता है तो व्यंग्य का बाण भी कम नहीं, 'घाव करे गंभीर' की उक्ति को स्पष्ट करता है। करिए एक कवित्त का रसास्वादन्

जोग की जुगति सींगी भसम अधारी मुद्रा,
ग्यान उपदेस सुनि सुनि मनमें डरैं।
इहाँ हम सब ही सवादी रास-रंगनकी,
स्याम-अंग-संगन की पागी पन क्यों टरैं।।
तुम तौ हो नेमी हम प्रेमी ब्रजनिधि के हैं,
कागद समेट लेहु देखि अंखियाँ जरैं।
आगिहु तताती अती छाती हहराती यह,
प्रानघाती काती असी पाती लै कहा करैं।।

''प्रेम पंथ'' में 27 छंद हैं – प्रेम को कठिन मार्ग बताते हुए उसपर आरूढ़ होने वालों के आनंद की अभिव्यंजना हुई है, यही अभिव्यंजना कवि शिरोमणि का काव्यवैभव है। ''ब्रजनिधि पद संग्रह'' में 245 कवित्त हैं, रागरागनियों के साथ इसके पद आज भी गाए जाते हैं।

'हरिपद संग्रह' में पद और छंद का मणिकांचन योग है 113 पद है शेष अज्ञात कवियों के हैं। कुल मिलाकर 203 की संख्या मिलती है। इसमें भी भक्ति कूट-कूट भरी है। भक्ति का रसास्वादन आनंद की श्रीवृद्धि है, कहें तो उचित होगा।

''रेखता संग्रह' में 198 छंद हैं। फारसी भाषा के प्रयोग के साथ पंजाबी शब्द का भी प्रयोग है। 'रेखता' को पंजाबी में 'रेखते' कहते हैं। ''रास का रेखता'' में 24 छंद हैं; 'विरह सलिता' में 52 छंद है, 'स्नेह बहार' में 44 छंद हैं, इन सभी का वर्ण्य विषय प्रेम है। इस प्रेम में ऐसा लगता है प्रेमिका को पान खिलाने के स्थान पर अपनी गर्दन देने का भाव भी परिलक्षित होता है, जिसे अतिशयोक्ति कह सकते हैं। ''दुखहरण बेधि'' नामक रचना में विरह निवेदन है। इन सब रचनाओं में प्रकृति वर्णन है-मानवीकरण की कला में भाववत्व एवं देवत्व के संगम का संकेत मिलता है। कवि प्रतापसिंह ने ब्रजभाषा, राजस्थानी, पंजाबी, भाषा का प्रयोग किया। इनका वैद्यकग्रंथ 'प्रताप सागरै' है। ज्योतिष ग्रंथ ''प्रताप मार्तण्ड'' है, धर्मशास्त्र, प्रतापार्क आदि रचनाओं का भी उल्लेख मिलता है। संगीत संबंधी ''राधा गोविंद संगीत सार'' राम रत्नाकर, स्वर सागर, बृजप्रकाश, हजारा, प्रताप वीर हजारा, प्रताप सिंगारा प्रसिद्ध हैं। राजस्थान के राजघरानों में बृजनिधि महाराजा प्रतापसिंह का साहित्य उच्च कोटि का है, काव्य बाहुल्य में सात्विक भाव की प्रधानता से वीर प्रसविनी भूमि भी बलिहारी है।

जिनके श्री गोविन्द सहाई।
सकल भय भजि जात छिन में सुख हिये सरसाई।।
सेस सिव विधि सतक नारद सुक सुजस रहे गाई।
द्रोपदी गज गीध गनिका काज किए धाई।।
दीन बन्धु दयाल हरि सौं नाहिं कोउ अधिकाई।
यह जिय में जानि 'ब्रजनिधि' गहे दृढ़ करि पाई।।
– ब्रजनिधि ग्रंथावली

विस्मृत कवि महाराज जयसिंह

डॉ. चन्द्रिका प्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र'

वांधव नरेश महाराज अजीत सिंह के दरबार की आपात सभा आमंत्रित थी। रीवा किले के पश्चिम तकरीबन 5 कि.मी. दूर मराठा सरदार यशवंत राय नायक की सेना आक्रमण के लिए तैयार नैकहाई नामक स्थान पर खड़ी थी। राज्य की न तो आर्थिक स्थिति ठीक थी, न युद्ध लायक सामरिक स्थिति। सेना का मनोबल बढ़ाने लायक कोई सरदार भी नहीं था। राजा और दरबारी दोनों संधि के लिए तैयारी की भूमिका में थे। यह खबर जब महारानी कुंदन कुँवरि को मिली, तो उन्होंने दरबार में एक थाल में चूडियाँ और दूसरी में पान का बीड़ा भेजा। कवि मणि रायपुरी कहते हैं – ''यदि हों कुछ पुरुषत्व शेष तो रण का यह बीड़ा लेना'' चूड़िया पहनकर बैठने से बड़ी चुनौती दरबारियों के लिए क्या हो सकती थीं सभी उत्तेजित हो उठे। कलचुरि सरदार कलंदर ने बीड़ा उठा लिया। रीवा राज्य पर हुए आक्रमण का शायद एकमात्र निर्णायक युद्ध नैकहाई में ही लड़ा गया जिसमें नायक का सिर कलंदर सिंह ने काट लिया और रीवा के बहादुर सैनिकों ने युद्ध जीत लिया। महारानी कुंदन कुँवरि की इस भूमिका को रेखांकित करते हुए 'कैकेयी' खण्डकाव्य के कवि मणि रायपुरी कहते हैं :-

> है कुंदन कुँवरि धन्य तुझको
> तू धन्य वीर क्षत्राणी थी।
> नायक को विजित किया जिसने
> तेरी जोशीली वाणी थी।

उन्हीं कुदन कुँवरि की कोख से महाराज अजीत सिंह के पुत्र जयसिंह ने 4 जनवरी 1765 में जन्म लिया। वीरांगना महारानी के पुत्र महाराज जयसिंह ने राज्य की सीमा-सुरक्षा और आंतरिक सीमा विस्तार के लिए अनेक छोटे-बड़े युद्ध किये। इसे दुर्भाय ही कहेंगे कि सन् 1822 में ''शर्तो के साथ अंग्रेजी कम्पनी राज्य से संधि हुई। इस मजबूर संधि ने एक स्वाभिमानी राजा के अंतस् को हिला दिया। उन्होंने 1823 ई. में राजपाट युवराज विश्वनाथ सिंह को सौंपकर शासन से मुक्ति पा ली और शेष समय भगवद्भजन और साहित्य सृजन में लगा दिया। जयसिंह के बारे में कहा जाता है कि मृत्यु के लिए उन्होंने मां गंगा की ओर प्रस्थान किया। रीवा रियासत की सीमा प्रयागराज इलाहबाद तक थी। इस प्रस्थान अवधि में उन्होंने 'गंगा-शतक' लिखना प्रारम्भ किया। संकल्प था कि जिस दिन 'शतक' का सौंवा छन्द पूरा होगा उसी दिन मृत्यु उनका वरण करेगी। गंगा की धारा कुछ गज दूर थी तभी उनका सौवां छंद पूरा हो गया। छंद की अंतिम पंक्ति थी -''जयसिंह तारिबो तो तारिबो तिहारो है।'' अनेक आर्त उलाहनों के साथ एक चुनौती थी आग्रह था, मनुहार थी। पालकी रख दी गई। महाराज ने कहा -''इतनी दूर से मां मैं मिलने आया हूं। क्या मां अपने पुत्र के लिए दस हाथ भी नहीं आ सकती।'' साथियों से कहा -'मरण शैय्या सजावो' कहते हैं गंगा आंदोलित हुई और महाराज की शैय्या को गोद में लेती हुई निकल गई। कालांतर में उस स्थान को अरैल कहा गया, वहां गंगा की धारा तिरछी है। रीवा राजदरबार के कवि अजवेश ने कहा है –

धर्मवान जयसिंह सौं, भला नृपति को आन।
जेंहि गबनत गोविन्दपुर गंग लियो अगवान।।

हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने रीवा राज्य के कवियों के बारे में बहुत कम लिखा है। जिन कवियों का साहित्य प्रयाग और काशी तक पहुंचा उन्हीं की थोड़ी बहुत चर्चा हुई, शेष परिशिष्ट में भी स्थान नहीं पा सके। सेन नाई, धरमदास, तानसेन, विश्वनाथ सिंह, रघुराज सिंह की रचनाओं ने रीवा पार किया और विख्यात हुई। महाराजा जयसिंह पहले ऐसे कृष्ण भक्त कवि हुए जिन्होंने कृष्ण काव्य की गीत परम्परा से अलग दोहे, चौपाइयों, सवैयों में क्रमबद्ध कृष्ण कथा, रामचरित मानस शैली में लिखी। सम्पूर्ण कृष्ण काव्य गीतों में होने के कारण कथा का प्रवाह सुसम्बद्ध नहीं है। महाराज जयसिंह ने यह काम 'हरि चरित्र चन्द्रिका' महाकाव्य में किया। कालांतर में यही काम (शैली अपनाकर) पं. द्वारका प्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' लिखकर किया। अपने 18 वर्ष के रचनाकाल में जयसिंह ने मुख्यत: पांच ग्रंथ लिखे। 'हरि चरित्र चंद्रिका' प्रकाशित महाकाव्य है, उसकी भूमिका में इन्हीं पांच ग्रंथों की रचना का उल्लेख है। कृष्ण श्रृंगार तरंगिणी, हरिचरितामृत, त्रयवेन्दात प्रकाश, निर्णय सिद्धान्त, गंगा लहरी (गंगा शतक) 'हरि चरित्र चन्द्रिका' 'हरिचरितामृत की मेरुदंड है। चरितामृत में रामाश्वमेध की कथा भी वर्णित है जिसका आधार वाल्मीकि की रामायण है। 'हरि चरित्र चंद्रिका' श्रीमद्‌भागवत की मूल कथा पर आधारित कृष्ण कथा है। वे सारी कृष्ण लीलाएं हैं जो कृष्ण काव्य में हैं, परंतु सबके कहने का अन्दाज अलग है। भारतीय काव्य में कृष्ण का चरित्र प्रत्येक भाषा में अलग, अनोखे और चमत्कारिक ढंग से लिखा गया। इतना चमत्कारिक और ललित, मधुर रूप विष्णु के किसी भी अन्य अवतार में नहीं है। 'कृष्ण श्रृंगार तरंगिणी' भागवत पुराण के रासलीला का एकात्म भाव है। भक्त कवि के भक्ति का आश्रय स्थल वृन्दावन की रासलीला है, जहां सोलह हजार सखियों के साथ एक कृष्ण का सोलह हजार में परिवर्तित हो जाना महारास का रहस्य है। जयसिंह ने इस अद्‌भुत दृश्य का वर्णन भाव-भक्तिपूर्ण मन से किया है -

एकै बीन मृदंग बजाबै
एकै मंजु मधुर स्वर गावै
एकै गोहि न कर लसै, झोरिन भरे अबीर
कनक कुम्भ एकै लिए, पूरित कुम कुम नीर

जिस रास को देखने सारे देवता आ गए, समय का रथ रुक गया, उस दृश्य का वर्णन 'तरंगिणी' और 'चंद्रिका' दोनों में जयसिंह ने पूरे मनोयोग से किया, परंतु रीतिकालीन प्रभाव से वे पूर्णत: मुक्त नहीं हो सके। नाचती गोपियां उरुजों और नितंबों के भार से द्रुत लय में भाग नहीं सकतीं -

उरुज नितंबन को गरु आई
बारन बारन धाइ न जाई

'अनुभव प्रकाश' महाराज जयसिंह के दार्शनिक विवेचना का चिंतन पक्ष है, जिसके अध्ययन से विवेच्य की पकड़ और पहुँच का आभास होता है। यह एक वृहद दर्शन ग्रन्थ है। प्राप्ति और प्रतीति के अंतर-बाहर के बीच सायास के साथ अनायास प्राप्त हो जाता है, यह एक जटिल व्याख्या है -

प्राप्त प्रतीति करि करत जो यहिं अभ्यास।
अंतर-बहिर प्रकाश तेंहि प्रकट होत अनयास।।

'हरि चरित्र चन्द्रिका' के प्रारम्भ में कवि अपना आत्म निवेदन परम प्रभु कृष्ण को ही अपनी दैन्य छवि के साथ स्तुति करता है -

वा मधु को अज आदि अलि लहत न रहत ललान।
ताप हरन ता पुरुष के वन्दौ पद जल जात।।

कृष्ण की कथा ही कवि की भक्ति है और उस कथा का कहना ही उसका उद्देश्य है। भक्त का दीन मन प्रभु के सामने अपने को कितना अधम, छोटा मानता है। तुलसी बाबा भी 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' कहने में अपनी हीनता बोध के शिकार नहीं हुए, जयसिंह कहते हैं –

पार न पाऊं कैसे हूं, निज अधमाई भाखि
अधम उधारन हरि कथा, कहौ यहै बल राखि

कृष्ण के जन्म की कथा भादों की काली आधी रात की कहानी है। पानी बरस रहा है, बादल गरज रहे हैं –

घहरि घहरि घन घुमड़ि सोहाये
मंद मंद बरसत तम छाए,
दामिनि दुरि दुरि दिशि दिशि दमकी
कंस काल जस मा सी चमकी,

कृष्ण के बाल-लीला में भी कवि उन्हें ईश्वर के रूप में देखता है, जयसिंह की यशोदा अन्य माताओं से भिन्न कृष्ण से ही गोहार लगाती है –

जसुमति कहति नैन भरि वारी
ईश गोहार आशीष तुम्हारी,

सारे संसार की गोहार पर दौड़ने वाले के लिए मां ने मनौतियां मानी। बालक कृष्ण की लीला सूरदास ने अनेक पदों में की है, जयसिंह ने दोहे चौपाइयों में ही वह लालित्य भरने की कोशिश भर ही नहीं की, वरन् सफलता भी प्राप्त की –

पग अंगुष्ट गहि करन हरि, पिवत मनहु अनुमानि।
कौन स्वाद पद लहि रमत जनमन तजि निज बानि।

कृष्ण की बाल-छवि देखें, जयसिंह की दृष्टि से –

पलना परे कबहुं कर झटकत
बारहि बार कबहुं पद फटकत
कबहुँ क बिहंसत कबहुं क रोवत
अधखुल नैन उतानै सोवत।

और जब वह चलने की स्थिति में आ जाता है तब –

गोपि द्वै आंगुरी गहावै
नंद ललन को चलन सिखावै
थरथरात पग कछु चलि आवहिं
चलत चलत तन जल-कन छाबहिं

भक्त कवियों ने कृष्ण की बाल-लीला को आम बालकों की लीला की तरह प्रस्तुत कर भक्त और भगवान्

की दूरी कम करने का सफल प्रयास किया है। कृष्ण, को माटी खाते दिखलाकर कवि ने बाल सुलभ छवि प्रस्तुत की है –

एक बार माटी हरि खाई
शिशुन कहे जसुदा से जाई
कढ़ी रसोंई सों लिय सार्टी
कर गहि कह कत खाए माटी,

और जैसे ही कृष्ण ने मुंह खोला, सूरदास और महर्षि व्यास का विश्व-दर्शन मां के मुंह में दिखा-सर, सरि, उपवन, वन, सिंधु-भूधर सब एक साथ –

सिंधु अनेकन, भूधर भारै
सिंघ बाघ गज भेंड कतारै
नर सुर असुर किनर गंधरवनि
राक्षस भूत ब्याल जन सरबनि
मूंदे नैन पूत मुखदेखी
रही जड़ी जनु चित्र सरीखी।

जयसिंह ने कृष्ण की बाल-लीलाओं में उनका भी वर्णन किया है जहां सूरदास की दृष्टि नहीं गई। माखन चोरी की आदत पड़ जाने पर कृष्ण जिन घरों में माखन-दही नहीं पाता, बंधे हुए बछड़ों को पीने के लिए छोड़कर आनंद प्राप्त करता है –

जेहि घर दूध – दही नहीं पावहिं,
बछरु छोड़ि सो धेनु पियावहिं।

बच्चों की एक आदत चिकोटी काटने की होती है, सोते को चिकोटी काटकर जगा देना, बन्दरों को मक्खन खिलाना, कृष्ण का खेल है; जयसिंह ने इन प्रसंगों को बड़े मन से चित्रित किया है :-

कहुं शिशु चुटकिन काटि जगावै
कहूं कपीन नवनीत खबावै
सीकें धरे न माखन पावै
तहां शिशुन मिलि व्यौंत बनावै
चौकी पर माची चढ़ि धरहों
पेंदी फोरि लकुटि सो कढ़हों।

माखन खाने और पाने की नई प्राविधि थी कृष्ण की, जिसका वर्णन कवि ने विस्तार से किया है। ब्रजवासियों को कृष्ण सर्वथा प्रिय है। मुरली लीला, दान लीला, मान लीला, चीरहरण लीला, गोवर्द्धन लीला के आगे कृष्ण की रास लीला का वर्णन हरिचरित्र चन्द्रिका में विस्तार से किया गया है। भागवत के दसम् स्कंध की पूर्वार्द्ध की यह कथा पूर्णता की ओर महारास के नृत्य में ही साकार हुई है –

शरद चांदनी चाहि निशि विकसे बेला जाल
विश्व विमोहन बांसुरी लई बिहारी लाल

अधराधर जो सुई पूरि दियौ
फिर मोहन तान तरंग लियो
थल में जल में नभ जीव जितै। सुख सिंधु समाइ गए सु तितै।।
ऋषि सिद्ध मुनीश समाधि छुटी
तप साधन योग समाधि लुटी
चलै न जमुना धारि, भारी अनंद भार सों
तुंग तरंग अपार उछलि उछलि हरि दिशि परैं।

कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों का विरह प्रायः सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है। अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों में उद्धव के माध्यम से सगुण-निर्गुण पर व्यापक चिंतन-मनन किया है। निर्गुण के ज्ञानमार्ग का ध्वज उद्धव लिए ब्रज गोपियों को ब्रह्म ज्ञान का सन्देश लेकर आए। जिन सगुण साकार कृष्ण के साथ जीवन की विभिन्न लीलाओं की गोपियां भागीदार रहीं, उसी कृष्ण को निराकार कैसे मान लें, उन्होंने तो ब्रह्म के साथ लीला की है। सूरदास के उद्धव को तो गोपियां इतना भी मौका नहीं देतीं कि कृष्ण ने क्या कहा, वे उद्धव पर फट पड़ती हैं परंतु जयसिंह उद्धव को ब्रह्म को समझाने का पूरा समय देते हैं। सम्वाद-विवाद बन जाता है। गोपियों को विश्वास ही नहीं होता कि कृष्ण ने ऐसा कहा होगा। योग, ब्रह्म का सन्देश कृष्ण ने दिया होगा - नहीं -

बोलीं रे निरदय अज्ञानी
ऐसी कान्ह न कहि हैं बानी
नटवर भेष रास बिच धारो
सो हरि हिय से टरौ न टारो
अब हिय कहां दूसरो पावैं
जामें ज्ञान विराग बसावैं
मुनि दुरलभ निरीह श्रुति गावैं
तेंहि ऊधौ हिय बीच बतावैं
बड़ी दया करि कान्ह पठायो
ब्रज अवलनि को अलख लखायो।

उद्धव और गोपियों का लम्बा सम्वाद जयसिंह ने वर्णित किया है। वे दार्शनिक थे, ईश्वर चिंतन की तमाम विचार धाराएं उनके ज्ञान की परिधि में थीं, परंतु वे स्वयं कृष्ण के साकार रूप के उपासक थे। परम वैष्णव थे। उनकी गोपियाँ कृष्ण में इतनी अनुरक्त हैं कि ऊधौ से विनती करती हैं कि हे ऊधौ; कैसे भूल जाऊँ कि कृष्ण हमारे नहीं हैं। उनका रोज शाम को वन से ब्रज की ओर गायें चराकर लौटना कैसे भूलूं-

सरसीरुह - सी सरसी अखियां पंखियां सिर मोरन की फहरैं
खुर रेणु भरी अलकें झलकें छवि कुंडल गोल कपोल भरैं
हंसि हेरनि बांसुरि टेरन त्यौं सरसें सुरताननि से निकरै
वन ते ब्रज आवत यों नंद नंदन ऊधो बिसारे नहिं विसरैं,

अन्त में हार कर उद्धव से पूंछती हैं –

श्याम सखा सांची कहौ कब अइहैं घनश्याम
विरह तृषार्दित अवधि जल विकल मीन सी वाम

अब कृष्ण के आने की बात पर उनका भी विश्वास डगमगाने लगा है। उद्धव का आना ही यथेष्ट प्रमाण है। दूसरा प्रमाण अपने को समझाने के लिए भी देती हैं :-

अब आवन की आस नहिं, कहो कान्ह कुशलात
ऊधौ नृप पद पाइके बिसरि गई ब्रज बात

वैष्णव कवियों ने विष्णु के दशावतारों में भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार तो स्वीकार किया परंतु उनकी नास्तिकता को स्वीकार नहीं किया। जयसिंह पहले ऐसे कवि थे जिन्होंने 'भगवान् बुद्ध की कथा' लिखी। अर्हन धर्म की दीक्षा स्वयं प्रभु ने असुरों को दी थी। 'बौद्ध जू की कथा' में कवि ने प्रारम्भ में असुरों द्वारा श्रुति मार्ग का अनुसरण करते हुए रेवा तट के किनारे कठोर तपस्या करते दिखाया है। प्रभु प्राकट्य के अवसर पर उन्होंने परलोक की याचना की तथा मुक्ति का वरदान मांगा–प्रभु ने कहा –

औरे धरम मुक्ति तव नाही
नरकौ सरग अर्ह महि पाही
तुम बहु बली अहौ सब ज्ञाता
अरहन धरम करहुं विख्याता
अस बुझाइ भाखे भगवाना
निकट मुकुति सब असुरन जाना
वेद भगत वंदत नित आगे
जैन धर्म मह अति अनुरागे

बौध जू की कथा पन्ना 2–3 में बुद्ध और महावीर को एक साथ दिखाने का आशय जयसिंह महाराज का क्या था, इसका कहीं अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं है। जैन और बौद्ध भी ऐसी कथाओं के बरक्श जातक कथाओं को अधिक महत्त्व देते हैं –

नास्तिक हौं ईश्वर नहि जानै
निज शरीर आत्मा बखानै
धरम अहिंसा परम है असुरन दियो लखाय
नास्तिक मन दै नियम से दियो तिन्है बिलगाय

'बाजनामा' नामक एक वैद्यक ग्रंथ भी महाराज जयसिंह लिखित मिलता है। बहुआयामी चिंतन–मनन एवं दार्शनिक कवि जयसिंह की पहचान हिंदी के इतिहासकारों से नहीं हुई, इसलिए भी कि रीवा रियासत आवागमन के संसाधनों से दूर थी। जिस कवि ने हरिचरित्र चंद्रिका जैसा महाकाव्य लिखा और जिसकी संततिओं में एक विश्वनाथ सिंह ने हिंदी का प्रथम नाटक लिखा दूसरे और तीसरे पुत्र लक्ष्मण और बलभद्र सिंह संस्कृत के बड़े कवि हुए, उनके पिता हिंदी साहित्य में स्थान न पा सके यह अवश्य चिन्त्य है।

राजा शिवसिंह एवं राजा कृष्णदत्त सिंह

डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह 'संजय'

हिमाचल की प्राकृतिक सुषमा के परिष्वंग में अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर अवस्थित अन्तर्वैश्विक धार्मिक महत्त्ववाले बौद्ध धर्मस्थल श्रावस्ती को उत्तर प्रदेश का नूतन जनपद बनाये जाने पर प्राचीन भिनगा राज की महत्ता स्वयमेव बढ़ गयी। भिनगा राज की स्थापना गोंडा के बिसेनवंशीय राजा रामचन्द्र सिंह के द्वितीय पुत्र राजा भवानी सिंह ने की थी। राजा भवानी सिंह न केवल एक कुशल प्रशासक थे, अपितु एक श्रेष्ठ योद्धा भी थे। उन्होंने बावन युद्धों का नेतृत्व किया था। राजा भवानी सिंह के तीन पुत्र थे- कल्याण सिंह, फ़तेह सिंह और बरिवण्ड सिंह। कल्याण सिंह और फ़तेह सिंह के अल्पकालीन शासन के पश्चात् राजा बरिवण्ड सिंह का शासनकाल प्रारम्भ हुआ। राजा बरिवण्ड सिंह के समय में ही भिनगा राज की अधिकांश ज़मीन कृषि योग्य बनायी गयी।

सन् 1783 ई. में क्रूर नाज़िम द्वारा राजा बरिवण्ड सिंह की हत्या कर दी गयी और उनके सिर को काटकर गोंडा भेज दिया गया, इज़्ज़त पवार के द्वारा उनका अन्तिम संस्कार किया गया। राजा बरिवण्ड सिंह के पश्चात् उनके पुत्र सर्वदमन सिंह और पौत्र शिव सिंह भिनगा के राजा हुए। नागरी प्रचारिणी सभा काशी की 'Annual Report on the search for Hindi Manuscripts' से राजा शिव सिंह के कर्तृत्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। 'अवध के तालुकदार' के विद्वान् लेखक श्री पवन बख़्शी ने राजा शिवसिंह और उनके चचेरे भाई कुँवर जगत सिंह के विषय में लिखा है- 'एक बार शिव सिंह के चचेरे भाई जगत सिंह ने उन पर हत्या करने के उद्देश्य से हमला करने का प्रयास किया। शिव सिंह ने उन्हें इस शर्त पर क्षमा कर दिया कि वे फिर कभी अपना मुँह नहीं दिखायेंगे। उन्हें गोंडा भेज दिया गया, जहाँ उन्होंने देवतहा में एक छोटा-सा तालुका' कायम किया। (श्री पवन बख्शी : अवध के तालुकेदार, द्वि.सं. 2012 ई. पृ. 303)

राजा शिव सिंह का जन्म सन् 1768 ई. के आसपास हुआ था और मृत्यु 1826 ई. में हुई। इनका रचनाकाल सन् 1793 ई. से सन् 1818 ई. के मध्य का है। राजा शिव सिंह का एक छन्द ठाकुर शिव सिंह सेंगर (1833-1878 ई.) ने अपने सुप्रसिद्ध संग्रह ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' में शिव सिंह प्राचीन के नाम से संकलित किया है -

ही जमुना जल जात अचानक,
बानक सों नँदलाल ठई।
तब दौरि धर्यों कर सों कर को,
उर लाइ लई जनु निद्धि पई।
शिव सिंह जहीं परस्यो कुच को,
तुतुराइ कह्यो अब छोड़ बई।
भुज ते निमुकाइ गुपाल के गाल में,
आँगुरि ग्वालि गड़ाइ गई।

(शिवसिंह सरोज, सं. डॉ. किशोरीलाल गुप्त प्र.सं. 1970, पृ. 560)

राजा शिव सिंह कृत छह ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज में उपलब्ध हुए हैं, जिनमें प्रथम चार पिंगल ग्रन्थ (छन्द:शास्त्र) हैं।

1. भक्तिप्रकाश (1923/397C) : रिपोर्ट के अनुसार इसका रचनाकाल विक्रमाब्द 1852 (1795 ई.) है। रचनाकाल सूचक छन्द उद्‌धृत नहीं है।
2. भाषावृत्त मंजरी (1923/397 D)
3. भाषावृत रत्नावली (1923/396 E) : यह संस्कृत से अनूदित ग्रन्थ है –

> सुभग वृत्त रत्नावली, छन्दशास्त्र सुरवानि।
> सो ताको भाषा कियो, गिरिजापद नुति ठानि।
> (किशोरीलाल गुप्त : सरोज सर्वेक्षण, हिंदुस्तानी एकेडमी,
> इलाहबाद, प्र.सं. 1967, पृ. 710)

4. श्रुतिबोध भाषा (1923/397 H) : यह भी संस्कृत से अनूदित है।
5. काव्यदूषण प्रकाश (1923/397 F) : इस ग्रन्थ में तीन अध्याय हैं। पहले में काव्य-दोष, दूसरे में चित्रकाव्य और तीसरे में प्रहेलिका का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में कवि ने रचनाकाल अवश्य दिया है, पर वह बहुत स्पष्ट नहीं है –

> वारिजजात खडानन आनन अंक।
> सिद्धिसदन गजमुख लखि अवदन संक।
> शुक्रवार अष्टमि तिथि सिति वैसाष।
> प्रगट कर्यो यह ग्रन्थै करि अभिलाष। (तदेव, पृ. 710)

वारिजजात (ब्रह्मा) के चार मुख हैं और षडानन (स्कन्द) के छह इस बरवै में यही दो अंक दृग्गत हो रहे हैं। सीधा पढ़ने पर इनसे 46 और उल्टा पढ़ने पर 64 बनता है। 1800 इसमें दिया नहीं गया है। इस ग्रन्थ की रचना या तो विक्रमाब्द 1846 हुई है अथवा विक्रमाब्द 1864 में।

कवि-नरेश शिव सिंह ने किसी ग्रन्थ में अपना नाम नहीं दिया है। केवल पिंगल ग्रन्थ 'भक्तिप्रकाश' की बरवैत्रयी में उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है –

> नाम प्रगट करि बरनै कवि निज सर्व।
> हाँ कैसे करि भाषौं मति अति खर्व।
> ताते प्रगट न भाखत, राखि विगोइ।
> जू कवि सुमति लखि जानै, और न कोइ।
> कौ बरनै मंगल जग, करि-रिपु कौन।
> सो बरनै वा ग्रन्थ, लखि कवि तौन। (तदेव, पृ. 710)

उपर्युक्त बरवै में प्रश्नोत्तर के माध्यम से राजा शिव सिंह ने अपना नामोल्लेख किया है –
प्रश्न : को बरनै मंगल जग ?
उत्तर : शिव।
प्रश्न : करि-रिपु कौन ?
उत्तर : करि (हाथी) रिपु (शत्रु) = सिंह।
दोनों प्रश्नों के उत्तर में कवि-नाम 'शिव सिंह छिपा है।

6. रामचन्द्र चरित (1933/397 G) : खोज रिपोर्ट के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना विक्रमाब्द 1857 (1800 ई.) में हुई। रचनाकाल-सूचक दिया हुआ है, किन्तु रचनाकाल बहुत स्पष्ट नहीं है-

वेद ससी जमकुसन तिथि, सप्तमि सित गुरुवार।
मास भादि दे बीच लखि, सम्पूरन सुविचार। (तदेव, पृ. 711)

राजा शिव सिंह ने इस ग्रन्थ में भी प्रच्छन्न रूप से अपना नाम दिया है-

मुक्ति करन कल्यानप्रद, अर्द्ध दिवदल रिपु व्याल।
ये पूरन मिलि नाम जिहि किये ग्रन्थ हित बाल। (तदेव, पृ. 711)

रीति-साहित्य के पण्डित डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने 'मुक्ति करन कल्यानप्रद' का अभीष्ट 'शिव' और 'रिपु व्याल' का अभीष्ट सिंह स्वीकार किया है। इस प्रकार दोनों के संयोग से 'शिव सिंह' सिद्ध होता है। राजा शिव सिंह के उपर्युक्त छहों ग्रन्थ भिनगा राज के पुस्तकालय में एक ही जिल्द में सुरक्षित हैं।

खोज में राजा शिव सिंह के एक अन्य ग्रन्थ 'अमरकोष' का भी उल्लेख हुआ है। यद्यपि डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सरोज-सर्वेक्षण' में 'अमरकोष' के सम्बन्ध में विचार करते हुए उसे शिवप्रसाद कायस्थ की रचना स्वीकार किया है, तथापि 'अमरकोष' की दो प्रतियों में रचनाकार के रूप में राजा शिव सिंह का नामोल्लेख हुआ है -

ता दिन ग्रन्थ अरम्भ किय, श्री शिव सिंह सुजान।
अमरकोष भाषा कियो, दोहा को परनाम। (तदेव, पृ. 711)

राजा शिव सिंह की मृत्यु के तीन वर्ष पूर्व ही सन् 1823 ई. में उनके ज्येष्ठ पुत्र युवराज सर्वजीत सिंह का मात्र बत्तीस वर्ष की अल्पायु में स्वर्गवास हो चुका था। इसलिए राजा शिव सिंह के बाद युवराज सर्वजीत सिंह के एक मात्र अवयस्क पुत्र कृष्णदत्त सिंह भिनगा राज के उत्तराधिकारी हुए। राजा कृष्णदत्त सिंह के विषय में श्री पवन बख़्शी लिखते हैं- 'कृष्णदत्त सिंह का जन्म 1821 में हुआ था और बालिग होने पर 1836 में गद्दी मिली। इनकी अल्पायु के दिनों में राजप्रबन्ध इनकी दादी विद्याकुमारी देखती थीं। 1839 में नाजिमा बेगम बजुन्निशा से बारह दिनों तक युद्ध चला। रसद की कमी के कारण किले को खाली करना पड़ा। नगर लूट लिया गया और किले को जला दिया गया। अत्यधिक कर वसूलने के कारण दो बार नाज़िमों से इनका युद्ध हुआ।

सन् 1836 में किले के निकट जंगल में कुछ बन्दूकें मिलने के कारण भिनगा का आधा राज्य जब्त कर लिया गया। इसका एक बड़ा भाग बलरामपुर रियासत को मिला। मई 1862 में अवध के तत्कालीन चीफ कमिश्नर सर जार्ज पूल के साथ शिकार करते समय गोली चल जाने से राजा कृष्णदत्त सिंह की मृत्यु हो गयी। वे संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उनका संस्कृत पुस्तकों का ग्रन्थालय इस प्रान्त के सर्वोत्तम ग्रन्थालयों में से एक था। वे स्वयं कवि थे और कवियों के आश्रयदाता भी थे।' (श्री पवन बख्शी : अवध के ताल्लुकेदार, पृ. 303) .

ठाकुर शिव सिंह सेंगर ने राजा कृष्णदत्त सिंह बिसेन का परिचय देते हुए लिखा है- 'यह राजा, काव्य में निपुण थे और इस रियासत में सदैव कवि-कोविदों का मान होता था। भैया जगत सिंह इसी वंश के नामी कवि हो गये हैं और शिव कवि इत्यादि इन्हीं के यहाँ रहे। अब भी भैया लोग खुद कवि हैं और काव्य की चर्चा बहुत है, जैसा बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड के रईस अपना काल काव्यविनोद में व्यतीत करते हैं, वैसे ही इस रियासत के भाई बन्धु हैं।' (शिवसिंह सेंगर : शिवसिंह सरोज, पृ. 666-667) डॉ.

किशोरीलाल गुप्त ने अपने 'सरोज-सर्वेक्षण' में राजा कृष्णदत्त सिंह का साहित्यिक परिचय दिया है। 'मिश्रबन्धु विनोद' (2317) में इनके एक ग्रन्थ 'गंगाष्टक' का उल्लेख है। राजा कृष्णदत्त सिंह अपने पितामह राजा शिव सिंह के न केवल राज्य के उत्तराधिकारी थे, अपितु उनकी साहित्यिक विरासत के भी उत्तराधिकारी थे। शिवदीन कवि विलग्रामी ने राजा कृष्णदत्त सिंह के नाम पर 'कृष्णदत्त रासा' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है, जिसमें राजा कृष्णदत्त सिंह और अवध के नवाब के नाज़िम महमूद अली खां के बीच विक्रमाब्द 1901 (1844 ई.) में हुए युद्ध का सजीव वर्णन हुआ है। राजा कृष्णदत्त सिंह का एक छन्द द्रष्टव्य है -

कानन समीप बसैं त्रिकुटी अपांग अंग,
आसन अजिन मृग अंजन अनाधा के।
अरुन विभाग कोर, विसद विभूति अंग,
त्यागे नींद विषय निमेष विष बाधा के।
'कृष्ण सिंह' काम-कला विविध कटाच्छ ध्यान,
धारना समाधि मनमथ सिद्धि साधा के।
प्रेम के प्रयोगी भये सुख सम्पति सँयोगी, अति
श्याम के वियोगी, भये जोगी नैन राधा के।

(शिवसिंह सेंगर : तदेव, पृ. 79)

राजा कृष्णदत्त सिंह की मृत्यु के पश्चात् 3 सितम्बर, 1850 ई. को जन्में युवराज उदयप्रताप सिंह भिनगा राज के उत्तराधिकारी हुए, किन्तु उस समय उनकी आयु मात्र बारह वर्ष की थी इसलिए राज का कार्य 'कोर्ट ऑफ वार्ड्स' के अधीन संचालित होता रहा। सन् 1869 ई. में राजा उदयप्रताप सिंह को भिनगा राज का पूर्णत: दायित्व प्राप्त हुआ। राजा उदयप्रताप सिंह का विवाह अगोरी-बड़हर नरेश रघुनाथ शाह की चतुर्थ पुत्री मुरारि कुंवरि से हुआ था। मई 1884 में ग्रेट ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया ने राजा उदयप्रताप सिंह को 'कोर्ट ऑफ आर्म्स' एवं सी.एस.आई. की उपाधि से अलंकृत किया। पिता और प्रपितामह की विद्या-व्यसनी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए राजा उदयप्रताप सिंह ने वाराणसी में उदयप्रताप महाविद्यालय का निर्माण कराया। राजा उदयप्रताप सिंह को क्षत्रिय महासभा ने 'राजर्षि' की गौरवपूर्ण उपाधि से अलंकृत किया और अंग्रेजी सरकार ने भी 'राजर्षि' उपाधि को मान्यता प्रदान किया।

वस्तुत: भिनगा राज की साहित्यिक परम्परा राजा शिव सिंह से प्रारम्भ होकर राजा कृष्णदत्त सिंह तक आती है। राजर्षि उदयप्रताप सिंह ने उस परम्परा को अपने उज्ज्वल कृतित्व से आगे बढ़ाया। निश्चय ही बिसेन वंश की काव्य-कला-प्रियता जगत्प्रसिद्ध है। राजा शिव सिंह और राजा कृष्णदत्त सिंह इसी जगत्प्रसिद्ध परम्परा के मुकुटमणि हैं। इन्हीं दोनों कवि-नरेशों एवं राजर्षि उदयप्रताप सिंह की उज्ज्वल कीर्ति के कारण भारतीय जनमानस में आज भी भिनगा राज प्रतिष्ठित है।

आँख जो सपनों की बस्तियाँ थी कभी
आँसुओं की राजधानी हो गयी
भुलाने को क्या भुला ही तो दिया है मैंने
अनजाने तेरा खयाल आता है
जैसे हाल की किसी विधवा का हाथ
भूल से माथे पर चला जाता है
- विंध्यवासिनी प्रसाद त्रिपाठी (सन् 1939-2000)

राव राजा बख्तावर सिंह कृत 'श्रीकृष्ण दानलीला'

प्रो. जुगमन्दिर तायल

रावराजा बख्तावर सिंह अलवर राज्य के दूसरे शासक थे। अलवर राज्य की स्थापना राजा प्रतापसिंह ने की थी। वे जयपुर राज्य के अन्तर्गत ढाई ग्राम की छोटी-सी जागीर के जागीरदार थे। अपने साहस, शौर्य और बुद्धि-चातुर्य से उन्होंने 1774 ई. में मुगलबादशाह से रावराजा की सनद तथा पाँच हजार का मनसब प्राप्त किया और अपने अलग राज्य की स्थापना की। एक वर्ष बाद भरतपुर राज्य से अलवर का प्रसिद्ध किला छीनने में भी उन्हें सफलता मिली। तब से उनका राज्य 'अलवर राज्य' कहलाने लगा। वे निस्संतान थे, इसलिए उन्होंने अपने नरूका वंश के एक जागीरदार धीरसिंह के बेटे बख्तावरसिंह को अपना उत्तराधिकारी चुना।

बख्तावर सिंह का जन्म 20 नवम्बर 1776 ई. को अलवर राज्य के परगना राजगढ़ के पास स्थित थाना गाँव में हुआ। पहले राजगढ ही अलवर राज्य की राजधानी था। 1791 ई. में प्रतापसिंह के देहान्त के बाद बख्तावर सिंह 15 वर्ष की छोटी आयु में अलवर राज्य के दूसरे शासक बने। राजा बनने के बाद उन्हें कई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। पहली चुनौती राज्य के पुराने दीवान रामसेवक की तरफ से आई। नये राजा की अल्प आयु को देखकर पुराने दीवान की महत्त्वकांक्षा जाग उठी। उसने मराठों से सम्पर्क किया और मराठा सैनिकों ने राजगढ़ को घेर लिया।

लेकिन बख्तावर सिंह सजग थे। मराठा सैनिकों के राजगढ़ आने से पहले ही वे कुछ विश्वस्त लोगों के साथ अलवर चले गये। उन्होंने अपने दीवान को भी जरूरी परामर्श के लिए अलवर बुलवाया। अलवर पहुँचने पर उसे गिरफ्तार कर लिया गया और विश्वासघात के लिए उसे मृत्यु दंड मिला। दीवान को सजा मिलने के बाद मराठा सैनिक राजगढ़ छोड़कर चले गये।

अपनी राजनैतिक स्थिति दृढ़ करने के लिए बख्तावर सिंह ने 1793 ई. में मारवाड़ के कुचामन ठिकाने के राठौड़ सरदार ठाकुर सूर्यमल की पुत्री से विवाह किया। बाद में उन्होंने कुछ राठौड़ ठाकुरों को अपने राज्य में जागीर देकर भी बसाया। राठौड़ वंश राजस्थान का महत्त्वपूर्ण तथा शक्तिशाली राजवंश था। उससे विवाह सम्बन्ध के कारण बख्तावर सिंह की प्रतिष्ठा और शक्ति बढ़ी। विवाह उपरान्त जब रावराजा जयपुर गये तो वहाँ के महाराजा ने पहले तो उनका स्वागत-सत्कार किया, लेकिन बाद में उन्हें नजरबन्द बना लिया गया। प्रतापसिंह ने जयपुर राज्य के अनेक किले तथा गाँवों पर कब्जा कर उन्हें अपने राज्य में मिला लिया था। अब जयपुर के महाराजा ने उन्हें लौटाने के लिए बख्तावर सिंह पर दबाव डाला। रावराजा को विवश होकर कुछ किले-गाँव लौटाने पड़े। इसके बाद ही उन्हें अलवर जाने की अनुमति मिली।

अलवर वापस आकर उन्होंने अपने राज्य विस्तार पर ध्यान दिया और भतरपुर राज्य के कामां, खोहरी, नगर, पहाड़ी आदि गाँवों पर कब्जा कर लिया। ये गाँव पहले उनके पूर्वज कल्याणसिंह की जागीर में शामिल रहे थे। किन्तु इनपर अलवर राज्य का अधिकार ज्यादा समय तक नहीं रह सका। 1800 ई. में बख्तावर सिंह ने घोसावली के खानजादा नवाब जुल्फिकार खां पर हमला किया तथा घोसावली के गढ़ को नष्ट कर दिया और नवाब के प्रदेश को अलवर राज्य में मिला लिया। उन्होंने घोसावली के स्थान पर

गोविन्दगढ़ में नया किला भी बनवाया।

उन दिनों दिल्ली की सत्ता पर अधिकार के लिये मराठा और अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी के बीच संघर्ष चल रहा था। मुगल बादशाह नाम मात्र के बादशाह रह गये थे। अंग्रेजों के बक्सर के युद्ध (1764ई.) के बाद मुगल बादशाह को इलाहबाद के पास कड़ा नामक स्थान पर निर्वासित कर दिया था। 20-25 वर्ष बाद मराठा-सेनापति महादेव सिंधिया ही मुगल बादशाह को अपने संरक्षण में दिल्ली वापस लाया। मराठा सेनापति राजस्थान के राजपूत-राज्यों में भी दखलन्दाजी करते और उनसे धनराशि वसूल करते रहते थे। 1803 ई. में मराठा सेनाति अम्बाजी इंगले ने अलवर राज्य के पैतृक गाँव माचाड़ी में भी लूटमार की। बख्तावर सिंह इससे बहुत नाराज हुए। इसी वर्ष अंग्रेज सेनापति लार्ड लेक मराठा सेनाओं का पीछा करता हुआ अल्वर राज्य के निकट आया तो रावराजा ने मराठों के विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता का निश्चय किया। मुगल दरबार में अलवर राज्य के वकील अहमद बख्श की राय भी यही थी।

नवम्बर की शुरूआत में रूपारेल नदी के किनारे लासवाड़ी (अब यहाँ नासवारी नामक गाँव बसा है) नामक स्थान पर मराठा तथा अंग्रेजी सेनाओं के बीच युद्ध हुआ। अलवर राज्य ने अहमद बख्श के नेतृत्व में सैनिक टुकड़ी भेजने के अलावा अंग्रेजी सेनाओं के लिए रसद (खाद्य सामग्री) का भी प्रबन्ध किया। अहमद बख्श ने मराठों की सैनिक गतिविधियों के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी भी लार्ड लेक को दी। युद्ध में लार्ड लेक की बड़ी जीत हुई। इसी वर्ष बाद में लार्ड लेक ने दिल्ली पर भी अधिकार कर लिया और दिल्ली मराठों के प्रभाव से मुक्त हो गई।

युद्ध के बाद नवम्बर में ही अलवर राज्य तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी के बीच मित्रता एवं सहयोग की सन्धि हुई। दोनों पक्षों ने एक दूसरे के मित्र तथा शत्रुओं को अपना मित्र तथा शत्रु मानना स्वीकार किया। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अलवर राज्य की रक्षा के लिए सहयोग देने और शासन-प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करने का आश्वासन दिया। अलवर राज्य ने स्वीकार किया कि वह अन्य राज्यों के साथ विवाद की स्थिति में सीधी कार्यवाही नहीं करेगा बल्कि कम्पनी की सहायता से उनका समाधान करने का प्रयत्न करेगा। दिसम्बर में गवर्नर जनरल लार्ड वैलेजली ने सन्धि की पुष्टि भी कर दी। सन्धि की पुष्टि के बाद कम्पनी ने राठ-हरियाणा में 13 गाँव परगने अलवर राज्य को दिये। इससे अलवर राज्य का विस्तार हुआ। अहमद बख्श को फिरोजपुर का नवाब बनाया गया। अलवर राज्य ने अपनी तरफ से लोहारू का परगना अहमद बख्श को दिया। 1805 ई. में अंग्रेज सरकार ने राठ के तीन परगने वापस लेकर तिजारा, टपूकड़ा और कठूमर के तीन नये परगने अलवर राज्य को दिये। किशनगढ़ का परगना अलवर राज्य की पुरानी सीमा और तिजारा के बीच स्थित था। अलवर राज्य ने उसे ईस्ट इंडिया कम्पनी से एक लाख रुपये में खरीद लिया।

1793 ई. में जयपुर में अपनी नजरबन्दी के दौरान रावराजा को कुछ किले और गाँव जयपुर राज्य को देने पड़े थे। यह बात उन्हें सालती रहती थी। 1811 ई. में उन्होंने दो सैनिक कम्पनी और 300 घुड़सवारों को जयपुर राज्य पर कार्यवाही करने के लिए भेजा। वे इस तरह दबाव डालकर अपने परगने वापस लेना चाहते थे। अंग्रेज सरकार ने इसका विरोध किया क्योंकि यह 1803 ई. की सन्धि के खिलाफ था। कम्पनी सरकार के विरोध के कारण बख्तावर सिंह ने अपने सैनिक वापस बुला लिए। इस घटना के बाद कम्पनी-सरकार ने अलवर राज्य से नयी सन्धि की जिसमें सन्धि की शर्तो का उल्लंघन करने पर अंग्रेज सरकार को सैनिक हस्तक्षेप करने का अधिकार मिल गया।

फिर भी जून 1812 ई. में बख्तावर सिंह ने जयपुर राज्य के दुब्बी और सिकराया परगनों पर कब्जा कर लिया। कम्पनी सरकार ने इसका विरोध किया। बख्तावर सिंह फिर भी नहीं माने तो कम्पनी सरकार ने अलवर राज्य के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए अपनी सेना भेज दी। जब यह सेना अलवर शहर के काफी निकट आ गयी तो नवाब अहमद बख्श तथा अन्य राजाधिकारियों के समझाने पर बख्तावर

सिंह ने दुब्बी तथा सिकराय से अपने सैनिक वापस बुला लिये। अलवर राज्य को हर्जाने के तौर पर तीन लाख रुपये कम्पनी सरकार को देने पड़े।

अपने शासनकाल के आखिरी दिनों में बख्तावर सिंह उन्माद रोग से ग्रस्त हो गये। उन्माद की दशा में वे मुसलमान फकीरों की प्रताड़ना करने लगे। अलवर के मुसलमान धार्मिक नेताओं ने इसकी शिकायत मुगल बादशाह बहादुर शाह तक पहुँचायी। बहादुर शाह के आग्रह पर कम्पनी ने रावराजा के व्यवहार की जाँच के लिए एक उच्च अधिकारी को अलवर भेजा।

39 वर्ष की आयु में 18 फरवरी 1815 ई. को बख्तावर सिंह का अलवर में देहान्त हो गया। राजमहल के पीछे तालाब के किनारे उनका अन्तिम संस्कार किया गया। उनके उत्तराधिकारी रावराजा विनय सिंह ने बाद में यहाँ उनका भव्य स्मारक बनवाया।

श्रीकृष्ण दान लीला :- बख्तावर सिंह साहित्य प्रेमी और कवियों तथा विद्वानों को प्रश्रय देनेवाले राजा थे। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि देव की पाँचवी पीढ़ी के वंशज भोगीलाल उनके दरबार के मुख्य कवि थे। भोगीलाल ने उनके लिए 'बखत-विलास' नामक रस-ग्रंथ की रचना की थी। इसकी कई प्रतियाँ राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की अलवर शाखा के पुस्तकालय में मौजूद हैं। दुर्भाय से यह ग्रंथ अभी प्रकाशित नहीं हो पाया है। वे मुरलीधर भट्ट नामक कवि को अपनी राधा-कुण्ड (मथुरा-गोवर्धन के पास) यात्रा में अलवर बुलाकर लाये थे। मुरलीधर भट्ट की 'प्रेम तरंगिणी' और 'श्रृंगार तरंगिणी' नामक दो रचनाएँ भी उपरोक्त पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। बारहठ उमेदराय भी उनके दरबार के महत्त्वपूर्ण कवि थे। इन्होंने 'वाणी-भूषण' नामक अलंकार ग्रंथ लिखा था। राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के उपरोक्त पुस्तकालय में देव कवि की रचनाओं का बहुत अच्छा संकलन मौजूद है। ये सभी हस्तलिखित प्रतियों के रूप में हैं। भोगीलाल के पास अपने पूर्वज देव कवि की रचनाएँ रही होंगी। रावराजा बख्तावर सिंह के पठनार्थ ही इनकी नयी प्रतियाँ बनायी गयी होंगी।

बख्तावर सिंह ने 1854 वि. (1797 ई.) में स्वयं भी 'श्री कृष्ण दान लीला' नामक काव्य ग्रंथ की रचना की। उपरोक्त पुस्तकालय में इस रचना की तीन प्रतियाँ सुरक्षित हैं। यह ग्रंथ भी अभी अप्रकाशित है।

ग्रंथ के आरम्भ में परम्परा-अनुसार गणेश, सरस्वती, महादेव, पार्वती तथा कृष्ण आदि की वंदना की गई है। कवि ने अपने अज्ञानी होने की विनम्रता भी दिखलायी है। आत्म-परिचय देते हुए कवि ने लिखा है -

> राधा कृष्ण उपास हैं, बख्तावर निज नाम।
> नरूवंश कछवाह कुल, माचाड़ी शुभ ग्राम।।

बख्तावर सिंह ने यह ग्रंथ इन्द्र कवि की आज्ञा (प्रेरणा) से लिखा था। उनके दरबार में इन्द्र नामक किसी कवि के होने की जानकारी नहीं मिलती है। राजा को प्रेरणा देने वाले कवि संभवत: भोगीलाल ही होंगे, जो उनके दरबार के प्रमुख कवि थे। कवि लिखता है -

> कवि इंदर अज्ञा दई, कीजै कृष्ण विलास।
> दूरि होई अज्ञानतम, उपजै प्रेम प्रकास।।

कवि ने अपनी रचना में ब्रजभूमि, नन्दग्राम और बरसाना के सौन्दर्य का भरपूर वर्णन किया है। राधा और कृष्ण के सौन्दर्य (नखशिख) का भी कवि ने मन लगाकर वर्णन किया है, किन्तु यह श्रृंगार-भाव की रचना नहीं है। कवि के लिए कृष्ण परब्रह्म स्वरूप हैं और राधा आदि प्रकृति शक्ति हैं -

''पूरन ब्रह्म प्रगट परमानौ। आदि प्रकृति राधा पहिचानौ।।
उनकी कला दशावतारा। इनकी कला शक्ति संसारा।।''

सुबह कृष्ण अपने सखाओं के साथ वन में गाय चराने जाते हैं। राधा भी अपनी सखियों के साथ दूध-दही बेचते समय उसी वन में पहुँच जाती हैं। आमना-सामना होने पर दोनों के बीच विवाद हो जाता है। कृष्ण राधा से पूछते हैं - ''हो तुम कौन गोप की जाई; बिन बूझे यह वन में आई''। कृष्ण के सखा राधा से कहते हैं कि 'इस वन में बहुत धन है और कृष्ण उसके रक्षक हैं। तुम धन चुराने की नीयत से वन में आई हो। अत: तुम्हें दान के रूप में दण्ड भरना पड़ेगा।'

राधा की सखियाँ कहती हैं कि यह राधा की राजधानी है। नन्द को भी राधा के पिता वृषभान ने ही यहाँ बसाया है। तुम अपनी जमुना के किनारे जाओ। यह वन तुम्हारा नहीं है -

''श्री वृषभान नंद को लाए। बहुरि बांह दै इहा बसाए।।
तब तें बाबा नन्द कहावै। तिन के धोटा हमे डरावै।।''

इस तरह दोनों पक्षों के बीच वाद-विवाद चलता रहता है। अन्त में राधा की सखियाँ कहती हैं कि यदि कृष्ण राधा को अपने नृत्य-गान से रिझा ले (खुश करले) तो हम दूध-दही का दान देने के लिए तैयार हैं। कृष्ण अपने सखाओं से परामर्श कर इसके लिए तैयार हो जाते हैं।

कृष्ण की मुरली की तान सुनकर देव, गन्धर्व, ऋषि, पशु-पक्षी आदि सभी मुग्ध हो जाते हैं। राधा तथा उनकी सखियाँ भी बहुत प्रसन्न होती हैं और दूध, दही, मक्खन आदि का दान देकर कृष्ण तथा उनके सखाओं को सन्तुष्ट कर देती हैं।

कवि ने अपनी रचना के अंत में उसके पठन-श्रवण के फल का भी वर्णन किया है। यह फल अतिरंजित शब्दावली में वर्णित है -

''जो कोउ नित प्रतिचित गावै। परगट चारि पदारथ पावै।।
पढ़े चारियो वेद जु होवै। छिन ही में यह सो फलु जावै।।
सुने पुराननि के जौ फल है। पावे पढ़ै जु एकहू पल है।।
कासीवास, प्रयाग अन्हाए। जो फल सो यह पावतु गाए।।

बख्तावर सिंह अपनी काव्य-रचना को सामान्य श्रृंगारिक रचना के रूप में नहीं देखते हैं। वे राधा-कृष्ण की लीला के वर्णन के कारण इसे धार्मिक ग्रंथ मानते हैं। तभी उन्होंने अपने रचना के फल का ऐसा वर्णन किया है।

रचना के अंत में रचना-स्थान और रचना-काल का भी वर्णन किया गया है। यह वर्णन उस समय प्रचलित पद्धति के अनुसार है। इस पद्धति में अंकों को किन्हीं अन्य वस्तुओं के माध्यम से उलटे क्रम में लिखा जाता था। श्रीकृष्ण दानलीला का रचना काल इस प्रकार है -

जगर-मगर संपत्ति बहुल, सोहत नगरन बीच।
बषत रची लीला सु यह, अलवर गढ़ के बीच।।
संवत युग, सिववदन, वसु, ससि, युत कातिक मास।
कृष्ण पक्ष, षष्ठी बुधे, पूरन दान-विलास।।

युग 4 की संख्या, सिववदन 5 की संख्या, वसु 8 संख्या और ससि 1 की संख्या का सूचक है।

इसे सीधा लिखने पर 1854 विक्रम संवत् होता है। बख्तावर सिंह ने अपनी यह रचना अलवर गढ़ में कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की षष्ठी (6) को पूर्ण की थी।

बख्तावर सिंह का 24 वर्ष का शासनकाल बड़े उथल-पुथल का काल रहा । जयपुर राज्य से उनके सम्बन्ध सदा तनावपूर्ण रहे। अपने शासनकाल के अंत में ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार से भी उनके सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गये थे। ऐसे तनाव और उथल-पुथल के बीच भी उन्होंने अपने काव्य - प्रेम को बनाये रखा और 'श्रीकृष्ण दानलीला' जैसी काव्य-कृति की रचना की, यह महत्त्वपूर्ण बात है।

ए जेते दिन मन मिल गए तिय पिय बिन मोको तेते दिन मेरे आन लेखे
और जो तपत वाके तर के तिनके सुख को अंक भुज भर चाहत नैन कहै कब देखे
न पीय पाती पठाई न आवन कीनो मेरी एक न भई होहिहै रखे मेखे
असलेमशाह प्रिय जी का ना समझत जोवन जात परेखे।।

– शेरशाह (1472-1545) का पुत्र सलीमशाह कृत
(अकबर दरबार के हिंदी कवि - पृ. 29)

विलक्षण प्रतिभा के धनी : महाराजा मानसिंह

प्रो. कल्याण सिंह शेखावत

राजस्थान जहाँ अपने शौर्य और युद्ध कौशल के लिए जाना जाता है वहीं यह साहित्य-प्रेमियों तथा साहित्यसृजेताओं के लिए भी विख्यात है। इस मरुभूमि ने अनेक रचनाकारों को उत्पन्न किया है। यहाँ की आम जनता ने ही नहीं वरन् यहाँ के राजा-महाराजाओं ने भी अपनी मातृभाषा राजस्थानी के साथ-साथ हिंदी में भी बहुत साहित्य रचा है। इनमें जोधपुर नरेशों की साहित्य-सेवा विशेषरूप से उल्लेखनीय है। जैसा कि राजस्थानी शोध-संस्थान के निदेशक, श्री नारायणसिंह भाटी ने, डॉ. रामप्रसाद दाधीच कृत 'महाराजा मानसिंह (जोधपुर): व्यक्तित्व एवं कृतित्व के निदेशकीय में लिखा भी है -''राजस्थानी संस्कृति के विकास में काव्य और कलाओं ने जो भूमिका निभाई है उसमें यहाँ के शासक-वर्ग का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। राणा कुंभा से लेकर महाराजा मानसिंह तक अनेक प्रबुद्ध शासक हुए हैं जो कवियों और कलाविदों के आश्रयदाता होने के साथ-साथ स्वयं विद्वान् और कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न थे। मारवाड़ के शासकों में राव जोधा, राव गांगा, राव मालदे, महाराजा जसवंतसिंह, अजीत सिंह और महाराजा मानसिंह का नाम इनमें सहजरूप से लिया जा सकता है। कवियों को आश्रय देने और उनका सम्मान करने में शायद ही कोई शासक पीछे रहा हो।''

जोधपुर राजवंश में महाराजा जसवंतसिंह (प्रथम), उनके सुपुत्र महाराजा अजीतसिंह, और उसके बाद आगे चलकर महाराजा मानसिंह ही ऐसे प्रतिभाशाली साहित्यकार हुए जिन्होंने पद्य के साथ गद्य में भी रचनाएँ कीं। एक ओर वे कलम के धनी थे तो दूसरी ओर तलवार के निर्भीक योद्धा, दूरदर्शी एवं कुशल प्रशासक।

महाराजा मानसिंह का जन्म सन् 1782 (संवत् 1839) में हुआ था। उनका शासनकाल रहा सन् 1803 से 1844 तक। यह वह समय था जब मुगल बादशाह बहादुरशाह भारत का शासक था। जिन अंग्रेजों ने भारत में व्यापार करने की इच्छा लेकर प्रवेश किया था, वे भी अब धीरे-धीरे भारत की रियासतों में राजनीतिक दख़ल देने लगे थे और अपनी भाषा तथा संस्कृति का प्रभाव भी जमाने लगे थे। उस समय की परिस्थितियों में पेशवा, गायकवाड़, होल्कर, सिंधिया और भोंसले दक्षिण में शक्तिशाली होकर राजस्थान की रियासतों में अपना प्रभाव जमाने का प्रयास कर रहे थे। परस्पर युद्धों के कारण तत्कालीन देशी रियासतों में असंतोष फैलने लगा और आर्थिक दृष्टि से कमजोर होने लगीं। इसका लाभ दक्षिण के मराठाओं ने उठाया। वे आर्थिक सहायता लेकर शासकों और उनके जमींदारों की मदद करने लगे। इसका कारण यह हुआ कि जोधपुर में महाराजा मानसिंह की धार्मिक नीतियों के चलते पोकरण के ठाकुर सवाईसिंह के द्वारा अनेक बार संकट उत्पन्न किया गया। ठाकुर सवाईसिंह ने महाराजा मानसिंह के धार्मिक गुरु आयस देवनाथ और दीवान इन्द्रराज सिंघवी की हत्या करवा दी, जिसका बदला लेने के लिए महाराजा ने मुसलमानों का, जिनमें पिंडारी प्रमुख थे, का सहयोग लिया और सवाईसिंह पोकरण को मरवा दिया। इसी तरह रियासत के छोटे और बड़े सामंत एवं जागीरदार आपस में लड़ते रहते थे, जिसके परिणामस्वरूप रियासतें कमजोर होती गईं और अंग्रेजों का दख़ल बढ़ता गया।

मानसिंहजी का बचपन बड़ी कठिनाइयों में बीता। जब वे मात्र 6 वर्ष के थे तभी उनकी माता का देहांत हो गया था। जब वे दस वर्ष के हुए तो पिताश्री का साया उनके सर से उठ गया। इतना ही नहीं "उनकी स्नेहमयी धात्री गुलाबराय की भी राजनैतिक षड्यंत्रों के द्वारा वि.सं. 1849 में हत्या कर दी गई। इस प्रकार केवल ग्यारह वर्ष की आयु में मानसिंह वात्सल्य, स्नेह और आश्रय से सर्वथा वंचित होकर जीवन के जटिल संघर्ष के लिये विवश हो गये। इन अभावों और परिस्थितियों की विप्लवी प्रतिक्रिया इनके शेष जीवन में प्रकट हुई है। अपने माता-पिता की मृत्यु के सम्बन्ध में स्वयं मानसिंह ने उल्लेख किया है -

मान जलंधर नाथ सौं, लग्या एक छबि होय।
कैसा लग्या सु एक है, जानिन दूजा लोय।।
हुँतौ नृपति षट वर्ष मंह, माता निर्गम भूत।
ता पीछै चौथै बरष, पितु परलोक अभूत।।
माता पिता को मोह, नाथ लगन दीनौ नहीं।
जान्यौ अपनौ सोह, आपनु धाम बुलाय लिय।।

(द्र. डॉ. रामप्रसाद दाधीच - महाराज मानसिंह (जोधपुर) : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 29)

महाराजा मानसिंह बहुआयामी व्यक्तित्व के स्वामी थे। वे भारतीय संस्कृति के पालक और पैरोकार थे तथा मातृभाषा के भक्त। वे निर्गुणी नाथ पंथ के अनुयायी थे। आयस देवनाथ को अपना धर्मगुरु मानते थे। आयस देवनाथ गुरु की भविष्यवाणी से ही उन्हें जोधपुर का महाराजा बनने का सौभाग्य मिला। इसीलिए उन्होंने नाथ पंथ को अपनाया तथा वैष्णव धर्म के स्थान पर नाथ पंथ का प्रचार-प्रसार किया। अपनी रियासत में न केवल नाथपीठ स्थापित किये वरन् मारवाड़ में नाथ पंथ को राजधर्म घोषित भी कर दिया। धर्मगुरु के लिए उन्होंने 'महामंदिर' तथा 'उदयमंदिर' जैसी विशाल एवं स्थापत्यकला युक्त इमारतें भी बनवाई।

अपनी 'रीझ और खीझ' के लिए प्रसिद्ध रहे हैं महाराजा मानसिंह। वे जिसपर प्रसन्न हो जाते, उसे हर तरह से भरपूर सहायता करते और जिसने उनके साथ धोखा किया तो उसके प्राण लेने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे। तदनुसार देखा जाये तो उनके जीवन के दो पक्ष थे- एक कठोर तथा अनुशासनप्रिय शासक के रूप में और दूसरा सहृदयी आदर्श मानवीय गुणों से परिपूर्ण तथा गुणग्राहक राजा का। दानवीरता, धर्म-परायणता, विद्यानुरागी, संस्कृति व कलाओं के प्रति आस्था, देशभक्ति, स्वतंत्रता प्रिय आदि ऐसे सद्गुणों से युक्त थे जिन्होंने उन्हें महान् बना दिया। इस प्रकार महाराजा मानसिंह विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् और ज्ञानी राजा के रूप में चर्चित रहे।

एक सच्चे और निडर देशभक्त थे मानसिंहजी। देशभक्तों की पूरी सहायता करते थे। अंग्रेज सैनिक जिन देशभक्तों को प्रताड़ित करते थे और उन्हें बंदी बनाने का यत्न करते, उन्हें जोधपुर नरेश अपनी रियासत में शरण देते और उनकी सुरक्षा भी करते थे। ऐसे ही मानुभावों में प्रमुख थे जसवंत राव होल्कर और अप्पाजी भोंसले। महाराजा साहब ने अपनी रियासत जोधपुर के माध्यम से संपूर्ण भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध वातावरण बनाने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। ध्यातव्य है कि महाराजा मानसिंह ने संवत् 1888 में अजमेर में आयोजित ब्रिटिश दरबार में उपस्थित न होकर अपने विरोध का संकेत अंग्रेजों को दे दिया था।

एक नितिनिपुण कुशल प्रशासक थे महाराजा मानसिंह। राजनीति के साथ-साथ अनेक धर्मग्रंथों-शास्त्रों, कुरान, ज्योतिष, आयुर्वेद, राजस्थानी साहित्य, राजस्थानी संगीत, इतिहास आदि का विविध एवं गहन ज्ञान प्राप्त था उन्हें। आयुर्वेद पद्धति से वे स्वयं भी इलाज किया करते थे। उन्हें विविध

भाषाओं का भी ज्ञान था। महाराजा मानसिंह के संबंध में इतिहासकार जेम्स टॉड द्वारा लिखित निम्न पंक्तियों उल्लेखनीय हैं - ''महाराजा विद्वान् था। हिन्दुस्तानी के साथ वह फारसी भाषा भी जानता था और दोनों में प्रभावपूर्ण ढंग से वार्तालाप करता था।'' (द्र. उपरिवत् पृ. 50).

विद्वानों, कलाकारों और कवियों का बहुत सम्मान करते थे महाराजा तथा उन्हें पुरस्कृत भी करते थे। वे स्वयं भी एक अच्छे कवि तथा रचनाकार थे। उनके काव्यगुरु थे बांकीदास आसिया जिन्हें कविराजा की उपाधि तथा राजकवि के रूप में सम्मानित किया था। इन महाराजा के आश्रम में अनेक कवियों को आश्रय और सम्मान प्राप्त था। साहित्य एवं कलाओं को प्रोत्साहन देने के लिए महाराजा ने मेहरानगढ़ दुर्ग में 'गुणीजन खाना' नाम से रचनाकारों, गायकों तथा चित्रकारों की एक सभा का निर्माण कर रखा था। अंग्रेज विद्वान् वेल्डर के अनुसार महाराजा मानसिंह ने चारण काव्य शैली के अनेक कवियों को इस गुणीजनखाने में नामजद किया था जिनमें बांकीदास आसिया, कवि जुगतावणसुर तथा संस्कृत के शंभुनाथ जोशी को भी इस काव्य सभा का सदस्य बनाया और उन्हें लाख पसाव देकर सम्मानित भी किया। महाराजा मानसिंह ने 26 डिंगल कवियों को हाथी पर बिठाकर लाख पसाव से सम्मानित किया था। इस तरह महाराजा मानसिंह विद्यानुरागी, काव्य रसिक तथा ज्ञानी महाराजा के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने समय में 'पुस्तक प्रकाश' नामक संस्था की स्थापना की जो आज 'महाराज मानसिंह पुस्तक प्रकाश' के रूप में प्रसिद्ध है। इस संस्था के माध्यम से महाराजा ने विभिन्न भाषाओं के प्रसिद्ध ग्रंथों की हस्तलिखित पत्रियां तैयार करवाई और इस संस्था को अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों से सुशोभित किया। अनेक स्थानों से महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रंथों की प्रतिलिपियां मंगाई जिनमें नाथ चरित्र कथा, सिद्ध सिद्धांत-पद्धति, रामायण की कथा, रासलीला की कथा, सूरजप्रकाश (महाकाव्य), ढोला-मरवण, दुर्गा-चरित, गजेन्द्र-मोक्ष की कथा, श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध की कथा, पंचतंत्र, शिवपुराण और शिव रहस्य आदि प्रसद्धि हैं।

कृतियाँ :- कला-मर्मज्ञ, नाथ दर्शन के प्रकाण्ड पंडित महाराजा मानसिंह महाकवि के रूप में भी प्रसिद्ध थे। उनके द्वारा रचित अनेक ग्रंथ उनकी विद्वत्ता के परिचायक हैं। डॉ. रामप्रसाद दाधीच के शोधानुसार उनकी रचनाएं निम्नवत् हैं -

''**(अ) नाथ भक्ति और दर्शन के ग्रंथ :**

1. श्री जालंधरनाथजी रो चरित्र ग्रंथ
2. जालंधर चन्द्रोदय
3. नाथ चरित्र
4. नाथ वर्णन ग्रंथ
5. मान-पंडित संवाद
6. मानदशा कथन
7. अनुभव मंजरी (या नाथजी री वाणी)
8. सिद्ध सम्प्रदाय ग्रंथ
9. सिद्ध मुक्ताफल ग्रंथ
10. तेज मंजरी
11. प्रश्नोत्तर ग्रंथ
12. पंचावली
13. सिद्ध गंगा
14. सरूपां रा दूहा
15. कवित्त श्री सरूंपारा
16. दूहा परमारथ
17. नाथ कीर्तन
18. सेवा सार
19. नाथजी री आरतियां
20. नाथ स्तोत्र
21. नाथजी रा दूहा
22. जालंधरनाथजी री निसांणी
23. जालन्द्री पाव स्तोत्र
24. नाथ स्तुति
25. नाथजी रा पद
26. जालंधरनाथजी रो अष्टक
27. पुष्पांजली
28. अपराध क्षमा स्तोत्र

29. षट्चक्र
30. श्री जालंधर ज्ञान सागर
31. कवित्त परमारथ रा

निर्गुण भक्ति के पद : 32. मान पद-संग्रह (तीन भाग) प्रकाशित

(ब) राम और कृष्ण-काव्य : (1) कृष्ण विलास (2) रास-चन्द्रिका (3) रामविलास

(स) श्रृंगार काव्य:

1. कवित्त श्रृंगार इकतीसी
2. श्रृंगार बरवै
3. दूहा ब्रजभाषा में
4. दूहा संजोग श्रृंगार-देस भाषा में
5. संजोग श्रृंगार का दूहा
6. दूहा भाषा हिन्दुस्तानी में
7. राग रत्नाकर
8. मानसिंहजी साहबां री बणावट रा ख्याल-टप्पा
9. श्रृंगार पद
10. होरी-हिलोर (प्रकाशित)
11. बहार वाटिका (प्रकाशित)

(द) प्रकृति काव्य : 1. उद्यान वर्णन 2. षट्ऋतुवर्णन

(इ) पद्यबद्ध कोष : 1. चौरासी पदार्थ नामावली ग्रंथ 2. एकाक्षरी नाममाला कोश

(ई) गद्य साहित्य : 1. रतना हमीर री वारता 2. श्रृंगार सिरोमणी वार्तामय ग्रंथ 3. आराम रोशनी 4. नायक-नायिका लक्षण 5. माण्डूकोपनिषद् की विद्वद्मनोरंजनी टीका

(ई) संस्कृत के संदिग्ध ग्रंथ : 1. नाथ चरित्र प्रबन्ध ग्रंथ 2. नाथ चन्द्रोदय

(द्र. डॉ. रामप्रसाद दाधीच - महाराज मानसिंह (जोधपुर) : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 76-77)

महाराजा मानसिंह ने लगभग 60 ग्रंथों की रचना की थी। वे ब्रजभाषा पिंगल काव्य तथा राजस्थानी भाषा काव्य के विद्वान् थे। उनके मानपद संग्रह, नाथ साहित्य एवं दर्शन काव्य की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। मानसिंह नाथ पंथ के अनुयायी थे अत: उनकी अधिकांश रचनाएं नाथ भक्ति और दर्शन से संबंधित रही हैं। श्रृंगारपरक रचनाएं भी काफी हैं और कुछ राम और कृष्ण भक्ति के पद हैं। प्रकृति-चित्रण के अंतर्गत उन्होंने षड्ऋतुओं का अच्छा वर्णन किया है। तत्संबंधित विषयों पर बहुत सुंदर पद रचे हैं कवि मानसिंह ने।

मूलत: नाथ भक्त कवि हैं, मानसिंह जी। उन्होंने नाथ सम्प्रदाय के महत्त्व को तो भली-भांति दर्शाया है अपने ग्रंथों में, स्तुति भी की है और नाथजी की आरतियां भी की हैं, इसके साथ ही अपने काव्यगुरु देवनाथजी का संस्तवन और महिमामंडन करने में भी अग्रणी रहे हैं। गुरु ने सहज रूप में ही उन्हें संसार का तात्त्विक ज्ञान करा दिया जिससे उनके मद, मोह आदि सभी दुर्गुणों का नाश हो गया। उनकी संगति और कृपा से उन्होंने स्वयं को भी पहचान लिया। देखिये उनका निम्न पद -

'सतगुरु सहज बतायो, जब रतन हाथ में आयो।
मन ममता को दूर हटाई, ज्ञान-भान दरसायो।
अपनो रूप आप मैं परख्यो, दूजो हतो मिटायो।
मुझमें जगत जगत में मैं हूं, यह स्वरूप समझायो।
मिथ्या भरम मान कर बैठो, तन अभिमान गिरायो।
संत संगत अमृत रस पायो, पीवत खूब छकायो।
अनन्त छक्यो जब सोय गयो फिर, जग्यो फेर भर पायो।
नाथ जलंधर प्रताप भयो जद संत सरनागत आयो।
देवनाथ गुरु मानसिंह के भ्रम तम दूर भगायो।'

(द्र. डॉ. राजकुमारी कौल कृत राजस्थान के राजघरानों की हिन्दी-सेवा, पृ. 82)

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पर आधारित उनकी कृति 'कृष्ण विलास' में श्रीकृष्ण द्वारा की गई रासलीला का वर्णन भी बड़ा मनमोहक दिया है –

'वन के प्रफुल्लिकंज लतिका लपटि द्रुम,
चन्द्रमां की चांदनी अनूप सी प्रकासी है।
जमुना के जल में सौ लहरैं हिलोरा लहैं,
तीर तीर कोमल सी बालुका बिकासी है।
मोहन मदन स्याम एकाकी विपन आये,
बंसी की ललित धुनि अंसुरी बिसासी है।
मान कहे ब्रज की सब गोपिका सुनत कान,
आगम गगन मानों चंग सी हुलासी है।' (वही, पृ. 74)

षट्ऋतु वर्णन में कवि ने बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत और शिशर, सभी छः ऋतुओं के वर्णन में कहीं सहज तो कहीं श्रृंगार के भाव-अनुभावों का सजीव चित्रण किया है। प्रस्तुत है हेमन्त ऋतु-वर्णन का निम्न छंद –

'दिन लघु दीरघ रात, विश्व प्रबल सी जु बढ़त
सब सीतउ जा, अवनी जल नभ अरु अनल।।
बाजत विषम बयार, उत्तर कौ सीतल अधिक
तैसो परत तुषार, जित तित पंकज बन जरत।।
जिह समय नमतै जोर, अनगनित च्यारौं ओर
करि पवन वेग विसेस, हिम पुंज परत असेस।।
प्रजलन सौरभ वंत, अगर कनक की तापती
हितकारी हेमन्त, सुख इत्यादि समाज में।।' (वही, पृ. 79)

कवि महाराजा मानसिंह ने अपने काव्य में श्रृंगार के दोनों ही रूपों, संयोग तथा विप्रलंभ को लेकर रचनाएं की हैं। राधा-कृष्ण मिलन का संयोग श्रृंगार का एक कवित्त द्रष्टव्य है –

''एक समै मंदिर में राधका समेत स्याम,
बैठे रति काम मानो प्रेम सरसातु है।
एकन सौ नैन सैन एकन सौ मीठे बैन,
एक सौ प्यारे कुच ओष्ट परसातु है।
छिरकै गुलाब आप मोहन जु मानती कौ,
मान कहे रूप वह चारु दरसातु है।
सावन की लतासी पर फूली मनु बार बार,
मंद मंद बुन्दनसो मेघ बरसातु है।।'' (कृष्ण विलास)

प्रिय के बिछुड़ने पर, उसके वियोग में प्रियतमा अत्यंत विकल हो जाती है। विरह-वियोग से शरीर जलने लगता है और नयनों से अनायास अश्रुधारा निकल पड़ती है। विप्रलंभ श्रृंगार का अनूठा चित्रण किया गया है निम्न दोहों के अंतर्गत कवि ने –

'विरह बिथा झलपट बिचै, सह जल गियो शरीर।
जांणी पड़ न किण जुगत, नैणां निकसत नीर।। 213।।

हेली पिय बिछड़त हियौ, बजर हुवो बरजोर।
घणी रही घणरी भ्रमक, किड्क्यो नही कठोर ।।214।। (रतना हमीर री वार्ता)

नारी के रूप-सौंदर्य का सहज और सरल चित्रण किया है मानसिंह जी ने। नारी के विकृत सौंदर्य वर्णन में उनकी रुचि नहीं रही। उन्होंने बहुत ही संयमित होकर, नारी को विधाता की अनुपम कृति मानकर उसके रूप का वर्णन किया है। डॉ. रामप्रसाद दाधीच ने बड़ी बारीकी और विद्वत्ता से समीक्षा की है कवि मानसिंह के कवित्त की और व्यक्तित्व की भी। उन्होंने अपने शोध ग्रंथ – 'महाराजा मानसिंह (जोधपुर) : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में इस विषय में लिखा है-''मानसिंह ने भी अपने शृंगार-काव्य में नारी के काय-सौंदर्य का चित्रण किया है किन्तु इनकी दृष्टि अपेक्षाकृत पवित्र रही है। इन्होंने नारी को विधाता की परम सुन्दर कृति के रूप में लिया है और उसके रूप का उतना ही संयत होकर वर्णन किया है। इनके रूप-चित्रण की रेखायें सूक्ष्म न होकर सरल और सुबोध हैं। जो रूप चित्र वे खींचते वह अपनी शब्द-सामर्थ्य के कारण सीधा मानस पर अंकित हो जाता है। यह चित्रण वस्तुपरक के साथ भावात्मक भी है। इससे सहृदय में एन्द्रिक-विकार उत्पन्न न होकर एक सहज मानसिक आनन्द की उपलब्धि होती है।'' (पृ. 141)

महाराजा मानसिंह संगीत-शास्त्र के भी पूर्ण ज्ञाता थे। उन्होंने अपनी काव्य-रचनाओं में शास्त्रीय तथा लोक प्रचलित राग-रागिनियों का अत्यंत सफल प्रयोग किया है और उनकी स्वर-लिपियां भी तैयार करवाई थीं। इस पश्चिमी मरु क्षेत्र में 'मांड' और 'सोरठ' राग अत्यंत प्रचलित रहे हैं। अत: ये लोकगीत इन्हीं रागनियों के कारण यहां की जनता के कंठहार बन गये हैं। स्वयं मानसिंह ने भी इन्हीं राग-रागनियों को आधार बनाकर काव्य-रचना की है। चित्रकला के प्रति भी उनका विशेष अनुराग था जो उनके द्वारा चित्रित चित्रों से प्रकट होता है।

मानसिंह ब्रजभाषा, राजस्थानी, उर्दू-फारसी तथा पंजाबी भाषाओं के ज्ञाता थे। संस्कृत का भी उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था जो उनके द्वारा रचित संस्कृत और अन्य ग्रंथों में स्पष्ट लक्षित होता है। इन भाषाओं के साथ ही उन्होंने प्राकृत, अपभ्रंश तथा देशज शब्दों का प्रयोग भी अपने साहित्य में किया है। हिंदुस्तानी और पंजाबी भाषा-शब्दों के प्रयोग से भी परहेज नहीं किया उन्होंने। उनका शब्द-भण्डार अत्यंत समृद्ध था। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग ने उनकी भाषा को सबल और आकर्षक बना दिया है, विशेषरूप से राजस्थानी के संदर्भ में। भाषा सरल है, सुबोध है और अलंकृत भी। अलंकारों के प्रयोग में कृपणता नहीं की है मान कवि ने। अनुप्रास उनको अति प्रिय रहा है अत: उनके काव्य में सर्वत्र दृश्यमान् है। उनकी भाषा माधुर्य, ओज, तथा प्रसाद तीनों गुणों से युक्त है। मानसिंह छंद-शास्त्र और संगीत-शास्त्र दोनों में पारंगत थे। छंदों में दोहा, सोरठा, पद्धरि, वैताली, बरवै, चौपाई, कवित्त, सवैया, गीतिका, तोटंक आदि का प्रयोग मिलता है। अपने काव्य को विभिन्न रागों और रागनियों से सँवारा-सजाया है और तालबद्ध भी किया उन्होंने।

इस छोटे-से, सीमित पृष्ठों के निबंध में महाराजा मानसिंह के साहित्यिक अवदान का आकलन करना और साहित्य में स्थान निर्धारण करना अति कठिन कार्य है। उन्होंने प्रचुर मात्रा में साहित्य-सृजन किया है। नाथपंथ के अनुयायी थे इसलिये उन्होंने निर्गुण-निराकार नाथ-दर्शन की स्तुति की परंतु इसके साथ ही उन्होंने सगुण राम, कृष्ण, गणेश, शिव, सरस्वती आदि देवों का स्तवन भी किया। उनकी शृंगार एवं प्रकृति वर्णन संबंधी रचनाओं में एक उच्च कोटि के साहित्यकार के दर्शन होते हैं। राजसिंहासन पर बैठकर अन्य शासकीय कार्यो के उपरांत, अनेक कवियों-कलाकारों को आश्रय देकर, उन्हें सम्मानित और पुरस्कृत कर, वे भाषा-साहित्य, संगीत-संस्कृति के संरक्षण और प्रसारक के रूप में स्थिर स्तंभ सदृश्य खड़े नज़र आते हैं। इन तथ्यों के आलोक में उन्हें साहित्यकार कहा जाय, या एक उदारचेता पंथ-निरपेक्ष

निर्गुण-सगुण भक्त, अथवा राजा, जो अपने प्रजाजनों में खुशी बांटने के लिये, उन्हीं के सुर-में-सुर मिलाकर होरी, रसिया आदि लोकगीतों का गायन करता है।

संक्षेप में यदि कहा जाय तो वे अपने समय के एक महान्-शौर्यवान नरेश तथा विलक्षण मेधा के धनी साहित्यकार थे। उनके द्वारा रचित साहित्य हिंदी तथा राजस्थानी भाषा की अमूल्य निधि है।

संदर्भ - ग्रंथ :

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी - नाथ सम्प्रदाय, प्रका-हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग।
2. बाँकीदास ग्रंथावली (तीन भाग), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
3. मान पद संग्रह (तीन भाग)।
4. रसीले राज रा गीत - संपा, नारायणसिंह भाटी, राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर।
5. कर्नल जैम्स टॉड एनल्स एण्ड एन्टीक्यूटीज ऑफ राजस्थान (दो भाग) आर0एण्ड के0पाल लि0 लन्दन।
6. महाराजा मानसिंह - होरी हिलोर, प्रका. सुमेर प्रिंटिंग प्रेस, जोधपरु।
7. डॉ. रामप्रसाद दाधीच महाराजा मानसिंह (जोधपुर) : व्यक्तित्व एवं कृतित्व - प्रका. राजस्थानी शोध संस्थान, जोधपुर।
8. डॉ. राजकुमारी कौल - राजस्थान के राजघरानों की हिन्दी-सेवा, अनुपम प्रकाशन चौड़ा रास्ता जयपुर।

जैसे हो मोहन तुम चातुर, ऐसी न मिली कोऊ तुम्हैं नारि
यह महरेटी, लाज लपेटी, कोऊ छछंदनि गोप कुँवारि
नैन बैन तुम बाढ़त, परत न काहू के फंद
जदपि चकोरी, ए सब गोरी, आप प्रकासी चंद
रीझ भीज करि दया छबीले, तरफत हैं बज-बाल
'राजसिंह' को स्वामी श्री नगधर, कहियत हैं प्रतिपाल

महाराजा राजसिंह 'किशनगढ़''
सन् 1749 (निधन)

म.कु. बाबू शिवप्रकाश सिंह कृत 'लीलारसतरंगिणी'

डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह 'संजय'

भारतीय कवि-नरेशों की परम्परा में डुमराँव राज्य के महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतेन्दु-पूर्व युग के प्रसिद्ध भक्तकवि महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह रामभक्ति-परम्परा की माधुर्य-प्रधान शाखा के प्रमुख स्तम्भ हैं। रामभक्ति-परम्परा में दो शाखाएँ हैं - पहली ऐश्वर्य-प्रधान और दूसरी माधुर्य-प्रधान। प्रथम शाखा में प्रचुर साहित्य प्रकाशित है। दूसरी शाखा में भी पर्याप्त साहित्य रचा गया है, किन्तु रसिक साधना की गोप्य प्रति के कारण वह अपने सम्प्रदाय तक ही सीमित रहा। परिणामस्वरूप रामभक्ति की मधुरोपासना का बहुत कम साहित्य प्रकाश में आ पाया। डुमराँव के महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह ने 'लीलारसतरंगिणी' नामक वृहत्काय ग्रन्थ का प्रणयन कर रामभक्ति की मधुरोपासना के साहित्यिक भाण्डागार को समृद्धि प्रदान किया है।

हिन्दी-साहित्येतिहास में बाबू शिवप्रकाश सिंह का सर्वप्रथम उल्लेख अप्रैल 1878 ई. में प्रकाशित काँथा के तालुकेदार श्रीमन्महाराजकुमार ठाकुर रंजीत सिंह सेंगर के पुत्र पुलिस इंस्पेक्टर ठाकुर शिवसिंह सेंगर के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' में हुआ है। 'शिवसिंह सरोज' की कवि-संख्या 768 पर 'शिवप्रसाद सिंह बाबू डुमराँव' के नाम से महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह का उल्लेख करते हुए इनके द्वारा रचित 'रामतत्त्वबोधिनी' नामक ग्रन्थ से निम्नलिखित घनाक्षरी उद्धृत किया है-

तुलसी-प्रसाद हिय हुलसी श्री राम कृपा,
सोई भवसागर के पुल-सी ह्वै लसी है।
जाकी कविताई अनरथ-तरु टंगा सम,
गंगा की-सी धार, भक्त जन मन धसी है।
परम-धरम-मारतण्ड उर-व्योम उग्यो,
काम-क्रोध-लोभ-मति-तम-निसा-नसी है।
वाही के प्रकास जम गन मुँह मसि लाई,
अति सुख पाय जिय मेरे आय बसी है।।
(ठा. शिवसिंह सेंगर : शिवसिंह सरोज, संपा. डॉ. किशोरीलाल गुप्त,
हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, संस्करण 1970ई. छंद सं. 1734, पृ. 604)

इसी तरह 'शिवसिंह सरोज' के उत्तरार्ध 'कवियों का जीवन चरित्र' नामक खण्ड में 856/768/24 संख्या पर शिवप्रकाश सिंह बाबू डुमराँव का एक पंक्ति में परिचय दिया है- 'इन्होंने विनयपत्रिका का तिलक रामतत्त्वबोधिनी नाम बहुत सुन्दर बनाया है।' (तदेव, पृ. 802)

प्राचीन एवं मध्यकालीन हिन्दी-कविता के वरेण्य विद्वान् एवं विश्रुत पाठालोचक डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने सरोजकार की अपेक्षा अपने वृहत्काय ग्रन्थ 'सरोज-सर्वेक्षण' में महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह का परिचय ठीक-ठीक दिया है। (डॉ. किशोरीलाल गुप्त : सरोज सर्वेक्षण, हिंदुस्तानी

एकेड़मी, प्र.सं., 1967 ई., पृ. 713).

महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह डुमराँव (बिहार) के महाराज बहादुर जयप्रकाश सिंह के छोटे भाई थे। वे परमार क्षत्रिय थे। परमारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि महर्षि वसिष्ठ की यज्ञाग्नि से इनकी उत्पत्ति हुई थी, इसलिए परमार अग्निवंशीय क्षत्रिय कहलाते हैं। विक्रमाब्द 1070 के लगभग के कवि धनपाल ने अपने 'तिलकमंजरी' नामक गद्यकाव्य में लिखा है कि आबू के गुर्जर लोग, वसिष्ठ के अग्निकुण्ड से उत्पन्न एवं विश्वामित्र को पराजित करनेवाले परमार-नरेश के प्रताप को अब भी स्मरण करते हैं-

वासिष्ठैस्म कृतस्मयो वरशतैरस्त्यग्निकुण्डोद्भवो
भूपालः परमार इत्यभिधया ख्यातो महीमण्डले।
अद्याप्युद्गतहर्षगद्गदगिरो गायन्ति यस्यार्बुदे
विश्वामित्रजयोज्झितस्य भुजयोर्विस्फूजितं गुर्जराः।।
(द्र. धनपाल कवि : तिलकमंजरी 39 : उद्धृत-विश्वेश्वरनाथ रेउ,
राजा भोज : हिंदु. एके.प्र.सं. 1932ई. पृ. 5)

राजा मुंज के सभाकवि पद्मगुप्तकृत 'नवसाहसांकचरित' के अनुसार सरिताओं तथा फल-मूल के प्राचुर्य को देखकर मुनि वसिष्ठ ने आबू पर्वत पर आश्रम बनाया। एक बार विश्वामित्र उनकी कामधेनु छीन ले गये। इस पर क्रुद्ध होकर वसिष्ठ ने अथर्व-मन्त्र से अग्निकुण्ड में आहुति देकर एक वीर पुरुष उत्पन्न किया, जो उनके शत्रुओं को मारकर उनकी गाय ले आया। महर्षि वसिष्ठ ने प्रसन्न होकर उस वीर का नाम 'परमार' रख दिया और उसे छत्र से विभूषित कर राजा बना दिया। (द्र. महाकवि पद्मगुप्त : नवसाहसांकचरित, सर्ग 11, श्लोक सं. 49, 64-69, 71).

महर्षि वसिष्ठ के अग्निकुण्ड से परमारों की उत्पत्ति के समर्थन में अनेकशः तथ्य प्राप्त हैं, किन्तु वाल्मीकिरामायण में वसिष्ठ-विश्वामित्र के युद्ध-प्रसंग में अग्निकुण्ड से किसी पुरुष की उत्पत्ति का उल्लेख नहीं है, बल्कि उनकी प्रसिद्ध गौ कामधेनु के हुंकार से पह्लव, शक, यवन, काम्बोज, बर्बर आदि की उत्पत्ति का वर्णन है। (वाल्मीकि रामायण, सर्ग-54 श्लोक 18, 21 व सर्ग 55, श्लोक, 1-3)

आबू के अचलेश्वर-मन्दिर में प्राप्त अभिलेख के अनुसार वसिष्ठ ने अपने अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुए पुरुष को शत्रुओं का नाश करने में समर्थ देखकर उसका नाम परमार रख दिया। (द्र. विश्वेश्वरनाथ रेउ : प्र.सं. 1932 ई. पृ. 6) इन तथ्यों के आधार पर सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि महर्षि वसिष्ठ के शत्रुओं को मारनेवाले वीर पुरुष के वंशज ही परमार क्षत्रिय हैं और पर (शत्रु) को मारने के कारण ही उनको परमार कहा गया - 'परान् मारयतीति परमारः।'

यह तथ्य परम्परा-प्रसिद्ध है कि पूरे देश के परमार क्षत्रिय अपने को अग्निवंशी और वसिष्ठगोत्रीय मानते आये हैं। कर्नल जेम्स टॉड के 'राजस्थान का इतिहास' के अनुसार आबू पर्वत पर मुनियों की यज्ञ-रक्षा के निमित्त ब्राह्मणों द्वारा निर्मित अग्निकुण्ड से क्रमशः परिहार, चालुक्य, परमार और चौहान की उत्पत्ति हुई। इसलिए ये चारों अग्निवंशी क्षत्रिय कहलाते हैं। कर्नल जेम्स टॉड के अनुसार परमार वंश से पैंतीस शाखाएँ निःसृत हुई और उनके राज्य का बहुत अधिक विस्तार हुआ है, इसलिए प्रसिद्ध है कि पृथ्वी परमारों की है - 'पृथ्वी तणां पँवार की।' (द्र. कर्नल जेम्स टॉड : राजस्थान का इतिहास : अनु. श्री केशव कुमार ठाकुर, प्रका. आदर्श हिन्दी पुस्तकालय इलाहाबाद, संस्करण 1962ई., पृ. 65,67) 'बीकानेर-वंशावली' के अनुसार, (द्र.बीकानेर-वंशावली, पृ. 103, उद्धृत-ठा. इन्द्रदेवनारायण सिंह: वृहत् क्षत्रियवंश-भास्कर, प्रकाशक-लेखक, भिदपुर, मुजफ्फरपुर, बिहार, संस्करण 1947 ई, पृ. 147) उज्जैन के परमारवंशीय राजा सूरशाह की सन्तान थे, किन्तु 1947 ई. की 'राजपूत पत्रिका' के

अनुसार उज्जैनी क्षत्रिय परमार हैं और सुप्रसिद्ध सम्राट् विक्रमादित्य और महाराज भोज के वंशज हैं। सम्राट् विक्रमादित्य के 69वीं पीढ़ी तक परमारों ने मालवा के उज्जैन को राजधानी बनाकर राज्य किया। 'परमार-दर्पण' के अनुसार शकारि विक्रमादित्य की 69वीं पीढ़ी में राजा शान्तनशाह का नामोल्लेख है। (द्र. मुंशी विनायकप्रसाद : परमार-दर्पण, प्रका. मुंशी नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, संस्करण 1901 ई. पृ. 1) राजा शान्तनशाह राजा गणेशशाह के पुत्र थे। इन्होंने शाहाबाद जिले के मौजे कुरूर परगना धनवार में अपने गढ़ का निर्माण करवाया था। मुंशी विनायकप्रसाद ने अपने हिन्दी ग्रन्थ 'परमार-दर्पण' और फारसी ग्रन्थ 'तवारीख-ए-उज्जैनिया' में डुमराँव राज्य का इतिहास प्रस्तुत किया है। प्रो. अक्षयवट मिश्र 'विप्रचन्द्र' का अनुमान है कि बिहार में लगभग छह सौ वर्षों से परमार-नरेशों की अविच्छिन्न परम्परा है। (द्र.प्रो0 अक्षयवट मिश्र 'विप्रचन्द' : आत्मचरितचम्पू : प्रका. पुस्तक-भण्डार, लहेरियासराय : संस्करण : 1939 ई.पृ. 6).

राजा शान्तनशाह के प्रपौत्र राजा रामशाह के पुत्र राजा दलपतिशाह सन् 1577 ई. में बिहटा (परगना नेउर) में गद्दी पर बैठे। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के उप-निदेशक (अनुसन्धान) पद पर कार्यरत रहते हुए महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह कृत 'लीलारसतरंगिणी' का 1982 ई. में सम्पादन करनेवाले विद्वान् पाठालोचक डॉ. परमानन्द पाण्डेय लिखते हैं कि दलपतिशाह की मृत्यु के बाद उनके पुत्र राजा मकुटनशाह गद्दी पर बैठे, और 1607 ई. में उनके चचेरे भाई होलशाह के पुत्र नारायणमल ने भोजपुर और जगदीशपुर की गद्दी सँभाली। उनके बाद छठे राजा होरिल सिंह ने सन् 1708 ई. में अपने नाम पर होरिलनगर बसाया, जो डुमराँव से सटा हुआ था। बाद में दोनों मिलकर एक हो गया, जो वर्तमान डुमराँव है। होरिलनगर अब लुप्त हो गया। सन् 1746 ई. में होरिल सिंह की मृत्यु के बाद उनके पुत्र छत्रधारी सिंह और उनके बाद उनके पुत्र विक्रमाजीत सिंह (सन् 1770-1805 ई.) राजा हुए। राजा विक्रमाजीत सिंह के भ्रातृज बाबू दुष्टदवन सिंह के पुत्र महाराज बहादुर जयप्रकाश सिंह सन् 1805 ई. के 10 मार्च को गद्दी पर बैठे। इन्हीं के अनुज कवि महाराज शिवप्रकाश सिंह थे। (म0कु0 शिवप्रकाश सिंह : लीलारसतरंगिणी, संपा. डॉ. परमानन्द पाण्डेय, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना प्र.सं. 1982, पृ. 3).

लीलारसतरंगिणीकार भक्तकवि महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह का जन्म आश्विन शुक्ल 8 संवत् 1844 वि. (सन् 1787 ई.) में हुआ था। इनके पिता महाराजकुमार बाबू दुष्टदवन सिंह डुमराँव के महाराज बहादुर विक्रमाजीत सिंह के अनुज थे। शिवप्रकाश सिंह के ज्येष्ठ भ्राता महाराज बहादुर जयप्रकाश सिंह तथा कनिष्ठ भ्राता महाराजकुमार बाबू हरप्रकाश सिंह थे। डुमराँव राज्य की प्रजा के बीच महाराजकुमार शिवप्रकाश सिंह 'बड़ा बाबू साहेब' एवं महाराजकुमार बाबू हरप्रकाश सिंह 'छोटा बाबू साहेब' के रूप में प्रसिद्ध थे। बाबू शिवप्रकाश सिंह का पाणिग्रहण संस्कार जीगीरशण्ड के बाबू रोपन सिंह की पुत्री रामकली कुँवरि के साथ सम्पन्न हुआ, जिनसे संवत् 1866 वि. (सन् 1809 ई.) में लाल रामेश्वरबख्श सिंह का जन्म हुआ।

लाल रामेश्वरबख्श सिंह मौजा मझवारी, परगना भोजपुर-रियासत के स्वामी हुए। जुलाई, 1868 ई. में लाल रामेश्वरबखश सिंह की मृत्यु हो गयी। इनकी पत्नी (बाबू शिवप्रकाश सिंह की पुत्रवधू) राजवंशी कुँवरि 'काकीजी' ने पुराना भोजपुर में 40 बीघे में आम का बाग लगवाया और उसके पूरब में मुसाफिरों के लिए पक्का इनारा बनवाया। कवि-पुत्रवधू 'काकीजी' ने पुराने तालाब के दक्षिण तटबन्ध पर पंचमन्दिर का निर्माण करवाया और जानकीनाथ का श्रीविग्रह स्थापित किया। मन्दिर की व्यवस्था के लिए पुराना भोजपुर में बेलहारी गाँव दे दिया। इन्होंने पण्डित व्यास को पुराणकथा-श्रवण के दक्षिणा-स्वरूप 25 बीघे जमीन दिया, जिसकी सनद महाराज सर राधाप्रसाद सिंह बहादुर के हस्ताक्षर और मुहर से जारी की गयी है। लाल रामप्रकाश सिंह महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह के एक मात्र पौत्र थे, जिनकी 25 वर्ष की अल्पायु में संवत् 1915 वि. में मृत्यु हो गयी। विधवा पौत्रवधू गुनराज कुँवरि का संवत् 1945 वि.

में स्वर्गवास हो गया। इसके बाद बाबू शिवप्रकाश सिंह के वंशजों का उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवत: पौत्र लाल रामप्रकाश सिंह को कोई सन्तति न थी।

म.कु. बाबू शिवप्रकाश सिंह के ज़िम्मे क़र्ज़ लगाने और वसूलने का कार्य सौंपा गया था। वे जरूरतमन्द अन्य छोटी रियासतों को क़र्ज़ देते थे। क़र्ज़दारी के कारोबार से इन्होंने ख़जाने में काफ़ी धन बढ़ाया। क़ाज़ी मुहम्मद रज़ा के द्वारा रचित 'कारनामा नामदाराने भोजपुर' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ के अनुसार इसी तरीके से महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह ने रियासत क्वाथ, ममलूका नवाब नूरूल हसन खाँ साहब, राज बक्सर, राज हल्दी, रियासत रहथुआ, सामपुर दिखती तथा राजपुर को कर्ज़ से दबाकर और इन रियासतों को ख़रीदकर डुमराँव राज्य में मिला लिया। (कारनामा नामदाराने, भोजपुर, पृ. 62-63).

बाबू शिवप्रकाश सिंह की लोकोपकारीवृत्ति प्रसिद्ध है। इनकी उदारता के सम्बन्ध में श्री परमानन्ददत्त 'परमार्थी' ने लिखा है कि इन्होंने सरकार को पच्चीस हज़ार रुपये देकर वरुणा नदी का पुल बनवा दिया था। (द्र. परमानन्ददत्त 'परमार्थी': बिहार के प्राचीन और अर्वाचीन हिन्दी-साहित्यसेवी, जयन्ती-स्मारक-ग्रन्थ, प्रका. पुस्तक भण्डार, संस्करण 1942ई. पृ 628) महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह की अर्धांगिनी रानी रामकली कुँवरि 'ईयाजी' स्वयं उदारहृदया और धर्मनिष्ठा थीं। मुंशी विनायकप्रसाद के अनुसार नया भोजपुर में ककुआजी के बाग से दक्षिण 20 बीघे में और छतनवार (परगना भोजपुर) पोखरा से पूर्व 25 बीघे में अवस्थित दो आम्रकुंज रानी रामकली कुँवरि की कीर्ति-कथा के जीवन्त प्रमाण हैं। (द्र. मुंशी विनायक प्रसाद : परमार-दर्पण, पृ. 21) दूसरे आम्रकुंज में यात्रियों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए एक पक्का इनारा (कूप) भी बनवाया था। ये दोनों आम्रकुंज आज भी विद्यमान हैं। सन् 1844 ई. में रानी रामकली कुँवरि का एवं सन् 1847 ई. में महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह का स्वर्गवास हो गया।

जीवन के उत्तरार्ध में महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह को वैराग्य हो गया था और वे काशी में रहने लगे थे। काशी-प्रवास-काल में ही इन्होंने गोस्वामी तुलसीदासकृत 'विनयपत्रिका' की 'रामतत्त्वबोधिनी' टीका लिखी, जो बड़ी मधुर एवं लोकप्रिय हुई। इसी टीका का उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' में हुआ है। यह टीका सन् 1880 ई. में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हुई थी। रामतत्त्वबोधिनी टीका की कार्तिक शुक्ल 7, संवत् 1735 वि. की एक हस्तलिखित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के संग्रहालय में सुरक्षित है। इस टीका के अन्त में लिपिकार गुरदीनदास वैष्णव ने भक्तकवि महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह का परिचय देते हुए लिखा है-

भोज वंश अवतंस कहि, जै प्रकास महराज।
रजधानी डुमराँव मैं, है तिन सुभग समाज।।
तिनके लघु भाई सुहृद, सिवप्रकास जेहि नाम।
तिननै यह टीका करी, सकल सास्त्र को धाम।।

(नागरीप्रचारिणी सभा. काशी : खोजरिपोर्ट 1947/386)

'विनयपत्रिका' की 'रामतत्त्वबोधिनी' टीका में महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह ने अपनी रचनाओं का उल्लेख किया है-

प्रथम कियो सतसंग विलास।
श्रीरामायण तत्त्व प्रकास।।
दूसर भजन रसार्णव अमृत।
भजन तरंगन करि सो आवृत।।

भगवत रस सम्पुट तीसर है।
जामे रस को उठति लहर है।।
अद्भुत रस तरंग है नाम।
चौथ सो सब सिद्धान्त ललाम।।
इतिहास लहरि पंचम सो भयो।
कहत सुनत जेहि नित सुख नयो।।
भगवत तत्त्व भासकर षट् जो।
अज्ञान तिमिर नासत झटपट सो।।
सप्तम विनयपत्रिका टीका।
रामतत्त्वबोधिनी सुनीका।।

(म.कु. शिवप्रकाश सिंह: विनयपत्रिका रामसत्त्वबोधिनी टीका : लिपिकार -गुरदीनदास वैष्णव, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)

लगभग ऐसा ही उल्लेख 'लीलारसतरंगिणी' में भी किया गया है-

षट मैं ग्रन्थ प्रथम ही किये।
संग्रह करि विचारि सुख लिये।।
संस्कृत भाषा मिले प्रकास।
नाम तासु सतसंग विलास।।
संग्रह चौपाई दोहा कर।
नाम तासु इतिहास लहरिवर।।
संग्रह एक कवित्त सुहावा।
भगवत रस सम्पुट तेहि गावा।।
अद्भुत रस तरंग दोहाचय।
संग्रह ललित किये सो रसमय।।
भजन रसार्णव अमरित नाम।
संग्रह सो विस्नु पद ललाम।।
केवल संस्कृत संग्रह जोय।
भागवत तत्त्व भास्कर सोय।।
विनयपत्रिका गीतावली।
टीका बातूनी सो भली।।
रामगीता वेद स्तुतिहूँ कर।
टीका लिखी वचनिका सुखकर।।
(म.कु. शिवप्रकाश सिंह: लीलारसतरंगिणी, संपा. डॉ. परमानन्द पाण्डेय, पृ. 5)

मुंशी विनायकप्रसाद ने 'तवारीख-ए-उज्जैनिया' में बड़ा बाबू साहेब शिवप्रकाश सिंह कृत 1. सतसंगविलास, 2. रसार्णव, 3. भागवत रस, 4. रसतरंगविलास, 5. इतिहासलहरी, 6. भजन विष्णु पद भास्कर, 7. गीतावली तिलक और 8. तुलसीदास कृत रामायण की टीका का उल्लेख किया है। (मुंशी विनायकप्रसाद : 'तवारीख-ए-उज्जैनिया' शाहाबाद का इतिहास, संपा. ब्रह्मा पाण्डेय, वातायन मीडिया एण्ड पब्लिकेशन, पटना, प्र.सं. 2007ई, पृ.55)

बाबू शिवनन्दन सहाय ने शिवप्रकाश सिंह द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या 12 बताते हुए लिखा है – 'डुमराँव के राजभवन में श्रीमान् महाराजकुमार शिवप्रकाश सिंहजी, पं. राधावल्लभजी, पं. रामचरित्रजी एवं बच्चू मल्लिक आदि के संग कविता-गान तथा पुस्तक-निर्माण में मग्न थे। आपके द्वारा विनयपत्रिका की टीका हुई और कालान्तर में अन्य 11 पुस्तकों की भी रचना हुई। (बिहार में गत पचास वर्षों में हिंदी की दशा : साहित्य पत्रिका : नागरी प्रचारिणी सभा, आरा, खण्ड 8, संख्या 10, सन् 1914 ई. पृ. 13)

'लीलारसतरंगिणी' के पूर्व महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह ने स्वयं 6 ग्रन्थों के निर्माण का उल्लेख किया है – 1. सतसंगविलास, 2. इतिहासलहरी, 3. भागवतरससम्पुट, 4. भजनरसार्णव, 5. भागवततत्त्वभास्कर और 6. विनयपत्रिका, गीतावली, रामगीता एवं वेदस्तुति की टीका। कवि ने विनयपत्रिका, गीतावली, रामगीता एवं वेदस्तुति की टीकाओं को एक ही ग्रन्थ माना है, किन्तु डुमराँव-राज पुस्तकालय में विनयपत्रिका और रामगीता की टीकाएँ दो ग्रन्थ के रूप में सुरक्षित हैं। डुमराँव-राज पुस्तकालय में महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह के 9 ग्रन्थ उपलब्ध हैं, यथा – 1. लीलारसतरंगिणी, 2. भागवततत्त्वभास्कर, 3. सतसंगविलास, 4. इतिहासलहरी, 5. भजनरसार्णव, 6. विनयपत्रिका की टीका, 7. रामगीता, 8. उपदेश-प्रवाह और 9. स्फुट कवित्त संग्रह।

'लीलारसतरंगिणी' 79 तरंग में विभक्त रामभक्ति की मधुरोपासना का एक वृहत्काय ग्रन्थ है। रामभक्ति में मधुरभाव से उपासना करनेवाले भक्तों में द्रविड़ के भक्तकवि शठकोप (नम्मालवार) का प्रथम स्थान है। रसिक गद्दियों की आचार्य-परम्परा में नम्मालवार को प्रथम आचार्य माना गया है। इन्होंने 'सहस्रगीति' में काकुत्स्थ (राम) के प्रति प्रणयोद्गार व्यक्त कर कान्ताभाव की उपासना की पुष्टि की है। हिन्दी में सर्वप्रथम अग्रदासजी ने 'ध्यानमंजरी' की रचना कर रसिक-साधना-पद्धति को सुव्यवस्थित एवं व्यवहारिक रूप दिया। जिन ग्रन्थों के आधार पर रामभक्ति-शाखा में रसिक-भक्ति का विकास हुआ है, उनमें 'सत्योपाख्यान' का उल्लेखनीय स्थान है। इसके रचयिता ललकदास लखनऊ-निवासी थे और इनका काल 1793 ई. माना जाता है। (डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह : रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय, पृ. 540) रसिकों के लिए 'सत्योपाख्यान' श्रोतव्यग्रन्थ है। इसके श्रवण से पापों का नाश होता है और रामभक्ति की प्राप्ति होती है। इसमें शृंगारिक उपासना-पद्धति के भक्तों के लिए स्पष्टत: 'रसिक' शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा इस कथा को गोपनीय बताया गया है। श्रद्धावान् रामभक्त ही इसके श्रवण के अधिकारी हैं–

इदं तु चरितं रम्यं रामस्य परमात्मन:।।
श्रोतव्यं रसिकै: सर्वैर्भावुकै: प्रीतिपूर्वकम्।
श्रुत्वा पापानि नश्यन्ति रामे भक्ति: प्रजायते।।
येषां तेषां न दातव्यं गोपनीयं प्रयत्नत:।
श्रद्धावन्तं च वक्तव्यं रामभक्ताय शौनक।।
(महात्मा ललकदास : सत्योपाख्यान-74/49-51)

'लीलारसतरंगिणी' की तरंग संस्था 74 के अन्त में उपर्युक्त श्लोक के भाव को इस प्रकार व्यक्त किया गया है–

रसिक अनन्यहि कहिय यह, कथा न आनहि कोय।
भावक जन के प्रानधन, अवरहिं विष सम होय।।
स्रद्धा बिन रसबात, अनरस होत प्रसिद्ध पय।
चोखो तीर नसात, पत्थर पर के मार तें।।
(म0कु0 बाबू शिवप्रकाशसिंह : लीलारसतरंगिणी संपा –
डॉ. परमानन्द पाण्डेय, पृ. 422)

'लीलारसतरंगिणी' की कथावस्तु का मुख्याधार 'सत्योपाख्यान' ही है। इसका उल्लेख स्वयं कवि ने 'लीलारसतरंगिणी' में ही किया है-

कथाबीज रिषि उक्त प्रमान।
तेह बिन कथा न करहि सुजान।।
ताते मैं सत्योपाख्यान।
ललित रहस्य रामरसखान।।
कथाबीज ताही को लैहौं।
उक्ति जुक्ति बहु औरहु कैहौं।। (तदेव, पृ. 6)

'लीलारसतरंगिणी' की विशेषता इस अर्थ में उल्लेखनीय है कि इसमें भक्तकवि महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह ने रसिक कृष्णभक्तों के विपरीत लीलाचित्रण में श्लाघनीय संयम का परिचय दिया है, जिससे श्रीराम का एकपत्नीव्रत और मर्यादापुरुषोत्तम रूप अक्षुण्ण रह सका है। 'लीलारसतरंगिणी' के अन्तिम तरंग में कहा गया है कि श्रीराम सीता और सभी भाइयों सहित अवधपुरी में विविध प्रकार की लीलाएँ कर माता-पिता और प्रजा को अनिर्वचनीय आनन्द देते हैं। इसी तरंग में सीता और राम का रसमय नख-शिख-वर्णन भी है। सीता के नख-शिख-वर्णन के पूर्व कवि ने 'भवत्रास नास हित जगतजननि सिय रूप' का हृदय में ध्यान किया है। 'लीलारसतरंगिणी' के कवि की विशेषता है कि वे शृंगारिक वर्णनों के बीच भी निरन्तर स्मरण रखते हैं कि राम परब्रह्म और सीता आदिशक्ति हैं -

जगतजननि सिय रूप लेस प्रथमहि कहि भाषौं।
ध्यान सोई भवत्रास नास हित हिय में राखौं।।
चरन चारु मृदु अरुन अँगुरिरन्ह पर नख सोहत।
मनहु कमल दल मध्य बैठि मुक्ता मन मोहत।। (तदेव, पृ. 488)

अन्तिम तरंग के अन्त में कवि ने परब्रह्म राम की वन्दना तथा उनके विराट् रूप के गुणगान के अनन्तर 'लीलारसतरंगिणी' में नवरस का जलप्रवाह और कथा-तथ्य का सांगोपांग रूपक प्रस्तुत किया है। कवि का कहना है कि वेद-पुराणादि-गिरि से निःसृति यह स्वतः 'राम-रूप-सिन्धु' से मिलकर अचल महिमा आयत्त कर लेती है-

राम तीर्थजात्रा सुपावन गुन सरित बसे,
लसे सब काल सो निहाल करे टरे पाप।
स्वामि स्वामिनी विवाह सुख को प्रवाह जामे,
पर्व जो उत्सव उछाह लाह हरे ताप।
बेद इतिहास बर पुरान गिरि जो अनूप,
लीलारसतरंगिनी ये तातेँ चलि ढरे आप।
रामरूप सिन्धु मिलि अचल प्रभाव जाको,
महिमा कलाप को अलाप बिनु जोख नाप।। (तदेव, पृ. 507)

निश्चय ही 'लीलारसतरंगिणी' भक्ति और शृंगार के मधु-मिसिरी-संयोग से रसिक भक्तों तथा काव्यरसिकों को परमानन्द प्रदान करनेवाली अनुपम कृति है। छन्दोविधान की दृष्टि से भी 'लीलारसतरंगिणी' का हिन्दी-काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें 140 प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रयुक्त छन्दों में प्रचुर प्रवाह एवं प्रांजलता है। प्रायः रसानुरूप छन्द-योजना के कारण काव्य में हृदयावर्जक ओज

एवं माधुर्य का आस्वादन होता है। दण्डक और सवैया की रचना में कवि को अधिक सफलता मिली है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने अपनी वाणी के मुख्य संवाहक के रूप में इन्हीं दोनों छन्दों का प्रयोग किया है। दण्डक के प्रयोग में महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह जहाँ महाकवि भूषण और महाकवि पद्माकर के समकक्ष दृग्गत होते हैं, वहीं सवैये में रसखान और तुलसीदास की सरसता आयत्त कर लेते हैं। यहाँ दण्डक वृत्त का एक उदाहरण प्रस्तुत है–

कहूँ हिहिनात सोर घोर अति घोरन्ह को,
कहूँ चितकार बहु दिग्गज करत हैं।
रथन्ह के चक्का हचक्का होत घरघरात,
तुरग उचक्का धक्का गिरत परत हैं।
खुरन्ह के काटे धुरी धुन्ध नभ पूरि रह्यौ,
धरा अकुलानी धीर सेस न धरत हैं।
सूझत न बूझत न बात कोउ पूछत है,
सूखत सरित पसु लूकत डरत हैं।। (तदेव, पृ. 226)

काव्य-वैशिष्ट्य की दृष्टि से भी 'लीलारसतरंगिणी' में अनेक मनोहर प्रसंग हैं। अनेक स्थलों पर शृंगार रस के हृदयावर्जक वर्णन मिलते हैं। सखियाँ राम-सीता को झुला रही हैं। उन्होंने पेंग को बढ़ाकर जोर से झकोरा दिया कि झूला बहुत ऊँचे द्रुम के ऊपर चला गया, जिससे सीता डर गयीं और हा हा कर राम के 'कोरा' (अंक) में जा गिरीं। यहाँ भयभीत सीता की छवि चित्रित करने में कवि की सूक्ष्म दृष्टि दर्शनीय है–

चाव भरी सखि भाव हियैं अति पेंग बढ़ाव दई झकझोरा।
ऊचो विसेष गयो द्रुम ऊपर राम हँसे गहि फूलन्ह तोरा।
सीय डरी करि हा हा तबैं अकुलाय गिरी परी पीय के कोरा।
देखि हँसी रस ध्यान बसी हिय डोर कसी सखि राखि हिंडोरा।।
पीय के हीय रही सट सीय डराय के जीय उसास भरी।
उढ़ाय लई पट पीत तबैं उपमा सो अनूप विचार करी।
मानो सुहावन स्याम घटा बिजुरी उर माँझ छिपाय धरी।
रसखान सो ध्यान कविस्वर बुद्धि सुजान थकी जकि पेखि खरी।। (तदेव, पृ. 431)

महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह तुलसी-वाङ्मय के गम्भीर अध्येता और वैदुष्यपूर्ण टीकाकार थे, इसलिए 'लीलारसतरंगिणी' के ऊपर तुलसी-वाङ्मय विशेषत: श्रीरामचरितमानस के प्रभाव से इनकार नहीं किया जा सकता। वस्तुत: महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह भारतेन्दु-पूर्व युग के महनीय रचनाकार हैं। रामभक्ति की रसिक-काव्य-परम्परा के वरेण्य कवि के रूप महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह का प्रदेय अविस्मरणीय है। परमार राजवंश के अद्वितीय रत्न सम्राट् विक्रमादित्य, योगिराज भर्तृहरि, महाराज भोजदेव, महाराजकुमार बाबू नर्मदेश्वरप्रसाद सिंह 'ईश' एवं महाराजकुमार बाबू दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह की विद्वत्परम्परा में महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह का योगदान उल्लेखनीय है। विनयपत्रिका की 'रामतत्त्वबोधिनी' टीका के नीरक्षीरविवेकी टीकाकार एवं रसिक-परम्परा के वृहत्काय ग्रन्थ 'लीलारसतरंगिणी' के रचनाकार के रूप में महाराजकुमार बाबू शिवप्रकाश सिंह का ऊर्जस्वल कर्तृत्व एवं अनुकरणीय व्यक्तित्व साहित्य-जगत् में सदैव अमर रहेगा।

महाराजा विश्वनाथ सिंह : इतिहास और साहित्य के आईने में

- प्रो. सेवाराम त्रिपाठी

महाराजा विश्वनाथ सिंह जी के बारे में लिखने के लिये जब मुझे प्रस्ताव मिला तो मैं सहज ही मान गया। लेकिन जब काम शुरू किया तो लगा कि यह कठिन काम है। विश्वनाथ सिंह जी का रिश्ता रीवा रियासत से है। रीवा के पूर्व यहाँ के राजाओं-महाराजाओं को बांधवेश के नाम से भी जाना जाता रहा है। यह परम्परा महाराजा श्री व्याघ्रदेव से महाराज मार्तण्ड सिंह तक अखण्ड रही है। विश्वनाथ सिंह जी महाराजा के रूप में आधुनिक रीवा के प्रथम महाराज थे। उन्होंने 1835 से 1854 तक रीवा की गद्दी संभाली। कोई इसे 1833 से 1854 तक मानता है। रीवा का किला अपने राज्य में अपनी खूबसूरती के लिये प्रसिद्ध रहा है। इनके पूर्व जो महाराजा यहाँ शासन करते रहें हैं उनमें सर्वश्री व्याघ्रदेव प्रथम महाराजा थे। उनके बाद सर्वश्री कर्णदेव, सोहाग देव, सारंगदेव, बिलासदेव, भीमलदेव, अलीकदेव, बरमदेव, दलकेश्वर देव, मलकेश्वर देव, बरियार देव, बुल्लार देव, सिंहदेव, भैरव देव, नरहरि देव, भेदचन्द्र, शालिवाहन देव, वीरसिंह देव, वीरभान, नरेशचन्द्र, वीरभद्र, दुर्योधनसिंह, अमरसिंह, अनूपसिंह, भावसिंह, अनिरुद्ध सिंह, अवधूतसिंह, अजीतसिंह और जयसिंह रहे हैं। यूँ तो रीवा राज्य के आधुनिक इतिहास में महाराज विश्वनाथ सिंह पहले महाराज माने जाते हैं। उनके बाद सर्वश्री रघुराज सिंह, व्यंकटरमण सिंह, गुलाब सिंह और मार्तण्ड सिंह जी रहे हैं। वर्तमान् में श्री पुष्पराज सिंह हमारे समय में स्थित हैं।

विश्वनाथ सिंह जी के इतिवृत्त पर जो जानकारी मिल रही है वह इस प्रकार है। विश्वनाथ सिंह जी के प्रशासकीय प्रबंध के बारे में कहा जा सकता है कि उन्होंने प्रजा के हित को सर्वोपरि माना तथा अपने समय में राज्य में फैली अशांति, उपद्रव और अपराधों के नियंत्रण पर विशेषरूप से जोर दिया। उन्होंने अपने राज्य में न्याय प्रक्रिया को चुस्त-दुरुस्त किया। मिताक्षरा न्यायालय की स्थापना कराई तथा न्याय कार्यों के अधिकार पहली बार ग्राम पंचायतों को सौंपे। आर्थिक व्यवस्था में कुछ सुधार किये। जिसके अन्तर्गत मुद्राप्रणाली के रूप में सिक्कों का प्रचलन प्रमुख है। उन्होंने अपने समय में मन्दिरों एवं भव्य इमारतों का निर्माण कराया। जनार्दन सिंह ने अपनी पुस्तक 'रीवा राज्य का सैनिक इतिहास' में दर्ज़ किया है कि मऊ के सेंगर राजा के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की तथा जो युद्ध हुआ उसमें हनुहुंकार नामक तोप का पहली बार प्रयोग हुआ। मऊ की गढ़ी ध्वस्त कर दी गई। इसका क्षेत्र रीवा में शामिल कर लिया गया। क्षत्रधारी सिंह के विद्रोह करने के पश्चात् उनसे संघर्ष किया गया और पराजित किया गया। जनार्दन सिंह लिखतें हैं "क्षत्रधारी सिंह ने हताश होकर महाराजा की अधीनता स्वीकार कर ली। उसने पैंतीस हज़ार रुपये युद्ध का हर्जाना, गढ़ी पूर्व और पश्चिम में खाई खोदवा देना, नदी का बंधान तोड़ देना तथा गढ़ी के समीप का जंगल कटवा देना और बकाया मामला अदा करना स्वीकार कर लिया।" (रीवा राज्य का सैनिक इतिहास, पृष्ठ -48) महाराजा विश्वनाथ सिंह ही नहीं अन्य सभी के क्रियाकलापों पर और खासकर ऐतिहासिक स्थितियों पर बहुत कम समय में उसमें धूल और गर्द-ओ-गुबार की परतें भी चढ़ रहीं हैं। अतीत से किसी भी व्यक्ति, प्रसंग और सन्दर्भ को वर्तमान में लाना मुश्किल हो जाता है क्योंकि हमें ब्यौरेवार उसका परीक्षण भी तो करना पड़ता है। मुझे कुमार अम्बुज की एक कविता सहज ही स्मरण हो आई -

''इतनी धूल चली आती है जीवन में कि मरते दम तक
कोई नहीं छुड़ा सकता पीछा
किसी भी चीज़ पर बैठने के लिये वह पहले ही
पैदा हो गई होती है
चीज़ों से उसे झाड़ते हुये केवल खीझ है जो बारीक धूल
की तरह धरती रहती है आपके भीतर कहीं
इधर सिद्धान्त और आदर्श पैदा हुये नहीं कि उधर उन पर
गिरने लगती है धूल
वह जमा हो जाती है उन ऊँचाइयों पर जहाँ आपके हाथ
आसानी से पहुँचते नहीं'' (कुमार अम्बुज)

मैंने अक्सर यह देखा है कि जो आज बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनकी लगातार तूती बोल रही है जब उनकी वास्तविकता को जानने का प्रयत्न होता है, तब भी उसमें फैली हुई परतों और धूल को साफ़ किये बगैर आप उनकी असलियत को शायद नहीं जान सकते। यह उसी तरह है जैसे बारिश का पानी पहले गंदा होता है और समय के अनुसार वह थिराता है या साफ़-स्वच्छ होता है। इतिहास में तो धूल-धक्कड़ कोई नयी बात नहीं है। राजाओं-महाराजाओं का जीवन वैसे भी 'दरबार-ए-खास- और 'दरबार-ए-आम' प्रसंगों में अलग-थलग होता है। इन्हीं में से उनकी वास्तविकता को तलाशना और पहचानना पड़ता है। परिवार के घनत्व और बाह्य जीवन की रेखाओं को देखना, समझना पड़ता है।

विश्वनाथ सिंह जी पर विचार करते हुये यह कोशिश करना चाहता हूँ कि वह ऐतिहासिक वृत्त में ज़्यादह न आयें। लेकिन इसके बावजूद वे बार-बार आते हैं। सामान्य जन में उनकी जो छवियाँ लोगों ने बना रखी हैं; मसलन उनकी दानशीलता, उनका शासन-प्रबंध, अपने राज्य के प्रति किये गये कार्य। वे उन सन्दर्भो में निरन्तर आते रहते हैं। यह सही है कि हमने इतिहास के अनगिनत ऐसे मौकों को गंवा दिया है जिनमें छविवान प्रतिष्ठा पाने वाले हाशिये पर चले गये। और कई ऐसे हमारे वर्तमान में धड़कते हैं जो बहुत सामान्य होते हैं। हम अवमूल्यन के दौर के बीच से मूल्यवत्तायें चुनते हैं और कभी-कभार घबराते भी हैं। सच है कि इतिहास का हाहाकार किसे सुनाई पड़ता है तथा वर्तमान का चीत्कार किसे दिखाई और सुनाई देता है। हम अतीत के रास्ते विकास की परछाईयां तलाशना चाहते हैं, कुछ रास्ते बनाना चाहते हैं। इतिहास केवल इतिहास नहीं होता। वह हमारे वर्तमान का आईना भी होता है। उसमें से जो भी मूल्य निकलते हैं उनके रास्ते हम आगे बढ़ें तथा उसमें जो सही नहीं था उस पर विचार और पुनर्विचार ज़रूर करें और आगे के लिये सावधानी बरतें। इस सन्दर्भ में कवि चन्द्रकान्त देवताले की कविता का एक अंश देखें- ''मैं असंख्य दरख़्तों के शवों को देख रहा हूँ/तमाम सुभाषित औंधे मुँह पड़े हैं/बड़े धन्धे, बड़ी रोशनी के लिये अपने यहाँ/खामोश हो जाती हैं अदालत की घंटियाँ/कोई नहीं कह सकता/तरक्की का आसमान फट जाने के बाद/क्या कुछ कितना बचेगा/स्मृतियों के तहखानों में।'' महाराजा विश्वनाथ सिंह की आभा रीवा रियासत में अभी भी है। उनके द्वारा किये हुये अच्छे कार्यो की परख भी यहाँ है। राजशाही की समाप्ति के बावजूद उनका शासन-प्रबंध उनकी कूटनीतियाँ, उनकी अन्दरूनी हलचलें यहाँ अब भी विराजती हैं। जिसकी शिनाख़्त कभी-कभार हम करते हैं। यह उनका विधेय पक्ष है जो उनके द्वारा किये हुये कार्यो में यदा-कदा झलकता है। विश्वनाथ सिंह जी की वास्तविकता यह है कि अपने जमाने में पनप रहे तमाम विद्रोहों को उन्होंने कुचला। षडूयंत्रों का पर्दाफाश किया- तथा कुछ ऐसे सुधार कार्य किये जिसके कारण उनकी धमक आज के दौर में भी जब-तब सुनाई पड़ती है और विकास प्रक्रिया में उनकी पक्षधरता की लगातार पहचान होती है।

महाराजा विश्वनाथ सिंह की राजनीतिक समझ, साहित्य के प्रति रुझान और हिन्दी का प्रथम

नाटककार होने के नाते किसी का भी सहज आकर्षण उनके प्रति हो जाना सहज और स्वाभाविक है। उनका समय बड़े लोगों की प्रशस्तियों का समय था। प्रशस्तियाँ तो आज भी व्यापक पैमाने पर हो रहीं हैं बल्कि हमारा परिवेश उसमें से पूरी तरह अटा जाता है। प्रशस्तियों की बहार श्रृंखला छाई हुई है। यह ज़्यादातर वर्तमान में होता है। कालान्तर में वह प्रशस्तिवाचन धीमा पड़ने लगता है। विश्वनाथ सिंह जी जिस परिवेश से आते हैं और अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे राजकाज भी संभालते हैं और साहित्य-सृजन भी करते हैं तथा अपने दायित्वों का पालन भी। राम सागर शास्त्री का मानना है कि ''कवित्व की अद्‌भुत प्रतिभा थी। विभिन्न विषयों के रचित ग्रन्थों से स्पष्ट है कि आप अद्वितीय साहित्यकार थे। राजनीति की दृष्टि से आपको युग-प्रवर्तक शासक के रूप में माना जाता है। आपने शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया है। मुख्य-मुख्य स्थानों में स्कूली शिक्षा की व्यवस्था प्रारम्भ हो गई थी, और उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। वर्तमान में तो गाँव-गाँव में स्कूल खुल गये हैं, किन्तु स्कूली शिक्षा के प्रचार-प्रसार से वास्तविक ज्ञान का अभाव होता जा रहा है। नैतिकता का आदर्श पाठ पढ़ाने वाली संस्कृत भाषा का अध्ययन लुप्त होता जा रहा है। जिससे नैतिकता का विकास हो और राष्ट्रीय चरित्र निर्माण में सहायता मिले।'' (विन्ध्य दर्शन 01, पृष्ठ -308)

मुझे उनका एक पारम्पिरक और दुर्लभ चित्र नये ढंग से प्रकाशित नाटक आनन्द रघुनन्दन में मिला। इसके पूर्व प्रकाशित वह चित्र विन्ध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित आनन्द रघुनन्दन में भी है लेकिन इसमें एक अलग तरह की भव्यता और शराफ़त है। नई साज-सज्जा भी। यह पुस्तक भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली ने प्रकाशित की है। चित्र सचमुच बहुत रोबीला और आकर्षक है। उनका एक दूसरा चित्र भी प्राप्त हुआ है। सच क्या है और संदिग्ध क्या है। इसे भी इतिहास की परतों से खोजना पड़ेगा। उनके पिता महाराज जयसिंह थे। उनके दो भाई और थे, श्री लक्ष्मण सिंह और श्री बलभद्र सिंह। चन्द्रिका प्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र' ने उनका जन्म संवत् 1846 (सन् 1789) में हुआ माना था। उनकी शिक्षा दीक्षा के बारे में जो तथ्य प्राप्त होते हैं उसके अनुसार ''विश्वनाथ सिंह ने किसी विद्यालय में औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं की, उनके समय में औपचारिक विद्यालय अथवा महाविद्यालय नहीं थे। घर पर ही शिक्षा का विधान पूर्ण करने की प्रथा थी। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी और फारसी भाषाओं में दक्षता अपने राजमहल में ही विभिन्न विद्वानों से प्राप्त की। स्वाध्याय उन्होंने बहुत किया। राजनीति की व्यावहारिक शिक्षा भी उन्होंने प्राप्त की। 1823 ईस्वी से ही, जब वे युवराज थे, राज संचालन में वे अपने पिता को सहयोग देते थे।'' (प्रस्तावना, आनन्द रघुनन्दन, पृष्ठ -19, 20) उनकी राजनीतिक शिक्षा उच्च स्तरीय थी। वे राजनीति में भी पारंगत थे। हर चीज़ में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेते रहे हैं। रहमान अली के शब्दों में ''उनकी योग्यता के कारण ही पिता महाराजा जयसिंह ने उन्हें युवराज की अवस्था में ही राजकार्य देखने का भार सौंप दिया था। यहाँ उल्लेखनीय है कि 1814 ईस्वी में अंग्रेजों के साथ हुई सन्धि पर जयसिंह के साथ विश्वनाथ सिंह के भी हस्ताक्षर हुये थे।'' (तवारीख-ए-बघेलखण्ड, पृष्ठ -83)

विश्वनाथ सिंह जी के बारे में अनेक तरह की किंवदंतियाँ हैं। इतिहास की परतों में उनका जीवन संघर्ष छिपा हुआ है। उनका समय 1833 से 1854 ईस्वी माना जाता है। उन्होंने हिन्दी, संस्कृत, फारसी भाषाओं का गहन अध्ययन किया। राजनीतिक दक्षता हासिल करने के लिये वे लगातार संघर्ष करते रहे और प्रयत्नशील भी रहे। उनके पाँच विवाहों की जानकारी भी इतिहास में दर्ज़ है। माना यह जाता है कि राजाओं का विवाह होना उनकी शान-शौकत और उनकी प्रसिद्धि का भी द्योतक हुआ करता था। विवाह अधिकार प्रदर्शन और बड़प्पन का भी परिचायक माना जाता था और शक्तिशाली होने का भी। यह सोच एक तरह की वीरता शैली भी है। उनके समय में राज्य कर्ज़ के भार से दबा हुआ था। उन्होंने अपने शासन को पुख़्ता भी किया और राज्य के आन्तरिक विद्रोहों को कुचला भी। उनका संघर्ष दूसरों से तो हुआ ही अपने बेटे रघुराज सिंह से भी हुआ था। उन्होंने अपने शासन के दौरान प्रताप जीत के विरुद्ध अभियान,

सेंगरों पर नियन्त्रण, राम नगर पर अधिकार, अजीत सिंह का समर्पण, भवानी सिंह के विरुद्ध कार्यवाही, जिरौंहा पर अधिकार एवं बान्धवगढ़ पर भी अधिकार किये। उन्होंने कुछ ऐसे कार्य भी किये जैसे क्षत्रधारी सिंह के विद्रोह को कुचलना, पथरौड़ा, महकोल, मझौली का विलय तथा सेमरिया का आधा इलाका अपने अधीन शामिल करना था। उन्होंने सीमावर्ती झगड़ों का निपटारा भी किया। अपने युवराज रघुराज सिंह को सन्मार्ग पर लाये एवं लक्ष्मण बाग की स्थापना की। विश्वनाथ सिंह जी ने राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों पर नियन्त्रण किया ही अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार किया तथा साहित्य की दुनिया में भी आश्चर्यजनक कीर्ति अर्जित की। डॉ. परिमलेन्दु ने एक तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है "महाराजा विश्वनाथ सिंह कूटनीतिक विजय प्राप्त करने में सिद्धहस्त थे। वे किसी भयादोहन से आक्रान्त होकर कार्य करने वाले व्यक्ति नहीं थे। वे दृढ़ निश्चयी थे, दृढ़ प्रतिज्ञ भी। किसी भी दबाव के आगे वे कदापि झुकने वाले या समझौता करने वाले व्यक्ति नहीं थे। उनके एक मात्र पुत्र युवराज रघुराज सिंह दीवान वंशीधर के सर्वथा विरुद्ध थे। किन्तु उन्होंने अपने उक्त दीवान को कार्यमुक्त नहीं किया। 1849वीं ईस्वी में दीवान का निधन हुआ। निधन के पूर्व तक वे अपने पद पर विराजमान रहे।"(प्रस्तावना, आनन्द रघुनन्दन, पृष्ठ-21)

विश्वनाथ सिंह एक प्रतापी राजा रहे हैं। वे कवि हृदय और अच्छे शासक के रूप में भी जाने पहचाने जाते हैं। राजा होने की वजह से अपने समय में उन्हें अनेक युद्ध भी लड़ने पड़े। अपनी आन्तरिक कलहों से भी उन्हें उलझना पड़ा। इतिहास के तथ्य बताते हैं कि एक आन्तरिक संघर्ष उनका अपने पुत्र रघुराज सिंह से भी रहा है। तथ्य यह भी है कि विश्वनाथ सिंह विन्ध्यान्चल तीर्थ यात्रा के लिये गये। राज्य में अन्तर्कलह का दावानल फूटा; विश्वनाथ सिंह जी के ख़िलाफ़ युवराज रघुराज सिंह को इतना भड़काया गया कि वे अपने ही पिता के विरोधी हो गये। विश्वनाथ सिंह जी की सूझबूझ और प्रत्युपन्न मति बहुत थी। तीर्थ यात्रा के बाद वापस आने पर उन्हें कई दिक्कतों का सामना करना पड़ा। गुरु रामप्यारे अग्निहोत्री लिखते हैं "विश्वनाथ सिंह जब वापस आये, युवराज को समझा बुझा कर राह में लाना चाहा किन्तु लोगों के बहकावे के कारण वह इसमें सफ़ल न हुये। इसमें कृपालपुर घराने के बघेल वीर सिंह, उपरहटी के धवाई बाके सिंह, रायपुर के कर्चुली धनवन्त राय, रीवा के मानिक और पुराणी राम पाण्डे, रामपुर बघेलान के बघेल, शहिजाद सिंह इत्यादि के अलावा महारानी साहिबा भी शामिल थीं। इसके प्रधान वीर सिंह थे। इन्होंने कुछ सेना को भी फोड़ लिया था। अन्त में एक युक्ति निकाली गई। उस समय के अमहिया के मन्दिर के महन्त गोविन्ददास ने अपने यहाँ युवराज रघुराज सिंह का निमन्त्रण किया और यह कह दिया कि महाराज को इसकी कुछ भी खबर नहीं है। इधर विश्वनाथ सिंह के पास भी सूचना गई थी। जैसे ही युवराज भोजन पर से उठे महाराज जा पहुँचे और रघुराज सिंह को बुलाकर हाथी पर बिठा कर किला लिवा गये।" (रीवा राज्य का इतिहास, पृष्ठ -83) किसी भी राजा के लिये अपने राज्य को सुरक्षित रखने के लिये उसकी व्यवस्था के लिये कई तरह के संघर्ष करने पड़ते हैं जाहिर है कि जो तथ्य हमें उपलब्ध होते हैं उससे ज्ञात होता है कि वे शासक भर ही न थे वे सच्चे कलाकारों ओर गुणियों के आश्रयदाता भी थे। उनका रुझान संगीत शास्त्र के प्रति भी था। उनके समय में प्रसिद्ध संगीतज्ञ मोहम्मद खां हुआ करते थे। जाहिर है कि खां साहब को रागनियां सिद्ध थीं। विश्वनाथ सिंह जी को एक दानी राजा के रूप में भी चित्रित किया गया है। कहते हैं कि मून कवि के एक ही छन्द पर उन्होंने उन्हें काफी पुरस्कार दिया था। वह छन्द इस प्रकार है-

मेरे भाल विधि ने लिखो है तू सुकवि ह्वै है, पै पइ हे न कौड़ी कहूँ जाँचे चारि पाँचों हैं।
तेरे भाल विधि ने लिखो है तोहि जाँचे कोऊ, विमुखन होइ ह्वै ये यश जगराँचो है।
तृशणा है तरल तऊ थिर न रहत मेरी, जाय-जाय देश के महीपालन जाँचो है।
आयो विश्वनाथ सिंह आज मैं परीक्षा लेन, मेरो भाल साँचो है कि तेरो भाल साँचो है।

(आनन्द रघुनन्दन और उसकी दुनिया)

विश्वनाथ सिंह जी ने सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति से युक्त रचनायें की हैं। हालांकि उनका झुकाव सगुण भक्ति पर ज़्यादा था और राम के उपासक तो वे थे ही। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में "रामोपासक होने के कारण उन्होंने निर्गुण और सगुण की एकवाक्यता उसी प्रकार स्वीकार की है जैसे रामभक्त तुलसीदास ने। कबीर के बीजक की उनकी टीका सगुणपरक है। वे तत्वत: समन्वयवादी सगुणोपासक थे। निर्गुण मार्गीय निवृत्तिमुखी प्रवाह धीरे-धीरे किस प्रकार सगुणमार्गी प्रवृत्तिमुखी प्रवाह में लीन हो गया इसका रहस्य इस प्रकार के प्रयत्नों में निहित है।" (हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग-02, पृष्ठ -803)

इतिहास से यह तथ्य ज्ञात होता है कि विश्वनाथ सिंह जी संस्कृत साहित्य के विद्वान तो रहे ही हैं हिन्दी के अच्छे खासे जानकार भी रहे हैं। वे अपने समय के उत्तम श्रेणी के वैद्य भी माने जाते थे। उनके ग्रन्थों की संख्या 46 मानी जाती है। जाहिर है कि अनेक विषयों पर उन्होंने अपने तई लिखने का प्रयास किया। हिन्दी में उनका 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक प्रसिद्ध रहा है। इनके शौर्य और इनके कृतित्व को ध्यान में रखते हुये विश्वनाथ चरित्र नामक ग्रन्थ सामने आया था। लेकिन दुर्भाग्य से यह प्रकाशित नहीं हुआ। गुरु राम प्यारे अग्निहोत्री लिखते हैं- ''विश्वनाथ सिंह बड़े कलाकार और अद्वितीय महाकवि थे। यह संस्कृत साहित्य के विद्वान तो थे ही हिन्दी साहित्य के धुरंधर जानकार थे। इतना ही नहीं यह उच्च कोटि के सद्वैद्य भी थे। उन ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि इनकी चतुर्मुखी प्रतिभा थी। ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिस पर इन्होंने अपनी लेखनी न चलाई हो। इन्होंने हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम नाटक की रचना की।'' (रीवा राज्य का इतिहास, पृष्ठ -85) यही कारण है कि यह हिन्दी जगत के सर्वप्रथम नाटककार माने जाते हैं। यह वेदान्त विषय में भी बहुत बड़े पण्डित थे इनके दरबार में अनेक कवियों को आश्रय प्राप्त था। जिनकी कृतियों का वह स्वयं आदर किया करते थे।

रचनाएँ :- विश्वनाथ सिंह जी ने हिन्दी और संस्कृत में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिसका जिक्र राजीव लोचन अग्निहोत्री ने संस्कृत साहित्य के शोध प्रबंध में किया है। मिश्र बन्धुओं ने उनके तीस ग्रन्थों का उल्लेख किया है। विन्ध्य दर्शन के रचनाकार रामसागर शास्त्री ने उनकी रचनाओं के बारे में इस प्रकार जानकारी दी है- ''1. अष्टयाम आह्निक, 2. आनन्द रघुनन्दन, 3. उत्तम काव्य प्रकाश, 4. रामायण, 5. गीत रघुनन्दन शतिका, 6. गीत रघुनन्दन प्रामाणिक, 7. सर्वसंग्रह, 8. कबीर बीजक की टीका, 9. विनय पत्रिका की टीका, 10. रामचन्द्र जू की सवारी, 11. भजन माला, 12. पदार्थ, 13. आनन्द रामायण, 14. परधर्म निर्णय, 15. शान्ति शतक, 16. वेदान्त पंच शतिका, 17. गीतावली पूर्वार्द्ध, 18. ध्रुवाष्टक, 19. बोधनीति, 20. उत्तम नीति चन्द्रिका, 21. आदि मंगल, 22. बसन्त चौरासी, 23. रामचन्द्राह्निक, 24. राम सागराह्निक, 25. भुक्ति-मुक्ति सदानन्द संदोह, 26. यथार्थ चन्द्रिका, 27. भागवत एकादश स्कन्द टीका, 28. सुभाव ज्योत्सना की टीका, 29. धर्म शास्त्र त्रिशंस्थलोंकी, 30. परमधर्म निर्णय, 31. राम परत्व, 32. राम-गीता की टीका, 33. राधावल्लभी भाष्य, 34. सर्व सिद्धान्त रहस्य, 35. वैष्णव सिद्धान्त की टीका, 36. धनुर्विद्या, 37. चौरासी रमैनी, 38. ककरहा, 39. शब्द, 40. विश्व भोजन प्रसाद, 41. ध्यान मंजरी, 42. विश्वनाथ प्रकाश, 43. परमतत्व, 44. संगीत रघुनन्दन, 45. दीक्षा निर्णय, 46. व्यंग प्रकाश।'' (विन्ध्य दर्शन, रामसागर शास्त्री, पृष्ठ -303) शास्त्रीजी ने उल्लेख तो 46 रचनाओं का किया है लेकिन इनकी उपलब्धता तो अभी भी नहीं है, कुछ तो अभी भी अप्रकाशित हैं। महाराजा विश्वनाथ सिंह की रचनात्मकता के सम्बन्ध में कई मत हैं। राजीवलोचन अग्निहोत्री द्वारा उनके द्वारा लिखित रचनाओं के संस्कृत ग्रन्थों की संख्या 19 एवं हिन्दी के ग्रन्थों की संख्या 15 बताई है। हाँ, आनन्द रघुनन्दन संस्कृत और हिन्दी दोनों में लिखा गया है। दोनों प्रकाशित भी हुये हैं। रामचन्द्र शुक्ल मानते हैं ''काव्य रचना में ये (विश्वनाथ सिंह) सिद्धहस्त थे। यह ठीक है कि इनके नाम से प्रख्यात बहुत से ग्रन्थ दूसरे कवियों के रचे

हैं। पर इनकी रचनाओं की संख्या भी कम नहीं है।'' शुक्लजी की एक और स्थापना पर ध्यान देने की ज़रूरत है। उनके मत में ''ब्रजभाषा में नाटक पहिले पहिल लिखा। इस दृष्टि से इनका आनन्द रघुनन्दन विशेष महत्व की वस्तु है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसे हिन्दी का पहला नाटक माना है। यद्यपि इसमें पद्यों की प्रचुरता है। पर संवाद सब ब्रजभाषा गद्य में हैं। अंक विधान और पात्र विधान भी है। हिन्दी के प्रथम नाटककार के रूप में ये चिरस्मरणीय हैं।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ -345)

महाराज विश्वनाथ सिंह के नाम पर अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय रीवा में एक भाषणमाला भी आयोजित होती है। यूँ तो उनके द्वारा लिखित पुस्तकों की संख्या अनेक है लेकिन उनकी ख़्याति का कीर्तिस्तम्भ आनन्द रघुनन्दन ही है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने लम्बे व्याख्यान, जो उन्होंने महाराज विश्वनाथ सिंह की बीजक की टीका के सन्दर्भ में दिया था, उसमें उन्होंने यह बताने का प्रयास किया ''महाराज विश्वनाथ सिंह जी रसिक भाव के भक्त थे उन्होंने सखी भाव से भगवान की आराधना की। महाराज विश्वनाथ सिंह की रचनाओं के विषय और प्रतिपादन शैली को देखते हुये यह स्पष्ट होता है कि वे अत्यन्त विशाल और उदार दृष्टि के भगवत भक्त थे। मधुर भाव की उपासना में उनका मन रमता अवश्य था पर इसका यह मतलब नहीं कि वे अन्य प्रकार के भावात्मक पक्ष और साधना से उदासीन थे। महाराज विश्वनाथ सिंह जी ने अपनी टीका के आरंभ में ही इस शास्त्रीय विधि का उपयोग किया है। उन्होंने सूझबूझ के साथ बीजक से इन तात्पर्य निर्णय के लिंगों या साधनों को खोजा है। वह आधुनिक पाठकों के जानने के योग्य है।" (सम्बोधित, पृष्ठ -11, 12, 14)

विश्वनाथ सिंह जी के बारे में जो जानकारियाँ उपलब्ध होती हैं, वे आश्चर्य में डालतीं हैं। सूर्यबली सिंह ने लिखा है कि ''महाराज विश्वनाथ सिंह समन्वयवादी उन कवियों की श्रेणी में आते हैं जिसके मूर्धन्य कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं। पर यह समानता होते हुये भी दोनों की उपासना में अन्तर है। भक्तिमार्ग में दो प्रकार की उपासनायें चलती हैं। एक ऐश्वर्य रूप की और दूसरी रस रूप की। इस सिलसिले में उनकी प्रशस्ति में कवि युगलेश ने लिखा ''जस प्रताप मन्दिर कियो, विश्वनाथ महाराज/ तापर कलसा ताहिको धरेउ भूप रघुराज।'' (वही, पृष्ठ -36, 37)

उसी तरह उनका आनन्द रघुनन्दन नाटक पहले संस्कृत में प्रकाशित हुआ। उसमें सन् तो नहीं है। उसके बाद 1961-62 में विन्ध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उसे प्रकाशित कराया। पिछले वर्ष भोपाल की एक संस्था द्वारा उसका नाट्य प्रदर्शन रीवा में किया गया। यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से रामनिरंजन परिमलेन्दु जी के सम्पादन में सामने आया। परिमलेन्दु जी ने अपने दूरभाष दिनांक 20.04.2017 पर यह जानकारी दी कि आनन्द रघुनन्दन का दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है। मैंने उनसे पूछा कि क्या दूसरे संस्करण में कुछ नयी चीज़ें जोड़ी गई हैं। उन्होंने बताया कि पहला संस्करण इतनी जल्दी से बिका कि परिवर्तन के लिये लगभग कोई गुंजाइश नहीं बची। आगे फिर कभी देखा जायेगा। इसके फ्लैप में कहा गया है'' 1830 ईस्वी के पूर्व या उसके आस-पास विश्वनाथ सिंह ने हिन्दी में आनन्द रघुनन्दन नाटक की रचना की थी, जब वे युवराज थे। इसके रचनाकाल का उल्लेख नाटककार ने कहीं नहीं किया।'' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस नाटक को हिन्दी के पहले नाटक की संज्ञा दी है। इस नाटक में खड़ीबोली हिन्दी, ब्रजभाषा, और कुछ बघेली शब्दों का भी इस्तेमाल हुआ है। आश्चर्य की बात है कि इतने लम्बे अरसे के बावजूद इस नाटक की उपयोगिता लगातार बनी हुई है। हाँ, इसमें अपने खास ढंग की प्रयोगशीलता भी है। इनके अनेक ग्रन्थ अभी भी गिनाये भर जाते हैं उपलब्ध नहीं होते। उनके नाटक आनन्द रघुनन्दन को सीधी रंगमंच के प्रसिद्ध निर्देशक प्रसन्न सोनी ने रंगमंच में जीवन्त किया। उन्होंने इस नाटक का बघेली रूपान्तरण प्रस्तुत किया है। जो काफी प्रभावी और समसामयिक रहा है।

इधर दो-तीन वर्षों से आनन्द रघुनन्दन के मंचन तीव्रगति से प्रारम्भ हुये हैं। इन मंचनों से आनन्द रघुनन्दन की पहचान कुछ इलाकों में तेज़ी से विकसित हो रही है। इसके सम्पादक श्री रामनिरंजन

परिमलेन्दु ने एक तथ्य का उल्लेख किया है ''आनन्द रघुनन्दन की कथावस्तु घटनाप्रधान है, घटनाओं का बाहुल्य है। इसके फलस्वरूप पात्रों के अन्त:करण का दिग्दर्शन नहीं हो सका। घटनाओं के प्रवाह में पात्रों के अन्त:करण की धूप यहाँ नहीं उगी। विभिन्न पात्रों के आचरण की व्याख्या यहाँ विशेष रूप से है, सूक्ष्म मानसिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण विवेचन गौण है। आनन्द रघुनन्दन में मुख्य पुरुष पात्र 32 हैं और नारी पात्र 08। नाटकीय दृष्टि से यह संख्या बहुत अधिक है। इसके पात्रों के दो संवर्ग हैं- प्रथम उदात्त और द्वितीय अधम अथवा नैतिक दृष्टि से हीन। आनन्द रघुनन्दन के नायक श्री राम हैं। धीरोदात्त नायक के नाम पर ही इस नाटक का नामकरण नाटककार ने किया है।'' (आनन्द रघुनन्दन, भूमिका, पृष्ठ -60) माना जाता है कि नाटक जीवन की पुनर्रचना है। उसमें जीवन के विविध रंग, रूप और स्थितियाँ प्रत्यक्ष होतीं हैं। भरत मुनि से प्रारम्भ हुई यह यात्रा अब भी निरन्तर है। इधर नाटक का निरन्तर विकास हुआ है। उसे गम्भीरता से भी लिया जा रहा है। व्यावसायिक और अव्यवसायिक रंगमंच के दौर में हमारे जीवन में उसकी घुलनशीलता के व्यापक पदचिन्ह हैं। परिमलेन्दु जी ने इस नाटक के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को समेटते हुये इस नाटक पर एक लम्बी भूमिका लिखी है। वे मानते हैं कि ''यह नाटक हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक है। यह ब्रजभाषा का सर्वप्रथम नाटक है। यह नाटक हिन्दी की राष्ट्रीय धरोहर है। यह हिन्दी का सबसे पहला रामाश्रयी नाटक है। यह सांस्कृतिक चेतना का पहला हिन्दी नाटक है। यह भारत और भारतीयता, भारत के प्राचीन गौरव पर आधारित पहला हिन्दी नाटक है। यह उस कालखण्ड के हिन्दी गद्य में भी रचित है जब गद्य का मानक स्वरूप निश्चित नहीं हो सका था। और हिन्दी गद्य भी अत्यन्त स्वल्प और विखण्डित था। यह ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों के दुर्लभ हिन्दी गद्य की अखण्ड कृति है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक कालखण्ड का हिन्दी गद्य अत्यन्त दुर्लभ है।'' (भूमिका, पृष्ठ -52, 53)

विश्वनाथ सिंह की पहचान उनके अपने राज्य में तो है ही आनन्द रघुनन्दन के माध्यम से उनके नाटक प्रेमी होने तथा हिन्दी गद्य के आविष्कर्ता के रूप में भी उनकी ख्याति का विस्तार हुआ। डॉ. दशरथ ओझा का मानना है कि ''विश्वनाथ सिंह नाटकीय परिस्थितियों के सच्चे पारखी थे। प्रकृति की लीलाओं को पात्रों की लीलाओं के साथ उन्होंने ऐसी कला के द्वारा समन्वित कर दिया कि चकोर भी राम के साथ रोदन करता था, सुपर्ण गिद्ध भी उनके लिये युद्ध करता था, सागर ने भी मार्ग दे दिया। आख्यान परिवर्तन में कुशलता दिखाने का अधिक अवसर नहीं पाकर चिर विश्रुत कथानक के अनुसार ही करुणा और हास्य, वीर और भयानक, अद्भुत और रौद्र रसों का परिपाक उन्होंने ऐसी कुशलता के साथ जिया कि उसी चिर परिचित आख्यान में पग-पग आनन्दानुभूति होने लगती है। जहाँ-जहाँ उन्होंने क्रियाशीलता और वर्णन का पथ छोड़कर व्यंजना शक्ति का आश्रय लिया, वहाँ नाटक अधिक आकर्षक बन गया है।'' (हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृष्ठ -147)

आनन्द रघुनन्दन सात अंकों वाला नाटक है। इसमें पद्य और गद्य दोनों का निर्वाह है। इसकी कथावस्तु में संस्कृत की प्रसिद्ध शास्त्रीय परम्परा का अनुसरण एवं निर्वाह है। यहाँ एक तथ्य का उल्लेख आवश्यक है कि आनन्द रघुनन्दन पहले संस्कृत में बाद में, हिन्दी में प्रकाशित हुआ। यह नाटक क्योंकि पहला है इसलिये इसके पुरुष पात्र और स्त्री पात्रों की विधिवत जानकारी इसमें दी गई है। इस नाटक में दशरथ (दिग्जान) राम (हितकारी), भरत (डहडहजगकारी), लक्ष्मण (डीलधराधर), शत्रुघ्न (डिम्भीधर), वशिष्ट (जगद्योनिज), विश्वामित्र (भुवनहित), जनक (शीलकेतु), जनक के गुरु (सत्मोद), परशुराम (रेणुकेय), हनुमान (त्रेतामल्ल), सुग्रीव (सुगल), जामवन्त (रिक्षपति), अंगद (भुजभूषण), जटायु (सौपर्णि), सुखेन (वैद्यकवि), राम का दूत (शुक्र), नल (श्याम), बालि (वासवी), जयन्त (काक), वाल्मीकि (आदिकवि), वाणासुर (सुरासुर), रावण (दिक्शिर), कुम्भकर्ण (घटकर्ण), मेघनाद (घनध्वनि), मारीच (घातिनेय), राक्षस (दीर्घदेह), रावण का दूत

(कीर), सुबाहु (त्रिमुन्ड), अक्षय कुमार (नयनकुमार), विभीषण (भयानक) के अलावा रावण का मंत्री (दीर्घजठर), विदूषक, नर्तकी, मंत्री, चर, द्वारपाल, खंड, बन्दीजन, मैत्रावारुणी, सागर, पथिक, सूत्रधार, मारिष, परिपार्शक, सचिव, भाव, शिष्यगण, सभासद, भाट, नट आदि हैं। लेखक ने पुरुष पात्रों का नामकरण अपने ढंग से किया है। उसी तरह स्त्री पात्रों में प्रमुख हैं सीता (महिजा), कौशल्या (कुशला), कैकेयी (काश्मीरी), मंथरा (कुटिला), शबरी (तपस्विनी), अनसूया (अनीर्षा), ताड़का (घातिनी) और सूर्पणखा (दीर्घनखी) आदि।

आनन्द रघुनन्दन नाटक के मेरे पास तीन प्रकाशित रूप हैं। पहला है बनारस लाइट यंत्रणालय मुद्रितं उसका प्रथमांक से एक छन्द-"**भूपदिगजान पायो पूतभगवानहोजी वाहवाहै। मोदवेप्रमानछायो सकलजहानहोजी वाहवाहै।। धायधाय रंग बोरि देऊनारिअंगहोजी वाहवाहै। बिसुनाथदंगसब खेलोयेकसंगहोजी वाहवाहै।।**"

आदिकविः सहर्ष सम्भ्रम। अहोमहोसोहिलोंसोरत्रिभुवन पूरन करै हैकहाईसईसावतारभयो। अबअकथमुदमण्डितामुनिम् डलो अपराजितानामनगरीजायगोहमहूंचलैं। इतिनिःक्रांताःसर्वे। विष्कम्भकः। सचिवप्रवेशः। (पृष्ठ -03)

एक दूसरा अंश- "कीरः छंदतरंगिनी।। राकसपुरीचंदु बोर। कपिनाहिंनहिंअ सठोर।। चाकलोकोसचलीस। सतचारिलामनतीस।। कपिबांधिसंघसेसेत। कोउतकेउत्तरननेत।। आकासहूदसकोस। कपिभीरभरीसरोस।।"

दोहा- "भूपभूपयहिसैनके अतिबलजीतनहार।
सेसनसंख्याकरिसकैं गनैंजोवर्षहज़ार।।" (पृष्ठ -91, षष्टमांक)

अंतिम अंश है- "सूत्रधारःभजन। छूटैमनमलीनतासारीकामादिकमिटिजाहीं
होईविवेकनसैदुखसिगरेगहौआपममबाहीं।। अतिनिर्मलचित्रवै प्रभुपदमेंलगैसहितदृगभावै।
परमप्रेमरघुनाथचापको विश्वनाथअबपाबै।।1।।" "जौलौंकीरतिचलैतिहारी
तौलौंचलैंनाथयहनाटक सुनिसबहोयिसुखारी।।जोयहकहैलहैधनधानिहुं अन्तसुगतितेहिंहोबै
विस्वनाथकोंप्रगटरहियतनसुभगतिहारोंजोवै।। 1।।"
(श्रीरघुनन्दनः तथास्तुसूत्रधारःप्रणम्यसहर्षनिःक्रान्ताः) (पृष्ठ -144, सप्तमांक)

आनन्द रघुनन्द की दूसरी प्रति है जो विन्ध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने प्रकाशित की है इसके सम्पादक मण्डल में श्री दीपचन्द जैन एम.ए., श्री शंकर शेष एम.ए. श्री कृष्णाकान्त पाण्डेय एम.ए. हैं। यह नाटक भी सात अंकों का है। इसके दो अंश इस प्रकार हैं-

पहला :- नट- (सोवाद्यं टंकार्य देवं प्रणम्य) "अरी सुनौ तौ, दोनौं नटी, मोसौं नट आयो, दिगजान ऐसो भूप पायौ। पुत्रोत्साह समयोः बनि आयौ। कुल कल कलनि लखायौ चाहिये। (आकाशे दृष्टवा) अरे नटी, पुरहूत दैत्यन को जुद्ध भूत होत है। सूत फेंकि तामें चढ़ि, रन रंग मढ़ि, आपने देव संग ह्वैं हूँ जंग करन जात हौं। भो सभासदों सलाम है, मेरी नटी को विलोके रहियौ।" (पृष्ठ-06)

दूसरा :- डहडह जगकारी-छंद-
आसुनि मिसु काढ़ि बारि-बारि निधि मिलन कियो।
महा जननि कृत अघ मोहि करि, हत्त तेज़ दियो।
लेतहिं लेत उसास बयारिन शेष रही,
सुमित्र हितकारी सरूप अवकाश नहीं।

शोक आगमहिं अंस जरयो तन अहै बनी।
जरी रज्जु की खाखर हीऐ ठनहिं मनी।
पंच तत्व बिन भयो राजि अब अवन करै,
बिश्वनाथ दरसाइय, प्रभु पद शोक हरै। (पृष्ठ-46)

आनन्द रघुनन्दन की नई साज सज्जा के साथ भारतीय ज्ञापनीठ दिल्ली से प्रकाशित तीसरी पुस्तक है। जिसका सम्पादन रामनिरन्जन परिमलेन्दु ने किया है। इसका पहला संस्करण 2015 में और दूसरा संस्करण 2017 में आया है। सम्पादक ने अपनी 64 पेज की प्रस्तावना में इसकी महत्ता को रेखांकित करते हुये इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और महत्त्व का रेखांकन किया है। इसमें कहा गया है "संस्कृत का आनन्द रघुनन्दन में हिन्दी विरचित आनन्द रघुनन्दन नाटक का अनुवाद नहीं है। किन्तु दोनों की कथावस्तु एक ही है। अंकों और दृश्यों में एक रूपता है, समानता है। संवादों में यत्र-तत्र फ़ारसी, मराठी, अरबी, बांग्ला, भोजपुरी, मारवाड़ी और अंग्रेजी भाषाओं के भी प्रयोग मिलते हैं। किन्तु इसके संस्कृत रूप में मात्र संस्कृत भाषा ही है। प्राकृत भाषा के संवाद, गीतों की ताल-धुन तथा प्रविशति, निष्क्रान्ता: आदि रंगमंचीय निर्देश दोनों नाटकों में समान ही है। पूर्ववर्ती संस्कृत नाटकों की परम्परा में अद्‌भुत रस को विशेष प्रश्रय प्राप्त हुआ है। आनन्द रघुनन्दन नाटक भी इस तथ्य की पुनरावृत्ति करता है।" (प्रस्तावना, पृष्ठ -25)

आनंद रघुनंदन : रंगमंच के सन्दर्भ में :- सुगम पाण्डेय ने अपनी फेसबुक पोस्ट में लिखा है"जिस नाटक 'आनंद रघुनंदन' को वरिष्ठ संजय उपाध्याय निर्देशित कर चुके हैं उसे ही अब युवा रंगकर्मी प्रसन्न सोनी ने भी निर्देशित किया है। लेकिन कोई सोचे कि ये दो प्रस्तुतियाँ सिर्फ वरिष्ठता और कनिष्ठता के फासले से ही एक-दूसरे से जुदा होंगी तो यह उसकी गलती है। ये दो प्रस्तुतियाँ साधनसंपन्नता और साधनहीनता की दो दुनियाएँ भी हैं।

प्रसन्न सोनी की प्रस्तुति डेढ़ घंटे लंबी है। उनके ज्यादातर अभिनेता अभी-अभी युवा हुए लोग हैं, जिन्हें एक बात की सुविधा थी कि उन्हें अपनी ही भाषा बघेली में संवाद बोलने थे। खुद प्रसन्न एनएसडी की घुमंतू रेपर्टरी में कई सालों तक काम कर चुके हैं। उनकी प्रस्तुति को ठेठ लोकशैली की प्रस्तुति नहीं कहा जा सकता। बल्कि पात्रों के कास्ट्यूम और प्रकाश योजना के जरिए वे स्थितियों को काफी चाक्षुष बनाने की कोशिश करते हैं। यह कोशिश इस हद तक भी है कि उन्होंने अपने पात्रों के चेहरे मुखौटों से ढक दिए हैं। चेहरों को ढँक देने का अर्थ है मौखिक भंगिमाओं को ढँक देना। इसके बाद वे जड़वत चेहरों को संगीत से जीवंत करते हैं। उनकी प्रस्तुति अच्छी खासी म्यूजिकल है। अभिषेक त्रिपाठी के संयोजन में तैयार बहुत सारी लोकधुनें निरंतर प्रस्तुति में सुनाई देती हैं। वैसे बावजूद इसके कि मुखौटे अभिनय के स्पेस को कम करते हैं, कुछ दृश्यों में अभिनेताओं ने अपनी एनर्जी का अच्छा इस्तेमाल किया है। शूर्पणखा बनी अभिनेत्री का हाहाकार उसके शारीरिक अभिनय में देखने लायक था। दरअसल इस प्रस्तुति की विशेषता या द्वंद्व यही है कि वह एक कस्बे की साधनहीनता में महानगरीय परिपाक को संभव करने की चेष्टा करती है। उसका दिकसिर यानी रावण जब लक्ष्मण रेखा को छूता है तो एक तीखी प्रकाश योजना क्षण भर की कौंध में मंच पर गिरती है, और रावण को जोर का करेंट जैसा लगता है। फिर महिजा यानी सीता को उठाकर ले जाने वाले दृश्य में पूरा मंच लाल रोशनी में नहाया हुआ है। यह जालंधर से आए गुरविंदर सिंह की प्रकाश योजना थी। इसी तरह हनुमानजी उर्फ त्रेतामल टोकरियों से बनी गदा लिए दिखाई देते हैं। दृश्यों में दिखाई देने वाली लोकजीवन की ऐसी कई वस्तुएँ प्रस्तुति को एक अलग ही रंगत देती हैं। प्रसन्न की यह प्रस्तुति ऐसी ही बहुविध किस्म की दृश्य योजनाओं का एक दिलचस्प संयोजन है। हालाँकि मुखौटों के बारे में उन्हें अवश्य ही विचार करना चाहिए कि अभिनय में बाधा खड़ी करने के बरक्स क्या वे शैलीगत प्रभाव बना भी

पा रहे हैं या नहीं! उनकी यह प्रस्तुति साधनों की सीमा का अतिक्रमण करते हुए बहुत कुछ ऐसा रचती है जिसमें एक चुस्ती भी है और औघड़पन भी। प्रस्तुति में औपचारिक मंच सज्जा ज्यादा नहीं है। मुख्य स्पेस में तीन चौकियाँ भर हैं, जिन्हें जरूरत के मुताबिक पहाड़ या सिंहासन के रूप में बरता जाता है। इनके अलावा हर दृश्य का एक अलग ही दृश्य विधान है।''

आनन्द रघुनन्दन की प्रस्तुति पर अमित प्रधान ने एक टीप लिखी है ''कुछ दिनों पहले हिन्दी साहित्य के प्रथम नाटक रीवा नरेश विश्वनाथ सिंह जी द्वारा रचित आनन्द रघुनन्दन का मंचन हमारे सीधी नगर में मानस भवन में हुआ। विशेष बात यह कि नाटक जिसकी कहानी रामायण पर आधारित है उसके पात्रों के नाम बदल दिये गये थे। जनश्रुति है कि जब तुलसीदास जी मानस की रचना कर रहे थे तब भगवान शंकर ने उन्हें निर्देश दिया था कि रामकथा पहले ही संस्कृति में लिखी जा चुकी है। अत: उसे लोकभाषा में इस्तेमाल करें।''

महाराजा विश्वनाथ सिंह का सबसे बड़ा अवदान यह है कि उन्होंने हिन्दी संसार का पहला नाटक लिखा जिसमें अनेक भाषाओं का इस्तेमाल है। नाटक में प्रयुक्त पात्रों को नये नामकरण के साथ भी उन्होंने प्रस्तुत किया है क्योंकि नाटक में पुरुष पात्रों की संख्या बहुत ज़्यादा है इसलिये उनकी भूमिकायें बहुत सही ढंग से उजागर होने में दिक्कत है। दूसरी बात यह है कि आज के दौर में इस नाटक को मूल रूप में प्रस्तुत करना भी कठिन है। इसकी जो रंगमंचीय प्रस्तुतियाँ हो रही हैं वे हिन्दी या बघेली रूपान्तरण के साथ हो रहीं हैं। रंगमंच के निर्देशकों ने इसमें अपने लिये कुछ संशोधनों की तलाश की है और पात्रों की भूमिकाओं में भी समयानुसार परिवर्तन किये हैं। विश्वनाथ सिंह जी के अन्य साहित्य की यूँ तो उपलब्धता नहीं है और यदि कभी-कभार वे कुछ मिलते भी हैं तो उनकी पहुँच नहीं है। बहरहाल उनका साहित्यिक महत्त्व हिन्दी संसार में जाना पहचाना और ख्याति प्राप्त है।

> शासन वही उत्तम है जो अपने अधीनस्तों को सुखी रक्खे और जो अपने से दूर हैं, उन्हें आकर्षित करे। बुद्धिमान और उत्तम शासक वही है जो प्रजा पर बोझ डालकर भी उसे क्षुब्ध नहीं होने देता। वह स्वयं भी किसी प्रकार का प्रमाद नहीं करता, चाहे उसे अधिक आदमियों से व्यवहार करना पड़े अथवा कम आदमियों से, साधारण काम हो या महान्।
>
> – चीनी संत कन्फ्यूसियस

काव्यरसिक राजा जसवन्त सिंह (द्वितीय)

सुख वीर सिंह तेवतिया

उत्तर प्रदेश में कन्नौज के निकट एक रियासत थी तेरवाँ-वहीं के राजा थे जसवन्त सिंह जी। वे बघेल क्षत्रिय हम्मीर सिंह के पुत्र थे। इनकी जन्मतिथि का कोई विवरण उपलबध नहीं है। ''शिवसिंह सरोज'' से सन् 1800 ई. के लगभग इनकी उपस्थिति तथा सन् 1815 के लगभग इनकी मुत्यु की सूचना मात्र मिलती है। जन्मतिथि का कोई पता नहीं चलता। केवल 1800ई. के आसपास आपका रचनाकाल माना गया है। संस्कृत भाषा तथा फारसी के पण्डित, अमूल्य ग्रन्थों के वृहद् भण्डार के स्वामी, ग्वाल कवि के आश्रयदाता और सिद्धहस्त साहित्य-रसिक कवि के रूप में आपकी ख्याति है। ''(हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2, नामवाची शब्दावली, प्र.संपा. धीरेन्द्र वर्मा, पृ 213)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में वर्णित रीतिकाल के अंतर्गत इनका उल्लेख किया है। इन्होंने दो ग्रंथों की रचना की है- 'शृंगार शिरोमणि' और 'शालिहोत्र'। 'शृंगार शिरोमणि' इनकी अति महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें इन्होंने रसों में शृंगार रस को सर्वश्रेष्ठ-शिरोमणि मानकर उसका विवेचन किया। शृंगार का ऐसा विशद और विस्तृत विवेचन दर्शाने वाला कोई अन्य ग्रंथ नहीं है। डॉ. नगेन्द्र संपादित 'हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास षष्ठ भाग' के अनुसार-''यशवंतसिंह का कथन है : 'नवरस में शृंगार रस लसत शिरोमणि रूप'। ग्रंथ में श्रवण और दर्शन, इन दो प्रकारों की रति का वर्णन है। इसके बाद विभाव का वर्णन है जिसके अंतर्गत नायिकाभेद का विशद उल्लेख है। इसमें आगतपतिका के भीतर शकुनों का भी वर्णन किया गया है। उद्दीपन का भी इस ग्रंथ में विस्तृत वर्णन है जिसमें नृत्य, गान, पावस, कवित्त-श्रवण वन दर्शन, चपलादर्शन उपवनगमन, भूषण, सुमन, शशि, नक्षत्रदर्शन, वसंत, होली, पिक आदि के प्रसंग हैं। ये सुंदर और नव्यता लिए हुए हैं।'' (पृ. 428)

राजा जसवन्त सिंह को अधिक विस्तार नहीं दिया आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने। केवल एक कविता ही उद्धृत की है जो निम्नवत है -

''घनन के ओर, सोर चारों ओर मोरन के,
अति चितचोर तैसे अंकुर मुनै रहैं।
कोकिलन कूक हूक होति बिरहीन हिय,
लूक से जगत चीर चारन चूनै रहैं।।
झिल्ली झनकार तैसो पिकन पुकार डारी,
मारि डारी डारी द्रुम अंकुर सु नै रहैं।
लुनैं रहैं प्रान प्रानप्यारे जसवंत बिनु,
कारे पीरे लाल ऊदे बादर उनै रहैं।।

(हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 209)

प्रकृति के विभिन्न अवयव विरहिन नायिका के हृदय को और उद्दीप्त कर देते हैं। उसे प्रीतम (नायक) के बिना मोर, कोयल आदि के कर्णप्रिय स्वर भी दुखदायी-हृदयदाहक लगते हैं। इस पद में यही दर्शाया है कवि ने।

ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने राजा जसवंतसिंह के कुछ कवित्त अपने ग्रंथ में दिए हैं जिन्हें यहाँ अवलोकनार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है –

''लै सपने, अपने मन की दुलही, उलहि छवि, भाग भरी सी
अंक निसंक सो लै परयंक, लला मुख चूँमि सु चारु धरी सी
यों लपटी चपटी हिय सों, 'जसवंत' विसाल प्रसून छरी सी
नैनन के खुलतै वह मूरति पास परी, उड़ि जात परीसी''
(शृंगार शिरोमणि-शिवसिंह सरोज, पृ. 191)

एक अन्य पद में नायिका के अनालंकृत-स्वाभाविक रूप सौंदर्य का अनूठा चित्रण किया है कवि ने –

छूटी लटैं लटकैं मुख पै, जल-बिंदु लसै मनो पोहत मोती
बोलत बोल, तमोल बिराजत, राजत है नथ में ससि-गोती
ओज सरोज उरोज कली, सुभली त्रिबली-तट आनँद ओती
जोरति नेह, मरोरति भौं, सु चोरति चित्त, निचोरति धोती (उपरिवत्)

एक दूसरा पद भी दृष्टव्य है –

हेरौं, तौ हेरो न जात भट्ट, हरि हेरे बिना नहिं लागत नीको
नैन जुरैं न, मुरै न भली विधि, कौतुक कासों कहौं यह जी को
को समुझै, 'जसवंत' इसै हौं ताको करौं बलि पौरि जनी को
जीव कली कहे, लाज तुरंग, कहौ कहिबो करौं लाज कै जी को (उपरिवत्, पृ. 192)

शृंगारपरक एक अन्य कवित्त में कवि ने पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार का बड़ा ही सुंदर प्रयोग किया है-

''लाँबी लाँबी लटै लोनी लटकत लंक लौ लौं,
लीक लागि लोचन, उड़त झकझौरि झोरि
छूटि गए सकल सिंगार, हार टूट गए,
लूटि गए लपटि भुअंग अंग कोरि कोरि
सकुचि सयानी अँगरानी प्रानप्यारी बाल,
प्यारे 'जसवंत' के निकट तन तोरि तोरि
तोरि तोरि चित्त, हित जोरि जोरि लाड़िले सों,
छोरि छोरि कंचुकी, जम्हात मुख मोरि मोरि।।'' (उपरिवत्)

इसी तरह का एक कवित्त श्रीपति (रचनाकाल संवत् 1777 वि.सन् 1720ई.) का मिलता है-देखिए-

''धूम से धुँधारे कहूँ काजर से कारे,
ये निपट बिकरारे, मोहि लागत सघन के।
'श्रीपति' सुहावन, सलिल बरसावन,

सरीर में लगावन, वियोगिनि तियन के।।
दरजि दरजि हिय, लरजि लरजि करि,
अरजि अरजि 'परे' दूत ये मदन के।
बरजि बरजि अति तरजि तरजि मोपै,
गरजि गरजि उठैं बादर गगन के।।''
(हिंदी साहित्य का बृहत, इतिहास, षष्ठ भाग, पृ. 350 संपा डॉ. नगेन्द्र)

कवि जसवंत-रचित ''शालिहोत्र-ग्रंथ' का एक सवैया भी अवलोकनार्थ यहाँ प्रस्तुत है -

''जंघै जमाय दुवौ घुटवान लौं, पींडुरी ढीली दुहूँ दिसि चालै।
कानन मध्य में दीठि रहै, थिरता करिकै कटि नेकु न हालै।
जानै तुरंगम के मन की गति, चाहिए ता विधि चाबुक घालै।
कोई सवार कहे 'जसवंत' बचाए चलै जो तमाल दिवालै।।''
(शालिहोत्र ग्रंथे - शिवसिंह सरोज, 192)

राजा जसवंतसिंह एक सिद्धहस्त कवि हैं। इनके काव्य की भाषा ब्रजभाषा है। भाषा पर पूरा अधिकार है इनका। यद्यपि उसकाल में उर्दू का प्रचलन था और वे फारसी के विद्वान् भी थे परंतु अपने काव्य में इन्होंने उसका प्रयोग न के बराबर किया है। कुछ शब्द जो बहुप्रचलित थे और कविता के स्वरूप को बनाए रखने में सहायक हुए हैं, उन्हीं को स्थान दिया गया है। चाबुक, सवार कुछ ऐसे ही शब्द हैं। अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों का सुंदर प्रयोग किया है। लाँबी-लाँबी, झोरि-झोरि, कोरि-कोरि, छोरि-छोरि, मोरि-मोरि में क्रमश समानार्थक शब्दों की एकाधिक बार आवृत्ति पुनरुक्ति-प्रकास अलंकार के दर्शन कराती है। 'जोरति नेह, मरोरति भौं, सुचोरित चित्त, निचोरति धोती' जैसे बिंब इनकी काव्य-शैली के विशेष आकर्षण हैं।

राजा जसवन्त सिंह का रीतिकालीन कवियों में एक विशेष स्थान है। अपनी उत्कृष्ठ रचनाओं के कारण हिन्दी साहित्य में सदैव याद किए जाते रहेंगे।

सुनि बोल सुहावन तेरें अटा, यह टेक हिये में धरौं पै धरौं।
मढ़ि कंचन चोंच, पखोवन में मुकताहल गूंदि भरौं पै भरौं।
सुख पींजरे पालि पढ़ाइ घने गुन, औगुन कोटि हरौं पै हरौं।
बिछुरे हरि मोहिं 'महेस' मिलै, तोहि काग ते हंस करौं पै करौ।।

– बस्ती नरेश राजा शीतला बख्श सिंह 'महेश'
संवत् 1941 (सन् 1884) उपस्थितिकाल

मेवाड़ के महाराणाओं का साहित्यिक अवदान

डॉ. हरीदास व्यास

अरावली पर्वतमाला के सान्निध्य में बसे प्राकृतिक सौंदर्य-संपदा से संपन्न मेवाड़ की भूमि केवल उपजाऊ ही नहीं, वीररस की अधिष्ठात्री ही नहीं, बल्कि साहित्य की अविरल धारा से भी गरिमामयी रही है। वीरता और कला-कौशल का समवेतरूप से निर्वाह मेवाड़ के महाराणाओं को विशिष्ट बनाता है। प्रशासक होने के कारण इन राणाओं की वीरता और संघर्ष तो सर्वविदित है, परन्तु इनके साहित्य, भाषा-बोध और कलात्मक सम्पन्नता के बारे में आम व्यक्ति को प्राय: जानकारियाँ नहीं है। इस आलेख का उद्देश्य मेवाड़ के महाराणाओं की कलात्मक कीर्ति से अनुरागियों को परिचित करवाना है।

महाराणा कुम्भा :- उदयपुर नगर की स्थापना (सन् 1559) से बहुत पूर्व राणा कुम्भा (1433) ने न केवल अपने पूर्वजों की वीरता की परम्परा को आगे बढाया, अपितु अपने कला-अनुराग से भी मेवाड़ की प्रतिष्ठा को शिखर पर स्थापित किया। वे स्वयं सृजनधर्मी होने के साथ-साथ वेद, व्याकरण, उपनिषद् आदि के ज्ञाता और संरक्षक भी थे - वे वेद, स्मृति, मीमांसा, उपनिषद्, व्याकरण, राजनीति, और साहित्य में निपुण थे। (एकलिंग महात्म्य : अध्याय-राग वर्णन, श्लोक- 172-73) राणा कुंभा संगीत विद्या में भी निष्णात थे। 'संगीत राज' (डॉ. कुह्न राजा द्वारा संपादित और प्रकाशित भी), 'संगीत मीमांसा' एवं 'सूड प्रबंध' राणा कुम्भा की संगीत विषयक मौलिक रचनाएँ हैं। यही नहीं अपितु उन्होंने 'चंडीशतक' और 'गीत गोविन्द' की टीका भी 'रसिक प्रिया' शीर्षक से की है। ये सभी रचनाएँ कुम्भा के साहित्य और संगीत के प्रति न केवल अनुराग अपितु उनकी गहरी समझ की भी प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त राणा कुम्भा नाट्यशास्त्र और नाट्य साहित्य के अनुरागी थे। ''उन्होंने (राणा कुम्भा ने) चार नाटकों की रचना की थी। इनमें उन्होंने महाराष्ट्री, कर्नाटी और मेवाड़ी भाषाओं का प्रयोग किया था। नाट्यशास्त्र में वह भरतमुनि के नहीं वरन् नंदिकेश्वर के मत के अनुयायी थे और उन्होंने नाट्यशास्त्र के ज्ञान के कारण 'अभिनव भारताचार्य' की पदवी पाई थी। दुर्भाग्य से ये सभी ग्रन्थ इस समय अप्राप्य हैं। (डॉ. राजकुमारी कौल - 'राजस्थान के राजघरानों की हिन्दी-सेवा पृ. 17-18) राणा कुम्भा ने न केवल स्वयं सृजन किया अपितु अपने राज्य-काल में सुथार मंडन, कवि अत्री, कवि महेश जैसे रचनाकारों को प्रश्रय दिया और उन्हें सम्मानित भी किया।

महाराणा जवान सिंह 'ब्रजराज':- महाराणा जवान सिंह का राज्याभिषेक 31 मार्च 1828 को हुआ। वे अत्यंत लोकप्रिय, पितृभक्त, सहृदय और कवियों-विद्वानों का सम्मान करने वाले शासक थे। उन्होंने कवि बखताराम आशिया के काव्यग्रंथ 'कीरत प्रकास' से प्रभावित होकर उन्हें 'मेरड़ा' गाँव भेंट कर दिया। इसी प्रकार चारण कवि किसना आढा जिन्हें कि महाराणा ने बाद में अपना काव्य-गुरु बना लिया था; को उदयपुर का 'जवान बाग' भेंट किया था। कवि आढा ने इस सम्मान पर महाराणा की प्रशंसा में निम्नलिखित काव्य पंक्तियाँ लिखीं -

''अचरज आछा होणरो, किसूं जवांन कहांण
दादो अरसी दूछरल, भीम पिता कुलभांण
कहणा गुण किंवराज, भारत खगवाहा भड़ा
रै उड़ण धजराज, यातां जवांन अरघणों''

'ब्रजराज' उपनाम से महाराणा जवान सिंह ने ब्रजभाषा में काव्य-सृजन किया। दोहा, कवित्त, सवैया आदि छंदों में इनकी विशेष रवानगी थी। महाराणा के काव्य में भक्ति और श्रृंगार की भावनाओं से ओतप्रोत विषय-वस्तु देखी जा सकती है। कवि 'किसना आढ़ा' के काव्य से, विशेषरूप से उनकी रचना 'कविप्रिया' से महाराणा जवान सिंह बहुत प्रभावित थे। कालान्तर में महाराणा ने 'कवि किसना आढा' को अपना काव्यगुरु बनाया और कहा जाता है कि संवत् 1882 के फाल्गुन माह की कृष्णपक्ष की चतुर्थी को 'ब्रजराज' ने अपनी काव्ययात्रा का निम्नलिखित पहला पद लिखा –

''केसरियौ कुंवर मिझमान छै रंगभीनी लाडी
आनंदकर सब साज बनाऔ अतर अरग पान छै
गिरधर स्यांम सुजान रसीलौ नन्द महर को कान छै
श्री ब्रजराज किसौर मनोहर आनन हू को प्रान छै''

इसी प्रकार विद्वानों के मतानुसार 'ब्रजराज' का लिखा पहला कवित्त निम्नलिखित था –

''केसव नरायण गुरुर ध्वज कृपानिधि, मोहन मुरारी चक्रधारी सुधि कीजियें,
द्रोपदी की राखी लाज गज को उबार दियो, त्यौंही मेरो दीनानाथ हाथ गहि लीजियें।
गुरु को बताय ग्यांन ध्यान में लगाय लीयो, केती बात करी अती जग में पतीजियें,
करुनानिधांन स्यांम सुनिये अनाथबंधु, बिरद पिछांन मौको भक्तिपद दीजियें ।।''

भक्ति रस में लिखे उनके छंद 'ब्रजराज' की अत्यंत स्वाभाविक भाव प्रवीणता के कारण द्रष्टव्य बन पड़े हैं–

''बूड़ रह्यौ भवसागर में अवलंबन और कछू न खरो जू,
मोह जंजाल बिकार सबै तन की तुम स्यांम सुपीर हरो जू ।
दीनदयाल दया करिकै अपने ब्रद की सुधि नां बिसरो जू,
एक बिसास रही मन आस जु श्री ब्रजराज सहाय करो जू ।।''

महाकवि सूरदास की ही भाँति 'ब्रजराज' ने भी उद्धव-गोपी संवाद की मनमोहक रचना की है। 'ब्रजराज' के पदों में सगुन-निर्गुण की तार्किकता के स्थान पर गोपियों का अनुभूति पक्ष अधिक प्रबल और प्रभावी है। 'सवैया' छंद का यह उद्धरण द्रष्टव्य है –

''उद्धव आय गए ब्रज में सुनि गोपिन के तन में सुख छायौ,
आनंद सों उमगी सगरी चली प्रेम भरी दधि आन बंधायौ ।
पूछति है मनमोहन की सुधि बोलत ही दृग नीर चलायौ,
देखि सनेह सखा हरिकै घनश्याम वियोग कछू ना सुनायौ।।

ब्रज में सुनि आगम उद्धव को चहुँ ओर सखी जन आनखरी,
सुधि पूछत है वहि प्रीतम की तन में मन में अति प्रेम भरी।

ठगलै हमकों नन्द लाल तबैं अब नैह दुरावन की जु करी,
मिलिहै कब स्याम सुजान कहो तुम जानत मोमन की सगरी''।।
(द्र. डॉ. राजकुमारी कौल : राजस्थान के राजघरानों की हिन्दी-सेवा, पृ. 30)

'ब्रजराज' ने श्रृंगार काव्य-रचना के लिए 'कवित्त' छंद को अधिक उपयुक्त मानते हुए इसमें लालित्यपूर्ण सृजन किया है –

''मोहन सौं मान करि बैठी प्रानप्यारी अति
कैसोरी अयानपन परयो है ही तन में
प्रानहूँ तैं अधिक सुजान स्याम जानैं नित
राखत है मान तैरो सब तिय जन में
भोर अरु सांझ, दिन राति में न दीसे और
लेत मुख नाम ध्यान चाहें छिन छिन में
ऐरी अलबैली हेली सुनरी नवेली अब
मेरो कह्यो मान कान राख मेरी मन में''।। (द्र. वही, पृ. 31)

श्रृंगार रस के लिए 'ब्रजराज' ने 'दोहा' छंद का प्रयोग बहुत कम ही किया है, परन्तु जब भी किया है, अत्यंत प्रभावी बन पडा है –

''चमकि चमकि चपला चपल घुमडि घटा चहुँ ओर
पिय बिनु तिय तन छिनक में डारत मदन मरोर''। (द्र. वही, पृ. 31)

परन्तु श्रृंगार भाव के लिए 'ब्रजराज' ने सवैया छंद का प्रयोग भरपूर किया है। रीतिकालीन कवियों की भांति उन्होंने भक्ति-रीति का समन्वय भी बहुत खूब किया है। एक उद्धरण द्रष्टव्य है –

''नैनन जोर मरोरन भौंह न मंत्र मनौ पढिके कछू दीनो,
तौ बिन स्याम सुजान अलि छिन ही छिन में तन होत सुधीनो।
दच्छन सों अनुकूल भयौ ब्रजराज पती अति ही परबीनो
नेकनिहारत ही मन भावन मोहन को बस में कर लीनो।।''(द्र. वही, पृ. 32)

'ब्रजराज' रीतिकालीन कवियों के नख-शिख वर्णन से भी अत्यंत प्रभावित थे तथापि उनके काव्य में नख-शिख वर्णन अत्यंत मौलिक रूप में देखा जा सकता है –

''आनन पै रद चंद करौ अरु भौंहन पै वहि चाप विडारौं,
केसन को छिब पै मनभावन भौंरन की अवली सब टारौं।
भूषन अम्बर सौभि रहै तन चाल हियै जु मराल न धारौं,
सुन्दर है ब्रजभांन सुता तिय नैनन पै म्रग खंजन वारौं।।''

महाराणा जवानसिंह 'ब्रजराज' को राग-रागिनियों का समग्र ज्ञान था। उनके अनेक छंद काफी, कानडा, कल्याण, कालिंगडा, आसावरी, अडाणा, खमाच्च, गरबी, गौड़ मल्हार, गौडी, ख्याल, जैजैवंती, जंगला, धनाश्री, नाएकी, झींझोटी, परज, बसंत, भैरवी, मल्हार, मारू, ललित, लुहरियो, विहाग, ठुमरी, हिंडोरा, सोरठ खम्भायची, सोरठ, विहाग, सारंग, षट आदि रागों में निबद्ध हैं।

'ब्रजराज' का कोई काव्य-संग्रह उनके जीवन काल में तैयार नहीं हो सका। लोक संस्कृतिविद् डॉ. महेंद्र भानावत ने अत्यंत परिश्रम से महाराणा ब्रजराज की समस्त हस्तलिखित रचनाओं का अथक

परिश्रम से संग्रह कर 'ब्रजराज काव्य माधुरी' शीर्षक से तैयार किया जिसका प्रकाशन 1996 में साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर द्वारा किया गया। सम्पादक डॉ. महेंद्र भानावत के अनुसार – ''विषय वस्तु की दृष्टि से 'ब्रजराज' लिखित रचनाओं को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है – (1) विनय माधुरी (2) शृंगार माधुरी (3) पद माधुरी''। (महाराणा जवानसिंह और उनकी काव्य साधना: डॉ. महेंद्र भानावत : पृ. 132)

'ब्रजराज' के समग्र काव्य का अध्ययन करने के बाद डॉ. महेंद्र भानावत ने महाराणा के काव्य की विषय वस्तु और शिल्प के समन्वय के बारे में निष्कर्षतः कहा है – ''विनय के छंदों में ब्रजराज ने गणेश, शिव, राम, कृष्ण आदि की स्तुति की है लेकिन शृंगार के छंदों में वर्षा ऋतु वर्णन, कृष्ण जन्मोत्सव, उद्धव आगमन, नेत्र, वंशी, दम्पति वर्णन के साथ विविध नायिकाओं, रूपगर्विता, मुग्धा अभिसारिका, कुलता, खंडिता, मानवती, प्रोषितपतिका, परकीया प्रोषितपतिका, विरहिणी आदि का चित्रांकन बड़ी सुन्दरता से किया है।'' (उपरिवत, पृ. 136)

महाराणा सज्जनसिंह : 8 अक्टूबर, 1874 को महाराणा सज्जनसिंह का राज्याभिषेक हुआ। विद्वानों के मतानुसार वे विद्यानुरागी और विद्वत्ता के बड़े गुण-ग्राहक थे। इसी कारण इनके दरबार में विद्वानों, कवियों का आना-जाना लगा रहता था। ज्ञान के प्रति इनके अनुराग को इसी तथ्य से समझा जा सकता है कि उन्होंने 'सज्जन वाणी विलास पुस्तकालय' की न केवल स्थापना की अपितु इसके निरंतर और कुशल संचालन के लिए कविराज श्यामलदास को नियुक्त भी किया। इनके दरबार में श्यामलदास के अतिरिक्त फतहकरण उज्ज्वल, किशनसिंह बारहठ, स्वामी गणेशपुरी, न्याय-अलंकार के ज्ञाता सुब्रह्मराय शास्त्री, ज्योतिष-धर्मशास्त्र के विद्वान् पंडित विनायक शास्त्री, वैयाकरण पंडित अजितदेव, ज्योतिष शास्त्री नारायण देव जैसे अनेक विद्वानों का समागम रहता था। कवि मुरारिदान को महाराणा ने 'कविराज' उपाधि से सम्मानित किया। हिंदी के ख्यातनाम साहित्यकार भारतेंदु हरिश्चंद्र भी कुछ समय तक महाराणा के अतिथि रहे। उन्हें विदा करते हुए महाराणा ने भारतेंदुजी को 'सरोपाव' और नकद 10,000 रुपए भेंट कर सम्मानित किया। इन विद्वानों के सान्निध्य में रहने से खुद महाराणा सज्जनसिंह को दर्शनशास्त्र, न्यायशास्त्र और काव्यशास्त्र का अच्छा ज्ञान हो गया था। बूंदी के कवि सूरजमल द्वारा लिखित 'वंश भास्कर', नरहरिदास लिखित 'अवतार चरित' और कोटा के कवि चारण फतहदान के काव्यांशों पर महाराणा की मौलिक व्याख्याओं से उस समय के विद्वान् भी चकित हो जाते थे। स्वामी दयानंद की विद्वत्ता से प्रभावित होकर महाराणा ने स्वामीजी से 'वैशेषिक दर्शन' और 'मनुस्मृति' का अध्ययन किया। स्वामीजी की मृत्यु से महाराणा ने बहुत विचलित होकर निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी थीं–

''नभ चव ग्रह ससि दीप-दिन दयानंद सह सत्व।
वय त्रेसठ वतसर बिचौ पायो तन पंचत्त्व ।।
जाकै जीह जोर तैं प्रपंच फिलासिफन को ।
अस्त सो समस्त आर्यामंडल तै मान्यो मैं ।।
वेद के विरुद्धी मत मत के कुबुद्धि मंद ।
भद्र भद्र आदिम पे सिंह अनुमान्यो मैं ।।
ज्ञाता खट ग्रंथन को वेद को प्रणेता जेता।
आर्य विद्या अर्क हूं को अस्ताचल जान्यो मैं ।।
स्वामी दयानंद जू के विष्णुपद प्राप्त हूँतैं।
पारिजात को सो आज पत न प्रमान्यौ मैं।।

(द्र. डॉ. राजकुमारी कौल : राजस्थान के राजघरानों की हिन्दी सेवा, पृ. 34)

महाराणा सज्जन सिंह भी संगीत के सूक्ष्म मर्मज्ञ थे। अत: उनके द्वारा रचित सवैया, दोहा, कवित्त, सोरठा आदि छंद विभिन्न राग-रागिनियों में निबद्ध हैं। राग भैरवी में उनका लिखा यह छंद द्रष्टव्य है-

''शंकर छवि छाय रही मन में।
भूखन ब्याल खाल गज अम्बर भसम लगी तन में।।
माल कपाल भाल चख सोहत ताडिता ज्यों घन में।
उमा संग अरधंग गंग जुत भूतन के गन में।। (द्र. वही, पृ. 34)

डॉ. राजकुमारी कौल के अनुसार - ''महाराणा की रचनाओं का प्रकाशन 'वीर विनोद' नाम से हो चुका है। वास्तव में हिन्दी कविताओं के लिए महाराणा सज्जन सिंह का व्यक्तित्व राजस्थान के लिए बड़ा प्रेरणापूर्ण और सारगर्भित था। उनके उत्तराधिकारियों में महाराणा फतेहसिंह जी एवं महाराणा भूपालसिंहजी ने भी अपनी-अपनी उपस्थिति और रुचि के अनुकूल साहित्यिक प्रवृतियों को प्रोत्साहन दिया है, परन्तु उनकी तुलना इस दृष्टि से महाराणा सज्जनसिंह से नहीं की जा सकती।'' (द्र. वही, पृ. 36)

मेवाड़ के इन महाराणाओं के अतिरिक्त **महाराणा प्रताप** (1572-1597) स्वयं तो साहित्यकार नहीं थे परन्तु, इनके जीवन को आलंबन बनाकर जितनी रचनाएँ लिखी गयीं, उतनी रचनाएँ किसी अन्य महाराणा के जीवन पर नहीं लिखी गई। ऐसे कवियों में कवि पृथवीराज, दुरासाजी आढा के नाम प्रमुख हैं। उनपर लिखी रचनाओं में 'रानारासोऊ', 'महाराणा यश प्रकाश', 'वंश भास्कर', 'हल्दीघाटी' आदि विशेषरूप से लोकप्रिय हैं।

महाराणा की मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी **महाराणा अमरसिंह** ने निराशाजनक परिस्थितियों में जहांगीर से समझौता कर लिया, परन्तु इस संधि के कारण वे अपराधबोध से घिर गए और राज्य अपने पुत्र को सौंप कर एकांतवास में चले गए। इस मनस्थिति में उन्होंने अब्दुल रहीम खानखाना को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने निम्नलिखित दोहे लिखे -

''हाडा कूरम राठवड़, गोखां जोख करंत।
कह दो खांनाखाननें, (म्हें) वनचर हुआ फिरंत।।
तंवरां सूं दिल्ली गई, राठौडां कनवज्ज।
अमर पयम्पे खानने, वो दिन दीसे अज्ज।। (द्र. वही, पृ. 25)

महाराणा अमरसिंह पर भी संस्कृत में 'अमर काव्य' और मेवाड़ी भाषा में 'अमर विनोद' नामक ग्रन्थ की रचना हुई।

इनके अतिरिक्त **महाराणा जगतसिंह** (राज्याभिषेक 1628 ई.) के सम्मान में कवि विश्वनाथ ने संस्कृत भाषा में 14 सर्गो के 'जगत्प्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना की।

महाराणा अरिसिंह (राज्याभिषेक 1761 ई.) द्वारा लिखित एक ग्रन्थ 'रसिक चमन' उपलब्ध है जो नागरीदासजी के काव्यग्रंथ 'इश्क चमन' से अत्यंत प्रभावित है। 'रसिक चमन' का एक उदाहरण दृष्टव्य है-

''इस्क चमन इस्कीन को, करयो नागरीदास
रसिक चमन अरसी नृपति, कीनो अधिक प्रकास'' (द्र. वही, पृ. 28)

इस पुस्तक में ब्रज और उर्दू भाषा का समन्वय महत्त्वपूर्ण है।

इन कतिपय महाराणाओं ने अपने चारों ओर के कलेवर युद्ध, भोगविलास, कूटनीतियों के बीच भी काव्य-सृजन कर, कवियों और विद्वानों का सम्मान कर अपनी संवेदनशीलता और सहृदयता का परिचय दिया। राजस्थान की साहित्य यात्रा इनके योगदान के उल्लेख के बिना अधूरी है।

हे री मैं तो प्रेम दिवांणी, मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध मिलणा होय।
घायल की गति घायल जाणै, की जिन लाई होय।
दरद की मारी बन बन डोलूं, वैद मिल्या नहिं कोय।
मीरां के प्रभु पीर मिटैगी, जब वैद सांवरिया होय।

– मीराबाई वि.सं. 1555-1600
मेवाड़ के महाराणा सांगा के पुत्र भोजराज के साथ विवाह

महाराजकुमार रत्नसिंह 'नटनागर' : रीतिकालीन काव्य परम्परा के उज्जवल नक्षत्र

डॉ. ओंकारनाथ चतुर्वेदी

रीतिकालीन काव्य परम्परा का यह अंतिम चरण चल रहा था। हिन्दी साहित्य जगत् में नयी प्रवृत्तियाँ जन्म लेने को कुलबुला रही थीं। समस्त उत्तर भारत सत्रहवीं शताब्दी में मुगलों के कमजोर होने पर लूटमार और अराजकता का केन्द्र बन चला था। अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ रहा था। टीपू सुल्तान को पराजित कर-ईस्ट इंडिया कम्पनी के कारिन्दे भारत विजय के लिये उत्तर की ओर बढ़ रहे थे। शक्तिशाली राजघरानों को संधियों और समझोतों से बाँधा जा रहा था। प्रसिद्ध पिंडारी युद्ध के बाद सन् 1818 ई. में सीतामऊ और ईस्ट इंडिया कम्पनी के बीच एक महत्त्वपूर्ण संधि हुई। उसके अनुसार 'सीतामऊ' को एक स्वतंत्र देशी रियासत मान लिया गया और वहाँ के नरेशों को ग्यारह तोपों की सलामी का अधिकार स्वीकार किया गया। तभी सीतामऊ के महाराजा राजसिंह के पुत्र के रूप में संवत्, 1865 चौत्र मास में महाराज कुमार रत्नसिंह जी का जन्म हुआ-जो साहित्य जगत् में 'नटनागर' के रूप में विख्यात रहे हैं। आज भी सीतामऊ में उनकी स्मृति में नटनागर संस्थान के रूप में उनके कृतित्व एवं कला साधना को सुरक्षित रखा गया है। सीतामऊ म0कु0 डॉ. रघुवीरसिंहजी ने 'नटनागर संस्थान' को इतिहास एवं साहित्य अध्ययन का प्रमुख संस्थान बना दिया है। वहाँ एक कला संग्राहलय भी है, जो विभिन्न चित्रकला शैलियों की याद दिलाता है।

सीतामऊ के शासक राजसिंहजी कुशल शासक थे। ललित कलाओं पर इनका बड़ा प्रेम था। गुणियों एवं कवि-कोविदों का दिल खोलकर सम्मान करते थे। 'नटनागर विनोद' के रचयिता राजकुमार रत्नसिंह इन्हीं के पुत्र थे। पिता के साहित्य अनुराग का इन पर पूरा प्रभाव पड़ा था। राजसिंहजी स्वयं भी 'नृपराज' उपनाम से रचनायें रचते थे। रीतिकालीन युग की एक प्रमुख विशेषता थी-कि कई राजघरानों ने ब्रजभाषा और हिन्दी में बड़ी महत्त्वपूर्ण रचनायें रची हैं और हिन्दी के रथ को वर्तमान युग तक खींच लाये हैं। बूंदी के शासक बुद्धसिंह एक उत्कृष्ट कवि थे-उनके द्वारा सम्वत् 1762 में लिखा 'नेह-तरंग' शृंगार रस का उत्तम ग्रन्थ है। बुद्धसिंहजी स्वयं कविता प्रेमी एवं कवियों का आदर करने वाले शासक थे। तभी मतिराम ने बूंदी नरेश भावसिंह की राजसभा का गौरव बढ़ाते हुए बूंदी में ब्रजभाषा साहित्य में चर्चित ग्रन्थ यथा 'ललित-ललाम', 'रसराज' तथा 'सतसई' जैसे ग्रन्थों की रचनाकर अपनी साहित्य साधना को उत्कृष्टता की ओर बढ़ाया। राजा स्वयं रचनाकार थे एवं प्रतिभाशाली रचनाकारों को राज्याश्रय देते थे। रावराजा विष्णुसिंहजी के काव्य-प्रेम ने ढ़ेर सारे रचनाकारों को बूंदी के प्रति आकर्षित किया था। वे भी बूंदी आये थे।

बूंदी के वीर रसावतार महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण एवं दादूपंथ के सुविख्यात संत कवि स्वरूपदास ने राजकुमार रत्नसिंह के काव्य रचना संसार को बड़ा आयाम दिया था। संत स्वरूपदास जी दादूपंथी तो इनके प्रेरक गुरु थे। बूंदी के वीर रसावतार महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण नटनागर जी के समकालीन कवि थे। रत्नसिंहजी नटनागर को काव्यत्व के गुण तो पैतृक रूप में मिले थे-उसी कालखण्ड में रीवा के महाराजा रघुराजसिंह अपना निराला साहित्य मार्ग निकाल रहे थे।

रीतिकाल के इस उत्कृष्ट कालखंड में पद्माकर, प्रताप साहि, बेनी-प्रवीन, ग्वाल, मणिदेव, गुरुदत्त, जसवंतसिंह, मौन, बान, बोधा, ठाकुर एवं चन्दन जैसे सत्कवियों ने 'नटनागर' के कविताकाल के कुछ वर्ष पूर्व ही हिन्दी काव्योपवन का जिस तरह से साहित्य शृंगार किया था-वह सजावट अभी ताजी थी। भारतेन्दु जी की कीर्ति कौमदी का उज्ज्वल प्रकाश का विस्तार हो रहा था। ऐसे ही समय में जब हिन्दी के साहित्य गगन में सहृदयता की घटायें उमड़ रही थीं नटनागरजी ने कविता कामिनी को शृंगारिक फूलों से अलंकृत किया।

ऊधव लिखाय लाये, ज्ञान बायराग जोग,
रोग को दिखात हमैं नाहिं कछु आस है।
नेम जो कियो है, नटनागर उचासना को,
ब्रत न टरैगो देखी जो लौं घट स्वास है।
कान्हर कहावै कोन, बाको हम जाने नाहिं,
कान्हर हमारी ऐसी, लिखे बड़ी-हाँस है।
कान्हर हमारो तो हमारे प्रान पास है।

उपर्युक्त पद को पढ़कर सूरदास के पदों का स्मरण हो आता है। भाषा का प्रवाह स्वच्छन्द है। उसमें भाव स्वाभाविक रीति से जगमगा रहा है। ऊपर के पद की धनाक्षरी की भाषा वैसी ही है-जैसी देव और पद्माकर आदि की होती है।

सर मैं तरवाय के बोरिये कैं, गिरि पै चढ़वाय के डांरिये जू,
कछु जान के लेन के और उपाय तौ सिंह गयंद बकोरिये जू,
अब प्रान तो कान्ह में आनि रह्यो, जो उबारिबो है तो उबारिये जू,
नटनागर ऐंचि कै दीठ महा, हद्रा बंसी की तान न मारिये जू,

ऊपर के सवैया का भाषा प्रवाह ठाकुर और बोधा की भाषाओं की शब्द योजना से मेल खाता है। कविता में भाव प्रधान है और भाषा गौण। भाव प्राण है और भाषा शरीर। जिस कविता में प्राण नहीं वह कविता ही क्या? प्राण हो तो भद्दा शरीर भी क्षम्य है, परन्तु बिना प्राण का सुन्दर शरीर किस काम का? इसीलिए भाषा चाहे कैसी भी हो, यदि भाव अच्छा है, सुरम्य है तो सब ठीक है। परन्तु भाव के अभाव में केवल अच्छी भाषा के सहारे कोई कवि की पदवी को प्राप्त नहीं कर सकता। भारतेन्दुजी ने ठीक ही कहा है- ''बात अनूठी चाहिए, भाषा कोऊ होय।''

परन्तु अच्छी भाषा के साथ-साथ भाव खिल जाता है। उसकी दीप्ति दूनी हो जाती है। इसीलिए अच्छे कवि प्राय: अच्छी भाषा में अपने भाव व्यक्त करने का प्रयास करते हैं। अच्छी भाषा वही है, जो तुरन्त पाठक को भाव के अन्तस्तल तक पहुँचा दे। कवि चाहता है कि उसकी भाषा मौम के समान हो, काँच के समान नहीं। बस जिस भाषा में ऐसे गुण हों वही कविता के लिए उपयुक्त भाषा है। सौभाग्य से समर्थ कवियों के हाथों में पड़कर साहित्यिक बृजभाषा ने इन गुणों को बड़े भोलेपन के साथ अपनाया है। नटनागर विनोद ग्रन्थ के रचयिता का कई भाषाओं पर अधिकार था।

'नटनागर विनोद' का रचनाकाल संवत् 1913 है। यह संवत् उस ग्रन्थ में मौजूद है। राजकुमार रत्नसिंह नटनागर का निधन सम्वत् 1920 में हुआ था। उस समय उनकी आयु 55 वर्ष थी। नटनागर विनोद में प्राय: सवा पाँच सौ छन्द हैं। अधिक संख्या सवैया और धनाक्षरी छन्दों की है। नटनागरजी ने दोहों की अपेक्षा सोरठे अधिक बनाये हैं। उनके सोरठे बड़े सुन्दर हैं। बरवै छन्द में भी अनेक भाव सजाये गये हैं। उनकी रचनाओं में खड़ीबोली के विकास के सुर सुनाई देते हैं। छन्दों की गणना में नीसाणी और राग आदि

भी सम्मिलित हैं।

'नटनागर विनोद' एक बार लक्ष्मी वैंकटेश्वर प्रेस में और दूसरी श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से मुद्रित हो चुका है। सीतामऊ रियासत के पूर्व शासकों में हिन्दी कविता एवं इतिहास लेखन एवं अध्ययन को सुरक्षित रखते हुए नटनागर साहित्य संस्थान की स्थापना की थी। नटनागर विनोद का पं. कृष्ण बिहारी मिश्र से आलोचनात्मक अध्ययन करवा के सन् 1935 में इस कृति का संशोधित संस्करण छापा गया, जो आज भी पाठकों को पढ़ने के लिए उपलब्ध है।

नटनागर जी अपने युग के महान कवि थे।

माता रिपु: पिता शत्रु र्बालो याम्यां न पाठयते।
सभामध्ये न शोभते हंसमध्ये बको यथा।।

जो माता-पिता अपनी सन्तान को शिक्षित नहीं करते, वे अपने बच्चों के शत्रु होते हैं। जिस प्रकार रूप-रंग में एक जैसा हुआ भी बगुला हंसों के मध्य शोभा नहीं देता, ठीक उसी प्रकार धन-धान्य से सम्पन्न होने पर भी अशिक्षित पुरुष समाज में कभी शोभा नहीं देता।

– चाणक्य नीति

महाराजा स्वातितिरुनाल
राष्ट्रभारती के अभिनव गीतकार

प्रो. वी.पी. मुहम्मद कुंजमेत्तर

दक्षिण में हिंदी भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार के पीछे केवल तीर्थयात्री, संत दरवेश और धर्म-प्रचारक ही नहीं रहे, वरन् दक्षिणी रियासतों के सुलतान-बादशाह तथा राजा-महाराजा भी रहे। ब्रज, सधुक्कड़ी, अवधी आदि हिंदी के जनपदीय रूप समय-समय पर पूरे हिंदी क्षेत्र की मानक भाषा के रूप में छाए हुए थे। अद्यतन काल में ब्रजभाषा क्षेत्र के पास वाले कौरवी क्षेत्र की भाषा को हिंदी की मानक भाषा का गौरवपूर्ण पद मिल गया। इस भाषा में पंजाबी, हरियाणवी और राजस्थानी के शब्द ही नहीं, बल्कि ब्रज, अवधी आदि के शब्द भी खप गए थे। इसमें पुराने जमाने से ही अरबी-फ़ारसी के शब्द प्रचुर मात्रा में घुल-मिल गए थे। यह भाषा ईसा की दसवीं-ग्यारवीं सदी से ही गुजरात से होकर दक्षिणी प्रदेशों में प्रवेश पा गई। पंद्रहवीं शताब्दी तक यह भाषा दक्खिनी नाम से अभिहित होकर पूरे दक्षिण में छा गई। आश्चर्यनजक बात यह है कि दक्षिण की समृद्ध द्रविड़ भाषाओं के बीच में रहकर भी इस भाषा ने अपनी अस्मिता नहीं खोई। जैसा कि ऊपर बताया गया इसकी आधार भाषा उत्तर के कौरवी क्षेत्र की भाषा थी जिसे भाषा-वैज्ञानिकों ने बाद में खड़ीबोली नाम दिया था। अत: यह खड़ीबोली ही, जैसा कि डॉ. राम बाबू सक्सेनाजी ने कहा 'दक्खिनी' नाम से विख्यात हुई थी। उन्होंने उसे 'दक्खिनी हिंदी' नाम देना उचित समझा। यह भाषा दक्षिण की रियासतों के बादशाहों तथा राजा-महाराजाओं के यहाँ पहुँचकर उनके दरबारों में जगह पा गई। इस प्रकार हिंदी को आंध्र, कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल में प्रतिष्ठा मिलने के पीछे धार्मिक, सामाजिक, प्रशासनिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक कारण हैं जिसके ऊपर कई विद्वानों ने प्रकाश डाला है।

प्रस्तुत आलेख केरल की रियासत तिरुवितांकूर के नरेश महाराजा स्वातितिरुनाल रामवर्मा के हिंदी/हिंदुस्तानी गीतों पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से लिया गया है। अत: उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर विचार करेंगे। तिरुवितांकूर रियासत की राजधानी तिरुवनंतपुरम् थी और कोच्चि दूसरी रियासत और मालाबार तीसरी रियासत। ये तीनों रियासतें मिलकर ही सन् 1956 में केरल राज्य का गठन हुआ था। केरल राज्य की भाषा मलयालम है। तिरुवितांकूर (त्रावणकोर) अपेक्षतया बड़ी रियासत थी जिसकी बुनियाद मार्तण्ड वर्मा नामक साहसी क्षत्रिय ने सन् 1729 ई. में डाली थी। राज्य विस्तार के बाद उन्होंने रियासत की सारी भूमि अपने कुलदेवता अनंतपद्मनाभ के श्रीचरणों पर भेंट की। आज भी तिरुवनंतपुरम् का यह मंदिर अपने अमूल्य स्वर्ण भण्डार के लिए दुनिया भर में प्रसिद्ध है।

जैसे मेवाड़ के राणा लोग अपने को एकलिंगजी का दीवान कहते थे, वैसे ही मार्तण्ड वर्मा और उनके सारे उत्तराधिकारी अपने को पद्मनाभदास कहने में संतोष पाते थे। इसी वंचिराजवंश में महाराजा राम वर्मा का जन्म 16 अप्रैल 1813 को हुआ। स्वाति नक्षत्र के दिन जन्म लेने के कारण वे स्वातितिरुनाल नाम से विख्यात हुए। आप 'गर्भश्रीमान' भी कहलाते थे क्योंकि वे जन्म से ही उत्तराधिकारी थे। उनकी माता रानी लक्ष्मीबाई शासन करती थीं, पर बदकिस्मत ही कहना चाहिए कि राजकुमार स्वाति को दो साल ही हुए थे कि माता लक्ष्मीबाई स्वर्ग सिधार गई। अब राजकुमार उत्तराधिकारी बने और रानी की बहन पार्वतीबाई ने शासन संभाला और राजकुमार की देखभाल भी की।

तिरुवितांकूर के शासकों के सामने कई चुनौतियाँ थीं। टीपू जैसे शासकों का आक्रमण तथा भीतरी विद्रोहियों का सामना करना पड़ा। टीपू सुलतान वास्तव में ब्रिटिशों के आजन्म शत्रु थे। इसलिए तिरुवितांकर के नरेशों ने टीपू के विरुद्ध कंपनी सरकार से सहायता माँगी तो वह खुशी से सामने आई और ब्रिटिशों की इस सहायता का बाद में मूल्य चुकाना पड़ा, जो उनके लिए खतरनाक सिद्ध हुआ। ब्रिटिशों ने 'विभाजन करो और शासन करो' की नीति सफलतापूर्वक चलाई। रानी लक्ष्मीबाई के शासनकाल में ही कर्नल मन्टो रियासत के दीवान बने। ब्रिटिशों का आधिपत्य धीरे-धीरे जमने लगा। पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का फैलाव होने लगा। पश्चिमी शिक्षा के प्रति लोगों में श्रद्धाभाव पल्लवित हुआ। इस प्रकार बीसवीं शती में केरल के शिक्षा जगत् में जो आमूल-चूल परिवर्तन हुआ उसका बीजवपन रियासत तिरुवितांकूर में हुआ था। मलाबार के मॉप्पिला मुसलमान ब्रिटिश शिक्षा-नीति से असंतुष्ट थे। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा एवं पश्चिमी संस्कृति का डटकर विरोध किया।

तिरुवितांकूर में भारतीय संस्कृति और पश्चिमी संस्कृति बनती-बिगड़ती आगे बढ़ रही थी। ऐसे वातावरण में गर्भश्रीमान स्वातितिरुनाल का जन्म हुआ था। बालक राम वर्मा प्रतिभावान थे। परंपरा के अनुसार उन्हें काव्यशिक्षण दिया गया। कई विद्वानों ने उन्हें मलयालम तथा संस्कृत की शिक्षा दी। कोच्चुपिल्ला वारियर, रामवर्मन और शेषापंडित आदि विद्वान् राजकुमार के गुरु नियुक्त हुए थे। रानी लक्ष्मीबाई ने रेजिडेंट की सलाह लेकर तंजौर के पंडित सुब्बाराव को भी नियुक्त किया, जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा तथा प्रशासन संबंधी ज्ञान दिया, साथ ही गणित तथा अन्य वैज्ञानिक विषय भी पढ़ाए। सुब्बाराव मूलतः महाराष्ट्र के थे। वे साहित्य, संगीत आदि कला का गहन ज्ञान रखते थे। इन्हीं से राजकुमार ने मराठी का भी परिचय पाया होगा। कहते हैं कि राजकुमार ने फ़ारसी, तेलुगु, कन्नड़, तमिल आदि का भी व्यावहारिक ज्ञान अर्जित किया था। संगीत तथा नृत्य-कला से अभिभूत होकर उन्होंने अपने दरबार में अलाउद्दीन नामक हिंदुस्तानी पार्श्व गायक को नियुक्त किया था जो मैसूरवासी थे। हिंदी-हिंदुस्तानी के प्रति उनके चाव का प्रमाण है कि दरबार में उन्होंने एक हिंदुस्तानी नाट्यमण्डली की स्थापना की थी।

तिरुवितांकूर के शासकों का राजनीतिक संबंध आरकाट (तमिलनाडु) के नवाब, मैसूर (कर्नाटक) के शासक हैदरअली व टीपू सुलतान आदि और तंजौर के राजा सरफोजी, दिल्ली के बादशाह आदि से रहा था। व्यावहारिक दृष्टि से फ़ारसी और हिंदुस्तानी में बातचीत करना अपेक्षित था। राजकुमार स्वातितिरुनाल को फ़ारसी सिखाने के लिए मद्रास से सैयद मोहियुद्दीन साहब और मोहम्मद वली साहब उस्ताद नियुक्त किए गए। संभवतः मद्रास के ये दोनों विद्वान् दक्खिनी के जानकार रहे होंगे। उनकी बोलचाल की भाषा दक्खिनी/हिंदुस्तानी रही है। इनके अलावा राजमहल के बजंत्रियों और रियासत की घुड़सवार सेना के सिपाहियों में कई लोग दक्खिनी/हिंदुस्तानी बोलनेवाले थे। आज भी तिरुवनंतपुरम् में जो दक्खिनी समाज है वह निश्चय ही तिरुवितांकूर प्रशासन से जुड़े व्यक्तियों की संतानें हैं। राजधानी की प्रसिद्ध पालयम मस्जिद और कब्रस्तान इन दक्खिनियों से संबंधित हैं। पालयम का अर्थ ही छावनी है। पालयम मस्जिद की खूबी यह है कि इसकी बाई तरफ़ मंदिर है तो ठीक सामने ईसाई कथीड्रल है। दुभाषिये भी राजमहल में नियुक्त थे, ऐसे माहौल में स्वातितिरुनाल को हिंदुस्तानी सीखना अनिवार्य हो गया होगा। परंतु यह बात विदित नहीं है कि उनका हिंदुस्तानी शिक्षक कौन था। त्यागराज के कीर्तनों के प्रेमी महाराजा तिरुनाल ने तेलुगु भी सीख ली होगी।

स्वातितिरुनाल संगीत के अनन्य प्रेमी थे। उन्होंने संगीत से जुड़ी अधिकतर रचनाएँ संस्कृत और मलयालम में लिखीं। कन्नड़, तेलुगु और मराठी में भी कुछ गीत लिखे। हिंदुस्तानी में कोई सैंतीस गीत लिखे। यहाँ उनके हिंदुस्तानी गीतों का परिचय देना ही अभीष्ट है, किंतु उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की खूबियाँ समझने के लिए उनके द्वारा रचित संस्कृत और मलयालम कृतियों का संक्षिप्त परिचय दिया जाना भी अनुचित न होगा। स्वातितिरुनाल की संस्कृत कृतियाँ हैं - (1) भक्तिमंजरी (2) स्थानन्दूरपुरवर्णन

प्रबन्धम् (3) श्रीपद्मनाभ शतकम् (4) अजामिलोपाख्यानम् (5) कुचेलोपाख्यानम्।

उपरोक्त काव्य-कृतियों में 'भक्तिमंजरी' को शीर्षस्थान प्राप्त है। दस शतकों में व्याप्त प्रस्तुत काव्य में वैष्णव भक्ति का प्रवाह हुआ है। प्रत्येक शतक में एक सौ श्लोक हैं जो नवधा-भक्ति से भरपूर हैं।

स्थानन्दूरपुरवर्णन प्रबन्धम् में तिरुवनंतपुरम् के श्रीपद्मनाभ स्वामी मंदिर का ऐतिहासिक वर्णन है।

अजामिलोपाख्यानम् और कुचेलोपाख्यानम ग्रंथों में भी इन्हीं के गीत निबद्धित हैं। कहते हैं कि ये दोनों ग्रंथ कथावाचन या हरिकथा कालक्षेपम् के रूप में लिखे गए हैं। कुचेलोपाख्यानम् का पद नीचे उद्धृत किया जाता है जो स्वातितिरुनाल की ललित मधुर भाषा का उदाहरण प्रस्तुत करता है। द्रष्टव्य है -

गंगाधराद्दनमसंगाशयांबुरुह भृङ्गायितं दितिभुवां
भृङ्गावहं विधृततुंगाचलं पृथुमुजंगाधिराजशयनं
अंगानुषंगि मृदुपिंगांबरं परमनंगाति सुन्दरतनुं
शृंगारमुख्यरसरंगायितं भजतमंगाब्जनाभमनिशम्।।

महाराजा के संस्कृत गीत कीर्तन, वर्ण, पद, तिल्लाना और प्रबंधनम् के अंतर्गत आते हैं। ये संगीत तथा साहित्यिक सौंदर्य की दृष्टि से आस्वादकों को आकृष्ट करते हैं।

मलयालम कृतियों में 'उत्सव प्रबंधम्' नामक महाराजा का मलयालम काव्य मराठी के हरिकथा प्रबंधम् की पद्धति पर लिखा गया है। स्वातितिरुनाल के 63 मलयालम गीत भी पाये जाते हैं। इन गीतों की विशेष प्रवृत्ति यह है कि इनमें नायक से मिलने के लिए अधीर प्रेमिका अपने विरह का दुख अपनी सखी को सुनाती है। कहीं-कहीं नायिका के नायक से प्रणयोद्गार के वचन भी मिलते हैं। यहाँ प्रेमी अनंतपद्मनाभ हैं और शृंगार एक तरह की भक्ति है जो सूफियों के प्रेम काव्यों तथा ग़ज़लों में देखा जा सकता है।

हिंदी हिंदुस्तानी गीत :- महाराजा स्वातितिरुनाल के गीतों में भक्ति अथवा विनय, वात्सल्य भाव चित्रण, प्रणय-प्रसंग, शृंगार रस वर्णन के अंतर्गत विरह की विह्वलता, मिलन की आतुरता और सर्वोपरि संगीत का श्रद्धापूर्ण समावेश देखने योग्य है। जयदेव, विद्यापति, सूर आदि कवियों के साथ-साथ कभी बिहारी या रहीम की कविता भी ध्वनित होती है। परंतु इस ध्वनि को सुनकर यह कहना निराधार होगा कि स्वातितिरुनाल के कवि ने उपर्युक्त कवियों का निरा अनुकरण ही किया है। भक्ति और वात्सल्य भाव वर्णन में व्यक्तिगत अनुभूति से बढ़कर लोकचेतना ही प्रतिध्वनित होती है। कवि अपने को 'पद्मनाभदास' मानते हुए साधारण भक्त की श्रेणी में अपने को पाता है। महाराजा का प्रथम गीत श्रीराम के प्रति उनकी आस्था तथा हिंदुस्तानी संगीत के प्रति उनका रुझान प्रकट करता है। 'राग-काफी ताल आदि' के अंतर्गत प्रथम गीत का प्रारंभिक अंश देखिए-

अवध सुखदाई अब बाजे बधाई
रतन सिंहासन के पर रघुपति सीता सहित सुहायो।
X X X
गाँव - गाँव जन मंगल गावत देवन बजायो।
X X X
राम पद्मनाभ प्रभु फणि पर शायी त्रिभुवन सुख करि आयो।।

इस प्रकार कवि अपने गीतों का मंगलाचरण अयोध्या के गाँव-गाँव के जन-जन के कण्ठ से रामचन्द्र के लिए मंगलगान के रूप में किया गया है। उनके गीतों में सर्वाधिक गीत श्रीकृष्ण को लेकर हैं जिनमें विनय ही नहीं अन्य भाव भी हैं, इसमें रूप-छटा वर्णन, प्रेयसी प्रणय वार्ता, विरह वेदना की अभिव्यक्ति सब कुछ है। भगवान कृष्ण की रूप छटा के वर्णन में हिंदी कवियों की परंपरा से हटते नहीं हैं। उदाहरण -

'हाथे मुरली गले माला
चले जब नन्द के लाला' (गीत नं. 8/2)

x x x

'मोर मुकुट पीतांबर सोहे
कुण्डल की छवि मैं बलिहारी' (गीत नं. 9/2)

गीत हृदय में उठते कोमल भावों की राग-ताल-लय युक्त अभिव्यक्ति है। यह मुक्तक की भांति स्वयंपूर्ण है। भागवतों ने गीतों को भगवत्सेवा का उपहार बताया है। श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति का माध्यम है। इन्हें माध्यम बनाने की परंपरा का उद्घाटन गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव ने किया था। बाद में विद्यापति, सूरदास, मीराबाई आदि भक्त कवियों ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। श्री पद्मनाभ स्वातितिरुनाल के लिए यह परंपरा बिलकुल सहज और उचित सिद्ध हुई। अत: महाराजा ने गीतों में अपनी आस्था प्रकट की। हर गीत के अंत में कवि 'पद्मनाभ' लाते हैं, जैसे 'सूरश्याम' 'मीरादासी' आदि मुद्राएँ कवि सूरदास और कवयित्री मीराबाई लाती थीं।

महाराजा के वात्सल्य भाव का चित्रण देखिए जो सूर के वात्सल्य को प्रतिध्वनि करता है-

'मैं तो नहि जाऊँ जननी जमुना के तीर।
इतनी सुन के मात जसोदा पूछति मुरहर से
क्यों नहिं जावत धेन चरावन बालक कह हम से' (गीत नं. 29)

प्रस्तुत पंक्तियों में सूरदास की ''मैया खेलन हौं नहिं जात'' की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। शृंगार के संयोग और वियोग का वर्णन भी कतिपय गीतों में किया गया है। कृष्ण की मोहक छटा का वर्णन करते हुए कवि गोपिका मुँह से मिलन की उत्कृष्ट इच्छा को व्यंजित करता है।

'बंसी वाले ने मन मोहा
बोली बोले मीठी लगे दरदर उमंग करावे।।
साँवरों रंग मोहनी अंग सुमरण तन की भुलावे।।
कालिन्दी के तीर ठाढे मोहन बाँसुरी बजावे।। (गीत नं. 22)

x x x

'बाजत मुरली मुरारि सुन्दर जमुना किनारे
रासरंग ग्वाल-बाल-संग मदन प्यारे ।।' (गीत नं. 24)

यमुना तट पर विहार के लिए आमंत्रित करती नायिका को देखिए जिसमें संयोग शृंगार का परिपाक हुआ है-

'चलिये कुंजन मो तुम हम मिल श्याम हरी
देखो जमुना रे बही सुन्दर अति नीर भरी
छोड़िये कैसे मोकूँ मैं तो तेरो हाथ धरी
सुनिये कोइल के बोल पिया क्या कहरी।' (गीत नं. 15)

संयोग श्रृंगार के उद्दीपन में नायिका के हाव भाव का चित्रण द्रष्टव्य है :-

'गोरी मत मारो बाण से, नैनों की प्यारी
तन मन मेरो लगो तेरे तन में
घूँघट पट हँस के निकालवे।।' (गीत नं. 14)

मिलन की आतुरता लिए खड़ी नायिका का वर्णन सुंदर बन पड़ा है –

'आन मिलो महबूब हमारो
होऊँ तोरी दासी लाला नन्दकुँवर प्यारो
चुनचुन कलियाँ मैं सेज बनाऊँ
सेज पलंग रंगमहल तुम्हारो
अतर अबीर गुलाल लगाऊँ
प्रेम कटारी से मोकू नहि मारो' (गीत नं. 5)

चाँदनी रात में अपने प्रिय से मिलने की उत्कट अभिलाषा प्रकट करती हुई नायिका का चित्रण भी विलोकनीय है –

''भई लो पिया चाँदनी रात अब रहियो मोरे साथ।
बिजरी से पीत डुलावूँ भुज में भुजाहिं मिलाऊं
सब फूल हार बनावूँ मन भर भर भूषण पाऊँ।।
तन मो अबीर लगाऊँ, अंगियाँ के कोर खुलाऊँ
दिन के वियोग बुझाऊँ तोसे चुनरि हमारी रंगाऊँ
जैसे तू खा सेब पइया पावे सदा दुःख सैयाँ
ऐसो तऊँ मोरे भइया तुम डारो पिया गलबैयाँ
कौन खबर मो लेवैया होवे नहीं सुख दइया
साधू के हिय मो रहैया पद्मनाभ प्रभु मो बलैया।।'' (गीत नं. 26)

विरहजन्य वेदना का रूढ़िगत वर्णन हिंदी के भक्त कवियों का स्मरण दिलाता है। उदा :-

''सुनो सखि मेरी मन की दरद री।।
जैसे जल बिन तरसत मछी
तरस रही मेरो पिय बिन छाती।।
सोवत नाहिं लगे गोरि निद्रा

बीच बीच पिया कू बुलाती।।
निसि दिन भर भर चोवा रे चन्दन
अतर अगरजा अंग लगाती।। (गीत नं. 35)

कृष्ण के मथुरा चले जाने से विरह ताप में जलती ब्रजभूमि और आँसुओं से अंचल धोती नायिका का दृश्य मन को उदास बनाता है –

''ब्रज की छवि हा गई गयो जब ते
कुंद हरित लता सब सूखन आई
अँसुवन से हम अंचल धोवे सदा
कुब्जा से प्रेम राख्यो, या में कौन भलाई
ऊधो हमारो संदेस माधो से कहियो
जाय पद्मनाभ की कृपा जो तीनि लोक छाई।'' (गीत नं. 25)

महाराजा ने राधा की विरह जन्य वेदना का वर्णन सीधे न करके परोक्ष रूप में किया है जिसमें वियोग श्रृंगार की अभिव्यंजना हुई है –

''मिलियो श्याम प्यारे विरह भरी ते राधिका जीवे
लीजो सुन बात मोरी बाँसुरी बजैया
छोड़ दीजो मान मैं तो जोड़ूँ हाथवे।'' (गीत नं. 28)

संगीत तत्त्व :- महाराजा के गीतों में साहित्य और संगीत का मेल हुआ है। संगीत जगत् में एक वाग्गेयकार **(कम्पोज़र)** के रूप में उनका धवलयश चारों ओर फैला है। कर्नाटक, महाराष्ट्र एवं हिंदुस्तानी संगीतों में उनकी गहरी पैठ विख्यात है। उनके गीत हिंदुस्तानी (शास्त्रीय) संगीत में उनकी दक्षता का परिचायक है। उनके सभी गीत राग-ताल युक्त हैं। गेयता उनके गीतों का अनिवार्य गुण है। उन्होंने अपने गीतों में अनेक महत्त्वपूर्ण भारतीय रागों का प्रयोग किया है। यथा-काफी, खम्माज, यमन-कल्याणी, विभास, रेखता (भैरवी), भैरवी, पूर्वी, हमीर कल्पा, बेहाग, झिंझोटी, वृन्दावन सारंग, धन्याशी, कान्हड़ा, गौरी, चर्चरी (भैरवी), सुरती, परजू और अठाण। सैंतीसवाँ गीत रागमाल है जिसमें वाग्गेयकार स्वातितिरुनाल ने सोहनी, दीप, विभास अठाण और श्याम रागों के नाम लिए हैं। सूरदास के पदों से मिलती पंक्तियाँ स्वातितिरुनाल के यहाँ मिलती हैं जो सूर से भिन्न रागों में हैं। उदाहरण के लिए सूर के राग गौरी के अंतर्गत जो पंक्तियाँ हैं उन्हें महाराजा ने राग धन्याशी में और राग बिलावल के अंदर की पंक्तियों को राग भैरवी में प्रस्तुत किया है। महाराजा ने कहीं-कहीं स्वतंत्रता से काम लिया है। कर्नाटक और हिंदुस्तानी संगीत कला में समन्वय लाने में उन्होंने भरसक कोशिश की है।

काव्य भाषा :- स्वातितिरुनाल के गीतों की भाषा मुख्यत: खड़ीबोली मिश्रित ब्रजभाषा है। अरबी -दक्खिनी के कतिपय शब्दों और शब्दांशों या विभक्ति प्रत्ययों को देखकर गीतों की भाषा को दक्खिनी कहना भूल होगी। 'वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्' की उक्ति को चरितार्थ करनेवाली कतिपय पंक्तियाँ हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। उदा :-

'सुनो सखि मेरे मन की दरद री'
आये गिरिधर द्वारे मेरे गोरी
अंजन अधर ललाट महावर नयन उर्नींदे चल आये।
रमन समय प्रभु छल बल करिके कौन तिया कू बिरमाये।

सरसता इस गीत की विशेषता है। भाषा और शैली का लालित्य माधुर्य संवर्द्धन में सहायक बन पड़ा है। गीतों में प्रयुक्त शब्दावली पर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि अधिकांश पद संस्कृत के तत्सम और तद्भव हैं, फिर ब्रज खड़ी, दक्खिनी और अरबी-फ़ारसी के शब्द आते हैं।
संस्कृत तत्सम शब्द :- कोमल, कमल, मोहन, गिरिधर, रत्न सिंहासन, त्रिभुवन, दीनबन्धु, प्रभु, कारण, अधर, गुण, दास, सुगंध, पद्मनाम, त्रिलोकदयी, नीर, त्याग, बाल, कुंज, सधु, नरनारी, क्षण, कोटि आदि।
संस्कृत तद्भव शब्द :- सिंगार (शृंगार), नाच (नृत्य), हिय (हृदय), तिया (स्त्री), जुग (युग), सन्देस (सन्देश), प्रीतम (प्रियतम), सुपन (सपना स्वप्न) आदि।

तत्पश्चात् ब्रज और खड़ीबोली के शब्द अधिसंख्यक हैं। अरबी-फ़ारसी शब्द बहुत ही कम हैं। गाफिल, महबूब, रेखता, ख्याल, खबर, मियाँ, अत्तर, दरद, गुलाब आदि। व्याकरिणक तत्त्वों में दक्खिनी के विभक्ति प्रत्यय जैसे कू (को), सू, ते (से) आदिरूप हैं और अरबी-फारसी तथा कुछ अन्य शब्द दक्खिनी में प्रयुक्त होते हैं। यह बात निश्चित नहीं कि महाराजा स्वातितिरुनाल ने विधिवत् हिंदी का अध्ययन किया था। कुछ लोगों ने अनुमान लगाया है कि महाराजा ने दरबार के हिंदुस्तानी गवैयों, वादकों, नर्तकों तथा अन्य हिंदी पंडितों के संपर्क से हिंदुस्तानी सीखी होगी। महाराजा के गीत साहित्यिक दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण न हों, संगीत की दृष्टि से अत्यंत गौरवपूर्ण हैं। साहित्य और संगीत कला की दृष्टि से दक्षिणी रियासतों के सुलतानों एवं राजा-महाराजाओं का योगदान ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। स्वातितिरुनाल से कोई 233 वर्ष पहले यानि सन् 1580-1627 ई. तक कर्नाटक के बीजापुर के सुलतान इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय ने 'किताबे नौरस' लिखा था जो संगीत से जुड़े 59 गीतों और 17 दोहरों का संकलन है। 'किताबें नौरस' की भाषा ब्रज पर आधारित दक्खिनी है। इस पुस्तक का प्रारंभ सुलतान ने सरस्वती-वंदना से किया है। तदनंतर हजरत मुहम्मद तथा ख्वाजा बंदेनवाज (दक्षिण के सुप्रसिद्ध सूफी) की प्रशंसा की गई है। किताबे नौरस का श्रीगणेश होता है यों -

''नवरस सुर जुग जग जोति आणि सर्वगुनी
यो सत सरसुती माता इब्राहिम प्रसाद भयी दूनी।''   (दोहरा नं. 1)

इब्राहीम ने सरस्वती का वर्णन कई जगह किया है। गीत नं. 17 देखिए -

''सरस्वती स्वच्छ सुंदरी महाउत्तिम जात निर्मल
एक हस्त पुस्तक दूजे पाणि सुमिरन तीजे शयहु शंक चौथे कर कमल।''

स्वातितिरुनाल ने भी अपने एक गीत में यानि गीत नं. 17 में माँ सरस्वती की वंदना निम्नांकित प्रकार से की है -

''जय जय देवि जय जगजननी जय जय सरस्वती माई।
हस्तकमल मो बीण विराजे जामें सबे सुर गाई
दूसरी हाथ विराजत पुस्तक वेद श्रुति उपजाई।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय ने संगीत की विविध राग-रागिनियों का प्रयोग किया, वैसा ही प्रयोग सवा दो सौ-ढाई सौ वर्ष बाद तिरुवितांकूर के महाराजा स्वातितिरुनाल ने अपने हिंदी/हिंदुस्तानी गीतों में किया। दोनों ने हिंदी के जनपदीय रूप यानि ब्रजभाषा का प्रयोग किया। इब्राहीम आदिलशाह के काव्य की भाषा पर दक्खिनी का हल्का प्रभाव है। यदि बीजापुर के सुलतान के काव्य को दक्खिनी का अमूल्य काव्य मानेंगे तो तिरुवितांकूर के महाराजा के काव्य को हिंदुस्तानी का बहुमूल्य काव्य मानेंगे। हिंदी-हिंदुस्तानी को काव्य माध्यम बनानेवाले दक्षिण भारत के दोनों प्रशासक भारतीय भाषा, साहित्य और संस्कृत के अनन्य भक्त थे।

कामना

कामना कीजिए विश्व-कल्याण की,
शान्ति की सौम्य गंगा धरा पर बहे।
कल्पना हो सही राम के राज्य की,
शोक सन्ताप मानव कभी न सहे।।
काव्य-कौशल बढ़े, मान ऊंचा चढे,
वैर अन्त: करण में न किंचित रहे।
राग की द्वैष की नित्य होली जले,
प्रेम-प्रह्लाद प्रभु की सदा जय कहै।।

– डॉ. परमानन्द जड़िया

महाराजा दिग्विजय सिंह की हिंदी-सेवा

पवन बख्शी

पावागढ़ के चन्द्रवंशी (तोमर) शासक मनसुख देव की छः सन्तानों में सबसे छोटे बरियार शाह थे। सत्ता के संघर्ष के सिलसिले में पावागढ़ के राजकुमार बरियार शाह 1260 ई. में कैद कर लिए गये। इनके विरुद्ध कुछ अमीरों, सूबेदारों का आरोप था कि ये ''मेव'' लोगों के हमदर्द और सहयोगी हैं। मेव लोग पावागढ़ और दिल्ली के मध्यवर्ती क्षेत्र में आबाद थे तथा दिल्ली के सुल्तानों के विरुद्ध मेवाती संघर्षरत थे। सन् 1266-67 ई. में नासिरुद्दीन महमूद की मृत्यु के पश्चात् जब बलबन सुल्तान बना तो उसने बहराइच के तत्कालीन सूबेदार मलिक ताजुद्दीन गोरी की सिफ़ारिश पर बरियार शाह को रिहा करके बहराइच में लूटपाट द्वारा आंतक मचाने वाले कबीलों का दमन करने का दुष्कर कार्य सौंपा। सुल्तान बनने के पूर्व नायब बलबन (उलूग खाँ) बहराइच क्षेत्र में उत्पातियों का दमन करने के उद्देश्य से दो बार पहले, 8 जनवरी 1257 ई. को तत्पश्चात् अप्रैल 1257 ई. में अभियान पर जा चुका था, किन्तु उसे असफलता ही हाथ लगी थी। अत: उसने यह चुनौती भरा कार्य बरियार शाह को सौंपा। तद्नुसार सुल्तान गयासुद्दीन बलबन से आज्ञा-पत्र प्राप्त कर राजा बरियार शाह ने बनजारों का दमन किया एवं शान्ति स्थापित की। उनकी इस सफलता पर प्रसन्न होकर सुलतान ने उन्हें फरमान द्वारा राजा की उपाधि तथा यह इलाका प्रदान किया। इस प्रकार सम्वत् 1325 विक्रमी अर्थात् 1268 ई. में गुजरात के जनवाड़ा (अर्जुनायनो का अपभ्रंश-अर्जुनवाड़ा-जनवाड़ा) क्षेत्र से आए राजपूत बरियार शाह द्वारा इकौना में राज्य स्थापित किया गया। जनवाड़ा से आने के कारण यह वंश जनवार वंश कहलाया। इकौना में अपनी राजधानी स्थापित करने से पूर्व बरियार शाह धरसवां ग्राम में सबसे पहले आकर आबाद हुए थे जो बहराइच-बलरामपुर मार्ग पर स्थित है।

राजा माधवसिंह ने अपने स्वर्गीय पुत्र बलराम शाह की स्मृति को चिरस्थायी बनाए रखने के लिए उनके नाम पर बलरामपुर नगर की स्थापना की। तब से रामगढ़ गौरी के स्थान पर बलरामपुर ही जनवार वंश के राज्य का प्रभावशाली राजनीतिक केन्द्र बन गया। सन् 1480 में राजा माधवशाह की मृत्युपरान्त उनके पुत्र राजा कल्याणशाह गद्दी पर बैठे (1480-1500 ई.)। सन् 1500 से 1546 ई. तक इनके पुत्र राजा प्राणचन्द्र ने बलरामपुर पर शासन किया। इनकी मृत्यु के बाद 1546 से 1600 ई. तक राजा तेजशाह ने तथा सन् 1600 से 1645 तक राजा हरिवंश सिंह ने राज किया।

राजा हरिवंश सिंह के पाँच पुत्र थे। उनकी मृत्यु हो जाने पर ज्येष्ठ पुत्र छत्रसिंह राजा हुए। उन्होंने सन् 1645 से 1695 ई. तक राज किया। उनके तीन पुत्र हुए- फतेह सिंह, इज्जत सिंह और राजा नारायण सिंह। फतेह सिंह के तीन पुत्र अनूप सिंह, रूप सिंह और पहाड़ सिंह हुए। पहाड़ सिंह के पाँच पुत्र-ककुलति सिंह, सांवल सिंह (नि:सन्तान), जसवन्त सिंह (नि:सन्तान) राम सिंह (नि:सन्तान) और दलेल सिंह (नि:सन्तान) हुए। राजा नारायण सिंह की कोई औलाद न होने के कारण वे पहाड़ सिंह के पौत्र (ककुलति सिंह के पुत्र अनूप सिंह) को अपने पुत्र की तरह मानते थे। अनूप सिंह का उत्तराधिकारी बनना लगभग तय ही था कि राजा नारायण सिंह के यहाँ पृथ्वीपाल सिंह का जनम हो गया। पिता के निधन के बाद राजा पृथ्वीपाल सिंह गद्दीनशीन हुए। राजा पृथ्वीपाल सिंह ने सन् 1751 से 1781 ई. तक राज किया।

राजा पृथ्वीपाल सिंह के निधन के बाद (निःसन्तान होने के कारण) गद्दी के लिए भाई-भतीजों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। ककुलति सिंह के पुत्र नवल सिंह ने गद्दी हथिया ली और राजा हुए। सन् 1817 ई. में राजा नवल सिंह की मृत्यु हो जाने पर राजा अर्जुन सिंह राज्य के स्वामी हुए। इनके दो पुत्र थे। जयनारायण सिंह तथा दिग्विजय सिंह। दिग्विजय सिंह जी का जन्म अश्विन कृष्ण द्वादशी बुधवार सम्वत् 1876 (सन् 1819 ई.) में हुआ था। राजा अर्जुन सिंह के निधन के बाद जय नारायण सिंह राजा हुए। छः वर्ष तक राज करने के बाद सन् 1836 ई. में इनका निधन हो गया। इनके कोई सन्तान न थी अतः 17 वर्षीय अनुज दिग्विजय सिंह ने राज्य का कार्यभार संभाला। राजा दिग्विजय सिंह कुशाग्र बुद्धि के धनी व्यक्ति थे। इनके अन्दर अपूर्व साहस, उद्यमशीलता और अवसर को पहचानने तथा उसका सदुपयोग करने की अद्‌भुत क्षमता थी। वे एक दूरदर्शी, व्यवहार कुशल तथा सूझबूझ के व्यक्ति थे। इनमें समयानुसार वातावरण को अनुकूल बनाने की क्षमता बड़ी विलक्षण थी।

महाराजा दिग्विजय सिंह ने पाँच विवाह किए थे। पहला विवाह सुलतानपुर से, दूसरा गोला गोपालपुर, तीसरा विद्यानगर गोण्डा की महारानी इन्द्र कुंवरि से, चौथा महारानी इन्द्र कुंवरि की सगी बहन से तथा पाँचवा विवाह जयपाल कुंवरि से हुआ था। सन् 1851 ई. में बलरामपुर में चेचक का भयंकर प्रकोप हुआ। राजा-रानी भी उसकी चपेट में आ गए। राजा साहब तो अच्छे हो गए परन्तु रानी साहिबा का निधन हो गया। सन् 1854 ई. में आपने विशेन वंश की कन्या से पुनः विवाह कर गृहस्थी बसाई।

22 सितम्बर 1860 ई. को वायसराय लार्ड केनिंग ने लखनऊ में दरबार किया। राजा दिग्विजय सिंह को वायसराय के दाहिनी ओर प्रथम कुर्सी दी गई। तालुकदारी की सनद तथा दीवानी, फौजदारी के अधिकार प्रदान किए। इन्हें सात हजार रुपयों का 16 पारचों का खिलअत जिसमें कलगी, सिपर, दुशाला, कमरबन्द, सरपेंच, दीवाल घड़ी, रूमाल नीमजरी, माला, दूरबीन, दस्तकार चौबी, जामाज़री, शमशीर, विलायती घोड़ों से युक्त फिटन गाड़ी, गोशवारा, रूमाल दस्ती और कारचोबी वस्तुएं थीं। अक्टूबर 1861 ई. में अवध के रजवाड़ों की एक संस्था स्थापित की गई जिसका नाम "ब्रिटिश इण्डिया एशोसिएशन अवध" (जिसे स्थानीय भाषा में 'अन्जुमन ए हिन्द अवध' कहा गया है) रखा गया। जिसके प्रथम चुनाव में महाराजा दिग्विजय सिंह अध्यक्ष चुने गए। 30 अक्टूबर 1861 ई. को केसरबाग बारादरी में इसका प्रथम सम्मेलन हुआ। राजा साहब ने क्षत्रियों में उन दिनों प्रचलित पुत्री-हत्या की क्रूर प्रथा को समाप्त करने के विषय पर प्रभावशाली भाषण दिया। इनके प्रस्ताव को सर्व सम्मति से स्वीकार किया गया कि इस प्रथा को अपने राज्यों से बहिष्कार किया जायेगा। पुत्री-वध कानूनन अपराध माना गया और सामाजिक बहिष्कार करने का ऐतिहासिक निश्चय किया गया।

कैनिंग कालेज की स्थापना (अक्टूबर 1862 ई.) के अवसर पर महाराजा दिग्विजय सिंह ने शिक्षा के महत्त्व पर प्रभावशाली भाषण दिया जो अपने ढंग का अनूठा था। 1867 ई. में तालुकेदारान एशोसिएशन आगरा के दरबार में **"नाइट कमाण्डर आफ द स्टार ऑफ इण्डिया"** (K.C.S.I.) की उपाधि से उन्हें अलंकृत किया गया। सन् 1877 ई. में देहली दरबार के अवसर पर महारानी विक्टोरिया की ओर से इन्हे नौ तोपों की सलामी दी गई। यह ऐसा सम्मान था जो इसके पूर्व स्वतन्त्र रियासतों के राजाओं के अलावा अन्य किसी को नहीं मिला था।

युद्धजीवी होते हुए भी वे बुद्धिजीवी थे। सन् सत्तावन की क्रान्ति के पूर्व यदि उनका प्रथम रूप प्रधान रहा तो क्रान्ति काल से सफल बुद्धिजीवी के रूप में उन्होंने अमित वैभव और ऐश्वर्य प्राप्त किया। उनका युग अंग्रेज राज्य की स्थापना का काल था। उस समय राजकाज की भाषा उर्दू थी। दरबारों में उर्दू का ही बोलबाला था। उस उर्दू-प्रधान युग में महाराजा दिग्विजय सिंह अवध के प्रथम महाराजा थे जिन्होंने हिन्दी को अपने दरबार की भाषा बनाया। उनके राजकाज की भाषा हिन्दी थी। कितनी विलक्षण बात है कि जिसके दरबार में सभी उच्च पदों पर अंग्रेज अफसर रहते आए हों और जिस कुल में शिक्षा-दीक्षा के लिए

अंग्रेज ट्यूटर नियुक्त किए जाते रहे हों, और जिसके यहां सदैव दस बीस अंग्रेज परिवार रहते रहे हों, उसके नगर में ही नहीं समूचे राज्य की सीमा के भीतर एक भी चर्च न बन पाया हो। कितनी निष्ठा थी उन्हें अपनी मातृभाषा में, कितनी आस्था थी उन्हें अपनी संस्कृति में इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। महाराज सदैव भारतीय वेशभूषा धारण करते थे, चूड़ीदार पाजामा, शेरवानी और साफा। प्राय: नित्य ही गवर्नर अथवा वायसराय से उनका मिलना-जुलना होता था, परन्तु वे "अंग्रेजी ड्रेस" के मोह में कभी नहीं पड़े। वे अंग्रेजियत के हिमायती कभी नहीं रहे परन्तु अंग्रेजों के विशिष्ट गुण, कर्मठता और चतुरता को उन्होंने अपने जीवन में उतारा।

6 अप्रैल 1880 ई. को संखोर नामक स्थान पर शेर के शिकार के अवसर पर इनका हाथी बिगड़ गया। हाथी के भागने से हौदा पेड़ से टकराया। महाराजा के मस्तिष्क में भीषण चोट लगी फिर भी घायल शेर को उन्होंने दूसरी गोली से मार डाला। इस घटना के बाद स्वस्थ होकर उन्होंने दो वर्ष तक राज्य का कार्यभार संभाला। इनके द्वारा सन् 1878 ई. में लिखा गया वसीयत नामा समाज सुधार के क्षेत्र में उनके उदार हृदय की कहानी कहता है। 15 मार्च 1878 ई. को महाराजा साहब ने एक वसीयत लिखकर महारानी साहब को गोद लेने का अधिकार दिया। महाराजा दिग्विजय सिंह ने राज्य द्वारा स्थापित व संचालित सार्वजनिक कार्यों के व्यय एवं रखरखाव की व्यवस्था के नियम भी बनाए। 27 मई 1882 ई. को जलोदर रोग से पीड़ित होकर तीर्थराज प्रयाग में आप परलोकवासी हुए। अवध के दरबार में तालुकेदारों की सूची में पहला नम्बर कपूरथला का और दूसरा स्थान आपका था।

वे परम सहृदय और साहित्यानुरागी थे। काव्य-मर्मज्ञ होने के साथ स्वयं अच्छे कवि भी थे। उनका उपनाम ''भूपविजय" था। उनकी गुण ग्राहकता से आकृष्ट होकर सुदूर प्रदेशों से कवि आने लगे। वे कवियों के आश्रयदाता होने के साथ स्वयं भी कविता करते थे। 'नीति रत्नाकर' में अपना परिचय बताते हुए वे लिखते हैं -

जुक्ति यथा मति अपनी, अरु मत शास्त्र विचार।
बनो बनबनो जो कछु लीजै सुकवि सुधार।
दूषन हेरें कूर कवि, भूषन सुकवि सुधारि।
अनबूझे खल खीझि हैं, रीझें बूझ पिचार।
नाम दिग्विजय सिंह प्रगट, विजय भूप धरि नाम।
पद कोमलता कवितहित, आरोपित अभिराम।

इन्होंने अपने काव्य में राजा मंत्री और यहाँ तक कि राजनीति को परिभाषित करते हुए पद रचे हैं। राजा में सामान्यत: क्या गुण होने चाहिए, यही दर्शा रहे हैं इस दोहा - कवित्त में -

अथ सामान्य राजा

दोहा - दान यज्ञ व्रत नीति रत, धर्म प्रजा प्रतिपाल।
धीर वीर रुचि राज श्री, त्याहि कहिए महिपाल ।।

दन्डक - मन्त्रिन सों बूझ मन आपहू विचारै मंजु,
तामै नेक जानि हानि - लाभ हेत राखै सौ।
करै न रहम न्याय समै भनै 'भूपविजय',
दान किरपान बलवान सत्य भाषै सो।

कोटि कर कान सुनबै को फरियाद दीन,
देश दल मानै काढ़ै बझकर आखै सो।
हाथी, हथियार, घोड़े भूषन और भूमि जोड़ै,
राखै भूप लीबौ रुचि लाखै अभिलाषै सो।

आप सद जानै सद सौंपे सो सयानो काम,
सदा सावधान परतीति ताहि राखै जो।
भाषा देश देशन की बूझिबै की राखे बूझ,
भूषन बसन नयो नित अभिलाखै जो।
फिरि आवै इक बार बरस मैं देष निज,
भनै 'विजयभूप' रीझि देइ मौज लाषै जो।
जोरि के समाज साज बैठे देखै राजकाज,
लच्छन में स्वच्छ कवि राजन के भाखै जो।

सोरठा – सभा समुद्र समान, गुन ऐगुन पय पानि है।
भूप हंस अनुमान खीझ रीझ बद-नेक लखि।।

निम्न पदों में उत्तम, मध्यम और अधम मंत्रियों के लक्षण गिनाए गए हैं –

अथ उत्तम मंत्री

देश और विदेश ही की खबरि की राखै खोज,
आमद खरच राज देखै भौर शाम को।
भनै 'भूपविजय' राजी राखै रहै देश दल,
डिगै न डिगाये नेकु पाये कोटि दाम को।
न्याय समै एक दीठि गनी, औ गरीब देखि,
पीठि दै अनीति ईठि राखै ने कनाम को।
मंत्री मतिवन्त बादि अन्त को विचारै मन्त्र,
आपनी बिगारि जो संवारे स्वामि काम को।

अथ मध्य मंत्री

आदि अन्त हानि-लाभ हेतु को विचारि लेत,
देशकाल देखि मंजु मन्त्र ठहरावै जो।
बात न विचल भाखे अविचल राखै चित,
लख बदनीति माखै नीति पल भावै जो।
निरालसी यशो बुद्धि उर में उदारवशी
भनै 'भूपविजय' देश दल को बनाये जो।
सदा सावधान स्वामि काज को बनाये आछै,
पाये समय पाछै कछु आपनो बनाये जो।

अथ मंत्री लक्षण

दोहा – आदि अन्त के हेतु को, देश काल अनुमानि।
मन्त्रनीति में प्रीति जेहिं, मन्त्री जाहि बखान।।

सोरठा – सो मन्त्री मति चारि, उत्तम मध्यम अधम कहि।
अधमाधमहि विचारि, क्रम ते बरनन करत हौं।

अथ अधम मंत्री

कवित्त दण्डक– कौड़ी पै कनौड़े द्वार दौरे फिरै कूकुर सों,
खोवैं जो पचास आस पाये पाँच दाम जो।
जासौं लघु लाभ देखैं ताहि की न पूछैं बात,
पाये बिन काहू के न करैं भलो काम जो।
भनै 'भूपविजय' रीति नीति की न जान ख्याति,
लीवो अनरूपै पैर जाको धनधाम जो।
स्वामी को बिगारि काम आपनो संवारि धाम
कोई बदकार मन्त्री होय बदनाम जो।

अथ अधमाधम मंत्री

कवित्त सवैया– आमद खर्च न खीजै कबौं नट ओ विट कौतुकी लोग पियारे।
पाइन रेख सो बैर निबाहनों, नीर के रेख सी नीति विचारे।
'भूपविजय' भनि भूतिमिठाई सी कौल सचाई सो मन्त्र विचारे।
स्वामि के धाम बिगारि सबै फिर आपनो काम तमाम बिगारे।।

उत्तम सेनापति के लक्षण भी गिनाए हैं कवि 'भूपविजय' ने –

दोहा – स्वामि भक्ति शूरो निपुन निरालसी मतिवान।
शस्त्र शास्त्र विद्यादि लहि, सेनापति पहिचान।।

अथ ध्यानात्मक कवित्त देवीजी का

दन्डक – दोष द्रोह तम न सताइ सकै पाहि तहाँ भानु के समान अंग आभा मुख हेरे है।
भनै 'भूपविजय' महि महिमा अनंतदेवि अन्त न अनन्त पाये गये गुणघेरे है।
शोभा के सरोवरें प्रकाशमान रात-दिन सुन्दर सुगन्ध भरे भावत बनेरे हैं।
तेरे पद पंकज पराग पुंज राजै छवि जनमन मंजुल मलिन्द के बसेरे हैं।

'भूपविजय' के अनुसार राजा को एक सुघड़ माली की तरह होना चाहिए। जैसे माली खर–पतवार, निर्बल पौधों तथा घने वृक्षों को काट–छाँटकर, निकाल देता है और फूल–फलदार स्वस्थ और उपयोगी पौधों को सँवारता है, उसी प्रकार से एक कुशल राजा को अपने राज्य के कर्मचारियों को पहचानकर, अच्छों को चुनकर साफ–सुथरा–उत्तरदायी शासन–प्रबंध करना चाहिए। देखिए उनका निम्न

छंद –

अथ राजनीति

दण्डक – राजनीति राजन को दिन प्रति ' विजयभूप '
चारि घरी राति रहे इतनो विचारिबो।
छोटे छोटे फूलन को झीने यो फौवार करै,
पतरे जो पौधा पानी पोषि करि पारिबो।
फलैं जो अधिक फल चुनि गुनि लीजै ताहि,
घने दरखत एक ठौर ते उपारिबो।
नये नये परे पाय टेक दे ऊँचों करैं,
ऊँचों चढ़ि गये सो जरूर काटि डारिबो।

कुछ और भी नीतिगत छंद लिखे हैं उन्होंने :

दोहा– मूरख सुत पण्डित जवै नीच जात लहि रूप।
निरधन धन पाए गनै तृण सौं त्रिभुवन भूप।
देत दान हर लोक हित जो है पुरुष सयान।
जहाँ जाएके धन रहे मन तँह रहे लुभान।

लहि सेवा निज स्वारथहिं दानी दान जु देत।
नहीं पावै फल पुन्य की अधम दान यह हेतु।

द्रुतविलम्बित छन्द– हितहु सो निज भेद छिपाइए हितहूँ के हित होत हिताइए।
निज हितारथ हेतु बतावई अरिहूं को सवभावहि भावहि।

सवैया – जब लाष दिए कछु लेखे नहीं अब लीष लिए किन सोचिए माकुर।
अब प्रीति पुरातम तोरिए ना मन मोरिए न मत हूँ जे न आतुर।
भनि भूप विजय इति बातन पै न विगार करे जग में चित आतुर।
सब आपने हाथ है आपन पोतिज पाँचोई भी न पचा शोई ठाकुर।

दण्डक – पाँच रंग मल सौ बनायो है दुकान देह धरिके पचीस वस्तु जासो सब काम है।
दश दरवाजे जामें लागे हैं प्रगट गोपतीन कुतवाल के प्रकाश आठों जाम है।
षरो षोट पुन्य पाप परखे करम जहाँ लेत है विचार जे प्रवीन देत राम है।
माया कीव जार जग मन व्यापारी यार लीजिए विचार सौदा नफा राम नाम है।

महाराजा दिग्विजय सिंह ने केवल हिन्दी में ही अपना काव्य-सृजन किया हो, ऐसा नहीं है। लेखक ने इस राजवंश में उर्दू भाषा की एक पुस्तक देखी जिसमें महाराजा दिग्विजय सिंह जी की उर्दू-फारसी मिश्रित उनकी शायरी लिखी हुई है। उर्दू में वे अपना उपनाम ' भूप विजय ' के स्थान पर ' राजा ' लिखते थे। उनकी शायरी के कुछ नमूने पेश हैं –

कहता हूँ पेश सूए सनम आ ना आफताब।
क्यूँ इतना हो गया है तू दीवाना आफताब।।
गुलशन में यार होगा गुल शर्मसार होगा।
बुलबुल को खार होगा लुत्फे बहार होगा।।

हम पर गुस्सा ऐ महे ताबां मेहरो वफ़ा है और कहीं।
जाँ के तालिब हम से हो दिल अपना दिया है और कहीं।।

करूं वस्फ जाके गुलशन में यार गुलरू की अन्जुमन का।
उड़े ऊसै दम चमन से बुलबुल न नाम ले फिर कभी चमन का।।

क्यामत उम्मीदें सहर हो गई।
शब ए हिज़्र उमर ए हिज़र हो गई।

महाराजा सर दिग्विजय सिंह उर्फ 'भूपविजय' की लिखी कुछ रचनाएं ''नीति रत्नाकर'' में संकलित हैं। संभवत: अष्टयाम प्रकाश में भी उनकी कुछ रचनाएं संगृहीत हैं।

अर्ध सत्य तुम, अर्ध स्वप्न तुम, अर्ध निराशा-आशा,
अध अजित-जित, अर्ध तृप्ति तुम, अर्ध अतृप्ति पिपाशा।
आधी काया आग तुम्हारी, आधी काया पानी,
अर्धांगिनी नारी! तुम जीवन की आधी परिभाषा।।

– गोपाल दास 'नीरज'

महाराजकुमार रणंजयप्रतापबहादुर सिंह जू देव

श्रीमती पद्मिमनी श्वेता सिंह

भारतीय कवि-नरेशों की उज्ज्वल परम्परा में एक नाम बाबू रणंजयप्रतापबहादुर सिंह जू देव का है। सोनभद्र जनपद के आटविक परिक्षेत्र में बसे प्राचीन अगोरी-बड़हर राज्य के देवगढ़ ताल्लुका के संस्थापक महाराजकुमार बाबू गजराज सिंह जू देव की आठवीं पीढ़ी में महाराजकुमार बाबू रणंजयप्रतापबहादुर सिंह जू देव का जन्म सन् 1820 ई. में हुआ था। देवगढ़-बड़हर राज्य का महत्त्वपूर्ण ताल्लुका रहा है। सोनभद्र की आटविक धरित्री को कला-संस्कृति-साहित्य एवं धर्माध्यात्म का उपहार प्रदान करने का प्रथमतः श्रेय देवगढ़ को ही प्राप्त है। रीतिकाल के महाकवि बोधा को विपत्ति की घड़ी में देवगढ़ के यशस्वी ताल्लुकेदार महाराजकुमार बाबू गोपाल सिंह ने ही आश्रय प्रदान किया था, जिसका उल्लेख महाकवि बोधा ने कृतज्ञतापूर्वक किया है -

दुर्दिन मा घूमत फिरैं कवि बोधा बेहाल।
खेतसिंह सो बढ़ि मिले दाता स्री गोपाल।।
(डॉ. जितेन्द्रकुमारसिंह 'संजय' : सोनभद्र का इतिहास प्रभाश्री प्रका. इलाहाबाद, 2005 ई.पृ. 158)

बाबू रणंजयप्रतापबहादुर सिंह जू देव के पितामह महाराजकुमार बाबू वेणीमाधवप्रसाद सिंह के शासनकाल में शुक्रवार 15 मार्च 1805 ई. को लिखे गये दानपत्र से महाराजकुमार रणंजयप्रतापबहादुर सिंह के गौरवशाली वंश पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है -

चन्देलवंशे विशदे सुजन्मना
राज्ञं कुले ये सुचिरं प्रसिद्धाः।
तेषां समेषां यशसाऽथ कीर्त्या
प्रसादमभ्येति जनानुरागः।।

यत्रास्ति जातः परमः प्रतापी
गोपाल सिंहः जनवल्लभो वै।
भ्रातो यदीयः परमोपकारी
श्रीपाल सिंहः प्रथितः पृथिव्याम्।

राज्यं नृपाणां विदितं पुरस्तात्।
यद्देवपूर्वगढ़ शब्द शोभम्।

वेणीतियुक्तो नृप माधवोऽयम्
जीव्यात्सदा लोकचकोरचन्द्रः।।
(साहित्य मनीषी पं. उदयशंकर दुबे के सौजन्य से प्राप्त)

उपर्युक्त दानपत्र और महाराजकुमार रणंजयप्रतापबहादुर सिंह जू देव के सम्बन्ध को भलीभाँति समझने के लिए देवगढ़ की चन्देल-वंशावली को दृष्टिपथ पर रखना समीचीन प्रतीत होता है -
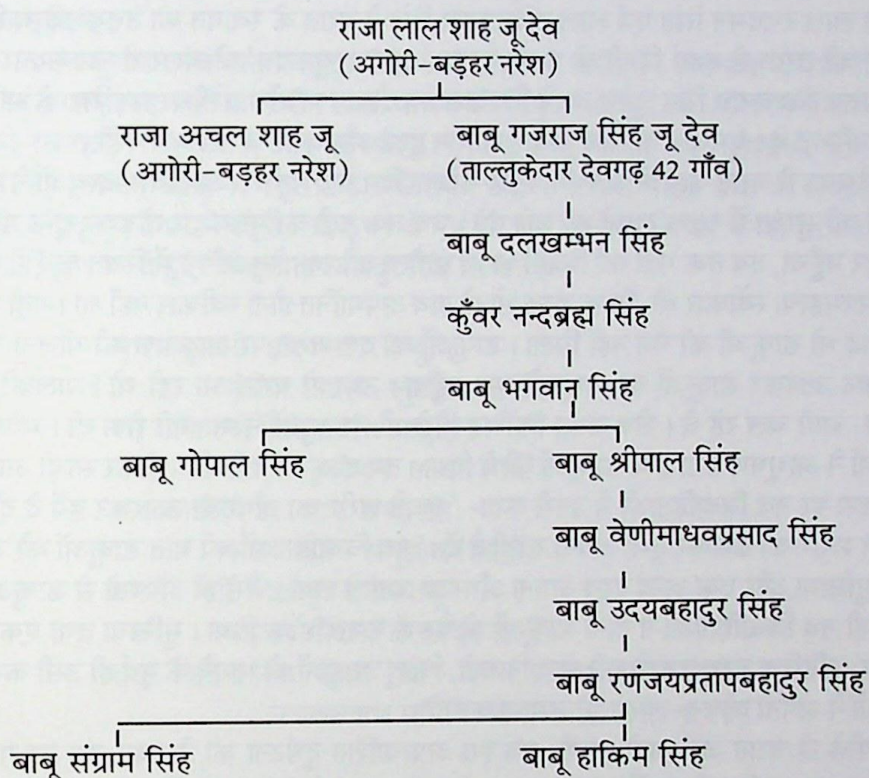
नोटः पूरी वंशावली के लिये देखें कवि श्री जितेन्द्रकुमार सिंह 'संजय' कृत 'कुण्डवासिनी' संपा. श्री करुणाकर पाठक, सन् 2005, पृ.39

बाबू रणंजयप्रतापबहादुर सिंह जूदेव के पूज्य पिताश्री महाराजकुमार बाबू उदयबहादुर सिंह अपने पूज्य पितृदेव महाराजकुमार बाबू वेणीमाधवप्रसाद सिंह के द्वितीय तथा महाराजकुमार बाबू सरकार चन्दन सिंह के अनुज थे। महाराजकुमार बाबू रणंजयप्रतापबहादुर सिंह बाल्यकाल से ही स्वाभिमानी, अध्यवसायी, काव्यानुरागी एवं भगवद्भक्त थे। व्यायाम, मृगया, अश्व-संचालन आपके प्रिय व्यसन थे।

सन् 1840 ई. में महाराजकुमार बाबू रणंजयप्रतापबहादुर सिंह एवं महाराजकुमार बाबू रामअधीन सिंह के शुभ विवाह का समय आया। इटवा (रीवा राज्य) के बघेल इलाक़ेदार महाराजकुमार लाल जवाहर सिंह की ज्येष्ठ पुत्री महाराजकुमारी सिन्धुराज कुँवरि से महाराजकुमार बाबू रणंजयप्रतापबहादुर सिंह का एवं द्वितीय पुत्री महाराजकुमारी शिवराज कुँवरि से महाराजकुमार बाबू रामअधीन का विवाह निश्चित

हुआ। बरात लाव-लश्कर के साथ इटवा के लिए चल पड़ी। बरदहवा घाट (सम्प्रति झरकटा घाट) से नीचे उतरकर सोन पार करते हुए जगह-जगह पड़ाव डालते यह बरात लगभग दस दिन में इटवा पहुँची। बगीचे में जनवास का प्रबन्ध था। बरात में अगोरी-बड़हर के राजा रघुनाथ शाह, बरदी के राजा जगजीत सिंह, भैरवा के ताल्लुकेदार बाबू हेमराज सिंह, चतरवार के तालुकेदार बाबू प्रतापनारायण सिंह, पगिया के ताल्लुकेदार बाबू वीरभानु सिंह, लिलवाही के ताल्लुकेदार बाबू भीष्मदेव सिंह, बकौली के ताल्लुकेदार बाबू सूरजभान सिंह, दीवाँ के ताल्लुकेदार बाबू गणेशशरण सिंह, बेलवनिया के ताल्लुकेदार बाबू मयूर सिंह, अरौली के ताल्लुकेदार बाबू भोपालसिंह, मोकरसिम के ताल्लुकेदार बाबू तालिबान सिंह, जमगाँव के ताल्लुकेदार बाबू देवकीनन्दन सिंह जैसे गण्यमान्य सम्मिलित थे। महाराजकुमार लाल जवाहर सिंह के दोनों अनुज लाल रणदमन सिंह एवं लाल उदितप्रताप सिंह ने बरात के स्वागत का उत्तम प्रबन्ध किया था। कन्या-पक्ष की तरफ से स्वयं हिन्दी के प्रथम नाटक 'आनन्दरघुनन्दन' के यशस्वी नाटककार बान्धवेश महाराजाधिराज विश्वनाथ सिंह जूदेव अपने विश्वासपात्र दीवान पाण्डेय वंशीधर मड़रिहा के साथ द्वारचार के समय उपस्थित थे। धूमधाम के साथ विवाह सम्पन्न हुआ और बरात वापस चल पड़ी।

देवगढ़ से बरात जाने के लगभग पन्द्रह-सोलह दिन बाद गढ़ी पर आटविक दस्युओं ने हमला कर दिया। गढ़ी की सुरक्षा में रक्षक लड़ते हुए मारे गये। जब तक गढ़ी का मुख्य द्वार तोड़कर दुष्ट डाकुओं का गिरोह अन्दर पहुँचा, तब तक गढ़ी की स्त्रियाँ अपने सतीत्व की रक्षा हेतु आँगन में स्थित कुएँ में कूद चुकी थीं। उन्हें आत्महत्या स्वीकार थी, किन्तु डाकुओं के हाथ अपमानित होना स्वीकार नहीं था। गढ़ी में लूटपाट करने के बाद भी डाकुओं को चैन नहीं मिला। डाकुओं का दल बरात पर आक्रमण की योजना बना बैठा। बरदहवा घाट उतरकर डाकुओं का समूह देवसर पहुँचा। उधर से बरात आ रही थी। पालकी लिये हुए कहार आगे-आगे चल रहे थे। शेष बरात किंचित् पीछे थी। डाकुओं ने पालकी रोक दी। माँगने पर नव विवाहिताओं ने आभूषण तथा द्रव्य डाकुओं को दे दिया। तब डाकुओं ने निर्वस्त्र होकर साड़ी आदि भी देने को कहा। इस पर नव विवाहिताओं ने उनसे कहा- 'अपने शरीर का अँगरखा उतारकर हमें दे दो, तब हम उससे अपने शरीर को ढँककर तुम्हें अपनी साड़ी दे दें।' नव विवाहिताओं की बात डाकुओं को जँच गयी। गिरोह का मुखिया और एक अन्य दस्यु अपना अँगरखा उतारने लगा। जैसे ही अँगरखे से डाकुओं का मुँह ढका, वैसे ही नव विवाहिताओं ने दोनों डाकुओं के पेट में कटार भोंक दिया। मुखिया तथा एक अन्य का वध देखकर अतिरिक्त दस्यु डर के मारे भाग निकले, किन्तु डाकुओं के भागने के पूर्व ही उसी कटार से नव विवाहिताओं ने अपनी जीवन-लीला भी समाप्त कर दी।

पीछे से बरात जब आगे आयी, तब इस अप्रत्याशित दुर्घटना को देखकर दंग रह गयी। दोनों डाकुओं का तथा नव विवाहिताओं का शव पड़ा हुआ था। पालकी के पास चारों कहार खड़े थे। शोक की लहर चतुर्दिक व्याप्त हो चुकी थी। बरात में आये बुजुर्गों एवं गुरु-पुरोहित के परामर्श से वहीं उन वीर स्वाभिमानिनी वधुओं की अन्त्येष्टि करके बरात पुन: इटवा के लिए लौट पड़ी। तीव्रगामी धावकों के द्वारा ठाकुर साहब इटवा लाल जवाहर सिंह को दुर्घटना की सूचना भेज दी गयी। ठाकुर साहब इटवा की केवल दो पुत्रियाँ थीं। मझले लाल रणदमन सिंह को एक मात्र पुत्र लाल माणिक सिंह थे। सबसे छोटे बाबूपुर के इलाकेदार लाल उदितप्रताप सिंह को ज्येष्ठ भ्राता की तरह मात्र दो पुत्रियाँ महाराजकुमारी गणेश कुँवरि और महाराजकुमारी विष्णुकेश कुँवरि थीं। जब बरात पुन: इटवा पहुँची, तब ठाकुर साहब इटवा ने महाराजकुमारी गणेश कुँवरि का महाराजकुमार बाबू रणंजयप्रताबहादुर सिंह से एवं महाराजकुमारी विष्णुकेश कुँवरि का महाराजकुमार बाबू रामअधीन सिंह से विवाह करा दिया। साथ ही विदाई के समय पालकी में दुर्गा की प्रतिमा भी रख दी गयी, जो आज भी गढ़ी में विद्यमान है।

बरात-दुर्घटना के बाद ही देवगढ़ पर ब्रह्म-विपदा का भी प्रकोप हुआ। इससे महाराजकुमार रणंजयप्रतापबहादुर सिंह का चित्त अशान्त रहने लगा और शनै: शनै: सांसारिक विषयों से विरक्त हो गया।

इसलिए महाराजकुमार बाबूरणंजयप्रतापबहादुर सिंह ने अपने ताल्लुका के 36 गाँवों में से एक गाँव देवगढ़ को छोड़कर शेष 35 गाँवों का तत्कालीन अगोरी-बड़हराधिपति राजा रघुनाथ शाह को इस शर्त पर दे दिया कि अगर हमारे वंश में कोई उत्तराधिकारी होगा तो आप 35 गाँव वापस दीजिएगा, अन्यथा ये गाँव आपके हो जायेंगे।

परम तेजस्विनी गड़ेरिनबाई के कृपा-प्रसाद-स्वरूप आपको युगल महामहनीय पुत्रों की प्राप्ति हुई, जो कालान्तर में महाराजकुमार बाबू संग्राम सिंह व महाराजकुमार बाबू हाकिम सिंह की संज्ञा से अलंकृत हुए। बड़े होने पर महाराजकुमार बाबू संग्राम सिंह ने अपने 35 गाँवों की माँग की, परन्तु तत्कालीन अगोरी-बड़हर नरेश राजा केशवशरण शाह ने 'काका दिया हुआ दान क्षत्रिय नहीं माँगते हैं' कहकर उनकी माँग को ठुकरा दिया।

महाराजकुमार रणंजयप्रतापबहादुर सिंह उच्च कोटि के कवि थे। ब्रजभाषा के सवैयों की रचना करने की सिद्धि बाबू साहब को प्राप्त थी। राधा-माधव की त्रिभुवनमोहिनी छवि के परम रसिक भक्त कवि थे। आपकी रचनाओं में राधा रानी और मदनमोहन भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर लीलाओं का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा प्रवास के समय उद्विग्न गोपियों सहित राधा को समझाने के लिए उद्धवजी को ब्रह्मदूत बनाकर भेजते हैं। श्रीकृष्ण के पत्र को हाथ में लेकर विचार करती राधिका लली की मनोदशा का चित्रण करते हुए रणंजयप्रतापबहादुर सिंह लिखते हैं -

वृषभानुलली हृदि-सागर ते चुनि
मोतिन माल लुटावन लागीं।
रस राशि रची गितिया रचि आपुहिं
आपु मनैमन गावन लागीं।
कर पत्र लिये उर भाव सम्हारति
कंज हिये समुझावन लागीं।
गगरी भरि आँसू 'रणंजय जू'
बड़की अँखियाँ ढरकावन लागीं।
(डॉ. जितेन्द्र सिंह 'संजय', सोन-वैभव, प्र.संपा. अजय शेखर,
जनकल्याण समिति, सोनभद्र, 2010 ई. पृ. 79)

वृषभानुलली श्रीराधिकाजी अपने हृदयाब्धि से चुनकर मोतियों की माला को लुटाती हुई रस की राशि में रची-बसी गीतिका की रचना कर अपने आप मन-ही-मन गुनगुनाने लगती हैं। हाथ में पत्र को लेकर अपने हृदय को सम्हारती हुई अपने सुन्दर हृदय को बार बार समझाती हैं, फिर भी कृष्ण के वियोग में उनकी बड़ी-बड़ी आँखें गगरी भरि आँसू ढरकाने लगती हैं। हृदय द्रवीभूत हो जाता है। परिणामतः आँखों से अविरल अश्रु-वर्षण होने लगता है। कितना सुन्दर एवं मार्मिक मनोदशा का चित्रण कवि की चपल लेखनी से हुआ है। उपर्युक्त सुन्दरी सवैये का प्रपठन करते समय सम्पूर्ण सन्दर्भित चित्र मूर्तरूप ग्रहण कर लेता है।

एक ऐसी भी स्थिति होती है, जब नायक अथवा नायिका स्वतः के अस्तित्व को भूल जाते हैं। नायक नायिका के और नायिका नायक के स्वरूप में अर्थात् दोनों स्वतः को एक-दूसरे में समाहित कर लेते हैं। ऐसी स्थिति का चित्रण वही कर सकता है जो साधारणीकरण की प्रक्रिया द्वारा नायक-नायिका के हृदयगत भावों को सर्वथा हृदयंगम कर ले। महाराजकुमार के एक दुर्मिल सवैये में ऐसा ही चित्रण हुआ है। नायिका अपने प्रियतम के अनुराग में अपने मन को अंतर्निहित कर स्वयं अपने आपको भूल जाती है।

नायक नायिका की मोहनी मूर्ति से मोहित होता है और नायिका मनोज के पुष्पशर से उसके हृदय को आहत करती है, परन्तु इस स्थिति का नायिका को तनिक भी भान नहीं है। वह मन में हँसती है, दूसरे ही क्षण खिन्न हो जाती है तदनन्तर उसकी दृष्टि या मन की तीव्रगति यमुना के उपकूल पर चली जाती है, जहाँ उसकी पुतली नर्तकी की तरह नर्तन करती है। उसका यमुना को एकटक देखना ऐसी प्रतीति करता है मानो वह यमुना को अपनी आँखों में बन्द करने हेतु तुली हुई है –

प्रिय कै अनुरागहिं चित्त रमा
खुद आपुहिं आप को भूलि गयीं।
लखि मोहनि मूरति मोहै मनोजहिं
बानन सो हिय हूलि गयीं।
मन माँहि हँसैं तुरतै बिसुरैं
पुनि धीर कलिन्दजा कूलि गयीं।
पतुरी पतुरी बनि नाँचैं 'रणंजय'
टक्कि लगी जनु तूलि गयीं ।। (डॉ. जितेन्द्रकुमारसिंह 'संजय'
शिवद्वार, सोनांचल साहित्यकार संस्थान, सोनभद्र, 2002 ई.पृ. 49)

एक और ऐसे ही सुन्दर सवैये में श्रीकृष्ण और राधा के मनोविनोद का दृश्य है। यमुना के तट पर कदम्ब वृक्ष की सघन छाया में खड़ी राधिका को भगवान् श्रीकृष्ण देखते हैं। कभी अपनी आँखों की पुतलिका को मटकाकर नचाते हुए वंशी को बजाते हुए राधिका के प्रसन्न मन को आँकते हैं और कामदेव की भार्या रति तथा अपनी माता कीरति के समान सुन्दर रस में रमण करनेवाली राधिका की प्रीति रूपी प्रभा की छवि का अवगाहन करते हुए श्रीकृष्ण लला छक रहे हैं, उनके नेत्र राधिका के प्यारे पद-पंकज पर पायल के समान थिरकते हुए प्रियतमा के अंत:करण में झाँक रहे हैं –

यमुना तट छाँह कदम्ब खड़ी
वृषभानुलली लखि मोहन ताकैं।
कबहूँ पुतरी मटकाइ नचावत
वेणु बाजाइ रिझा मन आँकैं।
रति-कीरति-सी रस-रम्य लला
अवगाहत प्रीति-प्रभा छवि छाकैं।
पद-पंकज प्यारे 'रणंजय' पायल
है दृग राधिका अन्तस झाँकैं ।। (डॉ. जितेन्द्रकुमारसिंह 'संजय',
प्रणम्य, सोनभद्र, प्रभाश्री विश्वभारती प्रका. इलाहाबाद, 2014 ई. पृ. 144-145)

कविता-कामिनी में अहर्निश रमण करनेवाले कवि-केहरि रणंजयप्रतापबहादुर सिंह ने प्रवासी प्रियतम के वियोग-ज्वर से ग्रसित विरहिणी नायिका का वर्णन दुर्मिल सवैये में किया है। नायिका अपनी सखी से कहती है कि हे सखी। सावन की सजी हुई कीर्ति और पवित्र पूर्णिमा की रात्रि विकसित हो रही है। ऐसे में अकेले हमारा मन नहीं मानता है और प्रिय पति पत्र भी नहीं भेजते हैं। विरह की इस असह्य बेला में सौतिन वर्षर्तु विरह से परिपूर्ण सावन के विशिष्ट गीत कजरी को लेकर मड़रा रही है और प्रतिदिन मनोज के पंचपुष्पशर से दहती हुई हमारी छाती छतिग्रस्त होकर छितिरा रही है –

सजनी सजि सावन कीरतिया
विकसै शुचि पूनम की रतिया।
पतियाहिं नहीं जिय मोर अकेलहिं
भेजे नहीं सजना पतिया।
बरसातहिं सौतिन लै कजरी
मड़राइ रही विरही बतिया।
छितिराइ रही छति आइ 'रणंजय'
रोज मनोज दहै छतिया।।
(डॉ. जितेन्द्रकुमारसिंह 'संजय' शिवद्वार, पृ. 50)

बाबू रणंजयप्रतापबहादुर सिंह स्वयं ताल्लुकेदार थे, किन्तु तत्कालीन ताल्लुकेदारों, जमींदारों राजाओं की श्रृंगारी प्रवृत्ति के वे कट्टर विरोधी थे। इसी कारण उन्होंने ऐसे श्रृंगारी और विलासी राजाओं पर व्यंग्य करते हुए लिखा है –

बैठे अकेले रहे रँग रावटी
प्यारी पठायी गयी तँह नाइनि।
देखत ही रहे रीझि 'रणंजय'
वाको सुरूप सुशील सुभाइनि।
कै विनती उलटोही भई
सुगही उन बाँह परी तब पाइनि।
ऐजू! अजू! अजु! ऐसो न कीजिए
हाँ! हाँ! हमैं खिझिहैं ठकुराइनि।।
(डॉ. जितेन्द्रकुमारसिंह 'संजय' सोनभद्र का इतिहास पृ. 158)

यद्यपि हिन्दी–साहित्येतिहास में रणंजयप्रतापबहादुर सिंह का कृतित्व अल्पज्ञात है, तथापि वे देवगढ़ के ही नहीं अपितु सोनभद्र जनपद के पहले ऐसे ज्ञात कवि हैं, जो अपने ललित छन्दों से रीतिकाल में सोनभद्र की आटविक धरा का प्रतिनिधित्व करते हैं। संकलन और उचित संग्रह के अभाव में उनकी समस्त रचनाएँ समुपलब्ध नहीं हो पायी हैं, किन्तु जितनी उपलब्ध हो सकी हैं भविष्य में अलग से उनका सम्पादन–प्रकाशन सुनिश्चित होगा, तभी उनके सामर्थ्यवान् कर्तृत्व से जन–जन सुपरिचित हो सकेगा और यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

राजा रणधीर सिंह का साहित्यिक प्रदेय
डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह 'संजय'

भारत के विद्याव्यसनी कवि-नरेशों की उज्ज्वल परम्परा में अनेक ऐसे नाम हैं, जिनके विषय में सामान्य जन ही नहीं, बल्कि साहित्य के अध्येता तक भलीभाँति परिचित नहीं हैं। रायबहादुर राजा रणधीर सिंह एक ऐसे ही कवि-नरेश हैं, जिनके साहित्यिक प्रदेय के विषय में वर्तमान पीढ़ी को बहुत अधिक जानकारी नहीं है। जौनपुर जिले में अवस्थित सिंगरामऊ रियासत के राजा रणधीर सिंह के कवि-व्यक्तित्व की राष्ट्रीय स्तर पर सर्वप्रथम सूचना सन् 1878 ई. में प्रकाशित ठाकुर शिवसिंह सेंगर के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ शिवसिंहसरोज से ही प्राप्त होती है। 'कवियों का जीवन चरित्र' नामक खण्ड में कवि-संख्या 776/661/61 पर रायबहादुर राजा रणधीर सिंह के विषय में ठाकुर शिवसिंह सेंगर लिखते हैं- 'राजा रनधीर सिंह' सिरमौर सिंगरामऊवाले विद्यमान हैं। ये राजा कवि कोविदों का बड़ा सम्मान करते हैं और काव्य में महा निपुण हैं। इनके बनाये हुए भूषणकौमुदी, काव्यरत्नाकर, ये दोनों ग्रन्थ देखने योग्य हैं। (ठाकुर शिवसिंह सेंगर : शिवसिंहसरोज : सम्पा- डॉ. किशोरीलाल गुप्त : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्र0सं.- 1970 ई., पृ. 789)

'शिवसिंहसरोज' के पश्चात् रायबहादुर राजा रणधीर सिंह की कीर्ति-कौमुदी को अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर ले जाने का कार्य तत्कालीन सुप्रसिद्ध इतिहासकार सर रोपर लेथब्रिज (Sir Roper Lethbridge - 1810-1919 A.D.) ने किया। सन् 1893 ई. में लन्दन मैकमिलन से प्रकाशित अपनी पुस्तक 'The Golden Book of India' में सर रोपर लेथब्रिज़ ने रायबहादुर राजा रणधीर सिंह के सम्बन्ध में लिखा है - RANDHIR SINGH Rai Bahadur Born 1821. The title was conferred as a personal distinction, on 24th May 1883, for services rendered during the Mutiny of 1857. Belong to a Kashtriya family, claiming descent from Thakur Singh Rai, who migrated from Baiswara in Oudh to the Jaunpur district, and founded the village of Singramau, the present state of the family. Residence, Singramau, Jaunpur, North & Western Provinces- '(Sir Roper Lethbridge: The Golden Book of India: Macmillan And Co- London and New York, 1893 A.D., Page 459)

सर रोपर लेथब्रिज के द्वारा दी गयी सूचना केवल परिचयात्मक है। इसमें राजा रणधीर सिंह के साहित्यिक प्रदेय का उल्लेख नहीं है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंहसरोज' के बाद मिश्रबन्धुओं (पण्डित गणेशबिहारी मिश्र, रायबहादुर रावराजा डॉ. पण्डित श्यामबिहारी मिश्र एवं रायबहादुर पण्डित शुकदेवबिहारी मिश्र) के द्वारा रचित एवं सन् 1914 ई. में तीन खण्डों में प्रकाशित मिश्रबन्धु विनोद के तीसरे खण्ड में कवि-संख्या 2688 पर राजा रणधीर सिंह का साहित्यिक परिचय इस प्रकार उपलब्ध होता है -

'(2688) राजा रणधीर सिंह

ग्रन्थ : 1. काव्यरत्नाकर, 2. भूषणकौमुदी, 3. पिंगल वा नामार्णव, 4. रसरत्नाकर।

जन्मकाल : सं. 1877

विवरण : तालुकदार सिंगरामऊ, जौनपुर। खोज में संवत् 1894 निकलता है।

(पण्डित गणेशबिहारी मिश्र, रायबहादुर रावराजा डॉ. पण्डित श्यामबिहारी मिश्र एवं रायबहादुर पण्डित शुकदेवबिहारी मिश्र : मिश्रबन्धु विनोद : प्रकाशक - हिन्दी-ग्रन्थ-प्रसारक मण्डली, खण्डवा व प्रयाग, प्रथम संस्करण - 1914 ई. भाग 3, पृ. 1438)

नागरी प्रचारिणी सभा काशी के द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास' के छठवें खण्ड में भी राजा रणधीर सिंह की संक्षिप्त चर्चा हुई है- ये सिंगरामऊ, जौनपुर के जमींदार थे। इनके लिखे पाँच ग्रन्थ माने जाते हैं- 1. काव्यरत्नाकर, 2. भूषणकौमुदी, 3. पिंगल, 4. नामार्णव और 5. रसरत्नाकर। नामों से अनुमान लगाया जा सकता है कि 'भूषणकौमुदी' में अलंकार, 'पिंगल' में छन्दशास्त्र, 'नामार्णव' में कोश और 'रसरत्नाकर' में नायिकाभेद विषय रहा होगा। रणधीर सिंह का विशेष विवरण रस-प्रकरण में दिया गया है। अलंकार विषय पर इन्होंने 'भूषणकौमुदी नामक पुस्तक की रचना की, जिसमें स्वच्छन्द विवेचन है।' (सम्पादक डॉ. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास : नागरी प्रचारिणी सभा काशी : प्र0सं.-2015 वि.सं. (1958 ई.), भाग 6, पृ. 475)

'मिश्रबन्धु' विनोद एवं 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास' में उपलब्ध सूचना का उपयोग करते हुए डॉ. धीरेन्द्र वर्मा 'हिन्दी साहित्य कोश' में कुछ और भी जरूरी सूचनाएँ प्रदान करते हैं- 'रणधीर सिंह' : 'मिश्रबन्धु विनोद' के अनुसार ये सिंगरामऊ (जिला जौनपुर) के ज़र्मींदार थे। जन्म 1820 ई.। खोज विवरण (प्रथम त्रैवार्षिक) के अनुसार इनका जन्मकाल 1840 ई. है, जो भ्रामक है क्योंकि इनके ग्रन्थ 'काव्यरत्नाकर' का रचनाकाल ही 1840 ई. दिया हुआ है। इस ग्रन्थ की प्रति सवाई महेन्द्र पुस्तकालय, टीकमगढ़ में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त इनके चार ग्रन्थ और माने जाते हैं-'भूषणकौमुदी', 'पिंगल', 'नामार्णव' और 'रसरत्नाकर'। 'भूषणकौमुदी' में अलंकार, 'पिंगल' में छन्दशास्त्र, 'नामार्णव' में कोश और 'रसरत्नाकर' में रस के विषय में विवेचन है। काव्यरत्नाकर में काव्यशास्त्र के विविध अंगों को एक साथ लिया गया है।' (डॉ. धीरेन्द्र वर्मा: हिन्दी साहित्य कोश: प्रकाशक- ज्ञानमण्डल लिमटेड, वाराणसी: प्र0सं.-1963 ई. भाग 2, पृ.47)

उपर्युक्त सन्दर्भ ग्रन्थों में राजा रणधीर के विषय में जितना विवरण उपलब्ध है, उससे अधिक और प्रामाणिक विवरण केवल पण्डित रामनरेश त्रिपाठी के सन् 1919 ई. में प्रकाशित संग्रह-ग्रन्थ 'कविता-कौमुदी' में ही है। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी लिखते हैं- 'जौनपुर नगर से 24 मील पश्चिम सिंगरामऊ एक गाँव है। वह एक रियासत का मुख्य स्थान है। रियासत न तो बहुत बड़ी ही है और न बहुत साधारण ही। आज से लगभग सवासौ वर्ष पहिले वहाँ ठाकुर संग्राम सिंह राज करते थे। उनके पिता का नाम ठाकुर शिवबख्शराय सिंह था, जो ठाकुर संग्राम सिंह की बाल्यावस्था में ही स्वर्गवासी हो गये थे। ठाकुर संग्राम सिंह का जन्म सं. 1835 वि. में सिंगरामऊ में हुआ। सं. 1890 में उन्होंने काशी में शरीर त्याग किया। वे बड़े वीर थे। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के बहुत बड़े बागी को स्वयं सरकार के हवाले किया था। उसके उपलक्ष्य में सरकार उन्हें बारह सौ रुपया वार्षिक दिया करती थी। ठाकुर संग्राम सिंह बड़े विद्याव्यसनी थे। वे एक अच्छे कवि थे और गुणियों का यथोचित आदर करते थे। वेदान्तशास्त्र के वे अच्छे ज्ञाता थे। छन्द-लक्षण, नायिकाभेद, अलंकार तथा विविध विषयों की उत्तम रचनाओं से विभूषित उनका 'काव्यार्णव' नामक काव्य-ग्रन्थ बहुत उत्तम बना है। वह सं. 1921 में लेथो में छपा हुआ है।' (पण्डित रामनरेश त्रिपाठी : कविता-कौमुदी : प्रकाशक - हिन्दी-मन्दिर प्रयाग : प्र0सं.- 1919 ई., भाग 1, पृ. 503).

रायबहादुर राजा रणधीर सिंह उपर्युक्त कवि-नरेश ठाकुर संग्राम सिंह के सुकृती पौत्र एवं ठाकुर गजराज सिंह के पुत्र थे। ठाकुर गजराज सिंह भी कवि-कोविदों का बहुत अधिक सत्कार करते थे। राजा रणधीर सिंह का जन्म विक्रमाब्द 1878 (1820 ई.) में हुआ था। पिता के स्वर्गवासी होने पर विक्रमाब्द 1914 (1857 ई.) में उन्हें सिगरामऊ का राज्याधिकार प्राप्त हुआ। उसी वर्ष पूरे भारत में ब्रिटिश सरकार

के विरुद्ध विद्रोह हुआ, जो 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के नाम से जाना जाता है। राजा रणधीर सिंह ने उस में ब्रिटिश सरकार की बड़ी सहायता की थी, उसके बदले में उन्हें रायबहादुर की उपाधि प्राप्त हुई थी। ब्रिटिश सरकार की सहायता करने और बदले में रायबहादुर की उपाधि से विभूषित होने का उल्लेख सर रोपर लेथब्रिज एवं पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने समान रूप से किया है।

रायबहादुर राजा रणधीर सिंह के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का वर्णन करते हुए पण्डित रामनरेश त्रिपाठी लिखते हैं – राय रणधीर सिंह साहसी, उदार और बड़े प्रजाहितैषी थे। प्रजा को उन्होंने कभी नहीं सताया। उनकी सभा पण्डितों और दूर-दूर के कवियों से भरी रहती थी। कविता का उनको व्यसन था। उन्होंने पाँच ग्रन्थों की रचना की है- 1. नामार्णव, 2. काव्यरत्नाकर, 3. सालिहोत्र, 4. भूषण कौमुदी, 5. रागमाला। उनके रचे हुए गीत उनकी रियासत में अब तक बड़े प्रेम से गाये जाते हैं। सं. 1952 वि. में अयोध्याजी में उन्होंने शरीर त्याग किया (पण्डित रामनरेश त्रिपाठी : कविता-कौमुदी' : प्रकाशक – 'हिन्दी-मन्दिर प्रयाग' : प्रथम संस्करण – 1919 ई., भाग 1, पृ. 504) अयोध्या में शरीरान्त का उल्लेख डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने भी किया है। (डॉ. किशोरीलाल गुप्त : सरोज-सर्वेक्षण : हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद : प्रथम संस्करण – 1967 ई. पृ. 655)

'कविता-कौमुदी' की रचना करते समय पण्डित रामनरेश त्रिपाठी को रायबहादुर राजा रणधीर सिंह के हस्तलिखित एवं लेखो में छपे ग्रन्थ उनके पारिवारिक सदस्य ठाकुर रघुराजबहादुर सिंह के द्वारा देखने को मिले थे। डॉ. नगेन्द्र और डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने भ्रम वश 'नामार्णव और पिंगल' नामक दो ग्रन्थों का उल्लेख किया है, किन्तु यह एक ही ग्रन्थ है। इसका पूरा नाम 'नामार्णव पिंगल' है। नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में 'नामार्णव पिंगल' की दो प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका उल्लेख खोज रिपोर्ट (1906/316 ए. 1923/352 सी) में हुआ है। राजा रणधीर सिंह ने मात्र 17 वर्ष की अवस्था में नामार्णव पिंगल का प्रणयन विक्रमाब्द 1894 (1837 ई.) में किया था। यह एक ही साथ छन्द :शास्त्र और पर्याय कोश दोनों ही है। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें अग्नि का पर्याय कुण्डलिया छन्द के लक्षणोदाहरण के साथ दिया गया है –

सिंहविलोकित रीति दै, दोहा पर रोलाहि।
आदि अन्त जुरि जमकयुत, कुण्डलिया कहि ताहि।
अनल वह्निपावक दहन, ज्वलन शिखी बृषभानु।
शुक्र धनंजय बातसख, ऊषर अग्नि कृशानु।
ऊषर अग्नि कृशानु, आनु बुध चित्रभानु इमि।
धूमध्वज जलयोनि, विभावसु बीतिगोत्र तिमि।
जातवेद जुत आनि, निसाचर तूल तुल्य दल।
काली जू भ्रुव भंग, आजु जारत क्रोधानल।
(नामार्णव पिंगल : उद्धृत पण्डित रामनरेश त्रिपाठी : कविता-कौमुदी : प्रका – हिन्दी-मन्दिर प्रयाग : प्र0सं. – 1919 ई., भाग 1, पृ. 505)

रायबहादुर राजा रणधीर सिंह का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ काव्यरत्नाकर है। इसकी भी दो हस्तलिखित प्रतियाँ (1906/316 वी, 1923/352बी) नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इसकी रचना गुरुवार, ज्येष्ठ शुक्ल 12, विक्रमाब्द 1897 (1840 ई.) को पूर्ण हुई। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने रचनाकाल-सूचक दोहा 'शिवसिंहसरोज' में उद्धृत किया है –

संवत मुनि निधि वसु ससी, अंक रीति गनि चारु।
जेठ सुक्ल सुभ द्वादसी, जनित ग्रन्थ गुरुवारु।।

(काव्यरत्नाकर : उद्धृत शिवसिंहसरोज : सम्पा डॉ. किशोरीलाल गुप्त : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्र0सं. – 1970 ई. पृ. 516, छं.सं. 1474)

'काव्यरत्नाकर' सर्वांगपूर्ण काव्यशास्त्र है। इसलिए इसका शुभारम्भ शास्त्रीय परम्परा के अनुसार मंगलाचरण के साथ हुआ है। छप्पय छन्द में प्रथम पूज्य भगवान् गणेश की वन्दना करते हुए रायबहादुर राजा रणधीर सिंह लिखते हैं –

एक-रदन गुन-सदन मदन-अरि-पंच-वदन-सुत।
विधन-कदन गज-वदन दानि मंगल सिंदूर जुत।
भाल-चन्द्र जग-वन्द मन्द-मति-तम विनासकर।
बुद्धिकरन अस्मरन जासु बर बरन भासकर।
मद झरत गण्ड मण्डरित अलि झुण्ड झुण्ड गुंजरित जेहि।
करि ध्यान हृदय अरविन्द पद सीस धारि रनधीर तेहि।।
(तदेव, पृ. 516 छन्द संख्या 1473)

वस्तुतः 'काव्यरत्नाकर' नायिकाभेद और अलंकार विषयक ग्रन्थ है। जौनपुर या पूर्वांचल के ग्रामीण परिवेश में रहनेवाली ग्राम्यवधूटी के हाव-भाव एवं अकुण्ठ सौन्दर्य का एक सुन्दर चित्र 'काव्यरत्नाकर' से उद्धृत है –

गेह काज करति छिनकि ठौरि हेरै द्वार,
छिनक उठाय घट जाती जल लैन को।
चकबक ताकती इतै उतै विलोकि काहू,
मुरि मुसुकाय ललचाय जोरि नैन को।
मैन मदमाती अठिलाती छाती ऊँची करि,
खोलती छिपाती चली जाती देती सैन को।
लेजुरी गिराती फेरि फेरि फिरि आती लेन,
पथ मैं फिराती ज्यों बढ़ाती जाती चैन को।।
(काव्यरत्नाकर : उद्धृत पण्डित रामनरेश त्रिपाठी : कविता-कौमुदी : प्रका.-
हिन्दी-मन्दिर प्रयाग : प्र.सं. – 1919 ई. भाग 1, पृ. 505)

रायबहादुर राजा रणधीर सिंह के तीसरे ग्रन्थ 'सालिहोत्र' की भी एक हस्तलिखित प्रति (1920/161) नागरी प्रचारिणी सभा काशी के संग्रहालय में सुरक्षित है। 'सालिहोत्र' की रचना विक्रमाब्द 1912 (1855 ई.) हुई। इसमें घोड़ों की पहचान, उनके गुण-दोष, रोग और औषधियों का वर्णन है। जिस तरह वर्तमान् समय के धनकुबेर तरह-तरह के अत्याधुनिक वाहनों के न केवल शैकीन होते हैं, अपितु उनके गुण-दोष से भी परिचित होते हैं: उसी तरह राजतन्त्र में काव्य-रचना करनेवाले अधिकांशः कवि-नरेश भी शालिहोत्र-प्रकरण पर पुस्तक अवश्य लिखते रहे हैं। रायबहादुर राजा रणधीर सिंह उत्तम अश्व का लक्षण बताते हुए लिखते हैं –

तालू रसना अधर अरुन विराजत हैं,
उज्ज्वल अरुन स्याम इक रंग अंग है।
लोचन विसाल लम्बी ग्रीव मुख मंजुल है,
कच घुघुरारे बड़े स्रुति सुठि तंग है।
सूच्छम तुचा है, चौड़े उर, पातरे चरन,
पूँछ लघु, गति लोल, लागी वासु संग है।
विरले न दन्त, सिर ऊँचे, बंक देखियत,
लच्छन ये जामे सोई उत्तम तुरंग है।।
(सालिहोत्र : उद्धृत पण्डित रामनरेश त्रिपाठी : कविता-कौमुदी : पृ. 506)

राजा रणधीर सिंह ने रुग्ण अश्व की पहचान और उसके निदान का वर्णन करते हुए आगे लिखा है -

जो घोड़े को देखिये, फूल्यो उदर सिवाय।
पटकि पटकि लोटै, धरनि, ताको जतन बताय।।
बैठे बैठे घोड़ तनि आवै।
हरैं राई लोन खिलावै।
यहि तें जौ कुरकुरी न छूटै।
तौ दूसर औषधि लै कूटै।।
हैंसि मूल को तुचा मँगावै।
पातर करि कै ताहि पिलावै।। (तदेव, पृ. 506)

राजा रणधीर सिंह की चतुर्थ पुस्तक 'रागमाला' का प्रकाशन विक्रमाब्द् 1946 (1889 ई.) में हुआ था। इसमें राजा रणधीर सिंह के रचे हुए विविध राग-रागिनियों में निबद्ध भजन और गीत संगृहीत हैं। यहाँ उदाहरणार्थ एक भजन प्रस्तुत है -

आली री अनंद रंग जानु धारे
बनमाली ठाढ़ो है निकुंज मध्य प्यारी री।
गल सोहै मोती माल, केसर को तिलक भाल
मोर पंख सीस मानो चन्द्र की पत्यारी री।
पीत बसन लसित अंग सरसित सुखमा सुढंग
जलधर ज्यों लीन्यों विदुयत अलोल संग
बसी रवित मंजु अधर सुरस धारि 'रनधीर'
लेती है अनन्त तान प्यारी री।
(रागमाला : उद्धृत पण्डित रामनरेश त्रिपाठी : कविता-कौमुदी : पृ. 506)

राजा रणधीर सिंह का अन्तिम ग्रन्थ 'भूषणकौमुदी' है, जिसका उल्लेख ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने भी किया है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति (1923/352ए) नागरीप्रचारिणी सभा के संग्रहालय में सुरक्षित है। वस्तुत: यह जोधपुर के आचार्यकवि महाराज जसवन्त सिंह के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ''भाषाभूषण'' की टीका

है। इसकी रचना शुक्रवार, माघ शुक्ल त्रयोदशी, विक्रमाब्द 1917 (1860 ई.) को पूर्ण हुई थी। ग्रन्थारम्भ में ही इस तथ्य का उल्लेख हुआ है –

'भाषाभूषन' ग्रन्थ को, किय जसवन्त नरेस।
टीका 'भूषनकौमुदी', रचि रनधीर सुवेस।

संवत मुनि ससि निधि धरनि, माघ त्रिदस सित चार।
सुभ मुहूर्त कविवार लहि, भयो ग्रन्थ अवतार।

जन प्रन प्रतिपाली विसद, भव घाली अवगाह।
ऐसी काली को सुजस, आली बरनै काह।
(भूषणकौमुदी: उद्धृत शिवसिंहसरोज: सम्पा0 डॉ. किशोरीलाल गुप्त
पृ0 515, छं.सं. 1469-1470)

इसी क्रम में 'भूषणकौमुदी' से एक घनाक्षरी छन्द उद्धृत है –

मंजुल सुरंगवर सोभित अचिन्त रेख,
फल मकरन्द जान मोदित करन हैं।
प्रमित विराग ज्ञान केसर अव्यक्त देस,
विरद असेस जस पांसु पसरन हैं।
सेवित नृदेव मुनि मधुप समाधि ही के,
'रनधीर' ख्यात द्रुत इच्छित भरन हैं।
ईस हृदि मानस प्रकासित सदाई लसैं,
अमल सरोज वर स्यामा के चरन हैं। (तदेव, पृ. 515-516, छंद 1472)

यद्यपि राजा रणधीर सिंह का सम्पूर्ण वाङ्मय उपलब्ध नहीं है, तथापि जितना कुछ भी उपलब्ध है, उससे उनकी सारस्वत मनीषा का परिज्ञान भलीभाँति हो जाता है। राजा रणधीर सिंह के वंशज राजा हरपाल सिंह और राजर्षि श्रीपाल सिंह ने यावज्जीवन सिंगरामऊ की साहित्यिक परम्परा को बनाये रखा। सिंगरामऊ का सांस्कृतिक सन्दर्भ राजा संग्राम सिंह, राजा रणधीर सिंह, राजा हरपालसिंह एवं राजर्षि श्रीपाल सिंह के वृहत्तर कृतित्व का संस्पर्श करके ही पूरा होता है। बहुत अच्छा होता यदि राजा रणधीर सिंह के वर्तमान् उत्तराधिकारी उनका वाङ्मय-मधुपर्क साहित्य-जगत् को पुनः भेंट करते।

अगर फिर जन्म लूँ आकर तो हो भारत में ही आना।
मुझे हो प्रेम हिन्दी से, पढ़ूँ हिन्दी लिखूँ हिन्दी।
चलन हिन्दी चलूँ, हिन्दी पहनना ओढ़ना खाना।
रहे मेरे वतन में रोशनी हिन्दी चिरागों की कि
जिसकी लौ पे जलकर ख़ाक हो 'बिसमिल' सा परवाना।।
– शहीद पं. राम प्रसाद 'बिस्मिल (सन् 1897-1927)

महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' का हिंदी अवदान

डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह 'संजय'

'अयोध्या' का नाम सुनते ही हृदय-मन्दिर के गर्भगृह में अवस्थित पद्मकोष पर बैठी स्मृति-युवती पुराणी की चित्रपटी पर दो मनोरम बिम्ब उभरते हैं - प्रथम बिम्ब सूर्यवंश के चक्रवर्ती इक्ष्वाकु नरेशों की परम्परा में रघुवंश-शिरोमणि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम के विराट् व्यक्तित्व एवं कर्त्तव्य का तथा द्वितीय बिम्ब रीतिकाल के अन्तिम आचार्यकवि शाकद्वीपीय भगद्विज-शिरोरत्न महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' के राजकीय पुरुषार्थ एवं सारस्वत शब्दार्थ का। द्विजदेव की वंश-परम्परा का इतिहास बिहार प्रान्त के भोजपुर से प्रारम्भ होता है। अठारहवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक में दिल्ली के बादशाह के द्वारा गर्गगोत्रीय शाकद्वीपीय ब्राह्मण पण्डित सदासुख पाठक भोजपुर के 'चौधरी' नियुक्त किये गये थे। कालान्तर में बंगाल के नवाब मीर क़ासिम (20 अक्टूबर 1760-7 जुलाई 1763) द्वारा 'भोजपुर' को अधिगृहीत कर लेने के पश्चात् पण्डित सदासुख पाठक की ज़मींदारी समाप्त हो गयी और वे अपने पुत्र गोपालराम पाठक के साथ अवध प्रान्त के बस्ती ज़िले में अवस्थिति अमरोहा परगना के नन्दनगर नामक ग्राम में बस गये। पण्डित गोपालराम पाठक ने पलिया ग्राम के ज़मींदार सघईराम के घराने में गंगाराम मिश्र की दुहिता से अपने पुत्र पुरन्दरराम पाठक का विवाह किया। विवाहोपरान्त पुरन्दरराम पाठक अपनी ससुराल पलिया में ही बस गये।

पुरन्दरराम पाठक के पाँच पुत्र हुए, जिनके नाम क्रमशः बख़्तावर सिंह, शिवदीन सिंह, दर्शन सिंह, इच्छा सिंह और देवीप्रसाद सिंह थे। पुरन्दरराम के पाँचों पुत्र परम प्रतापी और प्रसिद्ध पुरुष हुए। बख़्तावर सिंह ईस्ट इण्डिया कम्पनी की घुड़सवार सेना में भर्ती हो गये थे। इनकी बहादुरी देखकर नवाब वज़ीर सआदत अली ख़ान की इन पर विशेष कृपा-दृष्टि हुई। नवाब वज़ीर सआदत अली ख़ान ने रेजिडेण्ट को लिखकर बख़्तावर सिंह को अपनी सेना में ले लिया। एक बार किसी विद्रोही ने सैर करते हुए नवाब पर जानलेवा हमला कर दिया, किन्तु उसका वार खाली चला गया। उसके दूसरी बार प्रहार करने के पूर्व ही बख़्तावर सिंह ने अपनी तलवार से उसे वहीं ढेर कर लिया। नवाब ने प्रसन्न होकर बख़्तावर सिंह को खिलअत एवं पलिया गाँव की जागीर देने के साथ ही उन्हें सौ सवारों का अधिकारी भी नियुक्त कर दिया। उसके कुछ समय बाद ही बख़्तावर सिंह की नियुक्ति रिसलदार के पद पर हुई। नवाब ग़ाज़ियुद्दीन हैदर भी बख़्तावर सिंह से अत्यधिक प्रसन्न रहते थे, जिससे इनकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ गयी। इसी क्रम में बख़्तावर सिंह को 'राजा' की पदवी से विभूषित करने के साथ-साथ चौवन मौज़े का 'महदौना' ताल्लुक़ा प्रदान किया गया।

राजा बख़्तावर सिंह ने सन् 1838 ई. में अपने अनुज दर्शन सिंह को दरबार में बुला लिया। इतिहासकार श्री पवन बख़्शी ने लिखा है - ''दर्शन सिंह को एक पल्टन की अफसरी मिली। अगले ही वर्ष इन्हें सलौन तथा बैसवाड़ा का चकलेदार (मालगुजारी वसूल करनेवाला अधिकारी) बना दिया गया। इसके पाँच वर्ष के पश्चात् इन्हें सुल्तानपुर और बहराइच का प्रान्ताध्यक्ष बना दिया गया। संवत् 1899 (1842 ई.) में इन्हें गोण्डा और बहराइच के नाज़िम के पद पर नियुक्त किया गया। अपने इलाक़े का अच्छा

प्रबन्ध करने के एवज में इन्हें भी 'राजा' की पदवी प्रदान की गयी। इनके द्वारा शिवदीन नामक डाकू का दमन करने के फलस्वरूप इन्हें 'बहादुर' की उपाधि भी मिली। बलरामपुर के राजा दिग्विजय सिंह सरकारी मालगुजारी नहीं देते थे, एक बार इसी कारण उनसे युद्ध भी हुआ और पीछा करते हुए नेपाल राज्य के भीतर ससैन्य चले गये। इस पर दोनों सरकारों में लिखा-पढ़ी हुई। इसी कारण इन्हें इनके पद से हटा दिया गया और 'महदौना' का प्रबन्ध भी इनसे छिन गया। नेपाल राज्य की जो हानि हुई थी, उसे दर्शन सिंह ने चुका दिया और वे अपने पद पर पुन: आसीन हो गये। अमज़द अली शाह के वज़ीर मुनव्वुरद्दौला के समय अवध राज्य का कुल प्रबन्ध वास्तव में इन्हीं के हाथ में था। इसी समय लखनऊ का 'लालबाग़' इन्हें मिला था। राजा दर्शन सिंह ने 'शाहगंज' में क़िला, बाज़ार और महल बनवाया। अयोध्या में दर्शनेश्वनरनाथ का प्रस्तर निर्मित 'शिवालय' स्थापित कराया, सूर्यकुण्ड के चारों ओर पक्का घाट बनवाया तथा उसके पास ही दर्शननगर बसाया। राजा दर्शन सिंह दान, न्याय व साहसपूर्ण वीरता के लिए सुप्रसिद्ध हुए। राजद्रोहियों के दमन करने पर इन्हें के.सी.एस.आई. की पदवी मिली जो आज भी इस वंश को प्राप्त है श्रावण शुक्ला सप्तमी संवत् 1901 (1844 ई.) को अयोध्या में इनका निधन हो गया। (द्र. श्री पवन बख़्शी : अवध के तालुक़दार, पृ. 262)

'नाइट कमाण्डर ऑफ़ द स्टार ऑफ़ इण्डिया' (K.C.S.I.) की उपाधि से अलंकृत राजा दर्शन सिंह बहादुर के गृह-मन्दिर में अगहन सुदी 5, सं. 1877 (10 दिसम्बर, 1820 ई.) को रीतिकाल के अन्तिम आचार्यकवि, 'शृंगारलतिका', 'शृंगार बत्तीसी', 'अविमुक्त पंचदसी', प्रभृति ग्रन्थों के कीर्तिवान् प्रणेता, ठाकुरप्रसाद, जगन्नाथ, बलदेव सिंह, रामनारायण आदि कवियों के उदार आश्रयदाता, 'महदौना' के प्रतापी शासक, महाराज मानसिंह बहादुर कायमजंग के.सी.एस.आई. का जन्म हुआ। संवत् 1901 (1844ई.) में पिता राजा दर्शन सिंह बहादुर की मृत्यु हो जाने पर मानसिंह महदौना राज के अर्द्धभाग के और ज्येष्ठ पिता राजा बख़्तावर सिंह की संवत् 1912 (1855ई.) में नि:सन्तान मृत्यु हो जाने के कारण सम्पूर्ण महदौना राज के स्वामी हुए।

सन् 1844 ई. में राजा दर्शन सिंह बहादुर के मरणोपरान्त जब राज्य में अशान्ति फैल गयी तब मानसिंह ने बुद्धिमत्तापूर्ण पराक्रम से विद्रोहियों का दमन किया। इससे अंग्रेजी हुकूमत की दृष्टि में मानसिंह का महत्त्व और भी बढ़ गया। महाराज मानसिंह की बुद्धिमत्ता और समयोचित प्रत्युत्पन्नमतित्व की ओर संकेत करते हुए 'अवध के तालुक़दार' नामक पुस्तक में ऐतिह्यविद् श्री पवन बख़्शी लिखते हैं - "एक बार किसी कारणवश बादशाह की कोप-दृष्टि राजा बख़्तावर सिंह पर पड़ी और वे नज़रबन्द कर दिये गये। महाराज मानसिंह ने तीन लाख का जुर्माना भर कर उन्हें छुड़ाया और वे पुन: दरबार में पहुँचे। इसी बीच समाचार मिला कि सूरजपुर, बाराबंकी के एक विद्रोही राजा ने चार सौ मनुष्यों को क़ैद कर रखा है और उन्हें ज़िन्दा ही जला देना चाहता है। बादशाह अमजद अली शाह ने मानसिंह के सुप्रबन्धन की चर्चा सुन रखी थी, इसलिए बख़्तावर सिंह को आज्ञा देकर मानसिंह को वहाँ भिजवा दिया। महाराज मानसिंह ने अपने गुप्तचरों द्वारा सूरजपुर की गढ़ी और सैन्य बल का पता लगाया। उन क़ैदियों को जलाये जाने में केवल एक दिन का समय शेष था। महाराज मानसिंह ने तीन सौ बहादुरों के साथ मध्य रात्रि में सूरजपुर घेर लिया। उन्होंने तोपखाने और क़ैदियों को अपने अधिकार में ले लिया। दो घण्टे के भीषण युद्ध के बाद राजा सूरजपुर को गिरफ़्तार कर लिया गया। बादशाह ने इस विजय की प्रसन्नता में इन्हें 'राजा बहादुर' की पदवी दी तथा दरियाबाद, रुदौली का नाज़िम नियुक्त किया। इसके दो वर्ष बाद सीहीपुर के राजा हरपाल सिंह का दमन करने के उपलक्ष्य में इन्हें 'कायमजंग' की उपाधि से विभूषित किया गया। इसके बाद राजा मानसिंह ने तीन कुख्यात डाकुओं - भूरे ख़ान, अजब सिंह तथा जगन्नाथ चपरासी को पकड़ा। इससे प्रसन्न होकर इन्हें ग्यारह तोपों की सलामी, ईरान के बादशाह की तलवार, झालरदार झमला, ताज़ के आकार की टोपी उपहार स्वरूप दिये गये। इसके अतिरिक्त भी इनके साहस की अनेक घटनाएँ हैं, जिनके लिए एक पृथक्

पुस्तक की आवश्यकता होगी।'' (श्री पवन बख़्शी : अवध के तालुक़दार, पृ. 263-264)

सन् 1856 ई. में अवध की नवाबी सत्ता पतनोन्मुख हो चली थी और आंग्ल सत्ता का सूर्य अपने मध्याह्न पर था। महाराज मानसिंह को महदौना राज की बागडोर सम्हाले अभी एक-डेढ़ वर्ष ही व्यतीत हुए थे कि अवध प्रान्त में क्रान्ति की ज्वालाएँ प्रज्ज्वलित हो उठीं। 1857ई. (सं. 1914 वि.) की क्रान्ति में महाराज मानसिंह 'द्विजदेन' ने अंग्रेजों की अच्छी सहायता की थी, जिसके लिए इन्हें दो लाख रुपये की जागीर मिली थी, पर विरोधियों के भड़काने पर अंग्रेज़ी शासन की कोप दृष्टि इन पर पड़ी और इन्हें कारावास में डाल देने की योजना बनी। षड्यन्त्र का पता द्विजदेवजी को चल गया और वे वृन्दावन चले गये। (हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 6, पृ. 539-540) महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' कृत 'श्रृंगार बत्तीसी' के 1885ई. में प्रकाशित तृतीय संस्करण की द्विजदेव के भ्रातृज लाल त्रिलोकीनाथ सिंह 'भुवनेश' के द्वारा लिखी गयी भूमिका के आधार पर रीतिकालीन साहित्य के महान् अन्वेषक एवं आचार्य डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने 'सरोज-सर्वेक्षण' में लिखा है - ''संवत् 1263 फसली में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भय से द्विजदेव ने सावन-भादौं का महीना वृन्दावन में बिताया था और यहीं भरी बरसात में 'श्रृंगार बत्तीसी' की रचना की थी। इसलिए यह ग्रन्थ इतना पावसमय और सरस है। शरदकाल में ये काशी आये। यहाँ मणिकर्णिका घाट पर गंगा-स्नान किया। फिर 'अविमुक्त-पंचदसी' बनाकर वाराणसी की स्तुति की और परमेश्वर की कृपा से उन्हें अपना राज्य पुन: वापस मिला।'' (डॉ. किशोरीलाल गुप्त : सरोज-सर्वेक्षण 1967ई. , पृ. 354)

डॉ. किशोरीलाल गुप्त द्वारा उद्धृत 1263 फसली में परमेश्वर की कृपा से द्विजदेवजी को अपना राज्य पुन: वापस मिलने का प्रकरण कुछ ठीक नहीं लगता। फसली संवत् ईस्वी सन् से 590 वर्ष पीछे चल रहा है। फसली संवत् 1263 में 590 जोड़ देने पर ईस्वी सन् 1853 होता है। सन् 1853 ई. में द्विजदेव के राज्य छिनने का कोई सन्दर्भ उपलब्ध नहीं है। पिता राजा दर्शन सिंह बहादुर के0सी0एस.आई. के मरणोपरान्त 1844ई. में महाराज मानसिंह आधे महदौना राज्य के स्वामी हो ही गये थे, किन्तु सम्पूर्ण राज्य का दायित्व ज्येष्ठ पिता राजा बख़्तावर सिंह के मरणोपरान्त सन् 1855 ई. में प्राप्त हुआ। हो सकता है कि जिस तरह द्विजदेव के बाद महदौना की सत्ता के लिए द्विजदेव के भ्रातृज लाल त्रिलोकीनाथ सिंह 'भुनवनेश' और दौहित्र महाराज प्रतापनारायण सिहं 'वीरेश' ददुआ साहब के मध्य सत्ता-संघर्ष हुआ और अदालत से 1880ई. में महाराज प्रतापनारायण सिंह के पक्ष में फ़ैसला आया, इसी तरह द्विजदेव के समय में भी उत्तराधिकार सम्बन्धी कतिपय दाँव-पेंच रहे हों।

महाराजा मानसिंह को सन् 1859 ई. में लखनऊ के बड़े दरबार में 'महाराजा' की पदवी, सात हज़ार की खिलअत, गोण्डा के बिसेन राजा का बड़ा ताल्लुक़ा विशम्भरपुर तथा तुलसीपुर मिला। द्विजदेव जी अवध प्रान्त के न केवल अग्रणी तालुकदार रहे, अपितु 'अंजुमन हिन्द अवध' की स्थापना में इनकी महती भूमिका भी रही है। 'कविता-कौमुदी' के संग्रहकर्त्ता पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है-''द्विजदेव अवध के ताल्लुक़ेदारों के एसोसिएशन के सभापति थे। (पण्डित रामनरेश त्रिपाठी : कविता-कौमुदी, पहला भाग, पृ. 521) इन्हें अंग्रेजी सरकार द्वारा के0सी0एस.आई. की गौरवपूर्ण उपाधि से अलंकृत किया गया था।

महाराजा मानसिंह 'द्विजदेव' का प्रथम विवाह महारानी रामकली देवी से हुआ, जिनसे ब्रजविलास कुँवरि उपनाम 'बच्ची साहिबा' का जन्म हुआ। प्रथम महारानी के मरणोपरान्त द्विजदेवजी का द्वितीय विवाह श्रीमती सुभाव कुँवरि के साथ सम्पन्न हुआ, जिनसे कोई सन्तति-लाभ नहीं हुआ। प्रथम महारानी रामकली देवी से उत्पन्न हुई राजकुमारी ब्रजविलास कुँवरि का पाणिग्रहण संस्कार आरा के रईस श्रीयुत् बाबू नरसिंहनारायण सिंह से सम्पन्न हुआ, जिनके पुत्र महाराज प्रतापनारायण सिंह 'वीरेश' उपाख्य 'ददुआ साहब' हुए। महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' का देहावसान विक्रमाब्द 1927 में कार्तिक वदी द्वितीया

(10 अक्टूबर, 1870ई.) को हुआ। (हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 6, पृ. 539–540).

महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' ने यद्यपि दो विवाह किये थे, तथापि दोनों महारानियों से उन्हें पुत्र–लाभ न हुआ और अपने जीवनकाल में वे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त न कर सके। इसलिए उनके मरने के बाद महदौना का राज प्रबन्ध 'कोर्ट ऑफ वार्ड्स' के अधीन हो गया। 'महारानी की वसीयत' के अनुसार महारानी सुभाव कुँवरि द्वारा लाल रघुवरदयाल सिंह के पुत्र लाल त्रिलोकीनाथ सिंह 'भुवनेश' को अपना उत्तराधिकारी चुना गया, किन्तु इस उत्तराधिकार के विरुद्ध बाबू प्रतापनारायण सिंह 'ददुआ साहब' ने न्यायालय में अभियोग दायर किया। सन् 1880ई. में निर्णय ददुआ साहब के पक्ष में आया और वे महदौना राज के स्वामी हुए।

हिन्दी साहित्येतिहास ग्रन्थों में जहाँ भी महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' का उल्लेख है, वहाँ उन्हें अयोध्या–नरेश कहा गया है, जबकि यह पूर्णत: सत्य नहीं है। द्विजदेव को अपने पिता राजा दर्शन सिंह बहादुर के.सी.एस.आई. और ज्येष्ठ पिता राजा बख़्तावर सिंह से उत्तराधिकार में 'महदौना राज' प्राप्त हुआ था तथा वे अपने पूरे जीवनकाल तक महदौना के ही महाराज थे। 'महदौना राज' का नाम महाराज प्रतापनारायण सिंह 'वीरेश' के शासनकाल में सन् 1883ई. में परिवर्तित होकर 'अयोध्या राज' हुआ और तत्कालीन भारत सरकार के द्वारा महाराज प्रतापनारायण सिंह को 'अयोध्या नरेश' की उपाधि से अलंकृत किया गया। (श्री पवन बख़्शी : अवध के तालुकदार, पृ. 265) 'महदौना राज' और 'अयोध्या राज' की भौगोलिक सीमा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ एवं महाराज प्रतापनारायण सिंह 'ददुआ साहब' ने 'वीरेश' उपनाम से सन् 1892 ई. में 'रसकुसमारकर' नाम ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसमें द्विजदेव के अनेक छन्द उद्धृत होने के कारण सम्भवत: हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' को अयोध्या का राजा लिखा है। देखें निम्न ग्रंथ –

(क) ठाकुर शिवसिंह सेंगर : शिवसिंह सरोज (सम्मलेन स.), 1970ई. पृ. 716
(ख) पं. रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी, पहला भाग (प्रथम संस्करण), पृ. 521
(ग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास (13वां संस्करण, ना.प्र.स.), पृ. 377
(घ) डॉ. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश, भाग–2, पृ. 270
(ड) डॉ. जगदीश गुप्त : रीतिकाव्य संग्रह (1983 ई.), पृ. 125

इसी तरह 'शिवसिंह सरोज', 'हिन्दी साहित्य कोश' प्रभृति ग्रन्थों में द्विजदेव की जन्म और मृत्यु की तिथियाँ भी ग़लत हैं। इन्हें भी देखें –
(क) ठाकुर शिवसिंह सेंगर : शिवसिंह सरोज (सम्मेलन सं.), 1970ई.; पृ. 717
(ख) डॉ. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश, भाग–2, पृ. 270

जब हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने द्विजदेव जैसे सुविख्यात कवि–नरेश की जन्म और मृत्यु की तिथि ठीक नहीं लिखी है, तब प्राचीन कवियों के विषय में दिये गये इनके निर्णय कैसे विश्वसनीय हो सकते हैं ?

महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' के साहित्यिक सन्दर्भ को आरेखित करते हुए हिन्दी–साहित्य के महान् आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं –''ये अयोध्या के महाराज थे और बड़ी ही सरस कविता करते थे। ॠतुओं के वर्णन इनके बहुत ही मनोहर हैं। इनके भतीजे भुवनेशजी ने द्विजदेव की दो पुस्तकें बतायी हैं –'शृंगारबत्तीसी' और 'शृंगारलतिका'। 'शृंगारलतिका' का एक बहुत ही विशाल और सचित्र संस्करण महारानी अयोध्या की ओर से हाल में प्रकाशित हुआ है। इसके टीकाकार हैं भूतपूर्व

अयोध्या नरेश महाराज प्रतापनारायण सिंह। 'शृंगारबत्तीसी' भी एक बार छपी थी। द्विजदेव के कवित्त काव्य-प्रेमियों में वैसे ही प्रसिद्ध हैं जैसे पद्माकर के। ब्रजभाषा के शृंगारी कवियों की परम्परा में इन्हें अन्तिम प्रसिद्ध कवि समझना चाहिए। इनकी-सी सरस और भावमयी फुटकल शृंगारी कविता फिर दुर्लभ हो गयी। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. 13, ना.प्र.सभा काशी, संवत् 2018, पृ. 377) कवि-चित्रकार और रीति-साहित्य के अधिकारी विद्वान् डॉ. जगदीश लिखते हैं -"द्विजदेव की रचनाओं में एक सरल भावावेग सुकुमार कल्पना तथा सहज सूक्ष्म अनुभूति के दर्शन होते हैं। 'चाँदनी के भारन लगत उनयो सो चन्द, गन्ध ही के भारन बहत मन्द मन्द पौन' जैसी कोमल भावना से उद्‌भूत उक्ति रीतिकालीन निसर्ग-काव्य में अप्रतिम है और कवि के अकृत्रिम सौन्दर्यबोध को व्यक्त करती है। शब्द-चयन तथा पद-विन्यास में कलात्मकता होते हुए भी उससे हृदय का तारल्य आच्छादित नहीं हुआ है। वर्षा और वसन्त के अन्तर्गत इन्होंने शृंगारिक मनोभावनाओं का जो चित्रण किया है, वह अन्य अनेक ख्यातनामा पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा अधिक सजीव और आकर्षक है। (रीतिकाव्य संग्रह 1983 ई., संकलन भाग, पृ. 125) एक अन्य स्थल पर रीतिकाव्य के कला-पक्ष एवं सौन्दर्य-बोध के वर्णन-सन्दर्भ में डॉ. जगदीश गुप्त ने द्विजदेव की शैन-प्रकृति की रमणीयता एवं सुकुमार वर्णन-कला को रेखांकित करते हुए लिखा है-

'चाँदनी के भारन लगत उनयो सो चन्द
गन्ध ही के भारन बहत मन्द मन्द पौन।

यहाँ चाँदनी और गन्ध जैसे अमूर्त पदार्थों में भार की कल्पना करते हुए कवि ने चन्द्रमा के निकल आने और पवन के मन्दगति से प्रवाहित होने का हेतु उत्प्रेक्षित किया है। ठीक इसी ढंग पर द्विजदेव से पूर्व ही बिहारी लिख चुके थे -

भूषन-भारु सँभारिहैं क्यों इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाँय न परत मग सोभा ही के भार।।

यहाँ शोभा के भार की कल्पना सूक्ष्म चमत्कारिक एवं प्रभावोत्पादक है, परन्तु पैरों का सीधे न पड़ना स्वभाविक स्थिति नहीं है अतएव जितना सौकर्म एवं सौन्दर्य द्विजदेव की कल्पना में प्रतीत होता है उतना बिहारी की कल्पना में नहीं मिलता। द्विजदेव की पंक्तियाँ अधिक काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करती है।" (वही, भूमिका पृ. 69-70).

डॉ. जगदीश गुप्त ने द्विजदेव के जिस घनाक्षरी छंद की इतनी प्रशंसा की है, वह निम्नलिखित है-

"सुर ही के भार सूधे सबद सुकीरन के,
मन्दिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
'द्विजदेव' त्यौं ही मधुभारन अपारन सों,
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन।
खोलि इन नैननि निहारौं तौ निहारौं कहा,
सुखमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन लगत उनयो सो चन्द
गन्ध ही के भारन बहत मन्द मन्द पौन।। (वही, पृ. 129, छं.सं. 12)

वस्तुत: यह 'रूप घनाक्षरी' छंद है। जितनी सुन्दर छंद की योजना की गयी है, उतना ही सुन्दर निर्वाह भी किया गया है। पूरे-के-पूरे छंद में सौन्दर्य का शाश्वत प्रवाह देखते ही बनता है। इसी तरह नायक से मिलने हेतु निकली सभीता उत्कण्ठिता नायिका का सुन्दर वर्णन करते हुए द्विजदेव ने अपनी रसाभिलाषिणी दृष्टि का परिचय दिया है –

दाबि दाबि दन्तन अधर छतवन्त करै,
आपने ही पाँयन को आहट सुनत स्रौन।
'द्विजदेव' लेत भरि गातन प्रस्वेद अलि,
पात हूँ कि खरक जु-होति कहूँ काहू भौन।
कण्टकित होति अति उससि उसासनि ते,
सहज सुबासन शरीर में जु लागे पौन।
पन्थ ही में कन्त के जो होति यह हाल तोपै,
लाल की मिलनि ह्वै हैं बाल की दसा धौं कौन।।
(द्विजदेव: तदेव, पृ. 126, छंद सं. 3)

ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने अपने विख्यात संग्रह-ग्रन्थ 'शिवसिंहसरोज' में 'श्रृंगार लतिका' से चार सवैये उद्धृत किये हैं। प्रथम सवैये में 'दीपशिखा-सी नयी दुलही की सौन्दर्य-दीप्ति देखते ही बनती है-

प्रथमै बिकसे बन बैरी बसन्त के
बातन ते मुरझाई हुती।
'द्विजदेव' जू ताहू पै देह सबै
बिरहानल ज्वाल जराई हुती।
यह साँवरे रावरे नेह सों अंगन
प्यारी न जो सरसाई हुती।
तो पै दीपसिखा-सी नई दुलही
अबलौं कब की न बुझाई हुती।।
(द्विजदेव: शिवसिंहसरोज, पृ.220, छं.सं. 644)

निश्चय ही महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' यहाँ महाकवि कालिदास के समीप खड़े प्रतीत होते हैं –

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्र मार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स से भूमिपालः।।

(रात को जब हम दीपक लेकर चलते हैं तब जो जो राजमार्ग के भवन पीछे छूटते चलते हैं वे

अँधेरे में पड़कर धुँधले पड़ते जाते हैं, वैसे ही जिन-जिन राजाओं को छोड़कर इन्दुमती आगे बढ़ गयी उनका मुँह उदास पड़ गया। - महाकवि कालिदास : रघुवंशम् - 6/67, कालिदास ग्रन्थावली : सं.पं. सीताराम चतुर्वेदी : अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, तृतीय सं. 2019 वि, पृ. 71)कुछ ऐसी ही अंगदीप्ति 'शिवसिंहसरोज' में उद्धृत द्विजदेव के तीसरे 'किरीट सवैये' में दृग्गत होती है -

चालै सु आयी नयी दुलही लखिबे को जबै कोऊ चाव चढ़ावति।
सूही सजी सिर सारी जबै तब नाइन आपने हाथ ओढ़ावति।
भीतर भौन तें बाहर लौं 'द्विजदेव' जुन्हाई की धार-सी धावति।
साँझ समै ससि की-सी कला उदयाचल ते मनो घेरति आवति।।
(द्विजदेव : शिवसिंहसरोज, पृ. 221, छं.सं. 646)

क्या अद्‌भुत कल्पना है। सौन्दर्य के ऐसे निष्कलंक चित्रण कम देखने को मिलते हैं। द्विरागमन (गौने) के बाद ससुराल में आयी नयी दुलही को देखने के लिए गाँव-घर की महिलाएँ एकत्र हुई हैं। यह जानकर नाइन ने दुलही के सिर पर लाल रंग की साड़ी (पिछौरी) ओढ़ा दिया। घर के भीतर बैठी लाल साड़ी से आवेष्टित उस नवोढ़ा दुलही के मुखचन्द्र से चन्द्रिका की धार बाहर आ रही है। मानो सान्ध्य बेला में चन्द्रमा की कला उदयाचल को घेरकर आ रही हो। ऐसा सरस चित्रण रीतिकाल के सिद्ध आचार्य द्विजदेव ही कर सकते हैं। इसी सन्दर्भ में द्विजदेव का एक और छंद द्रष्टव्य है -

कातिक के द्यौस कहूँ आई न्हाइबे को वह,
गोपिन के संग जऊ नेसुक लुकी रही।
'द्विजदेव' हरिद्वार ही तैं घाट बाट लगी,
खासी चन्द्रिका-सी तऊ फैली विधुकी रही।
घेरी बार पार लौं तमासे हित ताहि समै
भारी भीर लोगन की ऐसिये झुकी रही।
आली उत आजु वृषभानुजा बिलोकिबे को
भानुतनयाहू घरी द्वैक लौं रुकी रही।।
(द्विजदेव : बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानुकवि': काव्यप्रभाकर
(ना0प्र.स.सं.-2028 वि. पृ. 301),

हरिद्वार में गोपियों के संग स्नान करने गयी वृषभानुजा राधिका को देखने के लिए भानुतनया यमुना के दो घड़ी तक रुकने की अप्रतिम कल्पना निश्चय ही द्विजदेव को कालजयी रचनाकारों की वरेण्य पंक्ति में स्थापित करती है।

वसन्त के अवसर पर कन्त से दूर विरहिणी नायिका की विरह-दशा का चित्रण करते हुए द्विजदेव लिखते हैं -

चाहिहैं चित्त-चकोर दवा, श्रुति आपनो दोष परोसिनै लैहैं।
ये दृग अम्बुज से अकुलाइ कला विष-बन्धु की हाइ अचैहैं।
ऐसी कसामसी में 'द्विजदेव' अली अलि के गुन गाइ सुनै हैं।
है सु कौन दसा तन की, जु पै भौन वसन्त लौं कन्त न ऐहैं।।

(द्विजदेव : शिवसिंहसरोज, पृ. 220-221, छंद सं. 645)

नूतन उद्भावनाओं और अप्रतिम कल्पनाओं के आलोक में रचे गये द्विजदेव के छन्दों का कोई जवाब नहीं। उलाहना के प्रसंग में चतुर्थी के चन्द्रमा का जितना सुन्दर प्रयोग द्विजदेव ने किया है, वह अन्यत्र देखने को नहीं मिलता -

लहि जीवन मूरि को लाहु अली वे भली जुग जारि लौं जीबो करैं।
'द्विजदेव' जू त्यों हरसाय हिये बर बैन-सुधा-मधु पीबो करैं।
कछु घूँघट खोलि चितै हरि ओरन चौथि-ससी-दुति लीबो करैं।
हम तौ ब्रज को बसिबोई तजो, अब चाउ चबाइनै कीबो करैं।।
(द्विजदेव : तदेव, पृ. 221, छं.सं. 647)

ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सन् 1878 ई. में पहली बार प्रकाशित हुए अपने विख्यात संग्रह ग्रन्थ 'शिवसिंहसरोज' में द्विजदेव महाराज मानसिंह बहादुर शाकद्वीपी अवध-नरेश के चार सवैया छन्दों के अतिरिक्त दो घनाक्षरी छन्द उद्धृत किए हैं - जिनमें-से एक यहाँ द्रष्टव्य है -

अब मति दे री कान कान्ह की बसीठिन पै
झूठी मूठ प्रेम पतियानहू को फेरि दे।
उरझि रही री जो अनेक पुरिखा ते तऊ
नाते की गिरह मूँदि नैननि निबेरि दे।
मरन चहत काहू छैल पै छबीली कोऊ
हाथन उचाय ब्रज-बीथिन में टेरि दे।
नेह री कहाँ को, जरि खेह री भई, तौ मेरी
देह री उठाय वाकी देहरी पै गेरि दे।।
(द्विजदेव : शिवसिंह सरोज, पृ. 222 छं.सं. 649)

उपर्युक्त छन्द के किंचित भिन्न पाठ डॉ. जगदीश गुप्त के 'रीति-काव्य-संग्रह (संकलन भाग, पृ. 129, छं.सं. 11) में विद्यमान हैं। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी के 1919 ई. में प्रकाशित सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'कविता-कौमुदी' के पहले भाग में महामहोपाध्याय महाराज सर प्रतापनारायण सिंह के.सी.एस.आई. 'ददुआ साहब' द्वारा रचित 'रसकुसुमाकर' से चुनकर द्विजदेव के सात घनाक्षरी और दो सवैये दिये गये हैं। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी द्वारा उद्धृत तृतीय 'रूपघनाक्षरी' में 'प्रेमधन' लूटनेवाले ब्रजराज के अनोखे नैन का अनोखा चित्रण द्विजदेव को सचमुच आचार्य कवि सिद्ध करता है :-

बाँके संक हीने राते कंज छवि छीने माते
झुकि झुकि, झूमि झूमि काहू को कछू गनै न।
'द्विजदेव' की सौं ऐसी बानक बनाइ बहु
भाँतिन बगारे चित चाह न चहूधा चैन।
पेखि परे पात पै गातन उछाह भरे
बार बार तातैं तुम्हें बूझती कछूक बैन।
एहो ब्रजराज! मेरे प्रेमधन लूटिबो को

बीरा खाइ आये कितै आपके अनोखे नैन।।

(द्विजदेव : पं. रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी, पहला भाग, पृ. 522, छं.सं. 3)

महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' रीतिकाल के अन्तिम रससिद्ध आचार्य कवि हैं। इसलिए इनके छन्दों के पुष्कल उद्धरण पुराने संग्रह-ग्रन्थों एवं अलंकार-ग्रन्थों में मिलते हैं। महामहोपाध्याय रायबहादुर बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानुकवि' ने 1905 ई. में प्रकाशित अपने सुप्रसिद्ध अलंकार-ग्रन्थ 'काव्यप्रभाकर' में द्विजदेव के पन्द्रह छन्दों को प्रसंगत: उद्धृत किया है। भानुकवि ने 'आनन्दसम्मोहिता' नायिका का वर्णन करते हुए लिखा है -

आनँदसम्मोहा सुरति आनँद में पगि जाय।
मगन होय तिय सुरति में बौरी-सी ह्वै जाय।।
(बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानुकवि' काव्यप्रभाकर, पृ. 168)

भानुकवि द्वारा प्रतिपादित 'आनन्दसम्मोहिता नायिका' के उपर्युक्त लक्षण को महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' के निम्नांकित 'जलहरण छन्द' में घटित होता है देखा जा सकता है -

सीसफूल सरकि सुहावने लिलार लाग्यो,
लाभी लटें लटकि परी हैं कटि छाम पर।
'द्विजदेव' त्यों ही कछू हुलसि हिये तें हेलि,
फैलि गयो राग मुख पंकज ललाम पर।
स्वेद सीकरन सराबोर ह्वै सुरंग चीर
लाल दुति दै रहो सुहीरन के दाम पर।
केलि रस साने दोऊ थकित बिकाने तऊ
हाँकी होति कुमक सुनाकी धूमधाम पर।। (तदेव, पृ. 168, छं.सं. 1)

महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' की काव्य-कला मात्र शास्त्रीय अथवा टकसाली ही नहीं है, अपितु हृदयस्पर्शी भी है। कृष्ण के प्रति समर्पित भोर से ही द्वार पर दही-दही पुकारनेवाली ग्वालिनी की मनोदशा का चित्रण जहाँ रति और श्रृंगार के लौकिक पक्ष का उद्घाटन करता है, वहीं कृष्ण रूपी परमात्मा से मिलने के लिए उत्सुक ग्वालिनी रूपी आत्मा की व्यग्रता को भी प्रदर्शित करता है -

डारै कहूँ मथनि बिसारै कहूँ घी को भाँड़ो
बिकल बिगारै कहूँ माखन मठा मही।
भ्रमि भ्रमि आवत चहूँधा ते जु याही ओर
प्रेम पयपूर के प्रवाहन मनो बही।
झुरसि गयी धौं क हूँ काहू की वियोग झार
बार-बार विकल विसूरति जही तही।
एहो ब्रजराज! एक ग्वालिनी कहूँ की आज
भोर ही ते द्वार पै पुकारति दही दही।।
(द्विजदेव: डॉ. जगदीश गुप्त: रीतिकाव्य-संग्रह, संकलन भाग,
पृ. 126-127, छंद सं. 4)

महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' केवल श्रृंगारी कवि ही नहीं हैं, इन्होंने भक्ति के अत्यन्त सरस छन्दों का भी वर्णन किया है। मोहमयी तम को नष्ट करनेवाली वृषभानुलली के ध्यान-वैशिष्ट्य को वर्णित करते हुए 'द्विजदेव' ने लिखा है -

भूषण सारे सँवारे जराऊ तिन्हैं लखि तारे लगैं अति फीके।
त्यों 'द्विजदेव' जू आनन की छवि अंग सबै सरमाय ससी के।
ताहू पे भानु प्रभा निदरैं लसैं चंचल कुण्डल कानन नीके।
मोहमयी तम क्यों न मिटै इमि ध्यान धरै वृषभानुलली के।।
(द्विजदेव : भानुकवि : काव्यप्रभाकर, पृ. 443, छं.सं. 43)

'द्विजदेव' के एक भक्तिविषयक ग्रन्थ 'अविमुक्त पंचदसी' का उल्लेख लाल त्रिलोकीनाथ सिंह 'भुवनेश ने किया है। इसके सन्दर्भ में डॉ. किशोरीलाल गुप्त लिखते हैं - 'अविमुक्त पंचदसी' में 15 छन्द, सम्भवत: कवित्त-सवैये ही हैं, पर यह ग्रन्थ आज तक देखा नहीं गया।' (डॉ. किशोरीलाल गुप्त : सरोज-सर्वेक्षण प्र.सं. 1967 ई., पृ. 354)

महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' के समय में 'महदौना राज' अथवा परवर्तिकालिक 'अयोध्या राज' का साहित्यिक वातावरण अपनी चूडान्त प्रतिष्ठा को प्राप्त था। महारानी सुभाव कुँवरि द्वारा सन् 1875 ई. में गोद लिये गये 'द्विजदेव' के भ्रातृज लाल त्रिलोकीनाथ सिंह 'भुवनेश' स्वयं श्रेष्ठ कवि थे। नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से भुवनेशजी की दो पुस्तकें-'भुवनेशभूषण' और 'भुवनेशविलास' प्रकाशित हुई हैं। भुवनेशजी के तीन छंद भानुकवि के 'काव्यप्रभाकर' में प्रसंगत: उल्लिखित हैं। यहाँ भुवनेशजी का एक छंद द्रष्टव्य है -

रूप रच्यो हरि राधिका को उनहू हरिरूप रच्यों छवि छावत।
गावत तान तरंग दुहूँ दुहूँ भाव बताय दुहूँन रिझावत।
त्यों 'भुवनेश' दुहूँन के नैन दुहूँन के आनन पै लटकावत।
छाय रही छवि वैसई री! सुनि जो हुती चन्दचकोर कहावत।।
(लाल त्रिलोकीनाथ सिंह 'भुवनेश': बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानुकवि':
काव्यप्रभाकर, पृ. 366, छंद सं. 3)

भुवनेशजी ने 1875 ई. से 1880 ई. तक महदौना पर शासन किया। सन् 1880ई. में न्यायालय द्वारा भुवनेशजी को अपस्थ करके द्विजदेवजी के दौहित्र महाराज प्रतापनारायण सिंह 'वीरेश' उपाख्य 'ददुआ साहब' महदौना की गद्दी पर बैठे। यद्यपि 'महदौना राज' के राजा होते हुए भी द्विजदेव ने स्वयं को 'अवध-नरेश' कहा है -

अवध ईस मण्डनभुवन दर्शन सिंह नरेश।
जिनके यश सो श्वेत भों दिशि दिशि देश विदेश।।
तिनको सुत अति अल्पमति मानसिंह द्विजदेव।
किय श्रृंगार बत्तीसिका हरि लाला परमेव।।
(महाराज मानसिंह 'द्विजदेव': श्रृंगारबत्तीसिका : नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ,-
तृ.आ. 1885ई., छंद सं. 1-2, उद्धृत सरोज-सर्वेक्षण, पृ. 353)

तथापि तात्कालीन भारत सरकार द्वारा 'अयोध्या-नरेश' की गौरवपूर्ण उपाधि से विभूषित होने और सही अर्थो में आधुनिक अयोध्या राज के प्रथम शासक होने का गौरव ददुआ साहब को ही प्राप्त है।

ददुआ साहब को सन् 1895 ई. में के.सी.एस.आई. की उपाधि एवं 1906 ई. में 'महामहोपाध्याय' की पदवी प्राप्त हुई थी। अपने यशस्वी मातामह की न केवल राजकीय अपितु साहित्यिक विरासत को भी सम्हालने का कार्य ददुआ साहब ने भली-भाँति सम्पादित किया। द्विजदेव के 'शृंगारलतिका' की ददुआ साहब द्वारा लिखी गयी 'सौरभ' नाम्ना टीका इस तथ्य को प्रमाणित करती है। महाराज प्रतापनारायण सिंह 'ददुआ साहब' द्वारा रचित 'रसकुसुमाकर' एक उत्कृष्ट रीति-ग्रन्थ है। 'द्विजदेवजी' के पौत्र एवं भुवनेशजी के पुत्र लाल रुद्रनाथ सिंह 'पन्नगेश' भी व्रजभाषा के श्रेष्ठ कवीश्वर थे। 'उषा सुन्दरी', 'नारान्तक चरित्र', कैकेयी चरित्र, 'सौमित्र विजय', 'मधुर मिलन मंजीर' प्रभृति काव्य-कृतियाँ पन्नगेशजी की कवि-कीर्ति की स्थायी स्मारक हैं। कुरुक्षेत्र में हुए कृष्ण और राधिका के मिलन का वर्णन करते हुए पन्नगेश जी लिखते हैं-

दूऊ ठके-से उसासैं भरैं दोउ आसैं ढुरावैं बड़ी बड़ी आँखैं।
दोउन को भरि आयो गरो दोउ नैनन नैनन सो कछु भाखैं।
दोउन की मुलकें पलकैं पुलकैं तन दोऊ दोऊ मन माखैं।
दोऊ दोऊन की पैयाँ परैं दोउ लेत बलैयाँ अमीरस चाखैं।।

(लाल रुद्रनाथ सिंह 'पन्नगेश': मधुर मिलन मंजरी,
सं. 2029 वि., पृ.17, छंद सं. 16-17)

वस्तुत: महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' ने महदौना राज में एक ऐसे साहित्यिक वातावरण का सृजन किया था कि उस परिधि में आने के बाद 'पारस परस कुधातु सुहाई' जैसा ही चमत्कार होता था। तत्कालीन अवध प्रान्त के राजनीतिक नभमण्डल में अपने पुरुषार्थ से महदौना राज का निर्माण करनेवाले शाक-द्वीपीय ब्राह्मण-परिवार के शिरोरत्न महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' अपनी योग्यता और प्रतिभा के बल पर लक्ष्मी और सरस्वती के स्नेहभाजन हुए। द्विजदेव के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का स्मरण करते ही अगोरी-बड़हर राज के प्रतापी शासक राजा शारदामहेशप्रसाद सिंह शाह को लक्ष्य करके लिखी गयी पण्डित प्रभाशंकर चतुर्वेदी की निम्नांकित पंक्तियाँ स्मृति-पटल पर कौंध उठती हैं -

त्वदीय संसर्ग गुणै: प्रभाविता
नवारिजामुञ्चति तं नरेश्वरम्।
सरस्वती वाञ्छति सङ्गतिं सदा
तयोरिदं वै कलहस्य कारणम्।।
(प्रभाशंकर चतुर्वेदी, रजत-जयन्ती-भूषण, 1942ई. पृ. 105)

निश्चय ही महाराज मानसिंह 'द्विजदेव' का साहित्यिक प्रदेय एक विशाल परिधि का निर्माण करता है। ब्रजभाषा की ललित-काव्य-माधुरी का जैसा निर्वाह द्विजदेव ने किया है, वैसा अन्यत्र कम देखने को मिलता है। तत्त्वत: द्विजदेव जैसे कविर्नृपति के लिए ही आचार्य राजशेखर ने लिखा है-

ख्याता नराधिपतय: कवि संश्रयेण
राजाश्रयेण च गता: कवय: प्रसिद्धिम्।
राजा समोऽस्ति न कवै: परमोपकारी
राज्ञो न चास्ति कविता सृदश: सहाय:।।
(आचार्य राजशेखर : काव्यमीमांसा, पृ. 67)

निश्चय ही महाराज मानसिंह द्विजदेव अपने समय के श्रेष्ठ शासक, गुणग्राही आश्रयदाता और सहृदय भावक के साथ-साथ रीतिकाल की कविता-वधूटी का शृंगार करनेवाले वरेण्य आचार्यकवि हैं। ठाकुर शिवसिंह सेंगर, जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, महामहोपाध्याय रायबहादुर बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानुकवि', मिश्रबन्धु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, डॉ. नगेन्द्र से होते हुए डॉ. विद्यानिवास मिश्र तक द्विजदेव की कविता के प्रशंसकों की एक लम्बी पंक्ति है। डॉ. विद्यानिवास मिश्र और द्विजदेव के वर्तमान उत्तराधिकारी यतीन्द्रमोहनप्रताप मिश्र के संयुक्त सम्पादन में महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा के लिए प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली के द्वारा 'द्विजदेव ग्रन्थावली' का प्रकाशन यह सिद्ध करता है कि आधुनिककाल में भी द्विजदेव की प्रासंगिता बनी हुई है। निश्चय ही अवध प्रान्त के तात्कालीन शासकों में अनेक दृष्टि से द्विजदेव का कोई विकल्प नहीं है।

महाकवि राजा रुद्रप्रताप सिंह का 'सुसिद्धान्तोत्तम रामखण्ड' महाकाव्य

- डॉ. अनुज प्रताप सिंह

कविवर राजा रुद्रप्रताप सिंह प्रयाग जनपद की रियासत माण्डा के अधिपति थे। भक्ति-शृंगारकाल के उत्तरार्द्ध में उन्होंने 'सुसिद्धान्तोत्तम रामखण्ड' महाकाव्य की रचना की। यह महाकाव्य 19वीं विक्रमीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रचा गया है। सम्वत् 1877 से सम्वत् 1883 तक आरम्भ से लेकर लंकाकाण्ड तक की कथा सम्पन्न हुई है; ऐसा स्वयं कवि ने लिखा है। उत्तरकाण्ड कब तक लिखा गया, यह नहीं कहा जा सकता। अन्तिम राजपथ के उत्तरकाण्ड में श्रीमूदभागवत महापुराण के अनुकरण पर सभी राजवंशों का वर्णन करके कवि ने दिल्ली के सुलतान शासकों और मुगल शासकों का विस्तार से वर्णन किया है। दिल्ली के शासन में मराठों और अंग्रेजों का जो हस्तक्षेप हुआ था, उसका भी वर्णन है। उस समय प्रयाग अंग्रेजों के शासन में था और कवि के अनुसार समग्र भारत पर उनका प्रभुत्व था।

यह कथात्मक शैली में है। इसमें पुराणों के समान विषय का विस्तार है। इसको कुछ लोगों ने हिन्दी पुराण कहा भी है। यह ग्रन्थ 1957-67 सम्वत् के मध्य प्रकाशित हुआ। यह विस्तार के साथ 7 काण्डों या पथों में विभक्त है। अच्छा होता कि वे मूल पुस्तक को ही प्रकाशित करते। ग्रन्थ-रचना के समय प्रयाग अंग्रेजों के अधीन था, परन्तु इन विषयों पर स्वतंत्र पुस्तक होती तो अच्छी होती। कवि ने इसके बालकाण्ड में अपने वंश का भी वर्णन किया है। अवध के सूबेदार शम्सुद्दीन को कवि के पितामह उद्योत सिंह ने हराया था। पूरी रामायण 9 जिल्दों में है। यह कुल 3700 पृ. का महाकाव्य है। यह पुराण-सा हो गया है।

अनेक ज्ञान-विज्ञान, वंश और समाज को इसमें प्रस्तुत किया गया है। किष्किंधा पथ में आयुर्वेद का सम्यक् वर्णन है। स्थान-स्थान पर अवान्तर कथाएं, भक्ति, पूजा, यज्ञ, मंत्र, तंत्र, तीर्थो, क्षेत्रों और श्राद्धों के विस्तृत वर्णन हैं। दर्शन पक्ष की भी पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। कवि कहीं भी संकोच को नहीं पसन्द करता है। कवि ने वाल्मीकि रामायण और 'अध्यात्मरामायण' से इसमें अधिक सामग्री ली है। उक्त ग्रन्थों से ज्यों-के-त्यों प्रमाण भी दिये गये हैं। राजपथ (उत्तरकाण्ड) में रामाश्वेमध, राम का परमधाम गमन तथा रावण के जन्म के प्रसंग भी जुड़े हैं। राम को ब्रह्म रूप में विशेष रूप से देखा गया है। कवि ने राम को ब्रह्मा, विष्णु और शिव की क्रमशः सृजन, पालन तथा संहार शक्तियों का मूल-पूरक कहा है। इस पर 'रामचरित मानस' का भी प्रभाव है। इसकी रचना के कारण रुद्रप्रताप सिंह की मौलिकता, धीरता और भक्तिभावना अनवरत सराही जाती है। इस पर अभी तक आलोचकों की दृष्टि नाम मात्र की पड़ी है।

कवि ने रामकथा को लेकर, 'बाल्मीकि रामायण', तथा अन्य पुराणों, वेद, वेदान्त, ब्रह्मसूत्र, नाटक, महाकाव्य, न्याय, मीमांसा, व्याकरण और अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैतविलक्षण, जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि दर्शनों को दृष्टि में रखकर महाभारत और समसामयिक परिवेश से बहुत कुछ लेकर इसकी रचना की है। इसमें रामकथा के अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद, सकुन, संस्कृति, सभ्यता, लोकरीति और राजवंश-वर्णन भी है। इसी क्रम में रचनाकार का भी वंश वर्णन है।

यह महाकाव्य दोहा, चौपाई, सोरठा, कवित तथा अन्य छन्दों में लिखा गया है। संस्कृत भाषा में अनुष्टुप तथा अन्य छन्द भी प्रयुक्त हैं। इसको माण्डा की अवधी भाषा में प्रस्तुत किया गया है – जिसमें बुन्देलखण्डी, बघेली और भोजपुरी की मिलावट है। इस ग्रन्थ को रुद्रप्रताप सिंह के पौत्र रामप्रताप सिंह ने महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी से सम्पादित कराकर प्रकाशित कराया। राजा साहब हिन्दी प्रेमी, कवि और रामभक्त थे। इस ग्रन्थ के आरम्भ में इस आशय की सूचना मुद्रित है। काण्डारम्भ में कवि ने अपनी रचना के उद्देश्य को रखा है –

रेफा रुढ़ागूढ़ अति मूढ-दंड-दातार।
द्वैतहीन अद्वैत सो कीन्हेउ द्वैत विचार ।।16।।
ऐसे प्रभु रघुवंस-मनि वेद न पावत पार।
ताको जस बरनन चहौं निज मेधा अनुसार।।17 दोहा (बालकाण्ड पृ. 2)
X X X
करि कछु तत्त्व बखान ग्यानवान जेहि ग्यान भनि।
बनउँ भक्ति पुरान कलि आधार विरंचि-कृत ।।18

करम-गाथ कछु गाइ अमर पितर कौलिक सकल।
पुनि भूगोल बनाइ गगन-गोल विस्तार सहित।।19।।
विधि हर मनु के भोग सूर्य सोम कुल भूपवर।
समुझहिं जेहि विधि लोग रामायन-गाथा सुखद।।20।।
वाल्मीकि-मत आनि अपरपुरातन के सुमत।
विरचउँ आनँद-खानि रतन ममुक्षुन्ह आभरन।।21।।
खोजहिं जो नर आइ आदि अंत येहि ग्रन्थ को।
सो सब दुर्लभ पाइ जो अनेक सास्त्रन लखे।।22।। सोरठा (बालकाण्ड, पृ. 3)

सम्पूर्ण ग्रन्थ सात पथों या सात काण्डों में विभक्त है –

1. मिथिलापथ (बालकाण्ड)
2. कोशलापथ (अयोध्याकाण्ड)
3. अटवीपथ (अरण्य काण्ड)
4. किष्किंधापथ (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध)
5. दूतपथ (सुन्दर काण्ड)
6. युद्धपथ (लंका काण्ड)
7. राजपथ (उत्तरकाण्ड)

यह ग्रन्थ पूर्णतया प्रामाणिक है। यह स्थूल अक्षरों में रजिस्टर के आकार में मुद्रित है। इसकी बड़ी लोकप्रियता है। यह परम सराहनीय है कि मा. राजा ने इसको प्रकाशित कराकर भक्तों और विद्वानों में वितरित कराया था। आज भी माण्डा तथा अनेक स्थानों पर रामभक्त इसका नित्य पाठ करते हैं। इस ग्रन्थ के आरम्भ में इस प्रकार की सूचना है –

श्री जानकी वल्लभो विजयते
माण्डव्यनगराधिपतिमहाराज श्री 5 रुद्रप्रताप सिंह
विरचितसुसिद्धान्तोत्तम – रामखण्डे
मिथिला पथ :
अर्थात्
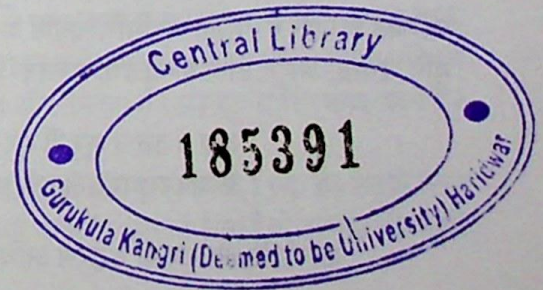
माण्डानगराधिपति श्री 5 रुद्रप्रतापसिंह – समरविजयि
विरचित
रामायण
बालकाण्ड
जिसे
महाराज श्री 5 रुद्रप्रताप सिंह के पौत्र विद्यमान
माण्डामहीमहेन्द्र
श्री 5 रामप्रताप सिंह बहादुर
की आज्ञा से
महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी ने शुद्ध कर
प्रकाश किया।
बालकाण्ड – अनुवाद रुद्रप्रताप नरेस–क्रित।
रामप्रताप – प्रसाद पाइ सुधाकर शुद्ध किया।।
बालकाण्ड:।
रुद्रादौ वंशपथो नाम प्रथमोपाख्यानम्

गुरुपदरज और गणेशजी की वन्दना दोहा छन्द में है जो हाथ में मोदक किये हुए हैं। वीणापाणि सरस्वती, स्फटिकमाला, लंका विनाशक पवनकुमार की वन्दना कुल 5 दोहों में हैं। तदुपरान्त सोरठा है– जिसमें ब्रह्मा, सुरेस, नारद आदि मुनिगण, नाग, सेस के कमलचरण की वन्दना है। बाल्मीकि, कौशिक, भरद्वाज, कविगण आदि की वन्दना रामचरित सागर (इस रामायण) की रचना के लिए की गयी है।

सबसे पहले वंश पथ है। 8 चौपाइयों पर दोहे का क्रम है। चौपाई से आशय अर्द्धाली से है। राम ब्रह्म स्वरूप हैं– जो बाहर–भीतर वास करते हैं। प्रकृति उनकी चेरी है। वे संसार में भटकते हैं। वे सबके जन्मदाता हैं, उन्हीं का मैं वर्णन करता हूँ। ब्रह्म को त्रिगुणात्म भी माना गया है। वही राम हैं –

ऐसो रामरूप उर आनी। भजन सुरुचि स्रद्धा अधिकानी।।
ब्रह्म सृष्टि स्वायंभू जोई। सतरूपा पत्नी तेहि होई।।
दक्ष प्रजापति महि विख्याता। तेहि बैरिनी नारि भव माता।। पृ. 4

दक्ष को कन्या उत्पन्न हुई, अत्रि मुनि का आगमन हुआ। दक्षसुता का नाम अनसुइया हुआ। वह महती पतिव्रता हुई। भगवान के अंश चन्द्रमा, चन्द्रमा के पुत्र बुध हुए। बुध के पुत्र पूरवा प्रसिद्ध राजा हुआ। (पृ. 5)। काशीराज का वंश उसी से चला। इसी वंश में राजा–उत्तानपाद हुए – जिनके पुत्र ध्रुव हुए। मुनिमाण्डव्य इसी वंश में हुए– जिन्होंने माण्डा राजधानी की स्थापना की।

पातिव्रत धर्मपालन रामवंश की प्रमुख विशेषता है। तपस्वी भी इस वंश के राजाओं को देखकर लज्जित हो जाते हैं। सीता जी मिथिलापति जनक की पुत्री हैं। वहां की कुमारियां पतिव्रता होती हैं। ऋषि, मुनि, देवता, असुर, अन्य प्राणी तथा सज्जन–असज्जन सबकी वन्दना है। आगे कहा गया है कि–

अज्ञ न तज्ञ न कूर हौं सूर न परम प्रबीन।
केवल रघुवर बल रचौं भाखा ग्रन्थ नबीन।।पृ. 11

बाल्मीकि के नाम के उद्धरण अधिक हैं। विश्वास किया गया है कि गुणग्राही विद्वान् इस रचना

का सम्मान करेंगे। राम का रुख अनुरूप जानकर कवि ने इसकी रचना की है। उन्होंने कैलास का अति भव्य चित्रण किया है। इस प्रसंग में चित्रात्मक और बिम्बात्मक भाषा दर्शनीय है (दे0पृ. 13)। इस कथा का आदि स्रोत शिव-पार्वती संवाद है। शिव जी कहते हैं -

> जा कर बरनन करत हर सकुच सारदा सेस।
> किमि आवै लघु भांड मों प्रिये महासरितेस।।5।।
> जा तें सकुच महेस कहँ करत राम व्याख्यान।
> रुद्रप्रताप न कहत बनु लीलापुरुख पुरान।।56।।
> कहौं तदपि निजमति विहित स्रोतन की रुचि पाइ।
> नाना ग्रन्थन के सुमत रामखंड मों गाइ।।57।। पृ. 16

कथा में विश्राम भी हैं। पृ. 16 पर वंशपथे प्रथमो विश्राम है। कथा में दार्शनिकता अधिक आ गई है। दृष्टान्त और उदाहरण से प्रकारान्तर की कथाएँ आ गई हैं। कवि विस्तार चाहता है। राम-परिवार और अयोध्या का वैभवपूर्ण वर्णन है। वास्तु और स्थापत्यकला का चरमोत्कर्ष है, सामन्ती वैभव है। कवि स्वयं राजा है, इसमें इससे अधिक सफलता मिली है। देव, नर और समाज के चरित्र का साथ-साथ चित्रण है। धार्मिक सामन्ती समाज का चित्रण है।

राम का सौन्दर्य-निरूपण अद्भुत है। नैसर्गिक सौन्दर्य, आभूषण, वस्त्र, मणि-माणिक्य, उचित ऋतु सब सुहावन है। उत्प्रेक्षा अलंकार के प्रयोग सराहनीय हैं। अवध के उत्सव का विस्तृत वर्णन है। सभी रस प्रयुक्त हैं। इस प्रकार 459पृ. में रामकथा का मिथिला पथ पूर्ण होता है। इसी के साथ प्रथम काण्ड बालकाण्ड समाप्त हुआ। राम विवाह कर मिथिला से वापस आ गये। इस काण्ड की मुख्य घटनाएं हैं - राम जन्म और विवाह।

(2) कोशलपथ (अयोध्याकाण्ड) :- इसके प्रारम्भ में ज्योतिष शास्त्र का उपयोग है (पृ. 5) राम के राज्याभिषेक का प्रस्ताव आता है। चारों ओर प्रसन्नता की लहर दौड़ जाती है। यथेष्ट तैयारियाँ होने लगती हैं। देवता भी सराहना करते है। राज्य भर में उत्सव मनाया जाता है, क्योंकि राजा का उत्सव सबका उत्सव होता है। वंश का यशोगान होने लगता है। विपुल दान दिया जाने लगता है। राम माताओं का भी आशीर्वाद लेते हैं। सब प्रसन्न होती हैं कि प्रात: राम राजा होंगे।

माया के प्रभाव को सबने स्वीकार किया है। उसी के प्रभाव से राम कथा में अनेक अन्धे मोड़ आ जाते है। तीसरे विश्राम में कुबरी/मन्थरा उपदेश देती है -

> यह तृतीय विश्राम मों करि कुबरी उपदेश।
> विधिवस जाचेउ रानि बन रामहि तापसबेस।।39।।दो0 पृ. 122

कैकेयी ने दो वर माँगे- 1. भरत को राजगद्दी 2. राम को 14 वर्ष का बनवास। सब कुछ विपरीत हो गया, उत्साह के स्थान पर करुणा छा गयी। राम-विरह में दशरथ ने प्राण त्याग दिये। बनवास के साथ यह दण्ड दिया गया कि इस अवधि में कंदमूल भोजन करें, पृथ्वी पर शयन करें, साधु भेष में रहें। ऐसा महान् पति भी स्त्री के वश में हो गया। अनेक सूक्तियाँ और उक्तियाँ, नीति और उपदेश हैं। संस्कृत गर्भित शब्दावली है। कैकेयी के कोप के सटीक बिम्ब हैं।

कथा में राम के गुण, कर्म, स्वभाव और सौन्दर्य की चर्चा और कैकेयी की निन्दा है। उसके लिए अनेक दुष्ट सम्बोधन दिये गये हैं। उसकी चारों ओर निन्दा की जाती है। इसको लोग दैवी आपदा भी कहते

हैं। पाँचवाँ विश्राम समाप्त हो जाता है। राम कहते हैं; पिता वचन मैं टाल नहीं सकता, उनके कहने पर में आग में कूद सकता हूँ। अनेक प्रासंगिक कथाएँ हैं। बहुत समझाने पर भी सीता और लक्ष्मण राम के साथ जाने से नहीं रुकते हैं। इतिवृत्त और वर्णन पर्याप्त हैं। काल दोष भी आ गया है। –'रच्छु द्रोपदी रच्छ मोहि प्रिये सदा सहनारि।। 163/पृ. 88; रावण को मारने के पूर्व उसके संहारक के रूप में वर्णन असंगत है – अपभ्रंश के समान छन्द प्रयोग हैं– दे0पृ. 91 छन्द 38।

काननवासिनी सीता का अद्‌भुत वर्णन है। सीता की कोमलता और दण्डक वन की कठिनाइयों को बार-बार कहा गया है। राम-वन-गमन बहुत कारुणिक है। वह किसी को अच्छा नहीं लगता है। सभी दशरथ और रानी की निन्दा करते हैं। उस समय परदा-प्रथा थी। सीता जी को सूर्य-चन्द्रमा भी नहीं देख पाते थे। वे वल्कल भेष में जंगल-जंगल घूमती हैं। राम को विष्णु, सीता को लक्ष्मी और लक्ष्मण को शेषनाग का अवतार कहा गया है। कुल-परम्परा पर भी बल दिया गया है। राम वन-यात्रा का विधिवत वर्णन है। कर्म-फल को दर्शाया गया है। तीनों वैष्णवी भाव से रहते है। विश्राम 16 में चित्रकूट की प्रशंसा है। उसको सिद्धपीठ कहा गया है। वहाँ जाने पर बिना श्रम के सिद्धि मिल जाती है। वहाँ के सिंह भी अहिंसक थे। बहुत सुन्दर प्रकृति-चित्रण है। अयोध्या-समाज भरत के साथ राम को मनाने/लौटाने के लिए जाता है। विश्राम 23 भरत जी का विलाप है। चित्रकूट की सभा का बहुत महत्त्व है। 44 वें विश्राम में राम भरत को पादुका प्रदान करते हैं। भरत को सभी निष्कलंक कहते हैं। राम भरत को सांत्वना देते हुए कृष्णावतार की घोषणा करते हैं। यह अभिनव प्रसंग है। सुखी भरत-राज्य का वर्णन है। माँ अनुसुइया सीता जी को पतिव्रत धर्म का उपदेश देती हैं। वनवास अवधि का 13वें वर्ष में प्रवेश होता है। राम की आयु 39 (पृ. 385) और सीता की 37 वर्ष (पृ. 390) की थी। इस काण्ड की कथा यहीं पूर्ण होती है।

3. अटवीपथः (आरण्यककाण्डः) :- चित्रकूट में लम्बेकाल तक रहने के कारण राम ने दण्डक वन में जाने का विचार बनाया। उन्होंने प्रयाग में ऋषियों के आश्रमों और राक्षसों के निवासों को देखा। कुछ राक्षसों का उन्होंने वध भी किया, शबरी का आश्रम देखा। यहाँ राम के ब्रह्म और विराट् रूप की विशेष चर्चा है। भक्तों के गुणगान भी हैं। अगस्त ऋषि के आश्रम में वे जाते हैं। आगे पंचवटी पर वे अपना प्रवास बनाते हैं। कश्यप, अदिति आदि की कथा है। विस्तार से प्रकृति-चित्रण है। ऋषि लोग राम का सम्मान करते हैं। राम भी सब का सम्मान करते हैं। लम्बे-लम्बे उपदेश हैं। ज्ञान-विज्ञान की बातें हैं। व्रत और ईशभक्ति की महिमा गाई गई है। सत्संग की लम्बी महिमा है। यह विद्या का स्रोत है। भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ बताया गया है। रामभक्ति से सहजमुक्ति की बात है। रामामय जगत् है। राम-विष्णु में रस भेद है। कथा को विस्तृत किया गया है।

आश्रम में सूर्पणखा का आगमन होता है। वह राम के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती है। परम्परा के अनुसार वह राम से विवाह का प्रस्ताव रखती है। राम की अस्वीकृति पर वह राक्षसी रूप धारण कर सीताजी पर आक्रमण कर देती है। राम के संकेत पर लक्ष्मण उसको नासिका और कान से हीन कर देते हैं। आगे खर-दूषण से राम का युद्ध होता है। दोनों राम से पराजित हो जाते हैं। राम सीता को अपने लीलावतार का रहस्य बताते हैं कि मेरा अवतार रावण तथा अन्य राक्षसों के वध और गो-ब्राह्मण की रक्षा के लिए हुआ है। आगे राम से मारीच (स्वर्णमृग) का वध और छल से सीता का रावण द्वारा हरण होता है। जटायु रावण को रोकता है। दोनों में युद्ध होता है। सीता-विलाप अत्यन्त कारुणिक है। राम-लक्ष्मण मारीच वध करके जब कुटी पर आते हैं, तो सन्नाटा छाया हुआ रहता है। दोनों रोते बिलखते सीता की खोज में निकल पड़ते हैं। जटायु से उनका पता चलता है। राम-वियोग अति कारुणिक है। राम जटायु को सारुप्य मोक्ष देते है। 25 वें विश्राम में राम आगे दक्षिण की ओर बढ़ते हैं।

4. किष्किंधा पक्षो उत्तरार्द्धे (किष्किंधाकाण्ड उत्तरार्द्ध) :- इतर विषयों से कथा को विस्तार दिया गया है। मूल कथा से इनकी संगति नहीं बैठती है। कृष्णकथा भी आ गयी है। 24 अवतारों की कथा है। सुग्रीव मैत्री, हनुमत भक्ति और बालि वध की कथा है। राम का लम्बा सीता-वियोग है। सुग्रीव के विलासी होने पर राम उस पर कोप करते है। 110 वें विश्राम में कपि लोग दक्षिण दिशा की और प्रयाण करते हैं। अनेक भू-भाग और नगरों के वर्णन हैं। किन्नरदेश और कुबेर की नगरी का वर्णन है। वास्तुकला: चित्रकला और सौन्दर्य-वर्णन है। सीता-खोज के लम्बे प्रयासों का वर्णन है। प्रकृति-चित्रण अत्यधिक है। राम का ब्रह्म और उद्धारक रूप का बार-बार स्मरण किया गया है। प्रासंगिक कथाओं को बहुत अधिक विस्तार दिया गया है।

सुमिरि ह्दिय रघुनाथ हनूमान अंजनि तनय।
जात भए मन साथ लंका राच्छसाधानि किल।। सोरठा
राम सांद्र घनस्याम तनु सिय राउदामिनि जानि।
चातक रुद्रप्रातप इब चाहत प्रेम सुपानि ।। 288।। पृ. 1319
हन्मल्लङ्कागमनम् नामक 118 विश्राम पूर्ण व किष्किंधाकाण्ड समाप्त है।

5. सुन्दरकाण्ड : तत्रादौ दूतपथो नाम पञ्चमोपाख्यानम्।
श्रीमत् गुरुपद कमल रज करि अंजन द्रिग धारि।
जेहि तें होई विकास जस बंदउँ म्रिदुल खरारि।। दोहा।

दोहा और सोरठा में लम्बी स्तुति है। इस विश्राम में मुख्य कथा 'लंघन सिंधु कपीस' की है। वे इतनी तत्परता से कार्य करते हैं, मानो वे इसी कार्य के लिए उत्पन्न हुए हों। रामकाज के लिए सभी बन्दर अपना प्राण न्यौछावर करने के लिए तैयार हो जाते हैं। बन्दरों के मनोविज्ञान का स्वभाविक चित्रण है। सब में उत्साह, निष्ठा और भक्तिभावना है। अन्त में हनुमान जी तैयार होते हैं। वायु मार्ग से वे लंका के लिए प्रयाण करते हैं। विविध प्रकार की उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ हैं। छन्द की भाषा-शैली संस्कृतमयी है। 8 चौपाइयों पर दोहा, सोरठा और छन्द का धत्ता है। विश्राम दो में हनुमानजी सुरसा को पराजित करके लंका में प्रवेश करते हैं। त्रिकूट पर लंका स्थित है। उसका वैभव, सराहनीय है। उसकी वास्तुकला अद्भुत है। विविध तड़ाग, अट्टालिका, ध्वजा, पताका कांचन तोरण लताएँ है। राक्षसों का पहरा है। वह सागर के मध्य विकट दुर्ग है। विश्राम 3 में हनुमान जी अशोक वाटिका में पहुंचते हैं। रावण का अन्त:पुर भी उन्होंने देखा; पर सीता न मिलीं।

त्रिजटा के विस्तृत स्वप्न को दिखाकर आगामी कथा पर पूरा प्रकाश डाला गया है। इतने विस्तार के साथ यह प्रसंग अन्यत्र वर्णित नहीं है। (दे0 सुन्दरकाण्ड विश्राम-6) राम के साथ-साथ उनके परिवार के अवतार की भी कथा है। संस्कृत के श्लोक पर्याप्त दिये गये हैं। विश्राम 18 में लंकादहन की घटना का वर्णन है। हनुमान जी का सीता और रावण से लम्बे-लम्बे संवाद चलते हैं। रावण की महासभा और उसके महाभटों का वर्णन है। हनुमान को अतुलित बलधामा कहा गया है। तदनुरूप उनके कार्यो को भी दिखाया गया है। अनेक वर्णन कालोत्तर हैं। विश्राम 22 में हनुमान का गुणगान और कीर्तिमान है।

6. युद्धपथ : (लंका काण्ड) :- तत्रादौ युद्धपथो नाम षण्ठोपाख्यानम्।
सीता के शोकविनाशक और लक्ष्मण के प्राणदाता हनुमान जी की प्रारम्भ में वन्दना की गयी है, फिर गणेश, गौरी और शिव आदि की वन्दना है। युद्ध के दृश्यों से काण्ड की कथा का प्रारम्भ है। राम को पाकर सब उत्साहित हैं। अंगद पिता मरण को भी भूल गये हैं। युद्ध के अनेक प्रसंगों को स्मरण किया गया है। देवासुर संग्राम की बातें भी की गयी हैं। राम-रावण का युद्ध देवासुर संग्राम के बाद का सबसे बड़ा युद्ध था।

विशाल सेनाओं के चलने, लड़ने, योद्धाओं के विशेष युद्ध, मरने-मिटने के विविध सजीव बिम्ब बनते हैं। विभीषण सीता को वापस करने की बात करता है। सीता को मायामय कहा गया है। उनके पूर्वजन्म की घटना को स्मरण किया गया है- जब वे वेदवती नाम से थीं; रावण उनको पाना चाहता था, तब उन्होंने शाप दिया था कि जब यह रूप तुम्हारे पास रहेगा, तो तुम्हारा नाश हो जाएगा। यह कथा 'बाल्मीकि रामायण' के खण्ड दो में है। वह दिन आ गया है। रावण की विपरीत बुद्धि पर प्रकाश डाला गया है।

विभीषण राम की लम्बी स्तुति करता है। समुद्र को पार करने के के लिए लम्बा विचार-विमर्श होता है। नीति की बातें भी होती हैं। समुद्र नहीं सुनता तो उसको ताड़ना देने की बात होती है, फिर वह क्षमा माँगता है। समुद्र बन्धन का कार्यक्रम विस्तार से चलता है। समुद्र राम को पार उतारकार वापस होता है। रावण की शक्ति को भी बताकर वह उसको सीख देने की बात करता है। अंगद समझौते के लिए रावण के दरबार में जाते हैं। इसी प्रसंग में बालि और उसके वध की भी चर्चा है। समझौता विफल होने पर युद्ध आरम्भ हो जाता है। चारों द्वारों से एक साथ आक्रमण होते हैं।
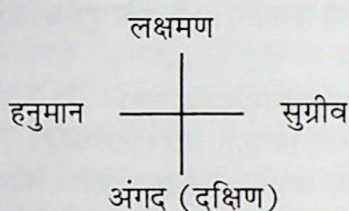
प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है। असुर दल रावण की ओर से लड़ता है। लक्ष्मण शक्ति, मेघनाद् वध, कुम्भकर्ण वध, रावण वध होता है। इस युद्ध में संपाति भी लड़ता है। राक्षस रावण के भय से लड़ रहे थे और बानर प्रेम के कारण लड़ रहे थे। आस्था और भक्ति के कारण लड़ रहे थे। सीता से सम्बन्धित अनेक कथाएँ कही गयी हैं। लंका के वीरों के वध की तिथियाँ भी दी गयी हैं।

धवल चतुर्दसी चैत की मध्यान्ह समय सोहाएउ ।

हत समर भो दससीस पीर जहान मनहु विहाएउ।। छंद, 481 विश्राम 58, अगले विश्राम में मन्दोदरी, सुलोचना एवं रानियों का विलाप है। सब सोहाग मिटाकर, आभूषण फेंक देती हैं।

विभीषण का सोत्साह राज्याभिषेक होता है। सीता जी का पूर्ण शृंगार कर उनके सतीत्व की परीक्षा की जाती है -

जोरि पानि मइथिलि कहत सुनहु लोक सब चरन।
जउँ रघुवर तजि अपर भजि तउ दहि तनु सत वदन।। छप्पै, पृ. 460
मन, क्रम, वचन न आन भूत भोग अगम्य जो।
कवनेहु काल सुजांन तजि रघुवरपति भाव जो।।पृ. 460

ऐसा कहती हुई सीताजी ने अग्नि में प्रवेश किया। वे ज्यों-ज्यों प्रविष्ट होती गयीं त्यों-त्यों आग शीतल होती गयी -

सीतल भई अगिनि तेहि काला। जानि पतिव्रत सीय विसाला।। पृ. 460

विभीषण सबका स्वागत करता है। सस्ठी माधव असित को भरत राम की अगुवाई के लिए चलते हैं। पाँच भाइयों की घोषणा करके भरतजी सुग्रीव को पाँचवा भाई कहते हैं। सब मिलते हैं। लखन ने कहा -'क्या अब भी रामराज्याभिषेक की अभिलाषा नहीं है'। राम के शृंगार पर रीतिकाल का प्रभाव है। राम के राज्यारोहण में ईरान, बगदाद, बलख, पारस, बन्दरपत्तन के व्यापारी, हिन्द हवस, सिंहलद्वीप के

बंजारे, स्यंदल के सौदागार, मिस्र, रोम, तूरान के बनजारे, तुर्किस्तान, पेशावर, मुल्तान, मध्यचीन, खिश्तान, कस्मीरिया, काबुली, गिलगिज, लाहौरी, नैपाली, चीनी, भोटिया, सँगरामिया, सलहट्टिया, ब्रह्मा, बंगालिया, असामिया आदि देश-देश के राजा, अमीर और व्यापारी तथा बनजारे सम्मिलित हैं। पुराणों के प्रसिद्ध ऋषि आये हैं। अद्भुत सजावट हुई है। वेदविहित राज्याभिषेक हुआ। स्तुति, गान और नृत्य होते हैं। देवता भी संस्कृत में स्तुति करते हैं।

7. राजपथ : (उत्तरकाण्ड) :- संस्कृत पद्य में भूमिका दी गयी है। सृष्टि और वंश का वर्णन है। प्रयाग चंद्रवंशी राजाओं की राजधानी है और अयोध्या सूर्यवंशी। राम के उत्तराधिकारियों के राज्य का वर्णन है। अनेक राजवंशों की कथाएं हैं। मांडा राजवंश का वर्णन है। राजा ऐश्वर्य सिंह का देहावसान प्रयाग में संवत् 1863 (सन् 1806 ई.) पौष शुक्ल तृतीया रविवार को मकर के रवि में सन्ध्या के समय हुआ। पिता की मृत्यु के 14 वर्ष उपरान्त राजा रुद्रप्रताप सिंह ने कोशलपथ (अयोध्याकाण्ड) बनाया। कोशल पथ के अन्त में उन्होंने लिखा है –

एक सहस वसु संत नग साता। विक्रमार्क संवत् विख्याता।।

संवत् 1877 (1820 ई.)। उस समय रास साहब प्रयाग के मजिष्टर थे।जार्ज IV तथा अन्य लार्ड की भी प्रशंसा है। संवत् 1883 (1826 ई.) चैत्र कृष्ण त्रयोदशी मंगलवार को लंकाकाण्ड समाप्त हुआ। माण्डा राजवंश की वंशावली है। आध्यात्मिक तथ्यों की व्याख्या है। रामराज्य की सुव्यवस्था की चर्चा है। कुछ युद्धों का भी वर्णन है। अनेक उपकथाएँ हैं। राम को ही सब कुछ माना गया है। रामाश्वमेध का वर्णन है। लव-कुश से युद्ध का वर्णन है। वे अजेय योद्धा हैं। गर्भवती सीता के कानन में आने की बात पश्चस्मरण शैली में है। कवि ने कर्म-फल को स्वीकार किया है। हनुमान के पूर्वजन्म की कथा है। गृद्ध उद्धार और लवणासुर के वध की कथा है। वह मथुरा-वृन्दावन का राजा था। कथा को व्यापक रूप दिया गया है।

अन्त में दुर्वाशा का आगम, लक्ष्मण की जलसमाधि। राम कुश को अपनी गद्दी देते हैं। राम के एक हजार वर्ष तक राज्य करने की सूचना मिलती है। कुश ने कुशावती नगरी बसायी। उत्तर कोसल के राजा लव हुए। राम स्वर्गारोहण करते हैं।

अनेक राजवंशों, दर्शन, नीति, धर्म और राजाओं की कथाएँ हैं। जयचन्द और पृथ्वीराज तथा गोरी के संघर्ष की बातें हैं। इस प्रकार 55 विश्रामों में यह काण्ड पूरा होता है।

महाराजा रघुराज सिंह की हिंदी साहित्य को देन

डॉ. चन्द्रिका प्रसाद द्विवेदी 'चन्द्र'

संगीत, नृत्य और अनेक कला विधाओं में राजघरानों की परम्पराएं पर्याप्त रूप में मिलती हैं, परंतु साहित्य में शायद ही कहीं, इतनी विशद पारिवारिक साहित्य काव्य परम्परा मिलती हो जितनी रीवा राजघराने में रही। लगभग सौ वर्ष (सन् 1809 से 1900 ई.) तक राजघराना भक्तिरस में न सिर्फ डूबकर रचनाएं लिखता रहा अपितु भक्ति के आश्रय स्थलों में मन्दिर निर्माण कराता और भगवान के राग-भोग की भी व्यवस्था करता रहा। भक्तिकाव्य की एक लम्बी परम्परा यहां अबाधरूप से बहती रही। भक्ति की ज्ञानमार्गीशाखा के संत कबीर की गद्‌दी के प्रथम उत्तराधिकारी धनी धरमदास वांधव नरेश के राज ब्यौहार थे, तो गुरुग्रंथ साहिब' में वर्णित भक्त सेन नाई महाराज रामचन्द्र के नित्य सेवक थे। रामचन्द्र, वही वांधवेश थे जिनके दरबार से संगीत सम्राट् मियां तानसेन को अकबर के अनुरोध पर दिल्ली दरबार भेजा गया था, जिनकी पालकी को कंधा देकर महाराज ने कला को सम्मान दिया था। प्रेममार्गी शाखा के कवि नजफ शाह सलोनी जो प्रज्ञाचक्षु थे 'अखरावट' के लेखक, महाराज के दरबारी और सूफी कवि थे। राम और कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों की तो राज्य में भरमार थी, हालांकि भक्ति की यह परम्परा रीतिकाल के उत्तरार्द्ध में विकसित होकर आधुनिक काल के पूर्वार्द्ध तक चलती रही। उन्नीसवीं सदी का भक्तिकाव्य रीवा नरेशों एवं उनके आश्रित कवियों का ऋणी है। आचार्य शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में महाराज विश्वनाथ सिंह एवं रघुराज सिंह के योगदान की चर्चा की है, परंतु बहुत कुछ उनके संज्ञान में नहीं लाया जा सका, जिससे रीवा का साहित्य आधा-अधूरा रह गया। महाराज जयसिंह ने कृष्ण चरित को गीत शैली से इतर दोहा-चौपाई में 'हरिचरित्र चंद्रिका' लिखकर ब्रजभाषा को नया रूप दिया। उन्होंने अनेक काव्यों के साथ 'गंगा शतक' भी लिखा। उनके पुत्र महाराज विश्वनाथ सिंह ने विभिन्न विषयों पर 46 ग्रंथ लिखे। हिंदी का प्रथम नाटक 'आनंद रघुनंदन' संस्कृत और हिन्दी में उन्होंने लिखा। विश्वनाथ सिंह के भाई रावेन्द्र बलभद्र सिंह और लक्ष्मण सिंह ने भी संस्कृत में अनेक ग्रंथ लिखे, जिन पर शोध ग्रंथ कालांतर में लिखे गए। विश्वनाथ सिंह के पुत्र महाराज रघुराज सिंह ने संस्कृत और हिंदी में 28 ग्रंथ लिखे। उनकी पत्नी शिवदानि कुँवरि ने 'सिया स्वयंवर' लिखा तो पुत्री विष्णु प्रसाद कुँवरि में मीरा जैसी भक्ति का स्वरूप देखने को मिलता है। रघुराज सिंह की पुत्रवधू राजमाता कीर्ति कुमारी की भक्ति रचनाएं आत्मा को आश्वस्त करती हैं। इस तरह और इतनी भक्ति रचनाएं किसी भी घराने का गौरवमात्र नहीं, इतिहास में स्थाई हस्ताक्षर भी हैं, परंतु साधन-सुविधा से दूर होने के कारण ये कवि और कविताएं इतिहास के हाशिए पर भी नहीं आ पाई। प्रकाशन और पुन:-प्रकाशन के अभाव में आज तक उनका मूल्यांकन नहीं हो सका। राम भक्ति में मधुर उपासना के सारे प्रसंग रामचरित मानस के आगे छोटे पड़ गए, यद्यपि रामलीला के अनेक प्रसंग और पद रघुराज सिंह के 'राम स्वयंवर' के बिना अधूरे लगते हैं।

23 अक्टूबर 1823 ई. में रघुराज सिंह का जन्म महाराज विश्वनाथ सिंह की बड़ी रानी सुभद्रा कुँवरि की कोख से हुआ। उन्होंने संस्कृत और हिंदी में शिक्षा ग्रहण की। सत्ताइस वर्ष की उम्र में रघुराज सिंह ने 'रुक्मिणी परिणय' की रचना की। उनके काव्यों की संख्या 28 है। वे भक्त थे, वैष्णव थे, इसलिए विष्णु के सर्वप्रिय स्वरूप राम और कृष्ण पर ही उनकी रचनाएं केन्द्रित हैं।

महाराज रघुराजसिंह रचित कृत्तियों में सुन्दर शतक, पत्रिका, रुक्मिणी परिणय, आनंदाम्बुनिधि, श्रीमद्भागवत महात्म्य, भक्ति विलास, रास पंचाध्यायी, राम रसिकावली (भक्तमाल), राम स्वयंवर, यदुराज विलास, विनयमाला, रघुराज पचासा, गद्य-शतक, चित्रकूट महात्म्य, मृगया शतक, पदावली, रघुराज विलास, विनय प्रकाश, राम अष्टयाम, रघुराज शतक, गंगा शतक, धर्म विलास, शम्भु शतक, राज रंजन, हनुमान चरित, भ्रमरगीत, परम प्रबोध, जगन्नाथ शतक आदि हैं। रघुराज सिंह ने पिता विश्वनाथ सिंह के अधूरे-अधबने मंदिरों को पूर्ण कराया। प्रमोद वन चित्रकूट और लक्ष्मणबाग रीवा के साथ जगन्नाथ पुरी, बद्रिकाश्रम के मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया। रघुराज सिंह रुक्मणि परिणय, आनंदाम्बुनिधि लिखकर एक तरफ कृष्ण भक्ति का संदेश देते हैं तो 'राम स्वयंवर' लिखकर मित्र राजा ईश्वरीप्रसाद सिंह (काशिराज) को दिए बचन को भी पूरा करते हैं। काशिराज को तुलसी के बालकांड की राम की लीलाएं संक्षिप्त लगी थीं, उन्होंने रघुराज सिंह से बाल और किशोर लीला को विस्तृतरूप देने का अनुरोध किया था, रघुराज सिंह राम स्वयंवर लिखते हुए इसका जिक्र भी करते हैं। रामनगर से रामलीला देखकर लौटे काशिराज ने रघुराज सिंह से कहा,-

"काशिराज तब मोंहि बुलाई। भाख्यों सकल हेतु समुझाई।
तुलसी कृत मंह अंति संक्षेपा। कंह लगि करौ अधिक परिलेपा।।
ताते रचहुं ग्रंथ एक ऐसौ। तुलसी कृत रामायण जैसो।।

काशी नरेश की इस चुनौती को स्वीकार करते हुए रघुनाथ सिंह ने 23 सर्गो का 'राम स्वयंवर' काव्य नाटक लिखा, जिसमें अकेले 22 सर्ग सिर्फ बालकांड पर केंद्रित हैं। यह पूरी कथा राम भक्ति में माधुर्य भाव की है। इस उपासना पद्धति में राम ललित नायक हैं। तेइसवें सर्ग में राम के राजतिलक का वर्णन है। तुलसी के शेष छः कांडों की कथा को मात्र एक सर्ग में समेट कर कथा को आनंद और माधुर्य भाव में रखने का कौशल न सिर्फ कवि-कौशल है, एक सम्पद्राय विशेष के प्रति आग्रह भी है, जो सीता को राम से अलग नहीं देख सकता। स्वयं कवि इसी बात को स्पष्ट भी करते हैं -

जो माधुर्य भाव तह राखहुं, तौ दुख चरित न गावौं।
ऐश्वर्यहिं माधुर्य भेद, यह दोउ एक संग न भावौं।।
मैं असमर्थ नाथ दुख गाथा, गावन में सब भांती।
बिरह, विपत्ति, व्यथा वर्णन में रसना रहि रहि जाती।।
ताते राम स्वयंवर गाथा, रचत आश उर आई।
रघुपति बाल चरित, विवाह, उछाह देह मैं गाई।।
बालकांड को विशद चरित, संक्षेप कथा षट कांडा।।

'राम स्वयंवर' काव्य कालांतर में रामलीलाओं का आधार ग्रंथ बन गया। इसके गीतमय सम्वादों ने राधेश्याम और बसुनायक जैसी गायकी को पीछे छोड़ दिया। बालकांड की रामलीला को छः दिन करने की परम्परा न सिर्फ रीवा में पड़ी, सभी नाट्य मंडलियों ने 'राम स्वयंवर' का आभार माना। रघुराज सिंह सिद्धहस्त कवि थे। अनेक रचनाओं में अपने को 'श्रीकृष्णचन्द्र कृपा पात्राधिकारी' मानते हैं। उनका मन श्रीमद्भागवत में अधिक रमा इसीलिए पूरी भागवत का काव्यानुवाद 'आनंदाम्बुनिधि' में किया। अपने को कृष्ण भक्त मानते हुए कहते हैं:-

कुटिल अलकवारो, मंद मुस्कान वारो
कोटि कोटि चन्द्र जाके मुख पर वारो हैं।
मुरली मुकुट वारो, पीत पट कटि वारो

ललित त्रिभंग वारो सब सुख कारो है।
रघुराज रसिक-सुजानन को प्राण प्यारो
करुणा समुद्र कोटि अधम उधारो है।
नंद को दुलारो, वृन्दा विपिन बिहार वारो
मोर पंख वारो सो हमारो रखवारो है।

यद्यपि वे कृष्णचन्द्र कृपा पात्राधिकारी हैं, परंतु एक कवि ने जब उनसे राम के अनेक रूपों का वर्णन करते हुए पूछ लिया कि -

एते रघुराज मैं गिनाऊं, सुनो महाराज
तामे आप सांची कहौ, कौन रघुराज हैं।

रघुराज सिंह आशु कवि थे, उन्होंने उसी क्षण अपने रघुराज होने का परिचय विनीत भाव से दिया, क्योंकि काव्य तो रघुवंश के एक ही रघुराज (राम) को जानता है।

मैं तो कहौ सांची जैसे बेद औ पुराण सुन्यो
रवि कुल कमल दिनेश रघुराज हैं।
और इक्ष्वाकुवंश विदित वसुन्धरा में
महाराज भयो एक दानी रघुराज हैं।
राजन को राज महाराजन को महाराज
लाज को रखैया दशरथ सुखसाज है।
लंकराज नाशी, सेतबंध को प्रकाशी
सोई अवध विलासी ताको दास रघुराज हैं।

'आनंदाम्बुनिधि' में भागवत की काव्यमय कथा है, एक तरह से श्रीमद्भागवत का पद्यानुवाद है। सुदामा की कथा है परंतु 'रामरसिकावली' में सुदामा-कृष्ण का मिलन, नरोत्तमदास के 'सुदामा चरित' के चमत्कारिक मिलन से सुन्दर और सहज रघुराज सिंह का सुदामा-कृष्ण वर्णन अधिक प्रभावी ढंग से व्यक्त हुआ है। कृष्ण, महल में रुक्मिणी के साथ बैठे हैं। एकाएक उन्हें सुदामा दिखाई पड़ते हैं। अपने छात्र जीवन के साथी को देखकर कृष्ण दौड़ पड़ते हैं। मित्र से मिलने की इस ललक का वर्णन देखें -

भूलि गयो खान पान, भूलि गयो प्यारी नारि
उठ्यो पलंग ते 'अनंद अधिकायो है।
'मेरो मीत आयो, अरी मेरो मीत आयो
अरी मेरो मीत आयो', अस गाय मुख छायो है।

प्रेम भरे इन शब्दों की आवृत्ति कविता का चमत्कार नहीं, भाव की अभिव्यक्ति है, जिसे कभी किसी ने कृष्ण को इतने आवेग पूर्ण ढंग से व्यक्त करते नहीं देखा था। रघुराज सिंह ने मित्र मिलन को धन्यता प्रदान की। दोनों मित्रों का मिलन देखें -

उर उर लाइ, नैन नैन सो मिलाय
नैन नीर सो बहाय, भुज-भुजनि अरुझिगो।
जुअन को जूट जगती सुर को जटाजूट
भीजिगो किरीट जाको मोल नहि नाझिगो।
चिरकुट-चीरन से लपटिगो पीत पट

मीत से न प्यार दूजो नाथ अस बूझिगो।
चित्त की कराई अनुराग को अनल वारि
प्रेम के सुपथ में शपथ दै कैं सूझिगो।

मित्र-मित्र क्या मिले। दोनों के आंसू ही नहीं थम रहे। बोल नहीं फूट रहे, मिलन के इन क्षणों में शब्द हार जाते हैं। गला अवरुद्ध हो जाता है, वाणी मूक हो जाती है।

बार-बार वारि धार नैनन ढरति जात
उठत न जात त्यों अनंद पुलकावली।
दोऊ उर लाबैं महि प्रीति सिंधु थाह पावैं
जीगर से जूटि गे अमल अलकावली।
रह्यो न संभार तन को छलकै ताही धार
टूटी तुलसी की माल तैसे मुकतावली।
रघुराज धन्य यदुराज सों न आजु कोई
का की अग्रगण्य है ब्रह्मण्य विरुदावली।

रघुराज सिंह भक्त थे, उन्होंने अनेक बार तीर्थस्थलों की यात्राएं कीं। वहां यज्ञ किए और दान दिए। उनके राज्यकाल में राजकोष खाली था, किसी प्रकार राज्य-दीवान कर्ज लेकर राजकाज चलाते थे। किंवदन्ती है कि एक बार जगन्नाथपुरी के भगवान जगन्नाथ के मन्दिर में पहुँचते ही मंदिर के पट बन्द हो गए। भक्त कवि की भावनाएं इतनी आहत हुई कि इस घटना को उन्होंने चुनौती के रूप में लिया। खड़े-खड़े उन्होंने भगवान् जगन्नाथ की प्रार्थना में शतक की रचना की। छन्द गाते-अनुनय-विनय, उलाहना और अपनी उपेक्षा के निन्नानवें पद कह चुके, सौंवे पद में उन्होंने अपनी स्थिति गज-गीध-गणिका-व्याध से भी बदतर बताते हुए जब जगदीश को ही चुनौती दी तो मंदिर के कपाट अपने आप खुल गए। उन्होंने कहा -

राम सों कहत रघुराज यों पुकार कर
मेरे महापापन से पार नहीं पाओगे।
सीता सी सती सो तजी झूठ ही कलंक लाग्यो
सांची मैं कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे।।

'जगदीश शतक' रघुराज सिंह की भक्ति की परीक्षा का काव्य है। इस रचना में दैन्यता-अमर्श का चरम है। प्रभु से क्या छिपाना, वे तो सब जानते हैं, उनसे क्या सीनाजोरी चलेगी ? वे कहते हैं -

भाखैं रघुराज, यदुराज करुणा के सिंधु
कीजै करुणा की दृष्टि कठिन मलीन मैं।
मैं तो अधमेश आप अधम उधारन हैं
पावन प्रवीन आप पतित प्रवीन मैं।।

सभी पूर्व पापिओं की सूची भगवान् को याद दिलाते हुए, जिन्हें आपने तारा है, अब हमारी बार इतनी देरी क्यों -

रघुराज ऐसे ही अघी के उधारक हो
जगदीश द्वार में पुकार ताते देत हौं।

'सुन्दर शतक' पर तुलसीदास की कवितावली का प्रभाव है। तुलसी का सुन्दरकांड लोक में हनुमान चरित्र की स्थापना का सर्ग है। आज भी लोग अकेले सुन्दरकांड का पाठ कर हनुमानजी की प्रार्थना करते हैं। कवितावली में लंकादहन का चित्र रामभक्तों के हृदय में आनंद भरता है। रघुराज सिंह का भी एक चित्र दृष्टव्य है -

कोटि - कोटि खलन के मुंडन को फोरि फोरि
दौरि - दौरी खोरि खोरि खलल मचायो है।
करि करि कोप कूदि केसरी किशोर
कंचन कंगूरन में काल ही सों भायो है।।
घरन-घरन घुसि-घुसि घूमि घूमि घोर
शोर करि चहुं ओर पावक लगायो है।
कोई नहीं थल बच्यो लंक हलकंप मच्यो
कहा या विरंचि रच्यो यही रब छायो है।

प्रभु राम के दास्य भाव के उपासक 'राम स्वयंवर' में उनके माधुर्य के प्रशंसक हो जाते हैं। रघुराज सिंह माता सीता को मां मानते हैं उनके सखा कवि मित्र हनुमान शरण 'मधुर अली' सीता को अपनी सखी मानकर कविताएं लिखते हैं। तुलसी ने 'मनियत सबहि नेह के नाते' कहा है। रघुराज सिंह इसी नेह के नाते 'मधुर अली' को सार्वजनिक रूप में भी मौसी कहते थे। राम और कृष्ण में उनकी अगाध भक्ति तो थी ही, हनुमान के प्रति भी पूर्ण भक्ति थी। रीवा नरेश की गद्दी वांधवेश की गद्दी है। वांधव लक्ष्मण को कहते हैं। बांधवगढ़ का किला लक्ष्मण का गढ़ था। आज भी दशहरा में बांधवगद्दी की पूजा होती है, लक्ष्मण की उस गद्दी पर बैठने की परम्परा नहीं है। रीवा में लक्ष्मण बाग है मंदिर है, जिसमें राम सीता-लक्ष्मण की मूर्तियां हैं। जहां से जगन्नाथ रथ की यात्रा पूरे शहर में आषाढ़ शुक्लपक्ष द्वितीया को निकाली जाकर रात को शहर में ही विश्राम होता है। दूसरे दिन रथ मंदिर वापस जाता है। पुरी के जगन्नाथ की कथा का छोटा आख्यान रीवा में आज भी पूरी श्रद्धा एवं उल्लास से मनाया जाता है। रिमही जनता इसे रघुराज सिंह की भक्ति की उपलब्धि के रूप में मानती है।

कई ऐसे प्रसंग हैं जिनमें काव्य का चरम उत्कर्ष रघुराज सिंह की कविताओं और विनय के पदों में देखने को मिलता है, जिनके आधार पर रीतिकाल के दौरान भी रीवा में भक्ति का अक्षुण्य प्रवाह था। उनके आश्रित कवियों ने लक्षण और रीति ग्रंथ लिखे, लेकिन महाराज रघुराज सिंह भक्ति की राम और कृष्ण काव्य धारा में पूर्णत: अवगाहन करते रहे। सख्य भाव तो 'रामस्वयंवर' में थोड़ा-बहुत दिखता है परंतु कृष्ण काव्य में तो सम्पूर्ण समर्पित दास्य भाव ही है। जबकि आमतौर पर कृष्ण काव्य, सख्य और प्रेम का आकांक्षी रहा है। 'भ्रमर गीत' में वे जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' के करीब हैं परंतु 'रत्नाकर' की गोपियों की तरह तार्किक नहीं, वे सिर्फ भक्त हैं, तर्क-वितर्क-कुतर्क से दूर। सीता के अपहरण के समय जटायु के संघर्ष के प्रति श्रीराम का कृतज्ञता बोध न सिर्फ अपने जन की रक्षा का भाव मात्र है, राम की करुणा और संवेदना का अप्रतिम उदाहरण है। घायल अवस्था में पड़े जटायु के साथ राम की सायुज्यता देखें -

बाण उखारत गोद में राखि, विहंग के अंगन के तृण टारत'।
बारहिं बार निहारत घाव, बहारत श्रोणित धारन आरत।।
ढारत आंसु, उचारत हाय, शरीर में फेरत पानि पसारत।
श्री रघुराज गरीब नेवाज, जटायु के धूल जटान सो झारत।।

महाराज 'रघुराज सिंह के कुछ ग्रंथ प्रकाशित हैं लेकिन उनके पुनर्प्रकाशन की आवश्यकता है, क्योंकि प्रकाशित ग्रंथ ही अब कही नहीं मिलते। अनेक अप्रकाशित ग्रंथ प्रकाशन की राह देखते-देखते

दीमकों के भोज्य हो गाए। विश्वनाथ सिंह के नाटक 'आनंद रघुनंदन' का गत वर्ष ज्ञानपीठ ने डॉ. राम निरंजन 'परिमलेन्दु' के सम्पादन में प्रकाशन किया, इसलिए कि वह हिंदी का प्रथम नाटक है। 'रामस्वयंवर' भी अनेक प्राथमिकताओं के साथ काव्य की विशेष कृति है, उसका, और अन्य अनेक रचनाएं जो केवल रीवा राजघराने की हैं, प्रकाशन के लिए किसी रामचन्द्र शुक्ल की राह देख रही हैं कि कोई आए और सारा प्रदेय सामने लाकर हिंदी साहित्य का नया इतिहास लिखने के लिए विवश करे।

बूड़त उबार्‌यो गजराज ब्रजराज ! तुम,
भारत उबारि शरण दासन को राखिये।
प्रेम बस खाये बेर जूठे भीलनी के प्रभु !
प्रेम अति बन्ध त्यों सुदाम सम राखिये।
जैसे गीध गनिका अजामिल पुनीत कीन,
तैसे दीन भक्त उप नाथ अब राखिये।
ह्वैगे पुनीत अपनाये जाहि रहे नाथ !
यह गुनगान प्रेम 'कीरति' दें राखिये।।

(महारानी कीर्तिकुमारी जू रीवा पुत्रवधू महाराज रघुराजसिंह जू देव)

राजा लाल माधव सिंह 'क्षितिपाल' : अद्वितीय साहित्य सेवी

डॉ. परेश कुमार पाण्डेय

अमेठी राजवंश में अनेक प्रतापी राजा हुए जो धीर-वीर, पराक्रमी एवं उच्चकोटि के कवि भी थे। प्रजावत्सल एवं कुशल राजनयिक 'क्षितिपाल' इनमें प्रमुख हैं। अमेठी के उदार हृदय, दानवीर राजा विश्वेश्वरबख्श सिंह का अल्पायु में ही देहान्त हो गया, जो दुर्योग से नि:संतान थे। अत: उन्होंने मृत्यु पूर्व ही गंगौली के रईस लाल अर्जुन सिंह के पुत्र लाल माधव सिंह को गोद ले लिया और उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया। विश्वेश्वरबख्श सिंह के देहावसान पर उनकी पति-परायणा साध्वी रानी ने इनके शव के साथ सती होकर उत्तम पातिव्रत का आदर्श स्थापित किया। राजा लाल माधव सिंह ने 'भूपति-भवन' के सामने सती महारानी का मन्दिर तथा सुन्दर-सघन सतीबाग का निर्माण कराया, जो आज भी लोगों के लिए आस्था एवं आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। प्रत्येक बुधवार को यहाँ आज भी पशुहाट एवं बड़ा मेला लगता है। 'क्षितिपाल' के आश्रित कवि सतीप्रसाद ने सती महारानी की प्रशस्ति में एक छन्द समर्पित किया है -

> गुनगनखानि शील शोभा की निधान जासु करत बखान पंगु भारती मती मई।
> सीता सी सती सी अनुसुइया सी शची सी सुचि रमा सी रती सी जग जाकी कीरती भई
> सतीपरसाद परिपूरण पतिव्रत की जाहि गीत गावत गुनांन की गती भई।
> भूप मौलि मुकुट विसेसर बकस जू की धन्य पटरानी पति संग ले सती भई।।
>
> (द्र. अमेठी राजवंशावली - कविवर सती प्रसाद, छंद 48)

अपने लोकप्रिय राजा-रानी के असामयिक अवसान से अमेठी की जनता निराश एवं शोकाकुल रही, किन्तु राजा लाल माधव सिंह को अपने नये संरक्षक के रूप में पाकर परम सन्तुष्ट एवं प्रसन्न हुई। इनके शासन काल को यदि अमेठी राज्य के इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। ये परम प्रतापी, दानी-विद्वान् एवं शूरवीर योद्धा थे। अपनी राजनयिक सूझ-बूझ के लिए इतिहासकार इन्हें अमेठी का 'विस्मार्क' कहते हैं। इनका आरम्भिक शासनकाल संक्रान्ति एवं संघर्ष का था, तथापि इन्होंने अपने प्रशासनिक चातुर्य एवं कूटनीतिक कौशल से अनेक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की। अवध के अनेक राजे-रजवाड़ों को अपने अधीन करने के लिए अंग्रेजों ने अपनी चालें चलनी आरंभ कर दी थीं। इन्होंने अमेठी राज्य के बिखरे हुए भू-भागों को पूरी दक्षता के साथ एकता के सूत्र में बाँधा। तत्कालीन अवध के नवाब वाजिदअली शाह से इनकी अतीव घनिष्ठ मैत्री एवं आत्मीयता थी। 1857 के देश के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में आपका सक्रिय योगदान सराहनीय है। शंकरपुर (रायबरेली) के राना बेनीमाधव, गोण्डा के देवी बख्श सिंह, मेंहदीहसन, मुहम्मद हसन, हनुमन्त सिंह, नानासाहब, बालाराव, ज्वालाप्रसाद आदि के साथ शत्रु-सेना के विरुद्ध संघर्ष में इनकी महत्त्वपूर्ण सहभागिता इतिहास के पृष्ठों में अंकित है। (द्र. सिविल रिविलियन इन द इण्डियन म्युटिनीज़ : डॉ. एस.वी.चौधरी, पृ. 141)

डॉ. एस.वी.चौधरी के अनुसार - "अमेठी के राजा लाल माधव सिंह और हसनपुर के राजा हुसैन अली जिले के अन्य बागी नेताओं में से थे, जिन्होंने सक्रिय रूप से विद्राहियों का साथ दिया था। इनमें से पहले अर्थात् राजा लाल माधव सिंह 10 नवम्बर 1858 तक विद्रोहियों के साथ थे। (वही, पृ. 124)

अन्यत्र इतिहासकार लिखता है –''रामपुर कसिया का किला कनपुरियों का एक शक्तिशाली गढ़ था। 3 नवम्बर 1858 को भयंकर आक्रमण कर इसे जीत लिया गया। इसके बाद अमेठी का किला जो कि एक शक्तिशाली सामन्त लाल माधव सिंह का था, प्रारंभ में जो खुलेआम विद्रोहियों के साथ था, विजित करने के लिए सुनिश्चित योजना बनायी गयी (वही, पृ. 142)

अंग्रेज पर्यवेक्षक विलियम हावर्ड रसेल जो 1857 की क्रान्ति के समय भारत आया था, ने भी अपनी डायरी –''माई इण्डियन म्युटिनी डायरी'' में स्वतंत्रता संग्राम में राजा लाल माधव सिंह के 10 नवम्बर 1858 तक के अविस्मरणीय योगदान का उल्लेख किया है। सुलतानपुर गजेटियर में इनके उपर्युक्त योगदान का उल्लेख हुआ ई। इसमें कहा गया है कि राजा लाल माधव सिंह ने यद्यपि 1857 में विद्रोहियों का खुला समर्थन किया था किन्तु इस पर भी उनकी जमींदारी लौटा दी गयी और सनद देकर इसकी सम्पुष्टि भी की गयी। (द्र. सुलतानपुर गजेटियर, पृ. 96)

वस्तुत: राजा लाल माधव सिंह स्वाभिमानी और फौलादी इरादों वाले ऐसे उत्साही व्यक्ति थे, जो दुनिया की प्रत्येक वस्तु को अपने आत्म सम्मान के सामने तुच्छ समझते थे। हावर्ड रसेल ने लिखा है कि 10 नवम्बर 1858 को राजा लाल माधव सिंह मेजर बैरो और कर्नल स्टरलिन के साथ छावनी में आये। मैं भी मेजर बैरो के साथ तम्बू में गया, जहाँ राजा बैठा था। मैंने देखा कि दरवाजे में घुसने के पूर्व राजा ने अपना जूता बाहर नहीं उतारा था। इस आत्माभिमान के नाते उन्होंने कभी ब्रिटिश हुकूमत के आगे समर्पण नहीं किया था। 9 नवम्बर 1858 को जिस समय अंग्रेजी सेनायें राणा बेनीमाधव सिंह से लड़ने के लिए रायबरेली जा रही थीं, रास्ते में विश्वस्तरूप से पता चला कि अमेठी के राजा लाल माधव सिंह ने अपने क्रांतिकारी साथी के राज्य शंकरपुर के सहायतार्थ अपनी सारी सेनाएँ भेज दिया है, अत: हम लोगों ने सोचा कि मौका अच्छा है, किला खाली है और राजा अकेला है, अपनी सेनाओं की अमेठी की ओर मोड़ दिया। राजा के सैनिकों ने हमारी टुकड़ियों पर गोला दागना शुरू किया। इस दुर्ग पर आक्रमण के लिए ढेर सारी फौजी टुकड़ियाँ देश के अनेक प्रान्तों से एकत्रित हुई थीं। अंतत: यह किला लार्ड क्लाइड (पहले के सर कालिन कैम्पबेल) द्वारा घेरा डालकर जीत लिया गया (द्र. माई इंडियन म्युटिनी (डायरी)–हावर्ड रसेल, पृ. 124).

इनके व्यक्तित्त्व एवं व्यवहार से जुड़ी एक घटना अतीव रोचक है। लिखा गया है कि यह आशंका होने पर सिपाही लोग विद्रोह कर देंगे, कर्नल फिशर ने डॉ. काबिन और लेफ्टीनेंट जर्किन्स की देखरेख में अंग्रेज महिलाओं और बच्चों को इलाहबाद भेज दिया। ये लोग सुरक्षित प्रतापगढ़ पहुँच गये, किन्तु वहाँ पर लोगों ने उन पर आक्रमण करके उन्हें लूट लिया। तीन महिलायें अपने बच्चों के साथ मूल दल से भटक गयीं थीं, जिन्हें अमेठी के राजा लाल माधव सिंह के किले में लाया गया। यहाँ उनके साथ बेहद अच्छा व्यवहार किया गया और उन्हें सुरक्षित इलाहाबाद भेज दिया गया। तवारीखे अमेठी में भी घटना की पुष्टि में लिखा गया है कि राजा लाल माधव सिंह के इस बर्ताव से प्रसन्न होकर अंग्रेजी सरकार की ओर से नसलन बाद नसलन अर्थात् पुश्त-दर-पुश्त के लिए एक लाख रुपये की माफी दे दी गयी थी, किन्तु अपनी आन-बान-शान का पक्का स्वाभिमानी राजा ने उस माफी की सनद को सन्दूक में रखकर अंग्रेजों के विरुद्ध बराबर लड़ता रहा। इस घटना के बाद भी वे पुन: विद्रोहियों के साथ सक्रिय ही बने रहे। राजा ने उक्त एक लाख रुपये की माफी पर अपनी प्रतिक्रिया में कहा था कि यदि ब्रिटिश सरकार यह समझती हो कि एक लाख रुपये की माफी देकर वह मुझे स्वातंत्र्य संग्राम से अलग कर देगी, तो यह उसकी ना समझी है। अंग्रेज महिलाओं की रक्षा मैंने इसलिए किया क्योंकि मैं क्षत्रिय हूँ, क्षत्रिय का धर्म है कि वह शरण में आये हुए की रक्षा करे। मैंने यह रक्षा अपने धर्म के पालनार्थ किया है, न कि माफी लेने के लिए। जहाँ मेरा यह धर्म था कि मैं शरण में आये हुए की रक्षा करूँ, अब वहीं मेरा यह भी धर्म है कि मैं अपनी मातृभूमि के लिए अंग्रेजों से डटकर युद्ध भी करूँ (द्र. सुलतानुपर गजेटियर, पृ 139).

30 मार्च 1880 को अवध के मुख्य आयुक्त ने उनका नाम मैजिस्ट्रेट बनाने के लिए संस्तुत किया। गवर्नर जनरल ने अपनी कौंसिल के साथ सुलतानपुर जिले के उनके तालुके में उन्हें विशेष मैजिस्ट्रेट और कौंसिल की शक्तियाँ प्रदान कीं। चार्ल्स क्यूरी, जो अवध के मुख्य आयुक्त के सचिव थे, ने उनकी अतीव प्रशंसा की और कहा कि उन्होंने मैजिस्ट्रेट की हैसियत से बहुमूल्य सेवायें की हैं। क्यूरी ने लिखा है कि लाल माधव सिंह नामक इस महाशय ने न्यायिक कर्त्तव्यों का बड़ी ही योग्यता से संचालन किया है और अपनी योग्यता का परिचय दिया है। एक विशेष मुकदमा जो खास तौर से देखने में आया कि –राजा ने अपने ही एक परिवार के आश्रित सदस्य पर चोरी के सामान लेने का अभियोग चलाया और उसको डिप्टी कमिश्नर द्वारा सजा दिलवायी। इससे यह बात सिद्ध हुई कि वह मैजिस्ट्रेट का कर्त्तव्य कितनी बहादुरी और निष्पक्षता से कर सकता है।

राजा लाल माधव सिंह यद्यपि शासक थे, फिर भी लोकतंत्र में उनका अटूट विश्वास था। वे प्रजा की इच्छा को सदैव आदर देते और उसी के परामर्श से शासन करते थे। उन्होंने 1869 ई. में सराय खेमा गाँव में एक आम दरबार लगवाया, जिसमें उन्होंने खुले आम कहा था कि राजा को प्रजा की राय से शासन करना चाहिए और राज्य कर्मचारियों की नियुक्ति जनता की सलाह से करती चाहिए। उन्होंने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा था कि राजा तथा प्रजा को एक दिल होकर कार्य करना चाहिए।

'छितिपाल' की जन्मतिथि 29 नवम्बर 1823 ई. तथा राज्यारोहण की तिथि 23 अक्टूबर 1843 ई. बतायी गयी है। ऐसा प्रजा-पालक, धर्मनिष्ठ, वीर-योद्धा तथा परम साहित्य-संगीत-अनुरागी राजा इस राजवंश में दूसरा शायद ही हुआ हो। इनके व्यक्तित्त्व का बहुमुखी विकास हुआ। एक साथ शौर्य, दया, दान-दाक्षिण्य, सेवाभाव एवं कवित्त्व जैसे अनेक अनन्य सामान्य गुणों का सामंजस्य आपमें एकत्र उपलब्ध रहा। यही कारण है कि अमेठी राज्य की पूर्ण प्रतिष्ठा, सर्वागीण विकास और उसको सर्वथा श्री-सम्पन्न बनाने में आपका सराहनीय योगदान रहा है। गुणग्राही होने के नाते आप स्वयं भी सत्कवि एवं कवियों के आश्रयदाता थे। स्थापत्य के प्रति आपके मन में आजीवन गहरा लगाव था। अमेठी का सतीबाग और सतीमहारानी मन्दिर, विन्ध्याचल की कोठी, काशी के आनन्दबाग की सज्जा तथा मणिकर्णिका घाट पर स्थित भगवती बालासुन्दरी का भव्य मन्दिर, प्रयाग एवं लखनऊ आदि में भवन इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इनके व्यवहार, व्यक्तित्त्व-वैशिष्ट्य एवं यश-कीर्ति से प्रभावित होकर संभवत: विन्ध्य क्षेत्र के निवासी कविवर सतीप्रसाद ने इनका आश्रय ग्रहण किया तथा अस्सी छंदों में अमेठी राज की वंशावली लिखी। इनके प्रशस्तिपरक छंदों में से कतिपय द्रष्टव्य हैं –

श्रीयुक्त अरजुन सिंह सुत, माधव सिंह उदार।
अनुज बिशेसर बकस को, गुन गन ज्ञान अगार।।49।।
अति सुशील अति सूरिवाँ, अति सुपाल अति वीर।
अधिप अमेठी को भयो, धरम धुरंधर धीर।।50।।

उत्त घन कारे इतै दीरघ दतारे उतै, बिज्जु उतै बाजिन की जीनैं जरतारी है।
धुरवा धुकारै उतै बाजत नगारे इतै, उतै वारि बुँद इतै मुक्तन बगारी है।।
भूमि हरियारी उतै इतै मन जाचकन, सती परसाद नीके नैनन निहारी है।
राजन के राजा महाराजा राजा माधौ सिंह, पावस समान जग जीवन सुखारी है।।51।।
(द्र. अमेठी राजवंशावली-सतीप्रसाद)

पालक प्रजान मघवान के समान सों हैं तेज में कृशानु बल वारिधि ते भारी है।

देश कोशधारी अरि दुष्ट दण्डकारी सत असत विचारी पुन्य प्राण अधिकारी है।।
सती परसाद महराज वर माधौं सिंह दानिन के दानि जाहि भावत भिखारी है।
समर सरोष सदा लोक परलोक ही को लोक लोक नारद सी कीरति पसारी है।।56।।
(राजवर्णनम्)

कवित्त, छप्पै, दोहा, त्रिभंगी, कुण्डलिया, त्रोटक, काव्य आदि छंदों में अद्भुत कला-पाटव के साथ राज्य, पुर, सभा, राजा, रानी, राजकुमार, पयान, गज, अश्व, प्रताप, खड्ग, संग्राम, आखेट, फुलवारी, दान, कीर्ति आदि का जैसा मोहक चमत्कारी वर्णन इस कवि ने किया है, प्राय: अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार्य कवि लछिराम होलपुर के बन्दीजन थे। अवध में इनका बड़ा सम्मान था। अयोध्या के राजा मानसिंह ने इन्हें 'कविराज' की पदवी प्रदान किया था। बस्ती के राजा शीतलाबख्श सिंह से भी इन्हें सम्मान मिलता था। लछिरामजी समस्यापूर्ति बड़ी सुन्दर और शीघ्र करते थे। ये अमेठी के राजा माधव सिंह के यहाँ आये और उनकी प्रशंसा में एक छंद प्रस्तुत किया, जो अधोलिखित है -

मण्डल महीपन को भूसित करनिहारी,
नखत समान बीच जैसे नखतेस है।
कौड़ी से करोरे गज बाजिन बकसि देत
भुज दण्ड ओज अति करत महेश है।
कहै लछिराम श्री महीप मणि-माधव सिंह,
दूजो नरनाह तोसौं पावत न पेस है।
डारे गिरि गजब गनीमन के सीस पर,
अजब लड़ाको ये अमेठी को नरेश है।।
(द्र. कविवर लाछीराम का जीवन चरित्र - पं. नकछेदी लाल तिवारी, पृ. 3)

राजा लाल माधव सिंह धार्मिक प्रवृत्ति के अतीव सहृदय-भावुक कवि थे। आप को संस्कृत और फारसी का भी सम्यक् ज्ञान था। आपके द्वारा अधिकांशत: पद्य रचनाएं की गयीं, जिनकी संख्या चौबीस बतायी जाती है, किन्तु गद्य-लेखन में भी आप निपुण थे।

'शिवसिंह-सरोज' (द्र. शिवसिंह सेंगर - सातवाँ संस्क, पृ. 97-99 लखनऊ) एवं 'मिश्रबन्धु विनोद' (द्र. मिश्रबंधु, पृ. 417) के लेखकों ने 'छितिपाल' द्वारा विरचित तीन ही ग्रंथों का उल्लेख किया है। शिवसिंह सेंगर ने लिखा है कि-इन महाराज के वंश में सदैव काव्य की चर्चा रही है। राजा माधव सिंह इस अवध प्रदेश में कवि-कोविदों की कदरदानी में बहुत ही गनीमत है। (द्र. शिवसिंह सरोज, पृ 446) मिश्रबन्धु के अनुसार माधव सिंह संगीत प्रेमी तथा सुकवि थे। इनकी इच्छानुसार सम्पूर्ण महाभारत का पद्यानुवाद संवत् 1930 में प्रकाशित हुआ।

डॉ. ग्रियर्सन ने अपने इतिहास में लिखा है - गोची अमेठी, जिलासुलतानुपर के राजा लाल माधव सिंह सन् 1883 ई. में जीवित। यह एक ऐसे वंश के थे जो सदैव विद्या का बड़ा संरक्षण रखते थे। यह भी वैसे ही हैं। (द्र. गढ़ अमेठी का इतिहास - डॉ. राधेश्याम तिवारी, पृ. 104) डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने उक्त कथन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है - ''माधव सिंह अमेठी के राजा थे। 'छितिपाल' इनका उपनाम था। अमेठी के पहले गोची लगा हुआ है, यह ग्रियर्सन प्रमाद का प्रमाण है। वह लिखना चाहते थे, बन्धल गोती। बन्धल लिखने या छपने से छूट गया है और गोती का गोची हो गया है।''

पाठकों तथा आलोचकों की यह जिज्ञासा है कि बाद के हिन्दी साहित्य के शीर्ष इतिहासकारों ने अपने इतिहास ग्रंथों में 'छितिपाल' के लेखन की चर्चा नहीं की है। मेरे विचार से उपर्युक्त तीन-चार इतिहास

लेखकों ने भी बेहद कामचलाऊ जानकारी दी है, इसके लिए वे सब उत्तरदायी नहीं हैं। लेखक या उसके वंशज यदि एतत्संबंधी जानकारी को सार्वजनिक नहीं करते, उसका अपेक्षित प्रचार-प्रसार नहीं हो पाता, तो उसकी स्थिति वेष्ठन या आलमारी में बन्द साहित्य की होती है। जो भी हो, इनकी लगभग तेईस रचनाएँ गिनाई गयी हैं। ये इस प्रकार हैं -

सीता स्वयंवर - गौरी, गणेश एवं गुरु के स्मरण पूर्व दोहा-चौपाई शैली में यह काव्य लिखा गया है। विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा, अहल्या-उद्धार के बाद राम-लक्ष्मण, गुरु के साथ जनकपुर पहुँचते हैं, जहाँ उनका हार्दिक स्वागत होता है। वाल्मीकि रामायण की भाँति यहाँ भी राम-लक्ष्मण आदि को स्वयंवर की पूर्व सूचना नहीं है। जनक की व्याकुलता देख कौशिक मुनि ने राम को धनुर्भङ्ग का आदेश दिया, धनुष के सहज ही टूटने पर परशुरामजी क्रोधित होते हैं, लक्ष्मण से उनका संवाद होता है और राम के विनय करने पर वे शांत होकर वन-प्रस्थान करते हैं। विश्वामित्र की आज्ञा से राजा जनक अयोध्या को यह शुभ समाचार भेजते हैं। सज-धजकर बारात जनकपुर आती है, चारों भाइयों का विवाह होता है, फिर कुछ दिन जनकपुर रहने के उपरान्त पुत्रों, पुत्र-वधुओं समेत राजा दशरथ सानन्द अयोध्या वापस आते हैं। भाव एवं कला की दृष्टि से रचना उत्तम है। लेखक ने रामचरितमानस की शैली में ही उसका पूर्ण प्रभाव या छाया ग्रहण करने का सफल प्रयास किया है। रचना मौलिक ही लगती है। कवि का विनय-निवेदन एवं रचनाकाल (सं. 1942 वि.) ग्रंथारंभ में दिया गया है -

काव्यभेद रसगुण कथन, बिबिध छंद की चाल।
सो एकौ जानैं नहीं, सत्य लिख्यौ क्षितिपाल।।
चरित ललित सियराम को, शुभ रहस्य किय गान।
पढ़ि सज्जन आदरहिंगे, मोर परिश्रम मान।।
राम सुवन शुचि विधि बदन, पुनि ग्रह शशि अनुकूल।
शुभ सम्बत बिक्रम नृपति, रच्योग्रन्थ सुखमूल ।।11।।

(सीता स्वयंम्बर, पृ. 1)

श्री रघुनाथ चरित - इसकी कथावस्तु का आधार वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, उत्तररामचरित तथा रामचरितमानस प्रतीत होता है। इसकी शैली 'मानस' जैसी ही सरस लगती है। ग्रंथारम्भ विन्ध्यवासिनी की स्तुति के साथ किया गया है :-

बन्दौं बिंध्य निवासिनी, चरण हरण सुखमूल।
वरणौं सीता राम यश, होहु मातु अनुकूल।।
कवित अर्थ जानौं नहीं, नहिं बल बुद्धि बिशाल।
करहु कृपा जन जानि निज, शरणागत क्षितिपाल।। (श्री रघुनाथ चरित, पृ. 23)

सीताहरण हो चुका है, राम-लक्ष्मण चिंतातुर स्फटिक शिला पर बैठे हैं। राम-सुग्रीव की मैत्री हो चुकी है। वानर-दल को जटायु के भाई संपाती ने बताया था कि सीता लंका में है, आप सब वहाँ जायें, खोजें, वे मिलेंगी। हनुमान लंका जाकर अशोक वाटिका में सीता को देखते हैं। उन्हें आश्वस्त करके, वाटिका-विध्वंस करते तथा चूड़ामणि लेकर वापस आकर राम से उनका कुशल निवेदित करते हैं। रामचन्द्रजी सेतु बन्धन कर ससैन्य लंका पहुँचते हैं। दूत के रूप में अंगद रावण को समझाने जाते हैं। निराश-असफल अंगद लौटते हैं। अधिक दिनों तक रावण-राम की सेना में युद्ध हुआ। रावण का सम्पूर्ण

विनाश हुआ, राम की विजय हुई। अहिरावण राम-लक्ष्मण का अपहरण करता है और पराक्रमी हनुमान द्वारा मारा जाता है। श्रीराम लंका का राज्य विभीषण को देकर ससैन्य अयोध्या आते हैं। गुरु के आदेश से राम का राज्याभिषेक होता है। कवि ने यह रचना दोहा, चौपाई, तोमर, छप्पै, त्रोटक, चँवरी, चामर आदिछंदों में की है। कवित्त्व कलात्मक उत्कर्ष से परिपूर्ण है-

भोग भार भाग भार भूमि भार धारिये।
दान मान सहित जहान प्रति पारिये।।
धन भार धर्म भार यशभार लीजिये।
रामचंद्र दुष्टन विदारि राज कीजिये।। (वहीं, पृ. 69)

लवकुश चरित प्रकाश - दोहा चौपाई-शैली में यह ग्रंथ मात्र तेरह पृष्ठों में लिखा गया है। गौरी, गणेश एवं गुरु वन्दना के साथ ग्रंथारंभ किया गया है -

श्री गुरु गणनायक सुमिरि, बहुरि गौरि पद कंजु।
लव कुश यश बरणन करों, बिमल मनोहर मंजु।।
(अथ लवकुश चरित प्रकाश पृ.71)

इसमें कवि द्वारा राम के सीता-परित्याग, अश्वमेध यज्ञ, लवकुश-वीरता एवं राम के सीता-स्वीकार संबंधी घटनाओं का दोहा-चौपाई शैली में नितान्त भावपूर्ण वर्णन किया गया है। अनेक सहायक कथाओं के वर्णन के साथ कवि वाल्मीकि की उपस्थिति में लवकुश एवं सीता का राम से भावल मिलन कराता है। राम भी उन सबसे मिलकर अतीव आनन्दित हुए -

तब मुनि सिया सहित दोउ भ्राता, मेले चरण राम सुख दाता।
मिलि सियसुत सोदर दोउ हरषे, सुर समूह कुसुमावलि बरषे।। (वही, पृ. 81-82)

काव्य के अन्त में यज्ञ की पूर्णता का वर्णन किया गया है। रामचन्द्रजी कुश को कुशावती तथा लव को अवन्तिका नगरी देकर प्रतिष्ठित करते हैं। ग्रंथ का रचनाकाल सं. 1942 वि. बताया गया है -

लवकुश समर चरित बर, पढ़हिं सुनहि जन जोय।
सुख सम्पति' 'छितिपाल' जग, अन्त मुक्ति लहै सोय।।
श्रुति युग अंक मयंक शुभ, सम्वत् शुचि-शुचि मास।
पूरन भो 'छितिपाल' कृत, लवकुश चरित प्रकास।। (वही, पृ. 83)

भक्ति रत्नाकर - कवित्त, दोहा, छप्पय तथा पद शैली में लिखा गया यह ग्रंथ वस्तुतः भक्तों के लिए अतीव आनन्दद है। इसमें नवधा भक्ति के प्रायः सारे स्वरूप एकत्र दिखायी देते हैं। कवि बहुदेववादी उपासना में गंभीर विश्वास रखता है, अतः राम, सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, राधा, कृष्ण, शिव, पार्वती, हनुमान आदि सभी की वन्दना करता है। भगवती बाला सुन्दरी के वे अद्‌भुत उपासक हैं। ग्रंथारम्भ गणनायक गणेश की वन्दना से किया गया है। इनके अनेक पद भाषा, भाव, वर्ण्य शैली आदि की दृष्टि से सूर जैसे लगते हैं। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

(1) धनि धनि श्री वृन्दावन धरनी।
धनि द्रुम लता ललित तृण खग मृग, धनि कुंजैं सुखभरनी।
धनि सुरभी बगरानि चहूँ दिशि, कामधेनु सत करनी।
धनि मण्डली गोप बालन की, धन्य केलि बहुबरनी।
धनि धनि चरण चिह्न अंकित दोउ, धनि इत उत पग परनी।
धनि क्षितिपाल कृष्ण राधा धनि, भक्ति देहुमय हरनी। (भक्ति रत्नाकर, पृ. 88)

(2) भीजत हरि राधा संग आवत।
वै हँसि गान करत मधुरे सुर, वै लै मुरलि बजावत।
वै लै ओट करत पीताम्बर, वै अंचलहिं ओढ़ावत।
यह अनुराग हरन दासन दुख, सोइ क्षितिपालहिं भावत।। (वही, पृ. 116)

कवि का आराध्य के प्रति ऐसा समर्पण, भाव की एवंविध ऋद्धि-समृद्धि सर्वथा सराहनीय है। इससे श्रेष्ठतर दृश्य, श्रवण एवं स्पर्श बिम्ब की कल्पना वस्तुतः अन्यत्र दुर्लभ होगी। चूँकि कवि पराकोटि का संगीतज्ञ है, अतः विविध राग-रागिनियों का वह आधिकारिक ज्ञाता भी है। उसका ये सारा वैशिष्ट्य और उपलब्धियाँ उसकी दीर्घकालिक साधना और अभ्यास की देन हैं। संगीत के ये प्रमुख राग हैं- राग कहरवा, राग भैरव ताल तिलवाड़ा, राग ललित, ताल तिलवाड़ा, राग भैरवी, अल्हैया ताल कतार खानी, ताल कौवाली, खेमटा, राग आसावरी, राग सारंग, राग काफी, रागधना, राग मुल्तानी, राग पीलू, राग गौरी, राग इमली, राग झझौटी, राग भूपाली, राग ईमन, राग गारा, राग तैलंग, राग खम्मार, राग देशताल, राग अल्हैया, जाजावंती, सोरठ, मलार आदि।

ग्रंथ के आदि और अंत में रचनाकार का नाम लिखा गया है। (अ- श्रीमन्महाराजाधिराज अमेठी देशाधिपति श्रीमान् श्री 108 माधवसिंह वर्म्म देव क्षितिपाल कविकृत-वही, पृ. 85 ; ब-इतिश्री भक्ति रत्नाकर श्री क्षितिपाल महाराज बहादुर अमेठी विरचितायां समाप्तम्। वही पृ. 116)। इसका रचनाकाल माघ सुदी पंचमी, दिन शनिवार संवत् 1943 वि. बताया गया है –

बहुरि बंदि पद पंकरुह, श्री बाले महरानि।
कह्यो भक्ति रत्नाकरहिं, जन क्षितिपाल बखानि।।1।।
संवत वनइस शत अपर, तेंतालिस अनुकूल।
माघ शुक्ल शुभ पंचिमी, शनिवार सुखमूल।।2।। (वही, पृ. 85)

निर्गुण सगुण-उपासना तथा भक्ति, ज्ञान, वैराग्य संबंधी पदों से यह रचना भरी पड़ी है। भक्ति-दर्शन, साहित्य-संगीत आदि की दृष्टि से यह रचना वस्तुतः स्तुत्य एवं महत्त्वपूर्ण है।

विज्ञान विलास - यह रचना भी 'छितिपाल' कृत भक्तिकाव्य है, जिसमें भारतीय निगमागम से प्रभावित कवि ने कर्म, उपासना एवं ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन तीन काण्डों में किया है। इसकी रचना 1939 वि. में हुई है-

श्री संवत् उन्नैस सै, उनतालिस शुभ जानि।
अगहन शुक्ला पंचमी, भृगु वासन, सुख खानि।।

सामान्य सांसारिक जीवों को भव-बाधा से बचाने हेतु कवि ने इस रचना का प्रणयन किया है। इसके उपायों में ज्ञान के नाना साधनों को तर्क संगत ढंग से प्रस्तुत किया गया है। ये साधन शास्त्र-सम्मत हैं।

कवि ने रचना का प्रयोजन इन शब्दों में निरूपित किया है –

जामें जुक्ति विशाल नाम ज्ञान साधन सुलभ।
निर्मित कवि 'छितिपाल' शास्त्र विहित वर्णन कर्‌यो।।
जो पदि करहिं विचारि, उपजहि बुद्धि विशालिनी।
उतरहिं भव निधि पार, अवस होहि जगदम्ब प्रिय।

कर्मकांड के अन्तर्गत कवि ने बताया है कि अनेक पुनीत कर्त्तव्यों के निर्वहन से सुपथगामी जीव सद्‌मानव की श्रेणी में आ सकता है। अनेक पौराणिक एवं काल्पनिक घटनाओं के माध्यम से उसने मनुष्य को शांति, अहिंसा एवं भक्ति की ओर उन्मुख किया है। पार्वती की उपासना में कवि ने अनेक छंदों की रचना की है। यथास्थान उसने भारत के अनेक पौराणिक स्थलों के महत्त्व का भी प्रतिपादन किया है, जैसे भृगु मुनिधाम, पुष्कर, गोकरन तीर्थ, हिंगलाज, मगध के तारकेश्वर, चित्रकूट, प्रयाग, काशी, मार्कण्डेय, शिवाश्रम तथा केदारनाथ आदि। बीच-बीच में मनुष्य को सद्धर्भ एवं सत्कर्म की ओर प्रेरित करते हुए उसे सत्संग का महत्त्व समझाया है। उपासना काण्ड का आरंभ जगदम्बा की स्तुति से हुआ है। इस काण्ड पर 'दुर्गा सप्तशती' का विशेष प्रभाव है। यहीं कवि ने माया और ईर्ष्या को जीव के सांसारिक दु:खों का मूल कारण बताया है –

माया तरल तरंगिनी, इरखा लहरि अपार।
जीव बटो ही बावरो, केहि बिधि पावै पार।।
केहि विधि पावै पार, धार अति जोर जनावै।
ममता सघन सेवांर, सुरभि फिरि फिरि अरुझावै।।

नाना प्रकार के लौकिक, पारलौकिक, पौराणिक, दार्शनिक, संदर्भो एवं विविध कहानियों के माध्यम से कवि ने उपासना के विस्तृत स्वरूप का अतीव आकर्षक एवं भावपूर्ण चित्रण किया है।

वैराग्य प्रकाश – 'छितिपाल' द्वारा रचित वैराग्य प्रकाश, सज्जन विलास एवं भजन प्रदीप नामक रचनाएँ एक ही जिल्द में संकलित हैं। कवि का मानना है कि संसारी जीव मोहान्धकार एवं अनेकविध जड़ताग्रस्त होकर लौकिक कष्ट झेल रहा है। संभव है, उसके इन संदेश-उपदेशों से कुछ का कल्याण-मार्ग प्रशस्त हो जाय। इनकी भूमिका में वह अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए लिखता है –'' धन्य है उन विद्याविलासियों और ज्ञानाध्यक्ष पुरुषों को कि जो इस कराल कलिकाल में सर्व विषयादि फंदों से निर्द्वन्द्व होकर परमेश्वर गुण-कीर्तन व अपने धर्म कर्ममार्गारुढ़ हैं क्योंकि यह युग व्यवहार दुराचार अवलोकन से ऐसा विदित होता है कि अच्छे-अच्छे सज्जन विद्वान् सत्मार्ग के चलने वाले भी काम क्रोध मोह में अंध ह्वै रहे हैं, उन मूर्खो दुराचारियों की कौन चलावै कि जिनके सत्मार्गावलोकन के लिए चक्षु ही नहीं और युग ऐसा प्रवृत्त हो रहा है कि कुछ पुण्य धर्म कर्म योग भजन बन ही नहीं पड़ता तो किस तरह इस संसार सागर से निस्तार होगा..... । (भूमिका, वैराग्य प्रकाश आदि) स्पष्ट है कि अपनी इसी चिन्ता के निवारण एवं सात्विक कथनी, करनी एवं रहनी द्वारा व्यापक लोकमंगल ही कवि का अभीष्ट है। जब तक जीव साधना-मार्ग की बाधाओं - काम, क्रोध, मद, लोभ एवं जगद्विषादि से नहीं छूटेगा, तब तक वह ज्ञान-भक्ति, विवेक-वैराग्य तथा मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकेगा। अत: इन ग्रंथों की रचना विविध रागों एवं छन्दों में की गयी है।

गौरी-गणेश की वन्दना से कवि इस ग्रंथ का आरंभ करता है, जिसका रचनाकाल भादौं बदी अष्टमी दिन रविवार संवत् 1943 वि. बताया गया है। इसके पूर्व ही कवि अपने नाम एवं धाम का भी उल्लेख करता है –

दिनकर कुल कछवाह सो, बाँधल गोत्र सुवेश।
तेहि कुल कवि क्षितिपालभो, माधव सिंह नरेश।।
अवध जुहनुजा मध्य सो, रजधानी सुख धाम।
सुभग देश पावन परम, ललित अमेठी नाम।।
संवत उनइस सै सुखद, तापर तैंतालीस।
मादौं कृष्णा अष्टमी, सुभग वार दिन ईस।। (वैराग्य प्रकाश, पृ. 1)

सज्जन विलास – इस ग्रंथ के आरंभ में रचनाकार का नाम एवं अति संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया गया है ''महाराजाधिराज महाराज श्री 5 जगदीश्वरी कृपापात्राधिकारी अमेठी देशाधिपति ''क्षितिपाल'' श्री 108 माधव सिंह देव निर्मित श्री सज्जन विलास ग्रंथ प्रारम्भ (सज्जन विलास पृ. 63)। गौरी, गणेश, महेश, विष्णु एवं सूर्य आदि देवों की एक छंद में वन्दना की गयी है, इसके बाद कवि-परिचय पारम्परिक ढंग से दिया गया है –

विदित देश देशांत में, रजधानी सुखधाम।
सुरसरि सरयू मध्य सो, सुभग अमेठी नाम।।
कूर्मवंश अवतंशभो, बाँधल गोत्र प्रसिद्धि।
कृपापात्र जगदम्ब को, सब विधि धर्म्म सनिद्धि।
तेहि कुल विमलसुनीत रत, भये अमित महिपाल।
जिनके यश बरणन करत, बढ़हिं ग्रंथ शुभ माल।।
तहं क्षितिपाल सुबाल मति, माधव सिंह नरेश।
बिरच्यो स्वजन विलास यह, भाषा सरल सुवेश।।
श्रवण वेद ग्रह चंद शुभ, सम्बत सुठि अनुकूल।
सितपंचमि बैशाख में, रच्यो ग्रंथ सुखमूल।। (वही, पृ. 63-64)

इस ग्रंथ के आरंभ में वन्दना छप्पय छंद में है, शेष पूरी रचना में दोहा, चौपाई एवं सोरठा का प्रयोग किया गया है।

भजन प्रदीप की रचना पद शैली में की गयी है। वर्ण्य-विषय भक्ति, दर्शन एवं अध्यात्म के ही हैं। विविध देवी-देवों की स्तुति, काशी वास की महिमा, सद्धर्म-कर्म की प्रेरणा इन रचनाओं का मूल है। भजन प्रदीप में कुल 67 पद संगृहीत हैं। रचना के आदि-अंत में रचनाकार का नाम दिया गया है। अंत में एक भक्ति-भावपूर्ण छप्पय छंद में देवी दुर्गा के प्रति कवि ने अपनी प्रणति अर्पित की है –

प्रबल प्रचंड बरबंड महिषासुर को, सयन समेति पल एक में बिदारी तू।
शुम्भऊ निशुम्भ रक्तबीज चण्ड-मुण्ड हति, करिके पुकार धूम्रलोचन को जारी तू।
कीनीहै सनाथ जो अनाथ हुते देववृन्द, कीरति दयालुता दिगंतन पसारी तू।
विरद संभारी सदा दास हितकारी मैया, जन छितिपाला पाहि शरण पुकारी तू।।
(भजन प्रदीप, पृ. 67)

राग प्रकाश – यह 'छितिपाल' रचित एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि कवि की संगीत में विशेष अभिरुचि है। इसके 434 छंद 434 विविध रागों में अतीव आकर्षक एवं

पाण्डित्यपूर्ण ढंग से चित्रित किये गये हैं। इन छन्दों एवं रागों में राम, कृष्ण एवं शिव विषयक वन्दना तथा भक्ति-नीति संबंधी सरस पदों की रचना की गयी है।

मनोज लतिका - इसमें कवित्त, सवैया आदि छंदों में नायिका-भेद और षड्ऋतु वर्णन बड़ी सुन्दरता से किया गया है। इसमें भाषा एवं भाव की निराली प्रस्तुति सर्वत्र दीखती है। इसके छंदों में अद्भुत अनुप्रासंगिकता दिखायी देती है। उदाहरणार्थ बसन्त ऋतु का एक मनोरमचित्र द्रष्टव्य है -

कूकि उठी कोकिलानि, गूँजि उठी भौंर भीर,
डोलि उठे सौरभ समीर सर सावने।
फूलि उठी लतिका आँगन की लोनी-लोनी,
झूलि उठीं डालियाँ कदम्ब सुख पावने।
चहकि चकोर उठे कीर करि सोर उठे,
टेरि उठीं सारिका विनोद उपजावने।
चटकि गुलाब अरु लटकि सरोज पुंज,
खटकि मराल ऋतुराज सुनि आवने।।

देवी चरित्र सरोज - उक्त ग्रंथ में कवि ने देवी की स्तुति में अनेक भावपूर्ण पद लिखे हैं। एतद्विषयक उनका एक मनोरम छप्पय प्रस्तुत है -

बूड़त अथाह भव सिन्धु के तरैया, मनमोद सरसैया अवलम्ब की देवैया तू।
सोक की हरैया सुखपुंज की भरैया, अघ ओघ बिनसैया दसा दाहन दरैया तू।
छितिपाल पालि जग कीरति करैया, भवबाधन हरैया पुंज पातक जरैया तू।
सुनत दोहैया नाहिं बिलम करैया होति, तुरत सहैया मैया बानि की निकैया तू।।

त्रिदीप - कवि के इस ग्रंथ में भर्तृहरि के तीन शतकों - नीति, श्रृंगार एवं वैराग्य का भाषानुवाद प्रस्तुत किया गया है। यह रचना छन्दबद्ध है। ग्रंथ के आरंभ में कवि ने गणेश की वन्दना की है -

श्री गणपति गुण दीप, सुमिरि करत रचना रुचिर।
माधव सिंह महीप, अमल अमेठी नगरपति।।

भगवती विजय - यह ग्रंथ मारकण्डेय पुराणान्तर्गत 'दुर्गा सप्तशती' का दोहा-चौपाई शैली में भावानुवाद है। इसका रचनाकाल सं. 1941 वि. है।

मोक्षचिन्तामणि - यह कविवर छितिपाल की एक गद्य कृति है जिसकी भाषा खड़ीबोली है। इसके पूर्व उनके द्वारा लिखे गये गद्य संस्कृतगर्भित अवधी में हैं। खड़ीबोली से प्रभावित कवि ने जीवन के अंतिम क्षणों में इस ग्रंथ की रचना की है। इसकी भूमिका में लेखक ने इसके मूल उद्देश्य पर स्वयं प्रकाश डाला है - "इस संसार में कोई ऐसा जीवन होगा जो मोक्ष अर्थात् सब सुखों से पूर्ण सुख को न चाहता हो और उसका साधन भी श्रुति, स्मृति, पुराणादि में नाना प्रकार से वर्णित है परन्तु सकल जन की ऐसी बुद्धि नहीं है कि वे अपनी बुद्धि से परस्पर निरुद्ध वाक्यों का तात्पर्य अर्थात् निर्णय कर सकें। इस हेतु मैंने जो कुछ महात्माओं से सुना और ग्रंथों में देखा और यथामति युक्तियों से निर्णय किया उसे सकल जन के उपकारार्थ प्रकाशित करता हूँ (मोक्षचिन्तामणि-भूमिका)।

कामोद्दीपन कौमुदी - यह पुस्तक लघु आकार की लगभग 6'x4' की लम्बाई-चौड़ाई और बीस-पचीस पन्ने में होगी। संस्कृत भाषा में श्लोकबद्ध यह वैद्यक ग्रंथ है, जिसका वर्ण्य-विषय नामानुरूप कामवर्द्धक-स्तम्भक आयुर्वेदिक औषधियों से परिचय कराना है।

इनके अतिरिक्त अनुराग चन्द्रिका, दोहा शतक, सोरठा शतक, कुण्डलिया शतक, षट् पदावली, पंचाष्टक, सुरसदीप मोक्ष दिवाकर एवं ब्रह्मज्ञान निरूपण आदि इनकी अन्य रचनायें हैं। इनके जीवन का अन्तिम दशक लगभग आधुनिक काल की सीमा में आता है और आरंभिक तीस-पैंतीस वर्ष रीतिकाल में, फिर भी अपनी रुचि एवं संस्कार के अनुसार उनकी रचनाओं में ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सदाचार, नैतिकता, तथा आदर्श जीवन-शैली की ही प्रधानता है। अपनी साहित्य-निष्ठा के कारण राजा गुरुदत्त सिंह 'भूपति' रचित 'रस रत्नाकर' तथा अन्य अनेक ग्रंथों का आपने संपादन कराया। महाभारत का पद्यानुवाद भी नवल किशोर प्रेस से छपाया था।

राजा लाल माधव सिंह जी नि:स्तान थे, अत: इन्होंने अपने ही वंश के अमये माफी गाँव के बाबू शिवदर्शनसिंह के तेजस्वी एवं प्रतिभावान पुत्र श्री भगवान बख्श सिंह जी को अपना उत्तराधिकारी बनाया। इसके बाद 24 अगस्त 1891 ई. में आपका देहान्त हो गया। छितिपाल का व्यक्तित्त्व नितान्त प्रभास्वर था। अपने अनेक सत्कृत्यों के नाते वे वस्तुत: प्रजावन्द्य नरेश हुए। उनकी वीरता, विद्वता, नीतिज्ञता, कूटनीतिक चातुर्य एवं सदाशयता के नाते जनता उनसे सदैव सन्तुष्ट रहती थी। अमेठी राजवंश का सचमुच यह अनूठा व्यक्तित्व था। यदि उन्हें तद्‌युगीन अवध-नरेशों की मणिमाला का 'सुमेरु' कहा जाय, तो अतिशयोक्ति न होगी।

औरंगजेब के अत्याचारों से पीड़ित होकर शाहजहाँ ने यह सवैया लिखा -

''जन्मत ही लखदान दियो अरु नाम रख्यौ नवरंग बिहारी,
बालहिं सों प्रतिपाल कियो अरु देस-मुलुक्क दियो दल भारी।
सो सुत वैर बुझै मन में धरि हाथ दियो बँधसार में डारी,
शाहजहाँ विनवै हरि सों बलि राजिवनैन रजाय तिहारी।।''

(रामधारीसिंह 'दिनकर'-संस्कृति के चार अध्याय, पृ0 291)

पंजाब के सिख-शासकों का हिंदी-प्रेम

डॉ. किरन पाल सिंह

उत्तर भारत में सभी मानव-समुदायों ने हिंदी को सदियों से अपने आचार-विचार की भाषा के रूप में अपनाया हुआ है। इतिहास के पन्नों पर यह भी अंकित है कि सिख-समुदाय भी इससे विमुख नहीं रहा। यद्यपि सिखों ने पंजाबी भाषा को अपनाया हुआ है जिसकी अपनी अलग लिपि है - गुरुमुखी, तथापि उनका हिंदी-प्रेम आज भी कम नहीं हुआ है। आज भी सिख देश की प्रमुख भाषा हिंदी की मुख्यधारा से जुड़े हुए हैं। डॉ. सेवासिंह, डॉ. हरिभजन सिंह, डॉ. रत्नसिंह जग्गी, डॉ. जसवंत सिंह, डॉ. महीप सिंह, डॉ. जगदीश सिंह, श्रीमती सेवासिंह, श्रीमती गुरुशरण जग्गी, श्री नानकसिंह, श्री जसदेव सिंह, श्री रजिन्दर सिंह बेदी आदि अनेक ऐसे विद्वान् हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। सरदार अध्यापक पूर्णसिंह को कौन नहीं जानता जिन्होंने केवल छः निबंध - सच्ची वीरता, आचरण की सभ्यता, मजदूरी और प्रेम, कन्यादान, पवित्रता, अमेरिका का मस्त योगी-वाल्ट हिट्मैन लिखकर ही हिंदी जगत् में एक उच्च स्थान पा लिया।

हिंदी-सेवी सिख-शासकों का वर्णन करने से पूर्व सिख-गुरुओं के विषय में यहाँ कुछ कहना अधिक युक्ति संगत होगा, क्योंकि पूरा सिख-धर्म और सिख-समाज सिख-गुरुओं के जीवन-दर्शन पर ही टिका हुआ है। वास्तव में सिखों का इतिहास गुरु नानकदेव से शुरू होता है। वे सिखों के आदिगुरु और सिख-सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। वे कबीर की ही भाँति निर्गुण संत-कवि थे। उन्होंने पंजाबी के साथ-साथ ब्रजभाषा और खड़ीबोली हिंदी में कविताएँ कीं और उपदेश दिए। वे विलक्षण व्यक्तित्व के स्वामी थे। डॉ. रत्नसिंह जग्गी के अनुसार -''गुरु नानक का व्यक्तित्व एक अद्‌भुत व्यक्तित्व था। वे नबी भी थे और लोक नायक भी, वे साधक भी और उपदेशक भी, वे कवि भी थे और (परमात्मा के) भाट भी, वे गायक भी थे और पर्यटक भी। उनकी साधना में अपार शक्ति थी।'' (द्र. डॉ. रत्नसिंह जग्गी : संपा - गुरुनानक रचनावली की भूमिका से) गुरु नानकदेव के पश्चात् सिख-धर्म की गद्दी संभालनेवाले लगभग सभी गुरुओं ने हिंदी को अपनी कविता के रूप में अपनाया। केवल इतना ही नहीं -''पंजाब में हिन्दी-काव्य को प्रचारित एवं हिन्दी-कवियों को प्रोत्साहित करने का श्रेय, मुख्यतः सिख-गुरुओं को ही है। उन्होंने स्वयं ब्रजभाषा को अपनी वाणी का माध्यम बनाया, पंजाब-बाह्य पूर्वकालीन भक्त कवियों की हिन्दी रचनाओं का प्रचार पंजाब में किया, पंजाब-बाह्य तत्कालीन हिन्दी कवियों को अपने दरबार में आश्रय दिया तथा अपने प्रतिभा-सम्पन्न पंजाबी शिष्य 'भाई गुरुदास' को हिन्दी में काव्य रचना करने के लिए प्रोत्साहन दिया।'' (द्र. डॉ. हरिभजन सिंह : गुरुमुखी लिपि में हिन्दी-काव्य-प्राक्कथन, पृ. 4) सभी सिख-गुरुओं की कविताएँ 'गुरुग्रन्थ साहिब' में संगृहीत हैं।

सिखों के दसवें और अन्तिम गुरु, गुरु गोविन्दसिंह एक महान् योद्धा तथा हिन्दू-संस्कृति के रक्षक होने के साथ-साथ उच्चकोटि के कवि और बड़े ज्ञानी व्यक्ति थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें उचित सम्मान देते हुए लिखा है-''उनमें कवि की संवेदना, सहृदय की ग्रहणशीलता, वीर का उत्साह और संत की अनाविल दृष्टि का अद्‌भुत मेल है।'' (द्र. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़ की 'परिशोध' पत्रिका के गुरु गोविन्दसिंह विशेषांक, जनवरी 1967 के सम्पादकीय से) गुरु

गोविन्दसिंह अनेक कवियों के आश्रयदाता थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना करवाई। उनकी स्वयं की रचनाएँ 'दशमग्रन्थ' में संगृहीत हैं, जो पंजाब के हिंदी-साहित्य की एक विशेष धरोहर है। गुरु गोविन्दसिंह के इस ग्रन्थ में अधिसंख्य रचनाएँ हिंदी में हैं। उन्होंने हिंदी, पंजाबी और फ़ारसी में कविताएँ रचीं, पर उनका हिंदी कवित्त सर्वोपरि है जैसा कि डॉ. महीपसिंह ने अपने शोधग्रन्थ की भूमिका में लिखा है-''गुरु गोविन्दजी हिन्दी (ब्रज), पंजाबी और फारसी भाषाओं पर समान अधिकार रखते थे। उन्होंने इन तीनों ही भाषाओं में साहित्य-रचना भी की, परन्तु हिन्दी में किया हुआ उनका सृजन-कार्य गुण एवं परिमाण की दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखता है। ''(द्र. डॉ. महीपसिंह: गुरु गोविन्दसिंह और उनकी हिन्दी कविता-आमुख से)

कथनीय है कि इन सब बातों का प्रभाव धर्म-परायण सिख-सम्प्रदाय पर पड़ा और संप्रभुवर्ग-सिख शासक तथा जाग़ीरंदार भी इनसे अछूते नहीं रहे। स्वातंत्र्यपूर्व पंजाब में छोटी-बड़ी अनेक रियासतें थीं जिनमें पटियाला, नाभा, कपूरथला और जींद प्रमुख थीं। इनके शासकों के हिंदी-प्रेम का आकलन कर डॉ. शिवराज वर्मा ने अपने शोधग्रंथ 'हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में विकास' के पृष्ठ 103 पर लिखा है - ''हिन्दी के बहुत से कवियों को पटियाला, नाभा, जींद, कपूरथला रियासतों के सिख-नरेशों ने प्रश्रय दिया। इनके दरबारों में हिन्दी फली फूली।'' वस्तुत: ये शासक स्वयं तो हिंदी में कविता करते ही थे साथ ही अपने दरबार में अनेक हिंदी कवियों को आश्रय भी देते थे जिससे हिंदी का प्रचार-प्रसार स्वत: ही हो जाता था। ऐसे हिंदी-सेवी सिख-नरेशों में से कुछ का संक्षेप में परिचय देना यहाँ विषयानुकूल अनिवार्य हो जाता है, जो यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है -

पटियाला राज्य :- पंजाब क्षेत्र में पटियाला रियासत का विशेष स्थान रहा है। इस रियासत के संस्थापक थे राजा आला सिंह (सन् 1691-1765) जो सन् 1714 में सिंहासनारूढ़ हुए और सन् 1764 में पटियाला नगर की नींव रखी। तब से लेकर देश स्वतंत्र होने तक इस राज्य के आठ शासक हुए जो इस प्रकार हैं -

राजा आला सिंह (सन् 1691-1765), महाराजा अमर सिंह (सन् 1765-1782),
महाराजा साहब सिंह (सन् 1782-1813), महाराजा कर्म सिंह (सन् 1813-1845),
महाराज नरेन्द्र सिंह (सन् 1845-1862), महाराजा महेन्द्र सिंह (सन् 1862-1876),
महाराजा राजेन्द्र सिंह (सन् 1872-1900), महराजा भूपेन्द्र सिंह (सन् 1900-1938),
महाराजा यादवेन्द्र सिंह (सन् 1938-1948), तक शासन काल।

इन सब में महाराजा नरेन्द्र सिंह एवं महाराजा राजेन्द्र सिंह ही ऐसे थे जो हिंदी में कविता करते थे। यद्यपि वे सभी हिंदी-प्रेमी थे और महाराज कर्मसिंह के शासनकाल तक राज्य के कार्यो में भी हिंदी का प्रयोग होता था जैसा कि मालवा रिसर्च सेंटर पटियाला के निदेशक डॉ. भगवंत सिंह द्वारा प्रदत्त 'पटियाला ; स्थापना से विलय तक' के पृष्ठ 16 पर दर्शाया गया है -''इस काल की अन्य उपलब्धियों में प्रशासनिक सुधार प्रमुख हैं। यह कार्य सन् 1820 में अवध से विशेषरूप से प्राप्त सैय्यद बरकत अली खाँ की सेवाओं से ही सम्भव हो पाया। सेवा की व्यवस्थाओं में भी सुधार हुआ। राज्य की राजस्व आय 'तोशाखाना' में जमा की जाने लगी। अब रानियां पर्दे में रहने लगीं। हिन्दी का स्थान फारसी ने ले लिया और पहली बार मौखिक आदेशों के स्थान पर 'फाईलों' का प्रचलन हुआ। सभी इकरारनामों के लिए पक्के कागज का प्रचलन शुरू हुआ। सरकारी मुहर भी अधिकारी विशेष के सुपुर्द की गई।'' इससे यह सिद्ध होता है महाराजा कर्मसिंह के शासनकाल तक हिंदी राज्य की प्रमुख भाषा रही।

ध्यातव्य है कि महाराजा कर्मसिंह हिंदी विद्वानों का आदर-सत्कार करते थे और उनके राज्य में विद्वानों को आश्रय प्राप्त था। संस्कृत के विद्वान् और भाषा कवि चंद्रशेखर वाजपेयी (संवत्

1855-1932) महाराजा के आश्रित कवि होने के साथ ही उनके गुरु भी थे। द्रष्टव्य है तद्विषयक निम्न पद जो इस बात की पुष्टि करता है -

''शेखर गुरु के चारु चरन सरोजन को,
प्रेम मकरंद ताको रसिक रसाल भो।
काल रिपुगन को कराल द्विज दोषिन को,
भालबली वीर कर्मसिंह महिपाल भो।।''
(द्र. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास : संपा. डॉ. नगेन्द्र, षष्ठ भाग, सं. 2015 पृ. 416)

महाराजा नरेन्द्र सिंह (शासनकाल सन् 1845-1862) :- इनका जन्म नवम्बर 1824 को हुआ था। पिता महाराजा कर्मसिंह के देहावसान के बाद सन् 1845 में ये पटियाला के राज सिंहासन पर विराजमान हुए। इन्होंने केवल 38 वर्ष की आयु पाई थी और 17 वर्ष शासन करने के उपरांत सन् 1862 में इनका निधन हो गया। पंजाबी, उर्दू, फारसी, हिंदी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे तथा हिंदी कविता में विशेष रुचि थी इन्हें। अनेक विद्वान् इनके दरबार में रहते थे जिनमें प्रमुख थे प्रसिद्ध संस्कृतविद् और हिंदी कवि पं. चंद्रशेखर वाजपेयी। वाजपेयीजी महाराजा के पिता महाराजा कर्मसिंह के गुरु थे और उन्हीं की संगत में नरेन्द्रसिंहजी ने काव्य-रचना करनी सीखी। इन्हीं के अनुरोध तथा प्रोत्साहन पर कवि चंद्रशेखर ने श्रृंगाररस के नायिकाभेद 'रसिक विनोद' ग्रंथ की रचना की थी जो कि निम्न दोहों से स्पष्ट भी हो रहा है -

''तब शेखर मन में कह्यो, महाराज के हेत।
ग्रंथ नायिकाभेद को, रचिए रसनि समेत।।
कृपा नरेन्द्र मृगेस की, उरनभ उयो दिनेस।
तब ते सेखर चित जलज, प्रफुल्लित रहत हमेश।।
बरनत नवरस रीत सौं, लक्षण लक्ष समेत।
कृपासिंधु सब सुकविजन, लैहैं सोचि सहेत।।''(द्र. वही, पृ. 416)

इस ग्रंथ में श्रृंगार के संयोग-वियोग सहित वीर रस आदि सभी रसों का परिपाक है। महाराजा नरेन्द्रसिंह के युद्ध-कौशल का बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है कवि ने अपने इस कवित्त में - देखिए -

''बाजिन के ठट्ट और गरट्ट गजराजन के,
गाजत तराजत सुभट्ट सरसेत मैं।
बज्जत निसान आसमान मैं गरद छाई,
बोलत बिरद्द हद्द बंदी बीर खेत मैं।
इंद्र ज्यौं उमंडि चढ़ो सेखर नरेंद्र सिंह,
अंगन उमंग बढ़ी समर सचेत मैं।
लाली चढ़ी बदन बहाली चढ़ी वाहन पै,
काली सी कराली करवाली हथलेत मैं।'' (द्र. वही, पृ. 418)

कवियों के आश्रयदाता तो थे ही ये महाराजा, इन्होंने स्वयं भी कुछ अच्छे हिंदी पदों की रचना की है। केवल दो ही पद प्राप्त हुए हैं नरेन्द्रसिंहजी के, जो यहाँ निम्नवत् दर्शनीय हैं -

''सुन नीको न नेहु लगावनो है,
फिर जो पै लगै तो निबाहनो है।
अति औखी है प्रीत की रीति सखी,
नहीं जोश को रोस सुहावनो है।
चल चन्द्रमुखी ब्रजचन्द मिलौ,
तुम को हमैं का समुझावनो है।
दिन चार को रूप या पाहुनो है,
फिर तो पै रहैगो उराहुनो है।।''

(द्र. श्री शमशेर सिंह 'अशोक' का निबंध - पंजाब के कुछ राजाओं तथा रईसों की कविता, पंचवटी संदेश 1981, देहरादून)

इनका दूसरा पद भी द्रष्टव्य है -

''चंदन की चरचा न रही, न रही अरी आड़ जो भाल दई ही।
मोतिन की लरकी लर है, दरकी अँगिया पहिरी जू नई ही।
छींकत हा पठई जु हुती, सु तो तैं न सुनी, सुनी हौं ही लई ही।
आयो न आयो, बलाय ल्यों तेरी, तू काहे लरी, लरिबे को गई ही ?''
(द्र. शिवसिंह सरोज : संपा. डॉ. किशोरीलाल गुप्त, प्र.सं. 1970, पृ. 290)

महाराजा राजेन्द्र सिंह (शासनकाल 1876-1900) :- महाराजा राजेन्द्रसिंह का जन्म 25 मई सन् 1872 को हुआ था। इनके पिता थे महाराजा महेन्द्र सिंह (1852-1876) जो केवल 24 वर्ष की आयु में ही स्वर्ग सिधार गए थे। अत: जब ये चार वर्ष के थे तभी इन्हें राजा घोषित कर दिया गया, लेकिन ब्रिटिश सरकार द्वारा सरदार देवासिंह की अध्यक्षता में गठित तीन सदस्यीय समिति के संरक्षण में राजकार्य चलता रहा। सन् 1890 में वयस्क होने पर पूरे राजसी ठाट-बाट के साथ एक भव्य समारोह में, इनके हाथ में राज्य की बागड़ोर सौंप दी गई। पर दुर्भाय से ये केवल दस वर्ष ही राज-सिंहासन पर बैठ सके, और 28 वर्ष की आयु में 8 नवंबर सन् 1900 में इनका घुड़सवारी की दुर्घटना में निधन हो गया।

महाराजा राजेन्द्र सिंह ने अपने शासनकाल में प्रजा की भलाई के लिए अनेक कार्य किए। डॉ. भगवंत सिंह के अनुसार-''महाराज ने निर्माण कार्यो की परम्परा को जारी रखते हुए सरहिन्द नहर की खुदाई के कार्य को पूरा करवाया। पूर्वी यमुना नहर की सरसा शाखा के निर्माण हेतु महाराजा ने 15 लाख की राशि प्रदान की। राजपुरा से बटिंडा तक रेलमार्ग के लिए भी महाराजा ने 70 लाख रुपये व्यय किए। राजेन्द्र हस्पताल तथा लेडी डफरिन हस्पताल का निर्माण भी महाराजा ने करवाया। अपने निवास हेतु महाराजा ने 'बारहदरी गार्डन' में 'बारहदरी पैलेस' का निर्माण भी करवाया।'' (द्र. डॉ. भगवंत सिंह : पटियाला : स्थापना से विलय तक की दास्तान)

एक अच्छे शासक में जो गुण होने चाहिए वे महाराजा राजेन्द्र सिंह में थे। वे वीर योद्धा थे, सैन्य-संचालन में निपुण, एक अच्छे खिलाड़ी थे - पोलो, क्रिकेट, हॉकी, बिलियर्ड और घुड़सवारी में निपुण तथा थे एक कुशल प्रशासक। संगीतज्ञ, कलाकारों तथा कवि-विद्वानों को बहुत सम्मान देते थे। वे स्वयं भी कविता किया करते थे। अनेक कविताएँ लिखी थीं उन्होंने, परंतु बहुत खोजने पर केवल एक कविता ही प्राप्त हो सकी, जो पाठकों के अवलोकनार्थ प्रस्तुत है -

''कोई दम याद करोगे, हम तो रमते फकीर।
न कोई अपना नहीं बेगाना जग सो रहा न सीर।
हाथ में सोंटा बगल में कूंड़ी, घोटेंगे जमुना के तीर।
दो भाइयों में खूब बनी थी, रह जाएगा रणवीर।।''
(द्र. डॉ. किरन पाल सिंह : गरिमामयी राजभाषा हिन्दी, पृ. 125)

नाभा राज्य :- नाभा रियासत के शासक भी हिंदी-प्रेमी-हिंदी-सेवी रहे। यद्यपि राज्य की आधिकारिक भाषा पंजाबी थी परंतु राज दरबार में हिंदी कवियों को आदर-सम्मान तथा प्रोत्साहन दिया जाता था। इन्हीं कवियों के सानिध्य से राज-पुरुष भी हिंदी पद-रचना करने लगते थे। इन्हीं हिंदी रचनाकारों में एक नाम आदर के साथ लिया जाता है - महाराजा रिपुदमन सिंह का।

महाराजा रिपुदमन सिंह (सन् 1882 - 1942) :- नाभा-नरेश महाराजा रिपुदमन सिंह का जन्म संवत् 1939 को हुआ था। इनके पिता थे महाराजा हीरा सिंह। इन्होंने गुरुवाणी और काव्य की शिक्षा भाई कान्हसिंह से प्राप्त की थी जो नाभा रियासत के न्यायविद् - प्रशासक थे और साथ ही ब्रजभाषा के कुशल कवि भी। रिपुदमन सिंह यद्यपि सन् 1912 में राजगद्दी पर बैठे परंतु इससे पूर्व ही वे सन् 1906 से सन् 1908 तक वायसराय की काउंसिल के सदस्य भी रह चुके थे, जो उन दिनों बड़ी ही प्रतिष्ठा की बात होती थी। ये दबंग प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और पक्के देशभक्त। अँग्रेजी सरकार से इनका मन कभी मिला नहीं। इन्होंने हमेशा सरकार के विरोध में जाकर कांग्रेसी नेताओं का साथ दिया। परिणामत: अंग्रेज हुक्मरानों ने इन्हें सन् 1923 में राजगद्दी से उतारकर पंजाब से निष्कासित कर दिया। पहले कुछ दिन देहरादून रखा तत्पश्चात् कोडाई-कनाल भेज दिए गए और वहीं सन् 1942 में इनका देहांत हो गया।

राजा रिपुदमन सिंह 'रिपुनाशक हरि' उपनाम से कविता किया करते थे। इनकी अधिकांश कविताएँ अप्राप्य ही रहीं। केवल एक पद ही उपलब्ध हो सका है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये भक्तिपरक रचनाएँ किया करते थे। अवलोकनीय है निम्न पद -

''जाहि को अन्त न किन हूं पावा।
ब्रह्मा सनकादिक ने जाको नेति नेति कह गावा।
शंकर, शेष, सुरेश सफल ने इक चित है जिह ध्यावा।
'रिपुनाशक हरि' वारि कलि में, सो तनु धरि प्रकटावा।।'' (वही, पृ. 126)

कपूरथला राज्य : राजा फतेसिंह अहलूवालिया (शासनकाल सन् 1802-1837) :- राजा फतेसिंह अहलूवालिया सन् 1802 में कपूरथला रियासत के सिंहासन पर पदासीन हुए। इन्होंने 35 वर्ष शासन किया और सन् 1837 में इनका निधन हो गया। ये महाराजा रणजीत सिंह के समकालीन थे और इनका अधिकांश समय युद्ध करते हुए ही बीता। ये बड़े अच्छे कवि थे। इनकी हस्तलिखित पुस्तक 'भावरत्नमाला' है जो महाराजा पटियाला के मोतीबाग पुस्तकालय में सुरक्षित है। 'फते मृगराज' के नाम से कविता करते थे राजा साहब। यहाँ दो उद्धरण दर्शनार्थ प्रस्तुत हैं -

''सीतल अमल सुधा मधुर सरस स्वच्छ,
चित की तपन चितवत ही विलात है।
फ़ते मृगराज कवि भनत सुवासवन्त,
कर परसे ते सब गात सियरात है।

तरुणी तनूना तीर तरु तर ठाढ़ी तिय,
तृषा सो विकल विषादित, तेज बात है।
वारि वारि अंजुलि भरत डारि डारि वारि,
पान न करत या मैं कहो कौन बात है।।

X X X

आनन में पियराई, छई, सिराई नई सिथलाई लई तन।
बोलति नैननि, हेरति नैननि, चित्र समान सुजान भइ धन।
भूप फते मृगराज भनै हेतु विचार न पायो सखी गन।
कानन ते जिन कानन मैं, हरि बैन सुनै किम दु:ख भयो तन।।''
(द्र. शमशेर सिंह 'अशोक' का निबंध-पंजाब के कुछ राजाओं तथा रईसों की कविता, पंचवटी संदेश, 1981 देहरादून)

कुंवर विक्रम सिंह :- कपूरथला नरेश राजा निहाल सिंह अहूवालिया के सुपुत्र कुंवर विक्रम सिंह का जन्म सन् 1835 में हुआ था। ये कट्टरवादी सिख थे और गुरुओं की वाणी में पूर्ण आस्था रखते थे। इनकी ख्याति कई रूपों में फैली थी - एक समाज-सुधारक, धर्म-प्रचारक और हिंदी के अच्छे कवि-लेखक के रूप में। सिखों के आदिगुरु गुरुनानक देव के प्रति लिखी गई एक कविता का उदाहरण देखिए-

''भूमि सदा सिर भार सहै, पुनि गैन कहाँ सद शून्य रहावै।
चाँद बढ़ै और घटै निस बासर, सूर सदा तन ताप सहावै।
तीनहूं देव उपाधि भरे, हरि विक्रम को उपमा ठहरावै।
श्री गुरु नानक देवहुं की, उपमा बिन ताहि नहीं बन आवै।।'' (द्र. उपरिवत्)

सच है, गुरु की तुलना किसी से नहीं की जा सकती और फिर गुरु नानकदेव तो सद्गुरु हैं - आदिगुरु हैं अत: निरुपमेय हैं। उनकी उपमा केवल और केवल उन्हीं से दी जा सकती है। कवि विक्रम का एक ही सवैया प्राप्त हो सका है जो अपने आप में बेजोड़ है।

मजीठिया-जागीर :- मजीठिया रियासत न होकर जागीर थी और उसके जागीरदार थे सरदार लहना सिंह मजीठिया। इनके पिता थे सरादार देसासिंह मजीठिया। श्री शमशेर सिंह 'अशोक' के अनुसार सरदार लहनासिंह ''हिन्दी-पंजाबी का बड़ा अच्छा कवि था। सिक्स इतिहास के कथनानुसार यह कई भाषाओं का अच्छा विद्वान् होने के साथ ही बड़ा तजुरबाकार इंजीनियर भी था। इसने हिन्दी-कविता तो बहुत लिखी थी, परन्तु वह समय के प्रवाह में लुप्तप्राय हो गई। खोज करने पर इसकी जो कविता मुझे मिली है उसमें से एक उदाहरण यहाँ पर देता हूँ -

तंग, तीर, तबरो, तुपक, सिर, हिय, कर, भुज-मूर।
तुब कर करत अरीनि के, भेद, वेध कट चूर।।'' (द्र. उपरिवत्)

इन सिख-शासकों की बहुत कम रचनाएँ (एक या दो) ही प्राप्त हो सकीं हैं। अत: इनके विषय में यह कह पाना तो कठिन है कि इन्होंने किस विषय पर लिखा-क्या लिखा और कितना लिखा ? लेकिन जो भी कुछ इस प्रस्तुति के लिए उपलब्ध हुआ है, अथवा यह कहिये कि दर्शाया गया है, उस आधार पर यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि ये शासक न केवल हिंदी के पैरोकार थे वरन् उसकी अभिवृद्धि में भी

इनका योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। इन्हें हिंदी भाषा का अच्छा ज्ञान था। इनकी भाषा शुद्ध और सरल रही है। इन्होंने कविता में प्रचलित ब्रजभाषा का प्रयोग किया है लेकिन समाज और राजकाज में व्यवहृत अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्दों से परहेज भी नहीं किया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इनके द्वारा रचित साहित्य भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हिंदी-साहित्य के श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं के समकक्ष ठहराया जा सकता है। हिंदीतर भाषी ऐसे हिंदी-प्रेमियों और साहित्य-सेवियों का हिंदी-जगत् सदैव ऋणी रहेगा।

विश्वामित्र पराशर प्रभृतयो:, वाताम्बु पर्णाशना:।
तेपि स्त्री मुख पंकजम् सुललितम् दृष्टैव मोहंगता:।
शालन्यं च पयोदधि युतम्, भुजन्ति ये मानवा:।
तेषां इन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत्, विंध्यस्त सागर:।

– भर्तृहरि-शृंगारशतक

विश्वमित्र, पाराशर आदि ऋषि-मुनि जो, वायु, जल और पत्तों के
सेवन से ही जीवन व्यतीत करते थे, स्त्री के सुंदर मुख-कमल
को देखकर मोहत हो गए। जो मनुष्य दूध-दही व धान्यादि
का भोजन करते हैं उनके द्वारा अपनी इन्दियों पर नियंत्रण
रखना वैसे ही असंभव है जैसे विंध्याचल पर्वत का समुद्र पर तैरना।

हिंदी-सेवी रावराजा अजीतसिंह

डॉ. किरन पाल सिंह

भरतपुर रियासत में महाराजाओं के साथ-साथ अन्य राजकुमारों ने भी हिंदी-संवर्द्धन में अमूल्य योगदान दिया है। यह एक सार्वजनिक तथ्य है और राजा-रजवाड़ों की परंपरा भी रही है कि राजा-महाराजा के स्वर्गवासी होने पर राजसिंहासन का अधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र ही होता था। इसके साथ ही अन्य राजकुमारों को कुछ सीमित अधिकार और सम्पत्ति देकर उन्हें रावराजा की उपाधि से भी सम्मानित किया जाता था। रावराजा की यह उपाधि उनके वंशजों के लिए भी मान्य थी। भरतपुर में ऐसे अनेक रावराजा हुए, परंतु उनमें तीन विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने तलवार चलाने के साथ-साथ लेखनी भी चलाई और हिंदी में कविता कर कविरूप में विशेष ख्याति अर्जित की; और वे हैं - रावराजा अजीत सिंह, राव कृष्णदेवशरण सिंह 'गोप' तथा रावराजा यदुराज सिंह। यहाँ पर हम रावराजा अजीतसिंह के कवित्त पर चर्चा करते हैं तथा अन्य की साहित्य-साधना पर कालक्रमानुसार अलग से विवेचना करेंगे।

रावराजा अजीतसिंह के जन्म अथवा रचनाकाल का निश्चित विवरण नहीं मिला। वे भरतपुर राजवंश से थे और उनके पिता थे रावराजा उमराव सिंह, जो भरतपुर नरेश सूरजमल के प्रपौत्र थे, जैसाकि निम्न पद में दर्शाया गया है -

''बदनेस सुपुत्र जु सूर्जमल, सुत तासु भयो रनजीति है।
भौ सिंह लक्ष्मण तासु कैं, भई जासु हरिपद प्रीति है।।
तिनकें भए उमराव सिंह, अजीत सुत हर ताई कै।
'कृष्णदासि' स्व-छापधरि, किय महत्पद रस दाइ कै।।''
(द्र. डॉ. कुंजबिहारीलाल गुप्त, स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ, पृ. 125)

यह पद अजीतसिंह द्वारा ही रचा गया है। वे 'कृष्णदासि' और 'अजीत' उपनामों का प्रयोग किया करते थे अपनी रचनाओं में। इसके अनुसार भरतपुर राज्य के संस्थापक ठाकुर बदनसिंह के सुपुत्र थे महाराजा सूरजमल, उनके पुत्र थे रणजीतसिंह। महाराज रणजीतसिंह के सुपुत्र रावराजा लक्ष्मणसिंह और उनके पुत्र हुए उमरावसिंह। यही रावराजा उमरावसिंह पिता थे अजीतसिंह के। इसको भली भाँति समझने तथा इनके जीवनकाल का अनुमान लगाने के लिए हमें भरतपुर राजवंश की निम्न तालिका का सहारा लेना होगा, जो इस प्रकार है -

''ठाकुर बदनसिंह (सन् 1723-1756)

↓

महाराजा सूरजमल (सन् 1756-1763)

↓
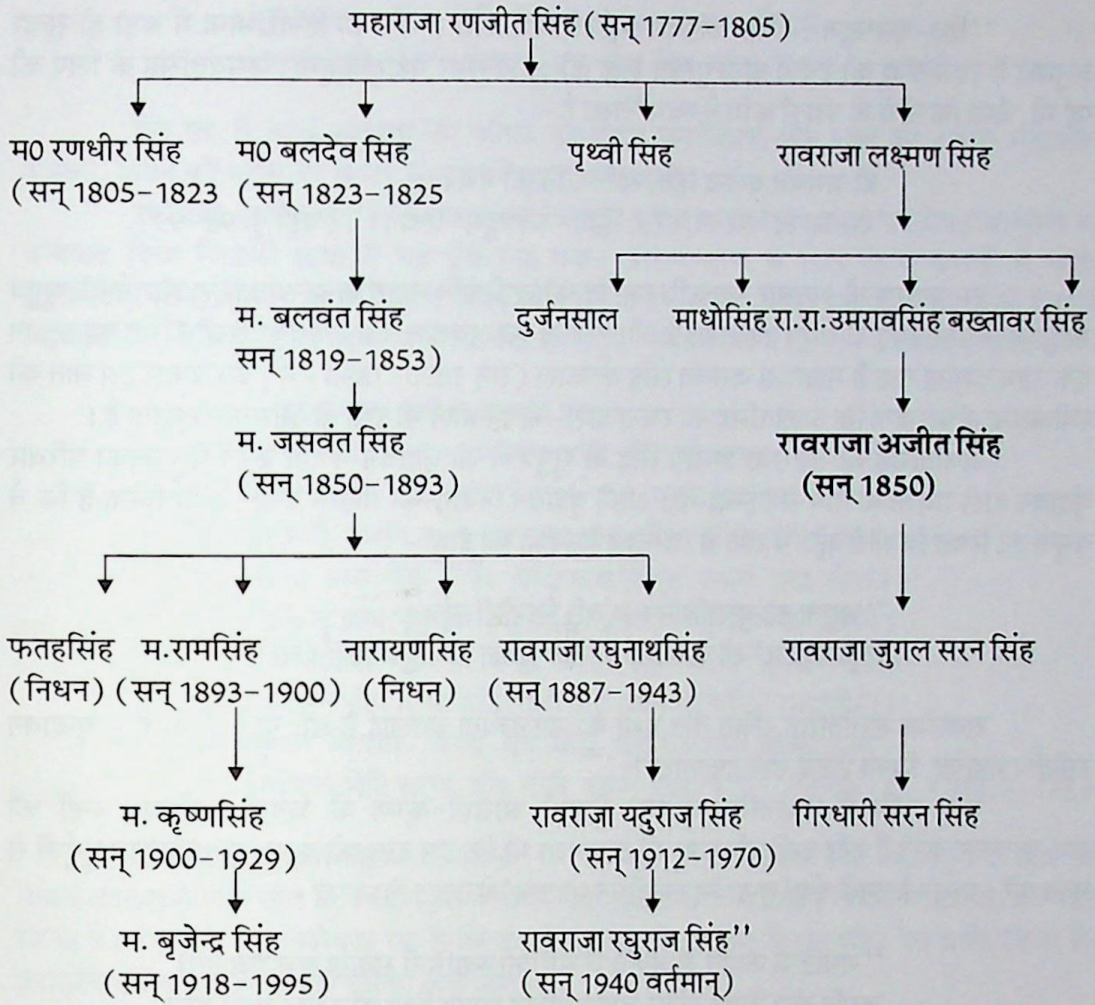
(द्र. रामवीर सिंह वर्मा कृत भरतपुर का इतिहास, पृ. 100 पर दिए विवरण के अनुसार निर्मित)

इस प्रकार ऊपर दी गई भतरपुर राजवंशावली का मोटेतौर पर भी निरीक्षण किया जाए तो महाराजा बलदेवसिंह और रावराजा लक्ष्मणसिंह दोनों भाई थे और उनके प्रौत्र क्रमश: महाराजा जसवंतसिंह तथा रावराजा अजीत सिंह एक-दूसरे के समकालीन थे। महाराजा जसवंतसिंह का जीवनकाल सन् 1850 से 1893 था। अत: अनुमानत: रावराजा अजीतसिंह का जीवनकाल अथवा रचनाकाल भी इसी के आसपास होगा।

रावराजा अजीतसिंह का रचनाकाल निर्धारण के लिए एक अन्य उद्धरण देना कदाचित युक्तिसंगत ही होगा। डॉ. कुंजबिहारी लाल गुप्त ने अपने ग्रंथ में इनके लिए लिखा है -''रावराजा अजीतसिंह : महाकवि रसानंद के अस्त होने के अनन्तर भरतपुर राज्यान्तर्गत ब्रजभाषा काव्यसृजन का झण्डा रावराजा अजीत सिंह ने उठाया।'' (द्र. स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ, पृ. 125, प्रका. हिन्दी साहित्य समिति भरतपुर, संवत् 2017) इसी ग्रंथ के पृ. 98 पर डॉ. गुप्त ने महाकवि रसानंद को महाराजा बलवंत सिंह के दरबार का उच्चकोटि का कवि बतलाया है जिसने न केवल महाराजश्री के शौर्य का वर्णन ही किया वरन् उनके सुपुत्र जसवंत सिंह के लिए भी लेखनी चलाई। देखिए उनका (गुप्तजी) निम्न कथन -

''हित-कल्पद्रुम :- यह 'अनवार-सुहेली' (फारसी ग्रन्थ) का हिन्दी भाषा में बड़ा ही सुन्दर अनुवाद है। इस ग्रन्थ की रचना धाऊ गुलाब सिंह की आज्ञानुसार महाराजकुमार जसवंतसिंह के लिए की गई थी, जैसा कि नीचे के पद्य में कवि ने स्वयं लिखा है -

श्री जसवंत ब्रजेन्द्र हित, सोधिनीति की पंथ।
'रस आनंद' बरनन करत, 'हित-कल्पद्रुम' ग्रन्थ।।'' (वही पृ. 98-99)

इस प्रकरण के अनुसार महाकवि रसानंद की उपस्थिति महाराजा बलवंत सिंह और उनके सुपुत्र महाराजा जसंवत सिंह के समय दर्शाई गई है और रसानंद का अवसान तथा रावराजा अजीत सिंह का उत्थान एक साथ दर्शाया गया है महाराजा जसवंत सिंह के काल (सन् 1850-1893) में। इस प्रकार इस बात को स्वीकारना उचित होगा कि अजीतसिंह का रचनाकाल-जीवनकाल भी इसी के आसपास ठहरता है।

अजीतसिंह जी रावराजा उमराव सिंह के सुपुत्र थे जो वृंदावन में रहा करते थे। उनका परिवार वृंदावन वाले रावजी के नाम से प्रसिद्ध था। अपने वृंदावन निवास का बखान उन्होंने स्वयं किया है कि वे यमुना तट स्थित किशोरी कुंज में रहते थे। द्रष्टव्य है उनका यह दोहा -

''जमुना तट बृन्दाबिपिन, कुंबरि किशोरी कुंज।
'कृष्णदासि' की बास तहाँ, लखत जुगल छबि पुंज।।'' (वही, पृ. 125)

रावराजा अजीतसिंह रचित तीन ग्रंथों की उपलब्धता बतलाई है डॉ. गुप्त ने। वे हैं - बृन्दावन रसोद्वीप महत्पद, विनय शतक तथा द्वादशाक्षरी।

भक्त कवि हैं अजीतसिंह-वृंदावन विहारी श्रीराधा-कृष्ण के अनन्य उपासक, उन्हीं की जय-जयकार करते हैं और उन्हीं की कृपा की आकांक्षा भी कि इस दास को काम, क्रोधादि सब दुर्गुणों से मुक्त करें। प्रस्तुत है उनके ग्रंथ 'बृन्दावन रसोद्वीपन महत्पद' से उद्धृत निम्न पद -

''जयति जै जयति जै जयति जै राधिका स्वामिनी सकल ब्रज यूथ नारी
जयति बृंदा बिपन रुचिर जमुना पुलिन सुखद चित्त हरन नित बहत बारी
देव सुकदेब श्री शारदा शेष शिब कहत बृन्दा बिपन सोभ लाजैं
काम मद कोह दुख द्रोह लोभादि सब देषि बनसी बदुर दूर भाजैं
बसौं बृन्दा बिपुन लषो नित जुगल छबि सदाँ पहन बल मुख बढ़ौ रासी
दीन अति हीन अब यही बिनती करत राधिका श्याम घन ''कृष्ण दासी''
(वही, पृ. 126)

अपने आराध्य देव राधा-कृष्ण की उपासना में कवि ने अनेक राग-रागिनियों से युक्त सरस पदों की रचना की है। द्रष्टव्य है उनका 'रागविभाग' में रचित 'विनयशतक' ग्रंथ का यह पद' -'

''मेरी लाज नाथ अब आपहि।
तात मात सुर बंधु न कोऊ तुमहि हरहु भव तापहि।।
मोहि समान तिहुँ लोक पतित अरु कोऊ सुन्यों न हेर्‌यौ।
तुमहि पतित पावन निगमागम अधम उधारन टेर्‌यौ।।
मोहि अधमाधम पतित तुच्छ अति समझ सरण प्रभु दीजै।
सुरनर मुनि स्वारथी सकल कोउ परमारिथ न पतीजै।।

तुम सिबाय और न हरि कोऊ जो भव दुक्ख मिटाबै।
'कृष्ण दासि' मोसे पतितहि प्रभु तुम बिन कौन तिराबै।।" (वही, पृ. 126)

इस पद में कवि भगवान् को पतितों का उद्धार करनेवाला और स्वयं को अधम-महापतित कहकर, अपने को भवसागर से पार उतारने की गुहार लगा रहा है।

रावराजा अजीतसिंह ने 'विनय शतक' नामक ग्रंथ पूरा करने पर अपने इष्टदेव राधाकृष्ण को धन्यवाद दिया जिनकी कृपा से यह ग्रंथ रचा गया। श्रीराधाकृष्ण के जिन चरण-कमलों में नारद, सनकादिक मुनि, शेषनाग आदि देवगण अपने शीश झुकाते हैं - उनकी वंदना करते हैं, उन्हीं चरणों से कवि 'कृष्णदासी' भी अपने दु:ख निवारण की प्रार्थना करते हुए-उन्हीं चरणों में रत रहने की कामना करते हैं-

"जुगल कृपा भयौ सतक यह पूरण।
नाना सँश्रत ब्याध नसावन बन्यौ चटपटौ नबल सु-चूरण।।
सुनत पढ़त रति होहि निरंतर राधा कृष्ण चन्द्र पद पंकज।
जिनकौं नबनि करत भब नारद सनकादिक मुनि शेष देव अज।।
सँबत तत्व बेद निधि चन्दा मास बिभूत श्याम पख नीक।
तिथि सु प्राण भृगु बासर सुन्दर प्रात समय सुखदायक ठीक।।
'कृष्णदासि' यह दीन बिनय मैं मति सम कीनी जुगल निहोर।
बुध जन सोध कृपा करि लीजौ अज्ञ जानि मोहि छिम सब खोर।।
जुगल किसोर बिनय यह मोरी येही सब बिध जी की आस।
भब दुख मेटि चरण रति दीजै शरण राखियै श्री बनबास।।" (वही, पृ. 127)

बाँकेबिहारी राधा-कृष्ण उपासक थे 'कृष्णदास' जी और उन्हीं की युगल-छवि के गायन-लेखन में लीन रहते थे, लेकिन अपने तीसरे ग्रंथ 'द्वादशाक्षरी' में उन्होंने राम के चरित्र का प्रतिपादन किया है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें बारहखड़ी के क्रम में रामचरित्र का वर्णन किया है। उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है यहाँ उसका कुछ अंश -

"सिया राम पद बंदि पुनि श्री गुरु पद सिरनाय।
रामचरित बारह खरी बरनौ मति सम गाय।।

करि प्रार्थना बिधि कर जोरी।
हरि महि भार चेरि यह तोरी।।
कारज करि हों भई नभ बानी।
धीरज धरि बिध महि सन मानी।।
किरपन जिम धन ले सुख लहहीं।
ऐसें पृथ्वी उर सुख अह हीं।।
कीर्ति मान दशरथ है राजा।
अवध पुरी के माहि बिराजा।।" (वही, पृ. 127)

और अंत में वे कहते हैं कि राम कथा का विस्तार बहुत अधिक है। जैसी मेरी बुद्धि है वैसा ही वर्णन कर दिया है। मैंने 'क' अक्षर से लेकर अंतिम अक्षर 'ज्ञ' तक बारहखड़ी में बनाकर गाया है, यदि

कहीं कोई काव्यगत त्रुटि हो गई हो तो विज्ञजन उसमें सुधार कर लें। देखिए उसका अंतिम पद-

''क सों ज्ञ लों बारह खरी क्रमसों कही विचित्र।
मात्रान युत अंक सब बरन्यों राम चरित्र।।
राम कथा बिस्तार बड़ जस मत तस कहि गाय।
काव्य चूक जहं होय जो लीजों गुनी बनाय।।'' (वही, पृ. 128)

ब्रजवासी थे रावराजा अजीतसिंह। उनकी मातृभाषा और काव्य-भाषा एक ही थी और वह थी ब्रजभाषा, जो उस समय मुख्यत: कविता के लिए व्यवहार में लाई जा रही थी। उन्होंने अपनी कविताओं में सरल शब्दों का प्रयोग किया है। पद सरस एवं सुमधुर बन पड़े हैं। कठिन संस्कृतनिष्ठ शब्दों को स्थान नहीं मिला है उनके पदों में। पद रचनाओं में, दोहा, कुंडलियां, राग विभाग, राग मालकोस, राग सिंधु भैरवी, द्वादशाक्षरी आदि का प्रयोग हुआ है जो इस बात के द्योतक हैं कि उन्हें गायन शैली, विभिन्न राग-रागिनियों का अच्छा ज्ञान था। अलंकारों का सीमित प्रयोग हुआ है। नवरसों में भक्ति एवं शांतरस ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

यद्यपि रावराजा अजीतसिंह की सभी रचनाएँ प्राप्त नहीं हो सकी हैं लेकिन जितना भी साहित्य उपलब्ध है उस आधार पर यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि उनकी रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

विशेष : द्वादशाक्षरी अर्थात् बारहखड़ी का अर्थ है -''वर्णमाला का वह अंश जिसमें प्रत्येक व्यंजन में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अ: इन बारह स्वरों को, मात्रा के रूप में लगाकर, बोलते या लिखते हैं।'' (संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर - रामचंद्र वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, द्वादश संस्करण, संवत् 2057, पृ. 715) उदाहरणार्थ - क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, कं, क: तत्कालीन परंपरानुसार अक्षर क से प्रारंभ होकर क्ष त्र ज्ञ पर समाप्त होते थे लेकिन आज क से शुरू होकर ह पर समाप्त होते हैं और क्ष, क के बाद ; त्र, त के बाद तथा ज्ञ, जौ के अंत में आते हैं।

कीरति ने ब्रज नार बुलाई
ताहि पठाई गोकुल नगरी, बुलवाये ब्रजराज कन्हाई।
चलत चलत इक सखी सयानी, नन्द महर के घर में आई।
कहत जशोदा सों ब्रज सुन्दर, कीरति ने बोले यदुराई।
महर हर्ष युत बिलम न कीनौ, दिये तुरत गोबिन्द पठाई।
ब्रजपति श्री बृषभानु के आये, गारी गावत नारि सुहाई।।

- राजमाता श्री गिरिराज कुंवरि, भरतपुर सन् 1863-1923

महाराज लाल खड्गबहादुर मल्ल की हिंदी रचनाएँ

- राम जन्म सिंह

मझौली राज्य के सिंहासनारूढ़ राजाओं की नामावली में लाल खड्गबहादुर मल्ल का नाम 39वें क्रम पर आता है। राजा धर्मसेन द्वारा सन् 1140 में मझौली राज्य की स्थापना की गई। अत: संस्थापक क्रमांक 1. राजा धर्मसेन, 2. राजा बड़ीसेन, 3. राजा गंगादत्त सेन, 4. राजा धूम मल्ल, 5. राजा हरदेव मल्ल से होते हुए क्रमांक 38 पर हुए राजा उदय नारायण मल्ल और फिर आते हैं 39 पर राजा लाल खड्गबहादुर मल्ल। उनके बाद उनके वंशवृक्ष को बढ़ाया 40 पर कौशल किशोर मल्ल, 41 पर बिजय सेन मल्ल, 42 पर अवधेश मल्ल तथा वर्तमान् में इस राज्य को गौरव प्रदान कर रहे हैं उमेश प्रताप मल्ल।

उत्तर प्रदेश के देवरिया जनपद की तहसील सलेमपुर से 5 कि.मी. की दूरी पर मझौली का प्राचीन किला स्थित है। किले के तीन तरफ हिरण्यावती नदी तथा छोटी गंडक नदी बहती हैं। इस राज्य का विस्तार अयोध्या से पटना तक रहा, यह किला दोनों के मध्य होने के कारण मझौली नाम से प्रसिद्ध हुआ। वर्तमान् राजा के पिता, राजा अवधेश मल्ल चार बार सलेमपुर-बरहज निर्वाचन क्षेत्र से विधायक रह चुके हैं। उन्होंने बिसेन वंशीय क्षत्रियों का इतिहास लिखा था।

बिसेन वंश मल्लवंश की शाखा है। लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु की वंशज होने के कारण यह सूर्यवंशी शाखा है। चन्द्रकेतु की उपाधि थी मल्ल। वाल्मीकि रामायण-वायु पुराण के अनुसार चन्द्रकेतु की राजधानी चन्द्रचक्रा (चन्द्रकान्ता) थी। प्राचीन अभिलेखों से पता चलता है कि चन्द्रकेतु के वंशजों की एक शाखा ने कर्नाटक में अपना राज्य स्थापित किया। कुछ पीढ़ियों के बाद जब मयूर बर्मन नामक क्षत्रिय राजा का वहाँ शासन था तो उसने मयूर वंश की स्थापना की। सन् 359 ई. में मयूर की पाँचवीं पीढ़ी के वंशज ने मल्ल राज्यों में आकर विवाह किया। कर्नाटक राज्य से आए हुए मल्ल राजा मयूर के कारण मयूर वंशी कहलाये थे। मयूर वंशजों ने 606ई. से 664ई. तक शासन किया। क्षत्रिय वंशार्णव के लेखक भगवान दीन सिंह के अनुसार मयूर का विवाह मल्ल राज्य की किसी राजकुमारी से हुआ, जिससे विश्वसेन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी पुत्र ने बिसेन वंश की स्थापना की। विश्वसेन का अपभ्रंश बिसेन है। गोरखपुर गजेटियर में बिसेन वंश की स्थापना का ऐसा ही उल्लेख है। बिसेन वंश राजा मयूर के पुत्र विश्वसेन के वंशज हैं।

बिसेन वंश की रियासतें मझौली, भिनगा, मनकापुर, कालाकाँकर, कोयलाड़ी, उमरिया आदि हैं। मझौली बबुआनों की छोटी-छोटी रियासतों की संख्या 34 है। इसी मझौली के बिसेन राजवंश में जन्मे थे लाल खड्गबहादुर मल्ल, जिनका राष्ट्रभाषा हिंदी के उन्नायक भारतीय नरेशों में एक विशेष स्थान है।

लाल खड्गबहादुर मल्ल बिसेन वंश के राजा उदय नारायण मल्ल के आत्मज थे। वह मझौली रियासत के राजकुमार थे। उनका जन्म संवत् 1910 (सन् 1853) में भाद्रपद कृष्णा द्वादशी दिन मंगलवार को हआ था। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद, भारतेन्दु बाबू हरिशचन्द्र, पं. अम्बिका दत्त व्यास, पं. देवकी नंदन त्रिपाठी आदि की मित्रता एवं संगत के कारण तथा स्वयं के आतंरिक सुसंस्कार ने उन्हें साहित्य रचना की ओर प्रेरित किया।

भारतेन्दु काल में हिंदी लेखकों का कार्य तीन प्रकार का दिखाई पड़ता है - स्वत: साहित्य रचना

करना, दूसरों को साहित्य-रचना के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित करना, मुद्रणालय स्थापित कर या पत्र निकाल कर हिंदी का प्रचार-प्रसार करना। ये तीनों ही प्रकार के कार्य लाल खड्गबहादुर मल्ल द्वारा पर्याप्त मात्रा में किए गए।

रचनाएँ : लाल खड्गबहादुर मल्ल की 'पीयूष धारा', 'सुधा बुन्द', 'पावस-प्रेम प्रवाह', 'फाग-अनुराग', नाम से चार पुस्तकें संवत् 1939 (सन् 1872) में प्रकाशित हुई। ये शृंगारपरक रचनाएं हैं। यद्यपि अनेक गीत बड़े सुंदर हैं, फिर भी ये रचनाएँ शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं। उनकी प्रथम साहित्यिक रचना 'योगिन लीला' है जो एक छोटा-सा शृंगाररसपूर्ण प्रबंधकाव्य है। यह संवत् 1940 में प्रकाशित हई। संवत् 1942 में उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाश में आई जिनमें 'रतिकुसुमायुध' 'भारत आरत' और 'महारास' नाटक हैं तथा 'रसिक विनोद' काव्य-ग्रंथ है। इसके पश्चात् 'हरि तालिका', 'कल्पवृक्ष' और 'भारत ललना' नाटक संवत् 1943-44 के बीच प्रकाशित हुए। 'दशमी चरितं' और 'विश्वेनवंश वाटिका' उनकी दो अन्य पुस्तकें हैं। अपने 36 वर्ष के अल्पकालीन जीवन में उन्होंने नाटककार, गद्य लेखक एवं कवि के रूप में रंजनकारी साहित्य-सेवा की।

लालजी के नाटक भारतेन्दु के नाटकों की शैली का अनुसरण करते हैं, परंतु उनमें लेखन की अपनी मौलिकता भी विद्यमान् है। नाटकों की भाषा सरल और प्रवाहयुक्त है। उनका हास्य उत्तम कोटि का है और उनमें शृंगाररस का अच्छा परिपाक हुआ है। ये नाटक देशभक्ति और समाजसेवा के उद्देश्यों की सिद्धि करते हैं। इन नाटकों में प्रकृति की मनोहारी छटा भी दर्शनीय है। भाषा साहित्यिक, मुहावरेदार, सरल और सरस है। अन्य पुस्तकों की गद्य-शैली भी व्यंग्योक्ति, लोकोक्ति तथा हास्य के छीटों से युक्त है। लालजी के एक-दो सुंदर छंद अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं -

''सीता संग सुन्दरी सु एक ओर हर्षित ह्वै,
हिल मिल मंगलादि गीत उचरित हैं।
एक ओर माँग मुकुतान से सँवारे कोऊ,
काहू पद नाइन महावर भरति हैं।
एक ओर लाल बहु बसन रसीले धारि,
नारि पुरवासी यूथ-यूथ निसरति हैं।
कौशल्यादि कैकयी, सुमित्रा मिलि एक ओर,
मणिगण राम पै निछावरि करति हैं।।

माचो देवलोक में अनन्त खलबल लाल,
ब्रह्मा बेद भूले छुटी तारिहू महेश की।
डोले लागी पुहुमि समुद्र भहरानै लगे,
झिलमिल होन लगी, कीरन दिनेश की।
दालन लागी पीठ कूर अरु कूरम की,
करकन लगी त्यों सहस फन शेष की।
सहित समाज आज अवधपुरी में जब,
निकरी सवारी महाराज अवधेश की''।।

(भारतेन्दुकालीन एक विस्मृत साहित्यकार - श्री हृदयनारायणसिंह
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष 55 संवत् 2007)

महाराजकुमार मल्ल की रचनाओं में 'योगिन लीला' और 'रसिक विनोद' विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं, लेकिन इनमें सर्वोत्तम काव्यकृति 'रसिक विनोद' है। यह सौ स्फुट रचनाओं का संकलन है। इस रचना के आधार पर ही इनका नाम सुकवियों में गिना जाने लगा। इसके छंदों में भाव और कल्पना का संतुलित संयोग हुआ है और भाषा कां प्रांजल प्रवाह, उक्तियों की हृदय स्पर्शिता और वर्णन की चित्रोपमता श्लाघनीय है। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

''स्याम सित अरुन मरोरवारी कोर वारी,
जोर वारी जालिम जुगल छवि सखियाँ।
देखत तनिक मृग बन में बिलाइ गए,
बूड़ि गए मीन सूखि गई कंज पँखियाँ।
मुरि गए तीन तरवार और कटार भाले,
लाल भये ब्याकुल बिहाल भई सखियाँ।
भाव भरी चाव भरी काम मद लाज भरी,
सील भरी सरस सनेह भरी अँखियाँ।। (उपरिवत्)

भारतीय रियासतों के राजाओं के साहित्य का अनुसंधान और अनुशीलन करनेवाले दृढ़ संकल्पी युवा साहित्यकार प्रो० जितेन्द्रकुमारसिंह 'संजय' के अनुसार महाराज लाल खड्गबहादुर मल्ल ब्रजभाषा में कवित्त-सवैया रचना करने में सिद्धहस्त थे, उनका 'रसिक-विनोद' राधा-कृष्ण सम्बन्धी ब्रजभाषा के घनाक्षरी-सवैयों का संग्रह है जिसका प्रकाशन सन् 1885 में खड्ग विलास प्रेस बाँकीपुर से हुआ था। संजयजी ने 'रसिक-विनोद' के कुछ सवैये उद्धृत किए हैं अपने ग्रंथ 'राष्ट्रकवि डॉ. बृजेश सिंह और महाराणा प्रताप-साहित्य' में। पाठकों के अवलोकन हेतु उनमें से यहाँ दो सवैये दिए जा रहे हैं –

''पूरन प्रेम मैं पागि रही यह पन्थ को छोड़ि कहाँ अब जाइये।
स्यामही स्याम रटौं निसि बासर सो तजि काको वृथा गुना गाइये।
काम नहीं कछु और सों लालजू टेक मेरी यह साँचि पत्याइये।
साँवरे रंग मैं हौं तो रँगी कहि गोरी न मोये कलंक लगाइये।।

छन्दजुत बानी नीकी प्रेम की कहानी नीकी,
चारि दिन ज्वानी नीकी मान औं' गुमान की।
बुधजन प्रीति नीकी सरस सुरीति नीकी,
केवल प्रतीति नीकी मोहन सुजान की।
ब्रज पनिहारी नीकी औसर की गारी नीकी,
प्रेम बारी नारी नीकी प्यारी चोट तान की।
गोरी अति भोरी नीकी भाल लाल रोरी नीकी,
बरसाने खोरी नीकी छोरी, वृषभान की ।।''

(डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह 'संजय' – राष्ट्रकवि डॉ. बृजेश सिह और
महाराणा प्रताप साहित्य, पृ 104, द्वि.सं. 2013)

लालजी एक अच्छे कवि थे और गद्य लेखन में भी प्रवीण थे परंतु इसके साथ ही उनके हृदय में हिंदी की सेवा करने की उत्कट भावना भी थी। वह जीवन-पर्यत राष्ट्रभाषा की उन्नति के लिए तन-मन-धन से समर्पित रहे। उन्होंने बाँकीपुर में खड्ग विलास प्रेस की स्थापना की। इस प्रेस से अनेक हिंदी रचनाकारों की पुस्तकों का प्रकाशन हुआ जिनमें उनके मित्र भारतेन्दुजी भी थे। केवल इतना ही नहीं

उन्होंने हिंदी के प्रचार-प्रसार और विकास के लिए पाँच लाख रुपये देने का संकल्प भी लिया था। उन दिनों यह एक बड़ी धनराशि थी। वह स्वयं भी व्याख्यान देकर लेखकों-कवियों का उत्साहवर्द्धन करते थे। उन्होंने 'क्षत्रिय' नामक एक पत्रिका भी निकाली थी जिसके संपादक थे डॉ. रामदीन सिंह।

हिन्दी साहित्य ने लाल खड्गबहादुर मल्ल की उपेक्षा की, उन्हें उचित मान-सम्मान और स्थान नहीं दिया। श्री हृदयनारायण सिहं के अनुसार-''जिस व्यक्ति ने हिंन्दी की उक्त प्रकार से बहुविध सेवा की हो, जिसके नाम और साहित्य-सेवा का स्मरण खड्ग विलास प्रेस अब भी करता हो और जिसकी पुस्तकें भारतेन्दुकालीन रचनाओं में प्रमुख स्थान रखती हों, उसे भुला देना किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता।'' (भारतेंदुकालीन एक विस्मृत साहित्यकार-श्री हृदयनारायण सिंह, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक 1-2 वर्ष 55, संवत् 2007, पृ. 269)

हिंदी की सेवा करते हुए महाराजा लाल खड्गबहादुर मल्ल संवत् 1946 (सन् 1889) में मात्र 36 वर्ष की अल्पायु में ही दिवंगत हो गए। भारतीय नरेशों की हिंदी-सेवा में उनका योगदान अति सराहनीय रहा है।

'आहुति' से प्रेरणा ले सीमा पे जवान डटें,
देश के विकास में किसान-योगदान हो।
भूमि-नभ-जल-वायु-अग्नि-अनुपात रहे,
कल-कारखाने में प्रशंसित विज्ञान हो।
नेता हों सुभाष की परम्परा के देशभक्त,
स्वामी रामकृष्ण का विवेक विद्यमान हो।
धर्मनिष्ठ धर्मप्राण जो सदैव था 'बृजेश'
एक मात्र स्वप्न है अखण्ड हिन्दुस्तान हो।।

- राष्ट्रकवि डॉ. बृजेश सिंह (सन् 1958) - राष्ट्रकवि डॉ. ब्रजेश सिंह और महाराणा प्रताप-साहित्य : डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह 'संजय', पृ. 171)

ठाकुर जगमोहन सिंह का साहित्यिक अवदान

प्रो. अश्विनी केशरवानी

छत्तीसगढ़ राज्य बनने के बाद से ही हिन्दी के विद्वानों का ध्यान छत्तीसगढ़ के भारतेन्दु युगीन प्रवासी कवि, आलोचक और उपन्यासकार ठाकुर जगमोहनसिंह की ओर गया है। क्योंकि उन्होंने सन् 1880 से 1882 तक धमतरी में और सन् 1882 से 1887 तक शिवरीनारायण में तहसीलदार और मजिस्ट्रेट के रूप में कार्य किया है। यही नहीं बल्कि छत्तीसगढ़ के बिखरे साहित्यकारों को 'जगन्मोहन मंडल' बनाकर एक सूत्र में पिरोया और उन्हें लेखन की दिशा भी दी। 'जगन्मोहन मंडल' काशी के 'भारतेन्दु मंडल' की तर्ज में बनी एक साहित्यिक संस्था थी। इसके माध्यम से छत्तीसगढ़ के साहित्यकार शिवरीनारायण में आकर साहित्य साधना करने लगे। उस काल के अन्यान्य साहित्यकारों के शिवरीनारायण में आकर साहित्य साधना करने का उल्लेख तत्कालीन साहित्य में हुआ है। इनमें रायगढ़ के पं. अनंतराम पांडेय, रायगढ़-परसापाली के पं. मेदिनीप्रसाद पांडेय, बलौदा के पं. वेदनाथ शर्मा, बालपुर के मालगुजार पं. पुरुषोत्तम प्रसाद पांडेय, बिलासपुर के जगन्नाथ प्रसाद भानु, धमतरी के काव्योपाध्याय हीरालाल, बिलाईगढ़ के पं. पृथ्वीपाल तिवारी और उनके अनुज पं. गणेश तिवारी और शिवरीनारायण के पं. मालिकराम भोगहा, पं. हीराराम त्रिपाठी, गोविंदसाव, महंत अर्जुनदास, महंत गौतमदास, पं. विश्वेश्वर शर्मा, पं. ऋषि शर्मा और दीनानाथ पांडेय आदि प्रमुख हैं। शिवरीनारायण में जन्मे, पले बढ़े और बाद में सरसींवा निवासी कवि शुकलाल प्रसाद पांडेय ने 'छत्तीसगढ़ गौरव' में ऐसे अनेक साहित्यकारों का नामोल्लेख किया है :-

नारायण, गोपाल मिश्र, माखन, दलगंजन।
बख्तावर, प्रहलाद दुबे, रेवा, जगमोहन।
हीरा, गोविंद, उमराव, विज्ञपति, भोरा रघुवर।
विष्णुपुरी, दृगपाल, साव गोविंद, ब्रज गिरधर।
विश्वनाथ, बिसाहू, उमर नृप लक्ष्मण छत्तीस कोट कवि।
हो चुके दिवंगत ये सभी प्रेम, मीर, मालिक सुकवि।।

इस प्रकार उस काल में शिवरीनारायण सांस्कृतिक के साथ ही 'साहित्यिक तीर्थ' भी बन गया था। द्विवेदी युग के अनेक साहित्यकारों- पं. लोचनप्रसाद पांडेय, पं. शुकलाल पांडेय, नरसिंहदास वैष्णव, सरयूप्रसाद तिवारी 'मधुकर', ज्वालाप्रसाद, रामदयाल तिवारी, प्यारेलाल गुप्त, छेदीलाल बैरिस्टर, पं. रविशंकर शुक्ल, सुंदरलाल आदि ने शिवरीनारायण की सांस्कृतिक-साहित्यिक भूमि को प्रणाम किया है। मेरा जन्म इस पवित्र नगरी में ऐसे परिवार में हुआ है जो लक्ष्मी और सरस्वती पुत्र थे। पं. शुकलाल पांडेय ने छत्तीसगढ़ गौरव में मेरे पूर्वज गोविंदसाव को भारतेन्दु युगीन कवि के रूप में उल्लेख किया है :-

रामदयाल समान यहीं हैं अनुपम वाग्मी।
हरीसिंह से राज नियम के ज्ञाता नामी।

गोविंद साव समान यहीं हैं लक्ष्मी स्वामी।
हैं गणेश से यहीं प्रचुर प्रतिभा अनुगामी।
श्री धरणीधर पंडित सदृश्य यहीं बसे विद्वान हैं।
हे महाभाग छत्तीसगढ़ ! बढ़ा रहे तब मान हैं।।

शिवरीनारायण का साहित्यिक परिवेश ठाकुर जगमोहनसिंह की ही देन थी। उन्होंने यहां दर्जन भर पुस्तकें लिखीं और प्रकाशित करायीं। शबरीनारायण जैसे सांस्कृतिक और धार्मिक स्थल के लोग, उनका रहन-सहन और व्यवहार उन्हें 'सज्जनाष्टक' 'आठ सज्जन व्यक्तियों का परिचय' लिखने को बाध्य किया। भारत जीवन प्रेस बनारस से सन् 1884 में सज्जनाष्टक प्रकाशित हुआ। वे यहां के मालगुजार और पुजारी पंडित यदुनाथ भोगहा से अत्याधिक प्रभावित थे। भोगहाजी के पुत्र 'मालिकराम भोगहा' ने तो ठाकुर जगमोहनसिंह को केवल अपना साहित्यिक गुरु ही नहीं बनाया बल्कि उन्हें अपना सब कुछ समर्पित कर दिया। उनके संरक्षण में भोगहाजी ने हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, उड़िया और उर्दू और मराठी साहित्य का अध्ययन किया, अनेक स्थानों की यात्राएं कीं और प्रबोध चंद्रोदय, रामराज्यवियोग और सती सुलोचना जैसे उत्कृष्ट नाटकों की रचना की जिसका सफलता पूर्वक मंचन भी किया गया। इसके मंचन के लिए उन्होंने यहां एक नाटक मंडली भी बनायी थी।

ठाकुर जगमोहनसिंह हिन्दी के प्रसिद्ध प्रेमी कवियों-रसखान, आलम, घनानंद, बोधा ठाकुर और भारतेन्दु हरिश्चंद्र की परंपरा के अंतिम कवि थे जिन्होंने प्रेममय जीवन व्यतीत किया और जिनके साहित्य में प्रेम की उत्कृष्ट और स्वाभाविक अभिव्यंजना हुई है। प्रेम को इन्होंने जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार किया था। 'श्यामालता' के समर्पण के अंत में उन्होंने प्रेम को अभिव्यक्त किया है-''अधमोद्धारिनि ! इस अधम का उद्धार करो, इस अधम का कर गहो और अपने शरण में राखो। यह मेरे प्रेम का उद्धार है। तूने मुझे कहने की शक्ति दी, मेरी लेखनी को शक्ति दी, तभी तो मैं इतना बक गया। यह मेरा सच्चा प्रेम है, कुछ उपर का नहीं जो लोग हंसे...।''

कहा जाता है कि विवाहित होकर भी उन्होंने एक ब्राह्मण महिला से प्रेम किया और उन्हें 'श्यामा' नाम देकर अनेक ग्रंथों की रचना की। 'श्यामालता' (सन् 1885) को श्यामा को समर्पित करते हुए उन्होंने लिखा है :- ''मैंने तुम्हारे अनेक नाम धरे हैं क्योंकि तुम मेरे इष्ट हो और तुम्हारे तो अनेक नाम शास्त्र, वेद पुराण काव्य स्वयं गा रहे हैं तो फिर मेरे अकेले नाम धरने से क्या होता है। तुम्हारे सबसे अच्छे नाम श्यामा, दुर्गा, पार्वती, लक्ष्मी, वैष्णवी, त्रिपुरसुन्दरी, श्यामा सुन्दरी, मनमोहिनी, त्रिभुवनमोहिनी, त्रैलोक्य विजयिनी, सुभद्रा, ब्रह्माणी, अनादिनी देवी, जगन्मोहिनी इत्यादि-इनमें से मैं तुम्हें कोई एक नाम से पुकार सकता हूं। पर उपासना भेद से तथा इस काव्य को देख मैं इस समय केवल 'श्यामा' ही कहूंगा।''

'श्यामालता' (सन् 1885) के छंदों को छत्तीसगढ़ और सोनाखान के रमणीक वन, पर्वतों और झरनों के किनारे रचा। इनमें 132 छंद हैं। 'प्रेमसम्पत्तिलता' (सन् 1885) भी यहीं लिखा। इसमें 47 सवैया और 4 दोहा है। इसमें श्यामा और उसके वियोग का मार्मिक चित्रण है। इसी समय उन्होंने गद्य-पद्य उपन्यास 'श्यामास्वप्न' की रचना की। इसे उन्होंने अपने मित्र बाबू मंगलप्रसाद को समर्पित किया है। इस उपन्यास की गणना खड़ीबोली के प्रारंभिक उपन्यासों में की जा सकती है। यह गद्य रचना होते हुए भी काव्यात्मक है। रचनाकार ने अपने भावों को अधिक मार्मिक और प्रभावशाली बनाने के लिए पद्यों का आश्रय लिया है। इसमें लेखक द्वारा रचित कवित्त तो हैं ही, इसके अलावा देव, बिहारी, कालिदास, तुलसीदास, गिरधर, बलभद्र, श्रीपति, पद्माकर तथा भारतेन्दु की रचनाओं का भी प्रयोग हुआ है। उन्होंने इसमें श्रीराम के दंडकवन जाने और रास्ते में सुन्दर वन, नदी और पर्वतादिक मिलने का सुन्दर वर्णन किया है :-

बहत महानदि जोगिनी शिवनद तरल तरंग।
कंक गृध्र कंचन निकर जहं गिरि अतिहि उतंग।।
जहं गिरि अतिहि उतंग लसत श्रृंगन मन भाये।
जिन पै बहु मृग चरहिं मिष्ठ तृण नीर लुभाये।।

जोगिनी आज जोंकनदी और शिवनद शिवनाथ नदी के नाम से सम्बोधित होती हैं और शिवरीनारायण में महानदी से मिलकर 'त्रिवेणी संगम' बनाती हैं। यहां पिंडदान करने से बैकुंठ जाने का उल्लेख 'शिवरीनारायण माहात्म्य' में हुआ है:-

शिव गंगा के संगम में, कीन्ह अस पर वाह।
पिण्ड दान वहां जो करे, तरो बैकुण्ठ जाय।।

सन् 1886 में 'श्यामा सरोजनी' की रचना हुई। इसमें 204 छंद है। श्यामा को समर्पित करते हुए इस पुस्तक में लेखक लिखते हैं :-''हृदयंगमे ! मनोर्थ मंदिर की मूर्ति ! लो यह श्यामा सरोजनी तुम्हें समर्पित है। श्यामालता से इसकी छटा कुछ और है, वह श्यामालता थी-यह उसी लता मंडप के मेरे मानसरोवर की श्यामा सरोजनी है, इसका पात्र और कोई नहीं जिसे दूं। हां एक भूल हुई कि श्यामास्वप्न एक प्रेमपात्र को समर्पित किया गया पर यदि तुम ध्यान देकर देखो तो वास्तव में भूल नहीं हुई, हम क्या करें, तुम अब चाहती हो कि अब ढोल पिटें, आदि ही से तुमने गुप्तता की रीति एक भी नहीं निबाही। हमारा दोष नहीं तुम्हीं बिचारो मन चाहै तो अपनी तहसीलदारी देख लो, दफ्तर के दफ्तर मिसलबंदी होकर धरे हैं, आप में कहकर बदल जाने की प्रकृति अधिक थी इसीलिये प्रेमपात्र को स्वप्न समर्पित कर साक्षी बनाया अब कैसे बदलोगी ?जाने दो इस पवारे से क्या-'नेकी बदी जो बदीहुती भाल में होनीहुती सु तो होय चुकी री' पर यह तुम दृढ़ बांध रखना कि मैं यद्यपि तेरा वही सेवक और वही दास हूं जिसको तूने इस कलियुग में दर्शन देकर कृतार्थ किया था- अब आप अपनी दशा तो देखिये मैं तो अब यही कहकर मौंन हो जाता हूं।'' एक सवैया देखिये-

जिनके हितु त्यागि कै लोक की लाज की संगही संग में फेरी कियो।
हरिचंद जू त्यो मग आवत जात में साथ घरी-घरी घेरी कियो।
जिनके हितु मैं बदनाम भई तिन नेकु कहयो नहिं मेरो कियो।
हमै व्याकुल छाड़ि कै हाय सखी कोउ और के जाय बसेरो कियो।।

'श्यामा सरोजनी' में श्यामा के वियोग में विरह व्यथा का उत्कृष्ट वर्णन हुआ है :-

यह चैत अचेत करै हमसे दुखियान को चांदनी छार करै।
पर ध्यान धरो निसिवासर सो जेहि को मुहि नाम सुपार करै।।
यह श्यामा सरोजनी सीस लसै मन मानस हंसिनी हार करै।
जगमोहन लोचन पूतरी लौं पल भीतर बैठि बिहार करै।।

इससे प्रमाणित होता है कि उन्होंने अपने प्रेम में असफल होकर निराशा पायी। श्यामास्वप्न में श्यामा के दोनों प्रेमी कमलाकांत और श्यामसुन्दर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कवि जगमोहन ही जान पड़ते हैं, कारण हाकिनी के प्रभाव से कारामुक्त कमलाकांत अचानक अपने को कविता कुटिर में पाते हैं जहां श्यामालता-कहीं सांख्य, कहीं योग-कहीं देवयानी के नूतन रचित पत्र बिखरे पड़े हैं। यह श्यामालता और देवयानी स्वयं जगमोहन सिंह की रचनाएं हैं और सांख्य सूत्रों का आर्याछंदों में अनुवाद भी उन्होंने ही किया है। श्यामा सरोजनी के बाद कवि की किसी अन्य रचना का प्रकाशन नहीं हुआ है। जान पड़ता है कि प्रेम के

उल्लास और फिर निराशा के आवेग में उन्होंने डेढ़-दो वर्ष में ही तीन-चार रचनाएं रच डालीं फिर आवेश कम होने पर वे शिथिल पड़ गये। अंतिम रचना वे ''जब कभी'' नाम से लिखते रहे, इसमें जब जैसी तरंग आई कुछ लिख लिया करते थे। यह गद्य पद्यमय रचना अपूर्ण और अप्रकाशित है। स्फुट कविताएं और समस्या पूर्तियां भी इन्होंने की हैं लेकिन ये डायरी के पन्नों में कैद होकर प्रकाश में नहीं आ सकीं। ब्रजरत्नदास ने भी श्यामास्वप्न के सम्बंध में लिखा है-'कुछ ऐसा ज्ञात होता है कि ठाकुर साहब ने कुछ अपनी बीती इसमें कही है।' उनकी बिरह की एक बानगी उनके ही मुख से सुनिये-

श्यामा बिन इत बिरह की लागी अगिन अपार
पावस धन बरसै तरू बुझै न तन की झार।
बुझै न तन की झार मार निज बानन मारत
आंसू झरना डरन मरन को जो मुहिं जारत।
जारत अंत अनंग मीत बनि नीरद रामा
कैसे काटो रैन बिना जगमोहन श्यामा।

सन् 1884 में भारत जीवन प्रेस, बनारस से ''सज्जनाष्टक'' प्रकाशित हुई थी। इसमें शिवरीनारायण के आठ सज्जन व्यक्तियों का वर्णन है। वे इसकी भूमिका में लिखते हैं-'इस पुस्तक में आठ सज्जनों का वर्णन है, जो शबरीनारायण को पवित्र करते हैं। आशा है कि इन लोगों में परस्पर प्रीति की रीति प्रतिदिन बढ़ेगी और ये लोग ''सज्जन'' शब्द को सार्थक करेंगे। इसको मैंने सबके विनोदार्थ रचा है।' इसमें मंगलाचरण और शबरीनारायण को नमन करते हुए मंदिर के पुजारी पंडित यदुनाथ भोगहा के बारे में उन्होंने लिखा है:-

है यदुनाथ नाथ यह सांचो यदुपति कला पसारी।
चतुर सुजन सज्जन सत संगत जनक दुलारी।।

दूसरे और तीसरे सज्जन शिवरीनारायण मठ के महंत स्वामी अर्जुनदास और स्वामी गौतमदास जी और चौथे पं. ऋषिराम शर्मा हैं। पांचवे सज्जन यहां के लखपति महाजन श्री माखनसाव थे जिन्होंने दो धाम की यात्रा सबसे पहले करके रामेश्वरम में जल चढ़ाकर पुण्यात्मा बने थे। छठे सज्जन सुप्रसिद्ध कवि और शिवरीनारायण माहात्म्य को प्रकाशित कराने वाले पंडित हीराराम त्रिपाठी, सातवें श्री मोहन पुजारी और आठवें लक्ष्मीनारायण मंदिर के पुजारी पंडित श्री रमानाथ थे। अंतिम तीन दोहा में उन्होंने पुस्तक की रचनाकाल और सार्थकता को लिखा है-

रहत ग्राम एहि विधि सबै सज्जन सब गुन खान।
महानदी सेवहिं सकल जननी सब पय पान।।32।।
श्री जगमोहन सिंह रचि तीरथ चरित पवित्र।
सावन सुदि आठैं बहुरि मंगलवार विचित्र।।33।।
संवत विक्रम जानिए. इन्दु वेद ग्रह एक।
शबरीनारायण सुभग जहं जन बहुत बिवेक।।34।।

इसे सत्संग का ही प्रतिफल माना जा सकता है। उन्होंने स्वयं लिखा है-

सत संगत मुद मंगल मूला।
सुइ फल सिधि सब साधन फूला।।

इसी प्रकार 21, 22 और 23 जून सन् 1885 में महानदी में आई बाढ़ और उससे शिवरीनारायण में हई तबाही का, महानदी के उद्गम स्थली सिहावा से लेकर अंत तक उसके किनारे बसे तीर्थ नगरियों का छंदबद्ध वर्णन उन्होंने 'प्रलय' में किया है। प्रलय सन् 1889 में जब वे कूचबिहार के सेक्रेटरी थे, तब प्रकाशित हुआ था। इसमें दोहा, चौपाई, सोरठा, कुंडलियां, भुजंगप्रयात, तोटक और छप्पय के 116 छंद हैं। देखिये उनका एक छंद–

शिव के जटा विहारिनी बही सिहावा आय।
गिरि कंदर मंदर सबै टोरि फोरि जल जाय।।3।।
राजिम श्रीपुर से सुभग चम्पव उद्यान।
तीरथ शबरी विष्णु को तारत वही सुजान।।4।।
सम्बलपुर चलि कटक लौ अटकी सरिता नाहि।
सरित अनेकन लै कटकपुरी पहुंच जल जाहि।।5।।

इस बाढ़ में शिवरीनारायण का तहसील कार्यालय महानदी को समर्पित हो गया। उसके बाद सन् 1891 में तहसील कार्यालय जांजगीर में स्थानांतरित कर दिया गया और शिवरीनारायण को बाढ़ क्षेत्र घोषित कर दिया गया था। देखिये कवि की एक बानगी–

पुनि तहसील बीच जहं बैठत न्यायाधीश अधीशा।
कोष कूप(क) पर भूप रूप लो तहं पैठ्यो जलधीशा।।37।।

शिवरीनारायण में बाढ़ से हुई तबाही का एक दृश्य देखिये–

पुरवासी व्याकुल भए तजी प्राण की आस
त्राहि त्राहि चहुं मचि रह्यो छिन छिन जल की त्रास
छिन छिन जल की त्रास आस नहिं प्रानन केरी
काल कवल जल हाल देखि बिसरी सुधि हेरी
तजि तजि निज निज गेह देहलै मठहिं निरासी
धाए भोगहा और कोऊ आरत पुरवासी।।52।।

सब रमापति भगवान शिवरीनारायण की स्तुति करने लगे-

जय जय रमानाथ जग पालन। जय दुख हरन करन सुख भावन।
जय शबरीनारायण जय जय। जय कमलासन त्रिभुवनपति जय।।76।।

उन्होंने ''श्यामालता'' और ''देवयानी'' की रचना की। ये दोनों रचना सन् 1884 में रची गयीं और इसे श्यामास्वप्न और श्यामा विनय की भूमिका माना गया। श्यामास्वप्न एक स्वप्न कथा है–एक ऐसी फैन्टेसी जो अपनी चरितार्थता में कार्य–कारण के परिचित रिश्ते को तोड़ती चलती है। देश को काल और फिर काल को देश में बदलती यह स्वप्न कथा ऊपर से भले ही असम्भाव्य संभावनाओं की कथा जान पड़े लेकिन अपनी गहरी व्यंजना में वह संभाव्य असंभावनाओं का अद्भुत संयोजन है। श्यामास्वप्न के मुख पृष्ठ पर कवि ने इसे ''गद्य प्रधान चार खंडों में एक कल्पना'' लिखा है। परन्तु अंग्रेजी में इसे ''नावेल'' माना है। हालांकि इसमें गद्य और पद्य दोनों में लिखा गया है। लेकिन श्री अम्बिकादत्त व्यास ने इसे गद्य प्रधान माना है। उपन्यास आधुनिक युग का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य रूप है जिसे आधुनिक मुद्रण

यंत्र युग की विभूति कह सकते हैं। मध्य युगीन राज्याश्रय में पलने वाले साहित्य में यह सर्वथा भिन्न है। देखिए कवि की एक बानगी :-

मोतिन कैसी मनोहर माल गुहे तुक अच्छर जोरि बनावै।
प्रेम को पंथ कथा हरिनाम की बात अनूठी बनाय सुनावै।
ठाकुर सो कवि भावत मोहि जो राजसभा में बड़प्पन पावै।
पंडित को प्रवीनन को जोई चित्त हरै सो कवित्त कहावै।

श्यामास्वप्न के सभी चरित्र रीतिकालीन काव्य के विशेष चरित्र हैं। कमलाकांत और श्यामसुंदर अनुकूल नायक हैं। श्यामा मुग्धा अनूठी परकीया नायिका है और वृन्दा उनकी अनूठी सखी है। रचनाकार ने सबको कवि के रूप में प्रस्तुत किया है। उनकी कविताएं श्रृंगार रस से सराबोर है। इससे इस उपन्यास का वातावरण रीतिकालीन परम्परासम्मत हो गया है और इसका कथानक जटिल बन पड़ता है। कवि स्वयं कहता है :-

बहुत ठौर उन्मत्त काव्य रचि जाको अर्थ कठोरा।
समुझि जात नहिं कैहू भातिन संज्ञा शब्द अथोरा।
सपनो याहि जानि मुहिं छमियो विनवत हौं कर जोरी।
पिंगल छंद अगाध कहां मम उथली सी मति मोरी।।

तृतीय और चतुर्थ पहर के स्वप्न में इस प्रकार के उन्मत्त काव्य आवश्यकता से अधिक हैं। प्रथम और द्वितीय पहर के स्वप्न में मुख्य कथा के नायक नायिका का परिचय उनका एक दिन अचानक आंखें चार होने पर प्रेम का उदय, फिर उसका क्रमशः विकास, प्रेम संदेश और पत्रों का आदान-प्रदान फिर प्रेम निवेदन, अभिसार और अंत में समागम आदि का क्रमिक वर्णन बड़े स्वाभाविक ढंग से कवित्तपूर्ण शैली में किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि कमलाकांत और श्यामसुंदर दोनों जगमोहनसिंह के प्रतिबिंब हैं। जो भी हो, उनका संस्कृत और हिन्दी का अध्ययन विस्तृत था। उन्होंने संस्कृत और हिन्दी काव्यों का रस निचोड़कर श्यामास्वप्न में भर देने का प्रयत्न किया है। उनकी रचनाओं में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। रीतिकालीन अलंकारप्रियता और चमत्कार के स्थान पर भारतेन्दु ने रसात्मकता और स्वाभाविकता को विशेष महत्त्व दिया, उसी प्रकार ठाकुर जगमोहनसिंह की कविता में भी सरल, सहज, स्वाभाविकता और सरलता मिलती है। देखिए एक बानगी :-

अब कौन रहौ मुहि धीर धरावती को लिखि है रस की पतियां।
सब कारज धीरज में निबहै निबहै नहिं धीर बिना छतियां।
फलिहे कसमै नहिं कोटि करो तरू केतिक नीर सिचौ रतियां।
जगमोहन वे सपने सी भई सु गई तुअ नेह भरी बतियां।।

श्यामास्वप्न और श्यामा विनय को एक साथ लिखने के बाद सन् 1886 में श्यामा सरोजनी और फिर सन् 1887 में प्रलय लिखा। इस प्रकार सन् 1885 से 1889 तक रचना की दृष्टि से उत्कृष्ट काल माना जा सकता है। सन् 1885 में शबरीनारायण में बड़ा पूरा (बाढ़) आया था जिसके प्रलयंकारी दृश्यों को उन्होंने ''प्रलय'' में उकेरा है। प्रलय की एक बानगी कवि के मुख से सुनिये :-

शबरीनारायण सुमरि भाखौ चरित रसाल।
महानदी बूड़ो बड़ो जेठ भयो विकराल।
अस न भयो आगे कबहूं भाखै बूढ़े लोग।
जैसे वारिद वारि भरि ग्राम दियो करि सोग।।

जगमोहनसिंह ने छत्तीसगढ़ के प्राकृतिक सौंदर्य को बखूबी समेटा है। अरपा नदी के बारे में कवि ने लिखा है:

अरपा सलिल अति विमल विलोल तोर,
सरपा सी चाल बन जामुन ह्वै लहरे।
तरल तरंग उर बाढ़त उमंग भारी,
कारे से करोरन करोर कोटि कहरै।।

सन् 1887 में श्यामा सरोजनी की भूमिका में ठाकुर जगमोहनसिंह ने लिखा है:- ''श्यामास्वप्न के पीछे इसी में हाथ लगा और दक्षिण लवण (लवन) के विख्यात् गिरि कंदरा और तुरतुरिया के निर्झरों के तीर इसे रचा। कभी महानदी के तीर को जोगी जिसका शुद्ध नाम योगिनी है, उसके तीर, देवरी, कुम्भकाल अथवा कुंभाकाल जिसका अपभ्रंश नाम कोमकाल है, काला जंगल आदि विकट पर्वतों के निकट मनोहर वनस्थलियों पर इसकी रचना की। प्रकृति की सहायता से सब ठीक बन गया।'' बसंत पर कवि ने लिखा है:-

आज बसंत की पंचमी भोर चले बहुं पौन सुगंध झकोरे।
कैलिया आम की डारन बैठि कुहू कुहू बोलि कै अंग मरोरे।।
भोर की भीर झुकी नव मोर पै उपर तो झरना झरै जौरै।
प्यारी बिना जगमोहन हाय बयार करेजन कोचै करोरे।।

इसी प्रकार उन्होंने संवत् 1944 में पंडित विद्याधर त्रिपाठी द्वारा विरचित 'नवोढ़ादर्श' को भारत जीवन प्रेस काशी से प्रकाशित कराया। इसके बारे में उन्होंने लिखा है :-

रच्यौ सु रस श्रृंगार के अनुभव को आदर्श।
रसिकन हिय रोचक रसिक नवल नवोढ़ादर्श।।

काशी में रहकर विद्याध्ययन करने से उन्हें जो लाभ हुआ वह अलग है लेकिन उन्हें सुप्रसिद्ध साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चंद्र और पंडित रामलोचन त्रिपाठी की मित्रता का लाभ मिलना कम उपलब्धि नहीं है। उनकी यह मित्रता जीवन भर बनी रही। उन्होंने सन् 1876 में पंडित रामलोचन त्रिपाठी का ''जीवन बृत्तांत'' प्रकाशित कराया था। देखिये उनका एक दोहा :-

स्वस्ति श्री सद्गुण सदन सदन रूप कमनीय।
जगमोहन साचो सुहृद मो जीयन को जीय।।1।।
पाती कर आतो भई छाती लई लगाय।
ईपाती काती बिरह साथी सी सरसाय।।2।।
खान पान छूटत सबै नैना बरसत मेह।
ये विधना तुम कित रचे विरह रचे जो नेह।।3।।
बन्धनिया जग मै बहुत प्रेम बंध अनुरूप।
दारू कठिन काटत मधुप मरत कमल के कूप।।4।।
जाचनि मै लघुता हुतो पै जाचत हम चाहि।
लागलती उन प्रेम की रहै हमारे माहि।।5।।
अपने लघु मति मित्र पै सदा रहैं अनुकूल।
मर्दशरीफन कै सबै अर्थ होत सम तूल।।6।।
श्री रामलोचन प्रसादस्याशीर्वादा व्रजन्तु
श्री पण्डित प्रयागदत्त शर्म्मणे नमः''

ठाकुर जगमोहनसिंह की रचनाओं में भाषा का अपना एक अलग महत्त्व है जो उन्हें उनके समकालीन रचनाकारों से विशिष्ट बनाती है। उनकी भाषा बंधी बंधाई, कृत्रिम अथवा आरोपित भाषा नहीं है, वरन् जीवन रस में आकंठ डूबी हुई सहज, स्वाभाविक निर्मुक्त और निर्बंध भाषा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल उनके बारे में लिखते हैं:-''प्राचीन संस्कृत साहित्य से अभ्यास और विंध्याटवी के रमणीय प्रदेश में रहने के कारण विविध भावमयी प्रकृति के रूप माधुर्य की जैसी सच्ची परख, सच्ची अनुभूति ठाकुर जगमोहनसिंह में थी, वैसी उस काल के किसी हिन्दी कवि या लेखक में नहीं थी। अब तक जिन लेखकों की चर्चा हुई है, उनके हृदय में इस भूखंड की रूप माधुरी के प्रति कोई सच्चा प्रेम और संस्कार नहीं था। परंपरा पालन के लिए चाहे प्रकृति का वर्णन उन्होंने किया हो पर वहां उनका हृदय नहीं मिलता। अपने हृदय पर अंकित भारतीय ग्राम्य जीवन के माधुर्य का जो संस्कार ठाकुर जगमोहनसिंह ने श्यामास्वप्न में व्यक्त किया है, उसकी सरसता निराली है। बाबू हरिश्चंद्र और पंडित प्रताप नारायण आदि कवियों की दृष्टि ही हृदय की पहुंच मानव क्षेत्र तक ही थी, प्रकृति के अपर क्षेत्रों तक नहीं, पर ठाकुर जगमोहनसिंह ने नर क्षेत्र के सौंदर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौंदर्य के मेल में देखा है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के रुचि संस्कार के साथ भारत भूमि की प्यारी रूपरेखा को मन में बसाने वाले वे पहले हिन्दी के लेखक थे। वे अपना परिचय कुछ इस प्रकार देते हैं :-

सोई विजय सुराघवगढ़ के राज पुत्र वनवासी।
श्री जगमोहन सिंह चरित्र यक गूढ़ कवित्त प्रकासी।।

ठाकुर जगमोहनसिंह का व्यक्तित्व एक शैली का व्यक्तित्व था। उनमें कवि और दार्शनिक का अद्भूत समन्वय था। अपने माधुर्य में पूर्ण होकर उनका गद्य काव्य की परिधि में आ जाता था। उनकी इस शैलीको आगे चलकर चडीप्रसाद हृदयेश, राजा राधिका रमण सिंह, शिवपूजन सहाय, राय कृष्णदास, वियोगीहरि और एक सीमा तक जयशंकर प्रसाद ने भी अपनाया था।

इतिहास के पृष्ठों से पता चलता है कि दुर्जनसिंह को मैहर का राज्य पन्ना राजा से पुरस्कार में मिला। उनके मृत्योपरांत उनके दोनों पुत्र क्रमश: विष्णुसिंह को मैहर का राज्य और प्रयागसिंह को कैमोर-भांडेर की पहाड़ी का राज्य देकर ईस्ट इंडिया कंपनी ने दोनों भाइयों का झगड़ा शांत किया। प्रयागसिंह ने तब वहां राघव मंदिर स्थापित कर विजयराघवगढ़ की स्थापना की। सन् 1846 में उनकी मृत्यु के समय उनके इकलौते पुत्र सरयूप्रसाद सिंह की आयु मात्र पांच वर्ष थी। इसलिए उनका राज्य 'कोर्ट ऑफ वार्ड्स' के अधीन कर दिया गया। सरयूप्रसाद ने निर्वासित जीवन व्यतीत करते हुये सन् 1857 में अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष किया। तब उन्हें कालेपानी की सजा सुनायी गयी। लेकिन उन्होंने आत्महत्या कर ली। उस समय उनके पुत्र जगमोहनसिंह की आयु छ: मास थी। अंग्रेजों की देखरेख में उनका लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा हुई। 09 वर्ष की आयु में उन्हें वार्ड्स इंस्टीट्यूट, क्वीन्स कालेज, बनारस में आगे की पढ़ाई के लिए दाखिल किया गया। यहां उन्होंने 12 वर्षो तक अध्ययन किया। देवयानी में उन्होंने लिखा है :-

रचे अनेक ग्रंथ जिन बालापन में काशीवासी।
द्वादश बरस बिताय चैन सों विद्यारस गुनरासी।।

काशी में ही उनकी मित्रता सुप्रसिद्ध साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चंद्र से हुई जो जीवन पर्यन्त बनी रही। मूलत: वे कवि थे। आगे चलकर उन्होंने नाटक, अनुवाद, उपन्यास आदि सभी विधाओं पर लिखा। श्यामास्वप्न उनका पहला उपन्यास है जो आज छत्तीसगढ़ राज्य का पहला उपन्यास माना गया है। उनकी पहचान एक अच्छे आलोचक के रूप में भी थी। ऋतुसंहार संभवत: उनकी प्रथम प्रकाशित रचना है।

देवयानी में अपनी पुस्तकों की एक सूची उन्होंने दी है :-

प्रथम पंजिका अंग्रेजी में पुनि पिंगल ग्रंथ बिचारा।
करै भंजिका मान विमानन 'प्रतिमाक्षर' कवि सारा।।
बाल प्रसाद रची जुग पोथी खची प्रेमरस खासी।
दोहा जाल 'प्रेमरत्नाकर' सो न जोग परकासी।।
कालिदास के काव्य मनोहर उल्था किये बिचारा।
'रितु संहारहिं, मेघदूत पुनि संभव ईश कुमारा'।।
अंत बीसई बरस रच्यो पुनि 'प्रेमहजारा' खासों।
जीवन चरित रामलोचन को जो मम प्रान सखा सो।।
'सज्जन अष्टक' कष्ट माहि में विरच्यौ मति अनुसारी।
'प्रेमलता सम्पति' बनाई भाई नवरस भारी ।।
एक नाटिका 'सुई' नाम की रची बहुत दिन बीते।
अब अट्ठाइस बरस बीच यह 'श्यामालता' पिरीते।।
श्यामा सुमिरि जगत श्यामामय 'श्यामाविनय' बहोरी।
जल थल नभ तरु पातन श्यामा श्यामा रूप भरोरी।।
'देवयानी' की कथा नेहमय रची बहुत चित लाई।
श्रमण विलाप साप लौ कीन्हौ तन की ताप मिटाई।।

अंतिम समय में उन्हें प्रमेह रोग हो गया। तब डॉक्टरों ने उन्हें जलवायु परिवर्तन की सलाह दी। छः मास तक वे घूमते रहे। सरकारी नौकरी छोड़ दी और अपने सहपाठी कूचविहार के महाराजा नृपेन्द्रनारायण के आग्रह पर वे स्टेट काउंसिल के मंत्री बने। दो वर्ष तक वहां रहे और 04 मार्च सन् 1899 में उनका देहावसान हो गया। उनके निधन से साहित्य जगत् को अपूरणीय क्षति हुई जिसकी भरपायी आज तक संभव नहीं हो सकी है।

राष्ट्रभूमि की वंदना

गंगा, सिंधु, ब्रह्म सरि जावै प्रतिपल अर्घ चढ़ावैं।
केसपास नगराज सँवारैं मोतिन लड़ी लगावैं।।
विंध्याचल की मधुर कौंधनी रुनझुन-रूनझुन बाजै।
नीलगिरि पर्वत की माला बनि पैंजनि पग साजै।
'हिंद मोदधि' चरन पखारै लै झकोर लहरावै।
घनमालाएँ भेजि जननि कौ सुभ अभिसेक करावै।।
कर्म-बोध दै रही महासागर की घन-गर्जन।
भारतमैया के चरनन कौ भैया! करि वंदन।।

– डॉ. अम्बाप्रसाद 'सुमन'

श्री राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह 'प्यारे' की हिंदी उपासना

डॉ. शिववंश पाण्डेय

साहित्य संस्कृति और कला के विकास में राजा-महाराजाओं का प्रभूत योगदान रहा है। कवि, कलाकारों, साहित्यकारों, संगीतकारों आदि को न केवल आश्रय प्रदान कर राजे-महाराजे, सम्राट्-बादशाह, सेठ, सामन्त आदि ने उन्हें रोजी-रोटी की चिन्ता से मुक्त कर कला की साधना के लिए स्वतंत्र किए हुए थे अपितु अनेक राजे-महाराजे आदि स्वयं साहित्य-साधक एवं कला-मर्मज्ञ थे। इनके कलात्मक अवदान से साहित्य एवं कला-जगत् आज भी अपने को उपकृत महसूस करता है। साहित्य एवं कलाओं के विकास के इस बिन्दु पर भी बिहार का योगदान प्रशस्य रहा है। बनैली इस्टेट के मालिक श्री कीर्त्यानंद सिंह, गिद्धौर इस्टेट के राजा पूरनमल, हथुआ इस्टेट के राजा श्री कृष्ण प्रताप शाही, दरभंगा नरेश लक्ष्मेश्वर सिंह, डुमराँव राज के महाराजा राधा प्रसाद सिंह और सूर्यपुरा इस्टेट के शासक दीवान श्री रामकुमार सिंह उपनाम 'कुमार' से लेकर उनके सुपुत्र श्री राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह 'प्यारे', सुपौत्र राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह, और राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह के पुत्र उदय राज सिंह तथा उनके सुपुत्र श्री प्रमथराज सिंह तक साहित्य की सेवा में लगे रहे हैं। इस तरह से सूर्यपुरा इस्टेट की पाँच पीढ़ी साहित्य सेवा में सतत संलग्न रही हैं।

श्री राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह 'प्यारे' के पिता दीवान रामकुमार सिंह 'कुमार' कहा जाता है कि ''रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि पजनेस और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पूज्य पिता गिरिधरदास जी दीवान राम कुमार सिंह 'कुमार' के समकालीन थे। गिरिधरदास जी और उनका जन्म भी एक ही संवत् (1863) में हुआ था।'' (द्र. डॉ. पदम सिंह शर्मा 'कमलेश'-'' श्री राधिका रमण प्रसाद सिंह'')

श्री रामकुमार सिंह 'कुमार' साहित्य, संगीत और कला के मर्मज्ञ थे। उनकी अधिकांश रचनाएँ अप्राप्त हैं परन्तु ब्रजभाषा में लिखी उनकी कुछ कविताएँ 'श्री राजराजेश्वरी ग्रंथावली' में छपी हुई हैं। ये शिव-पार्वती के अनन्य भक्त थे। इनकी अधिकांश रचनाएँ भक्तिपरक हैं।

श्री राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह 'प्यारे' ऐसे ही सुयोग्य पिता की सुयोग्य संतान थे। ''कुमार जी की दो-दो शादियाँ हुई थीं पर किसी से कोई संतान नहीं हुई। अंत में कुमार जी की तीसरी शादी वाजीपुर (बलिया जिला) में ''कन्या मैया जी'' से हुई। 'प्यारे' जी का जन्म इसी पत्नी से विक्रम संवत् 1922 (सन् 1865 ई.) के पौष मास में हुआ।'' (द्र. ब्रह्मेश्वर नाथ तिवारी - राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह 'प्यारे' जीवनी और कृतियाँ पृ. 24-25)

संवत् 1937 में 15 वर्ष की अवस्था में ही अपका विवाह मुजफ्फरपुर जिला स्थित परमानन्दपुर में रहने वाली शकुन्तलादेवी से हो गया। विवाह के एक वर्ष बाद ही संवत् 1938 में उनके पिताजी का देहावसान हो गया। कच्ची उम्र में ही राज्य का सारा दायित्व उनके बाल कंधों पर आ गया पर उन्होंने बड़ी ही निष्ठा और कर्मठता से इस भार का निर्वाह किया।

पुस्तकों से आपका अगाध स्नेह था। जब भी राजकाज से अवकाश मिलता वे पुस्तकें पढ़ने बैठ जाते थे। विद्याप्रेमी के साथ-साथ आप कलावंत और कला प्रेमी भी थे। ''आपने अपने दरबार में सभी तरह के कलाकारों का जमघट लगा दिया, जिनके सत्संग ने आपको राजा से कवि और कवि से पहलवान,

संगीतज्ञ, नाटककार, चित्रकार तक होने के अवसर प्रदान किए। इनकी ग्रंथावली से प्राप्त विवरण के आधार पर यह पता चलता है कि आप एक दिन में पाँच-पाँच सौ पृष्ठों की पुस्तक पढ़ डालते थे, और वह भी गंभीर मनन के साथ। आपकी पढ़ी हुई विभिन्न पुस्तकों का एक विशाल संग्रह जो अद्यावधि सूर्यपुरा के उद्यान भवन में पुस्तकालय का रूप ले चुका है। आप हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत उर्दू, अरबी, फारसी आदि का विशेष ज्ञान रखते थे। प्रान्तीय भाषाओं में पश्तों, गुर्खा, उड़िया आदि का भी आपको अच्छा ज्ञान था। संस्कृत और काव्य की ओर आपका झुकाव बचपन से ही था। गाना और बजाना दोनों ललित कलाएँ आप जानते थे। आपके जीवन का एक अंग अभी भी साहित्यिक जगत् के सामने नहीं आ पाया है और वह है चित्रकारी। आपकी पत्नी के पास एक मोटी-सी कॉपी थी जिसमें आपकी चित्रकारी सुरक्षित थी। किन्तु बाद में पता नहीं चल सका, वह कहाँ गायब हो गई।'' (द्र. उपरिवत् पृ. 27-28)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में जिस प्रकार भारतेन्दु जी के सहयोगी साहित्यकारों का एक मण्डल बन गया था जिसमें 'बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रताप नारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह, अंबिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट आदि सम्मिलित थे, उसी प्रकार राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह 'प्यारे' के दरबार में भी साहित्य-सेवियों का मंडल बना हुआ था जिसमें लछिराम, मार्कण्डेय (चिरंजीव), कवि संत, मिश्र श्यामसेवक, धनारंग, प्रकाश, इन्दु, राम चरित, मिरजा साहेब, पं. दामोदर प्रसाद आदि कवि और शायर सम्मान पाते थे। (द्र. उपरिवत् पृ. 28) आपके दरबार में कवि सम्मेलनों और मुशायरों का बराबर आयोजन होता रहता था। उनके ज्येष्ठ आत्मज उपन्यास प्रजापति राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह ने अपनी पुस्तक 'टूटा तारा' में ऐसे कवि-सम्मलेनों और मुशायरों का आँखों देखा बयान प्रस्तुत किया है।

भारतेन्द्र हरिश्चन्द्र और विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से उनकी गाढ़ी मित्रता थी। ''जब भारतेन्दु बाबू का आगमन आपकी राजधानी में हुआ था तब आपने बड़ी धूमधाम से उनका स्वागत-सत्कार किया था। 'प्यारे' जी भी जब काशी में उनके निवास स्थल पर गए थे तब भारतेन्दु जी ने भी उनकी खूब आवभगत की थी और राज्योचित सत्कार द्वारा उन्होंने 'प्यारे' जी को खुश कर दिया था। जोडासाँ (कोलकाता) में टैगोर बाड़ी के अत्यंत निकट 'प्यारे' जी का भी अपना विशाल भवन था। आप बराबर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के यहाँ जाते थे। अधिकतर उन्हीं के यहाँ दोस्तों की बैठक जमती थी। दोनों मित्रों में आत्मीयता इतनी थी कि जब कभी 'प्यारे' जी सूर्यपुरा (घर) आते तो कोलकाता में अपने परिवार का भार विश्व कवि को सौंप देते।'' (भारतेन्दु जी के साथ इनकी मित्रता का उल्लेख स्व0 शिवनंदन सहाय लिखित ''भारतेन्दु जी की जीवनी'' में तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ इनकी मित्रता का उल्लेख बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की पुस्तक 'उद्घाटन-समारोह-स्मारक' में हुआ है।)

'प्यारे जी के दरबार में पहलवानों, कलाकारों का जमघट लगा रहता था। वे स्वयं एक बड़े पहलवान और प्राचीन भारतीय संस्कृति के हिमायती थे। उनके शीर्ष साहित्यकार पुत्र राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह के शब्दों में -''कवि और गवैये तो थे ही, उस जमाने के कितने फन के गुणी बराबर मौजूद रहते। कोई ऐसी कला न थी, जिसके सर पर उनका हाथ न था और वह हाथ बराबर ऊँचा ही रहा है।'' (राधिकारमण प्रसाद सिंह-टूटा तारा, पृ. 187).

37 वर्ष की अल्पवय में ही, चैत्र शुक्ल नवमी सोमवार तदनुसार 6 अप्रैल 1903 ई. को वे हमसे सदा के लिए विलग हो गए।

कृतियाँ - आकस्मिक निधन के कारण उनकी अधिकांश रचनाएँ प्रकाश में नहीं आई। उपलब्ध रचनाओं का एक संग्रह उनके ज्येष्ठ पुत्र राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह द्वारा सन् 1937 ई. में प्रकाशित कराया गया जिसका नाम है ''श्री राजराजेश्वरी ग्रंथावली''। इनकी काव्य कृतियों को देखने से ज्ञात होता है कि इनका

काव्य-उपनाम 'प्यारे' था और इनकी कविताओं की भाषा ब्रजभाषा है। उर्दू-फारसी, भोजपुरी और बंगला की भी एक-दो रचनाएँ मिली हैं। काव्य-सर्जन के साथ-साथ इन्होंने बंगला साहित्य की कई नाटिकाओं के प्रहसन के हिन्दी अनुवाद भी किए हैं। एवंविध हम पाते हैं कि 'प्यारे' जी ने गद्य और पद्य दोनों में मौलिक और अनूदित रचनाओं का सृजन किया है। इनकी अधिकांश रचनाओं का सृजनकाल 1885 से 1895 ई. तक पाया जाता है।

विचारार्थ इनकी रचनाओं को हम तीन कोटियों में वर्गीकृत कर सकते हैं – मौलिक, अनूदित और अनुपलब्ध।

'प्यारे' जी मूलत: कवि रहे हैं। उनकी मूल प्रवृत्ति शृंगारिक रही है। उनकी ग्रंथावली में उनकी कविताओं को 'प्यारे प्रमोद' नाम से रखा गया है। इस ग्रन्थावली के आठ विभाग हैं :- 1. प्रेम-परिमल, 2. सौन्दर्य-सुधा, 3. शृंगार-सुहाग, 4. उत्कंठा-उल्लास, 5. विरह-वेदना, 6. ऋतु-रसामृत, 7. भक्तिभावना और 8. स्फुट सुमन।

'प्रेम-परिमल' : इस विभाग में आठ कवित्त और चौबीस सवैये हैं। प्रतिपाद्य विषय प्रेम है। इनकी प्रेम विषयक रचनाओं 'काँटों ऊपर सेज पिया का' प्रेम का पोषक तत्त्व है। प्रेम सुख-दुख की परवाह नहीं करता। वह प्रेम ही क्या जो केवल सुख की अभिलाषा रखें। प्रेम तो पाहन को पिघलाता है, काँटों की सेज लगाता है और रूखे-सूखे तण्डुल में अमृत का स्वाद प्राप्त करता है। यहाँ तो भगवान तक भी भाव के ही भूखे होते हैं। नर-नारी का कोई भेद नहीं होता। गोपियों के इशारे पर घनश्याम तक बिछल से जाते हैं। ऐसा प्रेम देव-निर्माल्य की तरह पवित्र है और ऐसे ही प्रेम को कवि ने बार-बार प्रणाम किया है। इस प्रेम का स्पष्टीकरण कवि ने एक गोपी के मुख से करवाया है। "(द्र. ब्रह्मेश्वर नाथ तिवारी-श्री राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह - जीवनी और कृतियां, पृ. 40-41)

"प्रेम ही की दासी अहौं, भूखी बस प्रेम ही की,
प्रेम ही को एक तन-मन के चहति हौं।
प्रेम ही को जानती और मानती सुप्रेम ही को,
रैन दिन प्रेम ही के ध्यान में रहति हौं।
प्रेम ही ते नाम, काम मेरो एक प्रेम ही ते,
प्रेम को ही 'प्यारे' बिसवास कै गहति हौं,।
प्रेम ही हमारो नेम, प्रेम ही हमारो जप,
प्रेम ही हमारो तप, प्रेम ही कहति हौं।।

सौन्दर्य-सुधा – इस विभाग में मुख्यत: सौन्दर्य का चित्रण हुआ है। इस विभाग के अंतर्गत 5 कवित्त और 16 सवैये हैं। संयोग शृंगार से सम्बद्ध अनेक रसात्मक चित्रों की मधुर छटाएँ इसमें सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं। उत्पेक्षा, अतिशयोक्ति, रूपक, रूपकातिशयोक्ति अलंकारों की बहार देखने योग्य है :-

"प्रात समय उठि केलि के मंदिर, कालिन्दी कूल गयो असनान को।
'प्यारे', जू ठाढ़ रहे सुबिलोकन, चारहु ओर छटा-छविछान को।
आई मेरे मन में उपमा, अवलोकि हिलोरन बिम्ब सु भान को।
प्यारी को आनन देखि दिवाकर ढूँढ़त ठौर मनो बुड़ि जान को।

शृंगार-सुहाग – इस विभाग में 13 कवित्त और 107 सवैये हैं। इसमें संयोग शृंगार का बड़ा ही रोमानी चित्रण हुआ है। "इसमें राधा का रूप-चित्रण, कृष्ण के प्रति अनुरक्ति, रति के लिए उत्सुक नायिका की

स्वाभाविक स्थिति एवं उसकी अधीरता, अबला नायिका की पति से प्रार्थना, संभोग के लिए नायिका की बेचैनी, कामुक नायिका को उपालंभ भरे विभ्रम-विलास, भावावेश में नायिका का नायक के समक्ष आत्मसमर्पण आदि का वर्णन रीति कालीन कवियों की परम्परा में उन्हें लाकर खड़ा कर देता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

''आये कहूँ पै बिताय निसा, मृगलोचनी के ढ़िंग स्याम सकारे।
देखत ही उठि आदर कै, बर आसन दे दोउ पांव पखारे।
हाथ उठाई सु देखिबे को, तब दीख पर्यो दृगद्वै अरुनारे।
ह्वैं रही काठ की पूतरी सो, कर खैंचे बन्यो न बन्यो गर डारे।।

उत्कंठा-उल्लास – इस विभाग में 11 सवैये हैं। इसके अन्तर्गत गोपियों की आन्तरिक मनोदशा और उत्कंठा-उल्लास का बड़ा ही हृदयावर्जक चित्र प्रस्तुत किया गया है। प्रेम-व्यापार के विभिन्न कार्यकलाप इस विभाग के प्रमुख वर्ण्य-विषय हैं। स्थाली पुलाक न्यायवत् एक स्थल उद्धृत है –

''मुख मोरि रही न हिं सौंह करे, दृग अंक में लालन के भरते।
परजंक पर धीरे से लेट रही, झलकै जिन किंकनी के डरते।
अति कौतुकी 'प्यारे' सुतोरी तनी, अंगिया की, सुकेतिकला करते।
गड़ी जाति लजीली सुलाजन ते, पै न छोड़ती पैंजनियाँ कर ते।।

विरह-वेदना – इस विभाग में 10 कवित्त और 32 सवैये हैं। विरह-वर्णन से सम्बन्धित सभी मनोदशाओं के वर्णन इनकी रचनाओं में हुए हैं। नमूना के तौर पर उनकी एक रचना निवेदित है –

''यह प्रेम की जोगिन हैं अँखियाँ, सब भाँति सहै ये चवाब कसाले।
कुल कानि की आहुति दै विरहागि में, नेह की बैठी सखी मृगछाले।
तुव नाम ही को नित मंत्र रहै, अरु ध्यावैं सदा तुव रूप रसा ले।
पिय 'प्यारे' तिहारे-निहारे बिना, निसि द्योस जपैं अंसुवान के माले।।

ऋतु-रसामृत – इस विभाग में विभिन्न ऋतुओं से संबंधित कवित्त-सवैये हैं। फाग पर 4 कवित्त, एक छप्पय और 19 सवैये हैं। वसंत ऋतुपर 11 कवित्त और 11 सवैये तथा पावस ऋतु पर 8 कवित्त, 2 छप्पय और 12 सवैये हैं। इन रचनाओं में उद्दीपन के रूप में प्रकृति का बड़ा ही मनोहारी चित्रण हुआ है। उन्होंने प्रकृति का मानवीयकरण करते हुए अलंकारों का चमत्कारी प्रयोग किया है। बानगी के तौर पर उनकी एक रचना यहाँ प्रस्तुत है –

''घेरे घोर घन के कुजोधन समाज जुर्यो केकी कूक बेधे कैधों अन्धसुत गारी है।
पूरे नाद ताल सर मातुल मनोर्थ कैधों, पाण्डु-धनु त्योंही डूब्यो कंज अनुहारी है।
सुजन सुनैन आंसु बरषा उसांस पौन, भीम-जानु-पीटन के गरज डरारी है।
चपला चमक कैधौं हंसिवो दुसासन को, सावन की रात कैधों द्रौपदी की सारी है।

भक्तिपरक रचनाएँ – लौकिक श्रृंगार के चित्रण में कवि ने जिस मादक मिठास की गहराई तक अपनी लेखनी को पहुँचाया उसी गहराई और तन्मयता से भक्तिभाव के चित्रण में भी अपने चित्त को लगाया था। रचनावली के इस विभाग में 11 कवित्त, 11 सवैये और दो भजन हैं। भक्तिभाव भावित इन की एक रचना अवलोकनार्थ –

''बसो इन नैनन में वह रूप।
सुन्दर, सुभग, सलोने स्यामल, सोभा भई अनूप।।
मनसिज ऐननैन कजरारे, अनियारे, रतनार
अल सौंहे झप कौंहे सोहैं, राधे प्रेम खुमार।।

स्फुट-सुमन - ''कुछ अनमोल मोतियों के दाने जो सीमा में परिगणित नहीं किये जा सके, स्फुट-सुमन में रखे गए हैं। इनमें कुछ समस्या पूर्तियाँ हैं, कुछ शास्त्रीय संगीत पदावलियों को संगृहीत किया गया है। दरबारी कवियों के प्रशस्तिगान भी कवि ने गाया है। भोजपुरी लोकगीत, होरी एवं बंगला गीत को भी इसी विभाग में रखा गया है जिसमें विभिन्न छन्दों के प्रयोग भाव और भाषा के अनुसार किए गए हैं। (द्र. उपरिवत्, पृ. 43)

इन काव्य रचनाओं के अतिरिक्त ''प्यारे'' जी ने बंगला नाटिका 'चित्रांगदा' (मूल नाटककार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर) का हिन्दी अनुवाद भी किया है। इस अनुवाद के सम्बन्ध में आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है-''बिहार प्रदेश के सूर्यपुरा के साकेतवासी राजा राजेश्वर प्रसाद सिंह कवीन्द्र के अंतरंग मित्र थे। उन्होंने पिछली शती के अंक में 'चित्रांगदा' रूपक के पहली बार प्रकाशित होते ही उसका अनुवाद हिन्दी में किया। राजा साहब हिन्दी की पुरानी काव्यधारा के प्रतिनिधित्व कवि थे। उन्होंने 'चित्रांगदा' के अनुवाद में हिन्दी की शैली का पीछा छोड़कर नाटक की मौलिकता को बचाने पर विशेष ध्यान दिया। यह ग्रंथ इनकी ग्रंथावली में छप चुका है।'' (द्र. आचार्य शिवपूजन रचनावली-तीसरा खंड, पृ. 491).

'बीरबाला' भी 'प्यारे' जी की अनूदित कृति है। किन्तु यह अनुवाद कब और किसकी कृति का किया गया है, यह अज्ञात है। यह ऐतिहासिक कृति मगध सम्राट् चन्द्रगुप्त और सिन्धु नरेश देवपाल के संघर्ष और सिल्यूकस की एकमात्र कन्या वीरबाला के प्रेम पर आधारित है।

'स्वाधीन बाला' प्यारे जी की यर्थाथवादी रचना है। किन्तु यह प्रहसन भी उनकी अनूदित कृति ही मालूम होती है जिसका स्पष्टीकरण उनकी ग्रंथावली के पृष्ठ 8 पर दिया हुआ है। इसमें नेपाल नामक युवक और हेमांकिनी नामक युवती को केन्द्र में रखते हुए आधुनिकता के फूहड़ रूप का विश्लेषण किया गया है।

''इन हिन्दी रचनाओं के अतिरिक्त कवि ने उर्दू, फारसी में भी रचनाएँ की थीं जिसका एकमात्र संग्रह 'दीवान' नाम की उनकी कविता पुस्तक थी। पढ़ने के लिए आपके दरबारी कवि एवं शायर मीरजा साहेब उसे अपने घर ले गए थे जहाँ उनका देहान्त हो गया। बहुत छानबीन करने पर भी वह पुस्तक उपलब्ध नहीं हो सकी।''

कवि द्वारा बनाये गए चित्रों की एक मोटी कॉपी भी हाल तक उनकी सहधर्मिणी के पास मौजूद थी पर वह भी न जाने कहाँ खो गई। अन्य विषयों पर लिखी अधिकांश रचनाओं का पुलिन्दा भी गायब हो गया, क्योंकि चिट-पुर्जो पर लिखे जाने के कारण उसका उचित संग्रह नहीं किया जा सका। इस तरह असामयिक मृत्यु के परिणामस्वरूप कवि द्वारा महत्त्वपूर्ण विषयों पर लिखी गई रचनाओं का एक खासा विशाल भांडार लुप्त हो गया। इसका स्पष्ट संकेत उनकी ग्रंथावली में किया गया है। (द्र. उपरिवत्, पृ. 50)

'प्यारे' जी ने साहित्य-संस्कृति के संवर्द्धन और जनकल्याण के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। सन् 1887 ई. में जन-सेवा के लिए सूर्यपुरा में एक विशाल अस्पताल बनवाया और आरा नगर में जलापूर्ति के अभाव को दूर करने के लिए उन दिनों अर्थात् 1892 ई. में डेढ़ लाख रुपये का दान दिया था। 'प्यारे' जी के लोककल्याण सम्बन्धी कार्यो से प्रसन्न होकर तत्कालीन सरकार ने 'राजा' की उपाधि से अलंकृत किया था।

संवत् 2013 में पटना के साहित्य-सम्मेलन-भवन में आपके तैलचित्र का अनावरण हुआ था। बिहार के तत्कालीन वित्त मंत्री स्व. अनुग्रह नारायण सिंह के हाथों अनावरण-समारोह सम्पन्न हुआ था। (नईधारा पत्रिका जुलाई 1959 पृ. 77)

'प्यारे' जी के नाम पर उनके सुयोग्य पुत्रों द्वारा सूर्यपुरा में एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय की स्थापना की गई है जो जिले के एक विख्यात विद्यालय के रूप में चर्चित है। विद्यालय का नाम श्री राज राजेश्वरी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय है। इस विद्यालय में बिहार के सुख्यात चित्रकार श्री उपेन्द्र महारथी द्वारा निर्मित 'प्यारे' जी का आदमकद चित्र टँगा है। सूर्यपुरा में एक संस्कृत विद्यालय और एक पुस्तकालय का निर्माण भी उन्हीं के नाम पर हुआ है। उनकी गोलोकवासिनी पत्नी शकुन्तला देवी के नाम पर 'रानी शकुन्तला कन्या पाठशाला' और 'प्यारे' जी के ही नाम पर राजराजेश्वरी साहित्य परिषद् की स्थापना की गई है। इनकी पुण्य स्मृति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए सूर्यपुरा में एक राजराजेश्वरी साहित्य मन्दिर की स्थापना भी की गई है जिसके द्वारा पुस्तकादि के प्रकाशन का कार्य सतत गति से प्रवहमान है।

'प्यारे' जी के ज्येष्ठ पुत्र राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह तो हिन्दी के महान् उपन्यासकार और अभिनव शैलीकार रहे। उनके पौत्र पुण्यश्लोक उदयराज सिंह भी एक प्रख्यात उपन्यासकार और संपादक थे। उनके प्रपौत्र श्री प्रमथराज सिंह के संपादन में भी राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह द्वारा शुरू की गई 'नई धारा' पत्रिका पूर्ण सज-धज के साथ नियमित रूप से प्रकाशित हो रही है। एवंविध स्पष्ट होगा कि 'प्यारे' जी द्वारा लगाया गया साहित्य पौधा लगातार फल देता आ रहा है।

मातु पिता वर बन्धु सभी, सुरधाम गये मोहिं बालहिं त्यागी।
जानि अनाथ-अबोध मोहि, रिपुजत्य भये बध में अनुरागी।।
सो दल नासि नेवाजि कुमार हि गोद लगाय कियो बड़भागी।
काह भई करुना वह मातु जो पालित बालक की सुधि त्यागी।
– राजकुमार सिंह 'कुमार (सन् 1890-1938) दीवान शासक सूर्यपुरा।

भरतपुर (राजस्थान) जीवनकाल सन् 1865-1897

भक्त कवि राव कृष्णदेवशरण सिंह 'गोप'

डॉ. किरन पाल सिंह

भरतपुर नरेश ठाकुर बदनसिंह ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में अपने सर्व सुयोग्य वीर-योद्धा एवं दूरदर्शी पुत्र सूरजमल को चुना और अपने शेष पच्चीस पुत्रों को अलग-अलग जागीरों सहित सम्मानजनक अधिकार दे दिए। राजसिंहासन से विलग ऐसे राजकुमारों तथा राजा के सगे भाइयों को 'रावराजा' कहा जाता था। पीछे हम ऐसे ही रावराजा अजीतसिंह की हिंदी-सेवाओं पर चर्चा कर चुके हैं। यहाँ हमारे विवेच्य रावराजा-साहित्यकार हैं-राव कृष्णदेवशरण सिंह, जो 'गोप' उपनाम से काव्य-रचना किया करते थे। भरतपुर राजवंश से उनका जन्मना संबंध था। उनका जन्म सन् 1865 में हुआ था और उस समय भरतपुर के शासक थे महाराजा जसवंत सिंह (सन् 1853-1893), और उसी समय रावराजा अजीतसिंह भी विद्यमान् थे जो रिश्ते में उनके पारिवारिक भाई लगते थे अर्थात् उनके दादा रावराजा लक्ष्मणसिंह के पौत्र तथा रावराजा उमराव सिंह के पुत्र थे।

ध्यातव्य है कि बहुत खोजबीन करने पर भी राव कृष्णदेवशरण सिंह के माता-पिता और मूल जन्म-स्थान का पता नहीं मिल पाया। वर्तमान् में भरतपुर राजघराने के वरिष्ठ सदस्य राव रघुराजसिंह 'कुंवर काकाजी', जो अपने राजवंश से पूर्ण परिचित हैं, का कहना है कि भरतपुर में इस नाम के कोई 'राव' नहीं हुए। इसके साथ ही उनका यह भी कथन है कि इस राजवंश से अलग होकर कुछ रावराजा मध्यप्रदेश तथा उत्तर प्रदेश की साहनपुर तथा कुचेसर की रियासतों में चले गए थे - संभवत: उन्हीं में से राव कृष्णदेव रहे हों। रावराजा अजीतसिंह के जीवन पर दृग्पात् करने पर स्पष्ट होता है कि उनके पुत्र का नाम जुगलसरन सिंह तथा पौत्र का नाम गिरधारी सरन सिंह था (द्र. इसी ग्रंथ में प्रदत्त-हिंदी-सेवी रावराजा अजीतसिंह) इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कृष्णदेव सरन सिंह भी इन्हीं में से हो सकते हैं, जिनकी शिक्षा-दीक्षा प्रारंभ से ही काशी में हुई। इतनी कम जानकारी होने पर भी संदेह के कारण एक अच्छे साहित्यकार को, जिसके साक्षी थे भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र, साहित्य से विस्मृत करना उनके साथ अन्याय होगा। यह देखते हुए भी उनके जीवन की पूरी जानकारी नहीं है, फिर भी हम यहाँ उनकी हिंदी-सेवाओं पर विवेचनात्मक दृष्टि डालते हैं - पूरे सम्मान के साथ।

मूर्द्धन्य साहित्यकार आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन' के अनुसार भरतपुर राजवंश में सन् 1865 में जन्मे राव कृष्णदेवशरणसिंह 'गोप' विद्याध्ययन हेतु काशी गए थे और शिवपुर नामक स्थान के अपने बाग में बनी भरतपुर की कोठी में रहते थे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समकालीन ही नहीं उनके अच्छे मित्र भी थे। सद्हृदय कवि थे और गायन-वादन में प्रवीण भी। उनकी रचनाएँ भारतेन्दु द्वारा संपादित 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' तथा 'आनन्द कादम्बिनी' में छपा करती थीं। राव साहब का विवाह बुलन्दशहर (उ.प्र.) की कुचेसर नामक रियासत में हुआ था। केवल 32 वर्ष की अल्प आयु में ही, सन् 1897 में उनका स्वर्गवास हो गया। (आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन' - दिवंगत हिन्दी-सेवी, पृ. 132-133, द्वि. सं. 1983).

रचनाएँ : 'गोप' साहब की अधिकांश रचनाएँ अप्रकाशित रहीं अत: हिंदी-पाठकों के लिए असुलभ भी। उनका लिखा 'माधुरी रूपक' एक मौलिक नाटक है। (द्र. हिन्दी साहित्य कोष, भाग-2,

नामवाची शब्दावली, प्र.सं.डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 104) पर वह भी दुर्लभ हो गया। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि उनकी कविताएँ हरिश्चन्द्र मैगजीन तथा श्री बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' की आनन्द कादम्बिनी में प्रकाशित होती थीं। संयोगवश उनकी कुछ कविताएँ हरिश्चन्द्र मैगजीन में मिल गई हैं। दो अंकों में प्रकाशित पदों की संख्या 66 है। इन्हीं पर एक दृष्टि डालते हैं।

राव कृष्णदेव भक्त कवि हैं। उनके सभी पद ब्रजभाषा में रचित हैं। उनके कवित्त पर सूरदास तथा अष्टछाप के भक्त-कवियों का प्रभाव है। वे 'गोप' उपनाम से कविता करते थे, कहीं-कहीं उन्होंने 'गोपराज' का भी प्रयोग किया है। श्रीकृष्ण-राधिका उनके आराध्य हैं। कवि के मन में प्रभु के दर्शन की इच्छा बलवती हो रही है। वह राधा-कृष्ण की मनोहारी युगल छवि को भुला नहीं पा रहा है और वह यह भी भली-भाँति जानता है कि प्रभु किसे दर्शन दें यह उन्हीं पर निर्भर है। कंस की दासी कुब्जा, कुरूप थी-कुबड़ी थी, पर उसका उद्धार कर दिया। जिन गोपियों ने लोक-लाज त्याग दी उनके साथ उन्होंने रास रचाई-उनकी मनोकामना पूर्ण की। कवि पछता रहा है-प्रभु-दर्शन की भीख माँग रहा है -

''तोहि देखिबे की मोहि लाग ।
सब ही प्रीत लगावत देखिये फूलत कौन को भाग।।
जेहि पिय चाहै सोई सुहागिन ताही को अनुराग ।
भलेहिं तन दाहत रहियो तुम हमैं यहै व्रत जाग ।।
कहा सुकृत कहा प्रीत करीही कुबरी महा कुरूप ।
रीझि पियारी करी जाहि मन भावन ब्रज के भूप ।।
जिन कुल लोक लाज सब तजि सुख प्रीत रस जोरी।
तिन गोपिन संग बिहरि रैन दिन पाछे बरबस तोरी ।।
कहा करिये सब जानि वानि तउ विसरत नाहि विसारे।
यह जोरी मन हरन सांवरी पांछै परी हमारे।
जिय पछतात जायगो मोहन दीजे दरस भिखारी।
गोप दुसह दुख सह्यो जात नहि विरह विथा तन भारी।।''

(द्र. हरिश्चन्द्र मैगजीन, संपा. हरिश्चन्द्र, पृ. 76, पुनः
प्र. 2002, प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

गोपियों को कन्हैया को देखे बिना चैन नहीं पड़ता। उनकी आँखों को मनमोहन के रूप का पान करने की आदत हो गई है। वे अन्य कुछ देखना ही नहीं चाहतीं -

''कहा इन आंखिन टेव परी।
मोहन रूप निहारि और नहिं चाहत डीट करी।।
बहु विधि के अपमान गिनत नहिं एकटक रहत अरी।
गोप तऊ इनकी यह हालत बेसुधि भूल परी।।'' (वही, पृ. 77)

अब कृष्ण दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं। गोपी व्याकुल है। वह यह सोचकर सो जाती है कि आज स्वप्न में उनके दर्शन करूँगी, लेकिन उसे न तो नींद आई और न ही स्वप्न। वह और अधिक अकुलाती है - पश्चाताप करने लगती है -

''अब तो सपनेहु दीखत नाहि ।
कैसें री दिन भरिये सजनी क्यों हूं नाहि सिराहि।।
आजु नैन मोहन कों लखि हैं सोऊं यह जिय चाहि।

भाग हीन क्यों हू नहिं देखूं भोर उठूं बिलखाहि।।
बहु उमाह अभिलाख बहुत बिध मिलिबे की करि आस।
सोवत निस नहि सपने आवत सब दिन रहत उदास।।
रूप दिखाय चोंप तन लाई अब इमि त्यागत मोय।
गोप प्रीति करि निठुर श्याम सों पछताती हूं रोय।।" (वही, पृ. 76-77)

अपने आपको बहुत बड़ा पापी मानता है कवि-इतना बड़ा कि उसके पापों का लेखा-जोखा चित्रगुप्त भी पूरा नहीं रख सके। अत: यमराज भी कोई दण्ड तय कर पाने में असमर्थ है। वेद-वर्णित पवित्र गंगा पाप-विमोचिनी है पर वह भी उसे पाप-मुक्त नहीं कर सकी। प्रभु आप पतितों को पवित्र करनेवाले कहलाते हो, लेकिन मेरे पाप इनते अधिक हैं कि वे उस सीमा को पार कर गये जहाँ तक आपकी पाप-मुक्त करने की क्षमता है। आप भी विवश हैं। गोप तो पाप-शिरोमणि है, उसका उद्धार असम्भव है क्योंकि -

"पाप करन में कोऊ सरि मेरी नर तन नाहिं लखाय।
मेरे पातक भार अपारहिं धरनि धरै न सहाय।।
सेमहि स्वेद होत नहि सहरत सीमन रह्यो नवाय।
चित्रगुप्त हूं हारे करि करि लेख नहीं ठहराय।।
जम हूं उचित दंड नहि पावै चकित रह्यो सिरनाय।
नर्क खल भलो पर्‌यो देखिवैं भीर न तहां समाय।।
बहुत कहा कहों सुरसरि हू जिहि वेदन महिमा गाय।
सोऊ समरथ भई न तनकहु शुचि करिबे मो काय।।
हरि हू पावन पतित रहे तउ चली न कछू बसाय।
क्षमा मेड़ उल्लंघि गये मो पातक रोम बढ़ाय।।
क्यों न होय मोहि गर्व्व होड़ मैं हरि सों जीती जाय।
पतित शिरोमणि गोप कहायो कीन्हे पाप अघाय।।" (वही, पृ. 77)

महाकवि सूरदास ऐसे कई पदों की रचना कवि गोप से चार सौ वर्ष पूर्व कर गए थे -'प्रभु! हौं सब पतितन कौ टीकौ', 'हौं तौ पतित सिरोमनि माधो', 'हरि! हौं सब पतितन कौ राजा', 'हरि! हौं सब पतितन कौ नायक' आदि। इनसे इतर सूर का एक अन्य पद समतुल्यता दर्शाने हेतु यहाँ दे दिया जाय तो यह उचित ही होगा। सूर से पूर्ण प्रभावित हैं गोप। देखिये -

"हरि! हौं सब पतितन कौ राउ।
को करि सकै बराबर मेरी, सो धौं मोंहि बताउ।।
ब्याध गीध अरु पतित पूतना, तिन तैं बड़ौं जु और।
तिनमैं अजामील गनिकादिक, उन मैं मैं सिरमौर।।
जहँ तहँ सुनियत यहै बड़ाई, मो समान नहिं आन।
और हैं आजकाल के राजा, मैं तिन मैं सुलतान।।
अब लगि प्रभु तुम बिरद बुलाए, भई न मोसौं भेंट।
तजौ बिरद कै मोहि उधारौ, सूर कहै कसि फेंट।।"
(द्र. कल्याण : संतवाणी अंक, सं.1, वर्ष 29, संस्क. संवत् 2061 तृ.सं., पृ. 301, संपा : हनुमानप्रसाद पोद्दार, प्रका. गीताप्रेस गोरखपुर)

स्वयं को महापातकी कह कर, फिर अपने प्रभु से कवि अपना उद्धार करने के लिए आर्त-भाव से गुहार लगाता है। प्रभु-चरणों में स्थान पाने की लालसा द्रष्टव्य है उनके निम्न पद में -

"सुनो हरि या पतितहु की टेर
बहुत दिनन को पर्‌यौ पुकारत भई अब बहुत अबेर ।।
कृपासिन्धु चरन पंकज की छांव राखिये याहै।
पुरवहु यह अभिलाख कृपानिधि गोप न कछु जग चाहै।।" (वही, पृ. 78)

विरह-वियोग के भी कुछ अच्छे चित्र खींचे हैं गोप ने अपने कवित्तों में। आराध्य के वियोग में आराधक बहुत दुखी है। उसे ऐसे लोगों के बीच में रहना पड़ रहा है जो प्रभु-भजन, प्रभु-चरणों से विमुख हैं। ऐसी अवस्था में उसके तो मन-प्राण सभी प्रभु-आधीन हैं -

"विरह दुख सजनी कबलौं सहिये ।।
हरि चरनन ते विमुख रहे जे तिन संग बसि जिय दहिये ।
कोऊ नहिं मिलत वियोगी पिय को जासो मिलि कछु कहिये।।
नहि जिंय धीर धरत अब कैसहुं छिन छिन विथा उलहिये।
गोप प्रान तन मन तुम सरवस लालन विसरि न चहिये।।" (वही, पृ. 77)

विरह-व्यथा अधिक बढ़ जाने पर सहनशक्ति भी कम हो जाती है। नेत्र होते हुए भी प्रिय के दर्शन नहीं हो पाते। स्मरण-शक्ति भी असहनीय दुख में साथ छोड़ देती है - प्रभु को भूल जाने की आशंका से ग्रस्त कवि के प्राण तड़फने लगते हैं -

"अब प्रभु तलफत लागे प्रान।
अति कठोर दुख सह्यो जात नहिं विसरत तुम्हरो ध्यान।।
जिय नहि धीर धरत अब कैसहुं दरस रूप बलवान।
अंतर जामी होय कृपानिधि बानि कठिन किमि ठान।।
नैन दिये को कहा दयानिधि जो नहिं रूप लखान।
कहां रहत क्यों का पर रीझत गोप परत नहिं कान।।" (वही, पृ. 79)

एक अन्य पद देखिए। गोपी कृष्ण के वियोग में अत्यंत दुखी है। उसे मिलन का कोई भी उपाय नहीं सूझ रहा है। इस सबके लिए वह स्वयं को ही दोषी मानती हैं। उसका धैर्य टूट जाता है। विवशता में आँखों से अश्रुधारा फूट पड़ती है। वह रोती है और पछताती है और कहती है -

"रोइ कै बैठि रहूं पछताय।
मन मान्यों तौ नाहि कियो विधि मिलिवोहु नाहि लखाय।।
तन मन रहति वेदना मेरे यह दुख कौन कहाय।
ता ऊपर ये जिय के बैरी मेरोहि करत चवाय।।
जाकी छांह निडर ब्रज रहति मोइ दीन्हीं बिसराय।
मेरे करम मन्द जौ सजनी दोस देहुं हौं काय ।।
निलज भई कुल रीति बिगारी एक प्रीति सरसाय।
तउ ब्रज राज बिना अपराधहिं तजि दीनीं मोहि हाय।।
मन धीरज संतोष न धारै मुख देखन अकुलाय।
गोप मिलाय मीत सों नाहीं मरनो जतन बताय।।" (वही, पृ. 77)

उपालम्भ के भी एकाधिक पद रचे हैं रावकृष्णदेव ने। यह अटूट भक्ति का ही एक रूप है। भगवान् को बात-बात पर उलाहना देना, अपने को दीन बताकर भगवान् को दीनबन्धु कहना, स्वयं को पतित कहकर प्रभु को पतितों का उद्धारकर्त्ता-पतितपावन जैसे नामों का स्मरण करा अपना पक्ष रखना। निम्न पद में कवि गोप, गोपीराज कृष्ण से ऐसी ही शिकायत कर रहा है कि जो तुम्हारे चरणों में अपने उद्धार की आशा लगाए बैठा है, उसे तुम निराश कर देते हो, जो सब कुछ छोड़कर केवल तुम्हारा ही हो जाता है उसे भी तुम छोड़ देते हो। प्रभु! तुमने यह कैसी अनीति चला रखी है - सब नीतियों को छोड़कर मनमानी करने लगे -

''यह कहा अनीत चलाई।।
दीनन को नहि सुनत कछू तुम कहत आप मन भाई।
बिसरत अवसि ताहि जो तुम पद मन दै आस लगाई।।
ताकी सुध तुम अवसि बिसारत जो तुम को नित ध्याई।
ताको मोह सबै तुम छोड़त जो तुम्हरो ह्वै जाई।।
कहा करिय तुम सो कछु बस नहि सबहि कुचाल सहाई।
गोपन अनत जाय सब जांचै भलही सबै नसाई।।'' (वही, पृ. 78)

एक अन्य पद में कवि सीधी और कटु बात कह ही देता है कि हे प्रभु! आपकी यह रीति उचित नहीं है। जिन्हें आपसे प्रेम है, जो आपके चरणार्विदों में नतमस्तक हैं, जो आपके दास हैं और इस विश्वास के साथ आपका नाम लेते हैं कि आपके अतिरिक्त उनका हितु अन्य कोई नहीं है, कम-से-कम उनपर तो आप कृपा कीजिये, वरना आप पर से उनका विश्वास उठ जायेगा। द्रष्टव्य है निम्न पद -

''अहो हरि दीनन पर करिछोह।
अपने जनहि न नाथ बिसारिये करिये कछु जियमोह।।
प्रभु जिन गहे चरन अति गाढे रहे जात हैं मोह।
दरस लालसा जिय अति गाढी नहि पावत कहुं जोह।।
भटकत फिरत लहत फल कछु नहि होय तिहारे दास।
गोप भली नही रीति रावरी विसरत है बिस्वास।।'' (वही, पृ. 78)

आर्त भक्त आगे कहता है कि भगवन्! यदि आप अपने भक्त को दर्शन दे दोगे, अपने राधा-कृष्ण युगल रूप की झलक दिखला ही दोगे तो इसमें आपकी कोई हानि नहीं होगी, लेकिन यह निश्चित है कि उसे जीवन-दुखों से मुक्ति मिल जायेगी। फिर वह कभी आपसे कुछ नहीं माँगेगा। प्रस्तुत है यहाँ यह गोप-पद -

''यामे कहा तिहारी हानि।
झलक तनिक निज रूप जुगल की जौ दिखरावहु आनि।।
नहिं जाचें नहिं कछु फिर मागैं मौन गहैं जिय ठानि।
ह्वै है मीच छूटि हैं दुख सों यह निहचै जिय मानि।।
छांडि सबै धन धाम नेम जप तप लज्जा कुलकानि।
गोप विचरि ब्रज भूमि रैन दिन लाभ गिनै नहि हानि।।'' (वही, पृ. 78)

ईश्वर और उसके स्वरूप को कोई नहीं जान सका। वह मन-बुद्धि से परे है। निर्गुण एवं निराकार होते हुए भी जड़-चेतन सभी में व्याप्त है। पापी और सांसारिक मोह-माया से ग्रसित छुद्र जीव की तो सामर्थ्य ही क्या ? वेद-पुराण और उनके ज्ञाता अनेक प्रकार के वाद-विवाद करके, हार मानकर चुप होकर

बैठ गये, लेकिन उस परम तत्त्व को नहीं पहचान पाए। गोप का तो केवल यही मानना है कि सच्चे और पवित्र प्रेम के बिना उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कवि की यही धारणा दर्शनीय है उनके अधोलिखित पद में –

''नाथ तेरो भेद न जानत कोय।
निर्गुन कहत अरूप गिनत पुनि जड़हू मानत सोय।।
छुद्र जीव अति मूढ़ ग्रसित मल ताकों तोहि समोय।
पचि सिद्धान्त निकारि यहै जिय आपु रहे सब खोय।।
वेद पुरान वाद नाना करिं हारे थकि पुनि रोय।
गोप परम पद पावैं क्यों जौ प्रेमहिं राख्यौ गोय'' (वही, पृ. 76)

कवि गोप ने '**मानचरित्र**' शीर्षक से 34 पद रचे हैं जिन्हें शृंगारी-कवित्त के अंतर्गत ही माना जाएगा। राधा-कृष्ण की आपसी छेड़-छाड़-मान-मनौती का छोटा-सा प्रसंग है यह। राधा अपनी सखियों के साथ बैठी हैं। वे उनसे कृष्ण की मौज-मस्ती भरी बातें पूछती हैं। एक सखी ने बताया कि उसने कान्हा को एक नई-नवेली स्त्री के साथ आमोद-प्रमोद करने जाते देखा है। राधाजी क्रोधित हो जाती हैं। वे कन्हैया को अन्य स्त्री संग केलि-क्रीड़ारत-रंगे हाथ पकड़ने की योजना बनाती हैं –

''सिखवति रोस भरी प्यारी।
कहत सखिन सों अति धूरत वह वाकी चाल सबै न्यारी।।
तातें तुम में चतुर होय सो रचै उपायहि चित धारी।
वासों कहो आज हम देखी अद्‌भुत एक नई नारी।।
धोखो दै कैसहु कोऊ वाहै लै आओ या कुंज मझारी।
नई नारि लखिवे कै बदले मोहि देखि सकुचैगो भारी।।
तब वह रचि है कहा बहानो झूंठो ही बनि है बनवारी।
सावधान पै रहै जाय सो कैसहु लखै न गिरबरधारी।।
गोपराज कों छलै ताहि हौं दैहों सखियन की सरदारी।। (वही, पृ. 96)

निश्चित कार्यक्रम के अनुसार काल्पनिक नाम से कृष्णजी के लिए पत्र लिखा गया जिसमें मिलने की प्रबल इच्छा प्रकट की गई। कब और कहाँ मिलन संभव होगा यह भी पूछा गया। एक सखी पत्र लेजाकर कृष्णजी को देती है। वे पढ़कर उत्तर लिख देते हैं-''नवीन सुन्दरी, गुन सखी ने आप की पाती दई जब ते आप के रूप की बड़ाई सुनी है त्रिभुवन में कोई आप की पटतर नहीं है तब से मेरो चित्त आप के देखवे की बड़ी इच्छा करै है आप अवश्य मेरी बाट देखिये मैं सांझ कूं गहबर वन में मिलूंगो।।मोहन।'' (वही, पृ. 97) पाती पढ़कर मानिनी राधाजी अत्यंत क्रोधित हो उठीं। अपने प्रगाढ़ प्रेम का उपहास और विश्वासघात समझ उनकी दशा विक्षिप्त जैसी हो गई। कवि ने उस समय की दशा का बड़ा ही स्पष्ट-वास्तविक चित्रण किया है –

''यह छबि टरै न दृग तें टारी।
छूटे केस अरुन लोंचन तन सिथिल कसूंभी सारी।।
भौहैं चढ़ीं रोस भरी चितवनि काहू सों नहि बोलै।
थिर न रहै घर भीतर नेकहु व्याकुल इत उत डोलै।।
सखी सभीत दूर सब ठाढीं सोचत का अब ह्वै है।
महा मान कीन्हों यह प्यारी सहजै रोस न जै है।।'' (वही, पृ. 97)

लेकिन धीरे-धीरे उन्होंने अपने क्रोध तथा अस्त-व्यस्त दशा पर नियंत्रण पा लिया। कुछ थोड़ा शांत होकर सोचा कि मोहन पर अधिक नाराज होने से कोई लाभ नहीं। कहीं प्यार भरा सम्बन्ध ही न टूट जाय। जिस मोहन की प्रीति-वश वह पूरे ब्रज में बदनाम हो गई, उस पर क्रोधित होने का परिणाम विपरीत भी हो सकता है। यह सोचकर राधाजी निश्चित समय और स्थान पर पहुँच गई तथा मुख पर घूंघट डाल लिया। उधर मोहन भी वहाँ आ गये और बोले 'अरी ऐसो सुंदर मुख घूंघट में क्यों दुबकाय राख्यो है'। यह सुनते ही प्रियाजी (राधिका) ने झूठी नाराजगी दिखलाते हुए घूंघट खोल दिया, मोहन राधाजी को देख एकदम सकपका गये, डरते काँपते कुछ बहाना बनाने लगे। राधाजी क्रोधित हो बोलने लगीं -

''नव नारिन घर रहत तुम बात बनावत रोज।
अब नाहीं कछु रहि गई पायो पूरो खोज।।
होउ अब आंखिन की मेरी ओट।
नित झुठी सौगन्ध खात हो बहुत भरो जिय खोट।।
झूठो निलज अबहु मो आगें ठाढ़ो रचत उपाय।
बहुत भई बस सूधी गैलन जाहु चले मन भाय।।
दूर करहु सखि अबहि यहां ते प्यारी कहत रिसाय।
यह अति निलज खरो ही रहि है सूधे घर नहि जाय।। (वही, पृ. 98)

सखियाँ कृष्ण को पकड़कर बाहर करने लगीं। वे कहने लगे 'एक बार मेरी बात तो सुन लो। तुम्हारा यह दास अपराधी नहीं है। दया करके कुछ क्षण रुकने दो, पूरी बात विस्तार से बताता हूँ।' इस पर राधा ने कहा 'शीघ्र बोलो क्या कहना है', उन्होंने स्पष्टीकरण दिया -

''प्यारी मोहि अचंभो आयो।
सुनि त्रिभुवन में कोउ सरि नाहीं देखनहीं मन भायो।।
तो पटतर औरहु कोउ कहंते विधि दूजो सिरजायो।
प्यारी मोंपै रहयो गयो नहिं यह सुनहौ उठि धायो।।
पूछि देखिये सखी आपु की मैं जो झूठ कहायो।
गोप स्वामिनी भोरें जीकी सब साचो करि पायौ।'' (वही, पृ. 98)

सखी भी कृष्ण का पक्ष लेती हुई कहती है -'जै श्री प्रिया जी मैंने बड़ी बड़ाई करी ही सौगन्द खाई जब लालजी आये। मैंने साँची कही तुम सी और त्रिभुवन में कौ है।'' यह सुनकर राधाजी कुछ शांत होती हैं। कृष्ण उन्हें मनाते हैं वे थोड़ा-बहुत नानुकर के बाद मान जाती हैं। दोनों एक दूसरे को देखते हैं-मुसकाते हैं और फिर गलबहियाँ डाल केलि-क्रीड़ा करने लगते हैं। श्याम-श्यामा की ऐसी अनिर्वचनीय आनंददायी छवि देखकर सखियाँ गाती हैं और उस युगल को शुभकानाएँ देती हैं -

''गाओ सखि कुंज केलि रस रीत ।
लहो सुहाग अचल श्री राधा संग मोहन पिय मीत।।
सुबस बसौ ब्रजबास सदा जुग छोड़ि विरह की भीत।
नितहि कुतूहल खेल नये नित नित वाढो रस रीत।।
श्री राधा सों नित कान्हर की वाढो अविचल प्रीत।

गोप सखी तुम दोउन की ह्वै जगतें रहत अजीत।।
श्री राधा मोहन चरित सेसहु सो न कहाय।
बानी निज पावनकरन गोप रहयो इहि गाय।।'' (वही, पृ. 98)

कवि गोप ने राधा-कृष्ण लीला के इस छोटे-से प्रसंग को पद्यात्मकरूप देकर अत्यधिक मधुर और रोचक बना दिया है। यह उनकी काव्य-प्रतिभा का एक अनुपम प्रतिदर्श है।

भाषा-शैली :- राव कृष्णदेव 'गोप' मूलत: ब्रजवासी थे। उनकी मातृ-भाषा ब्रजबोली है काव्य-भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा। उनके इष्टदेव राधा-कृष्ण हैं और उन्हीं की उपासना उनके स्फुट पदों में स्पष्ट झलकती है। यद्यपि वे भारतेन्दु के समकालीन थे, उनके अच्छे मित्र भी थे, लेकिन उनपर खड़ी बोली का प्रभाव नगण्य है। उनकी ऐसी कोई रचना दृष्टिगत नहीं हुई जो तत्कालीन साहित्यिक परंपरा-ब्रजभाषा से इतर भाषा में लिखी गई हो। उनकी रचनाएँ ब्रज के पूर्ववर्ती कवियों-सूरदास, कृष्णदास आदि से प्रभावित रही हैं। मुस्लिम साम्राज्यवादी भाषा अरबी-फारसी के प्रभाव से वे भी स्वयं को नहीं बचा पाए। परिणामस्वरूप समाज में प्रचलित इन भाषाओं के दैनंदिन प्रयोग में आनेवाले शब्दों को अपने काव्य में स्थान देने में हिचकिचाए नहीं। ऐसे शब्दों में अरबी के अरज, आफति, कलम, कलाम, गजर, गीरब, तलफत, दवा, तीन, दुबकाय, नाहक, फकीर, बिन, बिलखना, मतलब, रीझत, सुलतान, हालत आदि तथा फ़ारसी के कागद, दरद, बदनाम, बहाना, यार, स्याही आदि हैं। ध्यातव्य है कि इन शब्दों के प्रयोग से उनकी भाषा न तो बोझिल हुई है और न ही दुरूह, वरन् उसमें रवानगी आई है। वैसे भी इन शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है।

ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार है गोप का। उनके प्राप्त समस्त पद गेय हैं। गायन-वादन में वे प्रवीण थे। अत: असावरी और सारंग रागों में रचे गए हैं सभी पद। एकाधिक स्थानों पर दोहा का भी प्रयोग दर्शनीय है। भक्त कवि हैं, प्रेम और भक्ति भाव से ओत-प्रोत हैं उनके पद। दासत्त्व भाव ही अधिक है उनके कवित्त में। कहीं अपने को महापातकी बताकर आर्तभाव से उद्धार करने की गुहार लगाते हैं तो कहीं विरह-वेदना से तप्त हो प्रभु-दर्शन की अभिलाषा करते हैं। कहीं गोपियों की भाँति न मिलने पर उपालम्भ देते हैं पर अंत में थक-हारकर 'नाथ तेरो भेद न जानत कोय' कहकर प्रभु-शरणागत हो जाते हैं। अनालंकारिक शैली का प्रयोग किया गोप कवि ने। 'प्रेम संदेसा' शीर्षकांतर्गत रचित काव्य भक्ति रस तथा 'मानचरित्र' के अंतर्गत शृंगार केलि रस का पुट है। मुहावरों में 'जेहि पिया चाहै सोई सुहागिन' कहकर चुप्पी साध ली है। भाषा सरल, सरस और सहज प्रवाहमयी है तथा माधुर्य गुण से युक्त है।

कहुँ कहूँ छोटे जो करत, सो न बड़े ते होय
तृषा कूप मोरत सकल, जैसे सिन्धु न जोय।।
नीति सहि जो सूरता, सोई जय कौ हेत।
सुध्यौ संखिया देत सुख, बिन सोध्यौ जिय लेत।।
फल फूलन जुत एक तरु, वन कौ करत सुपास।
ज्यौ सपूत एक ही, कुल कौ करत प्रकास।।

धाऊ गुलाबसिंह गुर्जर क्षत्रिय (भरतपुर),
महाराज यशवंत सिंह (जन्म 1850) के धाऊ

'विद्वन्मोदतरंगिणी'-प्रणेता राजा सुब्बासिंह 'श्रीधर'

डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह 'संजय'

हिन्दी-साहित्येतिहास के आधार ग्रन्थों में परिगणित ठाकुर शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह-सरोज' जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं बहुश्रुत संग्रह-ग्रन्थ को भी स्थायी आधार प्रदान करनेवाले 'विद्वन्मोदतरंगिणी' नामक संग्रह-ग्रन्थ के प्रणेता राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' के विषय में साहित्येतिहास के अनुसन्धित्सुओं को सर्वप्रथम सूचना 'शिवसिंह-सरोज' से ही प्राप्त होती है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह-सरोज' की कवि-संख्या 701 पर राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' के दो सवैयों[1] को उद्धृत किया है और 'कवियों का जीवन चरित्र' नामक खण्ड में कवि-संख्या 867/701/34 पर इनका परिचय देते हुए लिखा है- 'श्रीधर कवि 2 राजा सुब्बा सिंह चौहान ओयल जिले खीरीवाले 1874 ई.। इन्होंने एक महा अदुभत ग्रन्थ भाषा साहित्य में विद्वन्मोदतरंगिणी नाम बनाया है। इस ग्रन्थ में अपनी औ अपने गुरु सुवंश शुक्ल कवि के सेवाय और 44 सतकवियों के कवित्त उदाहरण में प्रसंग प्रसंग पर लिखे हैं। इस ग्रन्थ में नायक-नायिका भेद, चारों दर्शन, सखी, दूतिका दूती वर्णन, षट्ऋतु, रस निर्णय, विभाव, अनुभाव, भाव, रस, रस-दृष्टि, भाव सबलादि, भाव उदय इत्यादि विस्तारपूर्वक कहे गये हैं।[2] राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' के विषय में सर डॉ. जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने भी यह बातें लिखी हैं। लगता है कि डॉ. ग्रियर्सन ने सरोजकार की बातों को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है। यही नहीं ठाकुर शिवसिंह सेंगर की ही तरह डॉ. ग्रियर्सन ने भी 'विद्वन्मोदतरंगिणी' में मात्र 44 कवियों की ही रचनाएँ संगृहीत होने की बात स्वीकार की है। लगता है डॉ. ग्रियर्सन को 'विद्वन्मोदतरंगिणी' की प्रति देखने को नहीं मिल पायी थी। राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' के विषय में डॉ. ग्रियर्सन लिखते हैं :-

'Raja Subba Singh, the Chauhan, Alias the poet Sri Dhar of Oel District Khere FL 1917 A.D.

He was author of an important work of Vernacular Composition entitled Bidwan Moda Tarangini (written 1817 A.D.) which deals with the whole subject matter of covers confidents, the seasons, the various styles etc. But the most important aspect of the work is that is forms an anthology of extracts from works by the author's preceptor, Subans Sukal (N. 589 and forty four other poets) '(Sir, Dr. George Abraham Greerson : The modern Vernacular Literature of Hindustan. First Edition 1889 A.D., Page 127).

'विद्वन्मोदतरंगिणी' की रचना में राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' को अपने गुरु सुवंश शुक्ल से पर्याप्त सहायता मिली है। इस तथ्य का उल्लेख ठाकुर शिवसिंह सेंगर[3] के अतिरिक्त डॉ. ग्रियर्सन[4] और मिश्रबन्धु महोदयों,[5] ने भी किया है। मिश्रबन्धुओं ने राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' के सम्बन्ध में एक खटकनेवाली बात यह लिखी है कि ये महाशय ओयल वाले राजा बखत सिंह के लघु भ्राता बैस ठाकुर जिला खीरी के निवासी थे।' इससे यह प्रकट होता है कि ये बख़्त सिंह के लघु तनय न होकर लघु भ्राता थे और चौहान क्षत्रिय न होकर बैस क्षत्रिय थे, किन्तु राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' ने 'विद्वन्मोदतरंगिणी' के प्रारम्भ में ही अपना परिचय देते हुए लिखा है :-

सुबा जानियो नाम, बखत सिंह को लघु तनै।
द्विज मत लै अभिराम, श्रीधर कविता में कियो।।
(राजा सुब्बासिंह 'श्रीधर' : 'विद्वन्मोदतरंगिणी', संपा. डॉ. किशोरीलाल,
हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्र.सं. 1991 ई. छंद सं. 2, पृ. 74)

ऐसी स्थित में मिश्रबन्धुओं की लघु भ्राता सम्बन्धी धारणा निराधार है। यहाँ अन्त:साक्ष्य ही सबसे बड़ा आधार है। मिश्रबन्धुओं के अनुसार ये नि:सन्तान थे। इनके जन्म के विषय में मिश्रबन्धुओं का अनुमान है कि विक्रम संवत् 1850 के लगभग ये उत्पन्न हुए होंगे। राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' को जहाँ ठाकुर शिव सिंह सेंगर एवं सर डॉ. जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने चौहान क्षत्रिय माना है, वहीं मिश्रबन्धुओं का उन्हें बैस क्षत्रिय कहना भी तथ्यसम्मत नहीं है, क्योंकि नागरी प्रचारिणी सभा काशी के द्वारा हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज कराये जाने के क्रम में राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' द्वारा रचित एक और रचना 'शालिहोत्र प्रकाशिका' की पाण्डुलिपि उपलब्ध हुई है। राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' ने विक्रम संवत् 1896 में 'शालिहोत्र प्रकाशिका' का प्रणयन किया था। खोज रिपोर्ट में इस ग्रन्थ का उल्लेख इस प्रकार हुआ है :-

(A) Name of Book : Sali Hotra Prakasika. Name of author Sridar, Substance : country made paper leaves 208 Size : 10 x 7 inches. Lines per page : 18 Extent 800 Slokas Appearance : New Character : Nagari Date of composition 1896 (1839 A. D.) Date of manuscript 1943 (1886 A. D.) Place of deposit Thakur Digvijai Singh, Taluqedar Dekolia, District Sitapur.'
(नागरी प्रचारिणी सभा काशी : खोज रिपोर्ट 1912/177ए, 1923/401ए, बी, 1947/418).

'शालिहोत्र प्रकाशिका' में राजा सुब्बा सिंह ने अपना वंश-परिचय देते हुए लिखा है -

औ चलिहै चौहान वंश याही ते भाष्यो।।
माता-पिता स्वाहा अनल वत्स गोत्र चौहान।
याहि वंस में प्रकट भे शंकर नृपति सुजान।

उपजे शंकर वंश में पृथीराज महराज।
जाहिर जम्बूदीप में करे धर्म के काज।।
(राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' : शालिहोत्र प्रकाशिका, छं.सं. 5-8)

इसी क्रम में आगे उन्होंने अपनी वंशावली का वर्णन करते हुए लिखा है :

हेम सिंह नृप के भये, बख़त सिंह त्यों नन्द।
बखत सिंह के चारि सुत, जेठे नृप रघुनाथ।
बहुरि सु जालिम सिंह भो, तासु अनुज उमराउ।
तासु अनुज लघु जानि, सुब्बा जानी नाम तेहि।
श्रीधर नाम बखानि, बिरचित छन्द प्रबन्ध में।। (तदेव : छं.सं. 13-17)

'शालिहोत्र प्रकाशिका' के उपर्युक्त छन्दों का अन्त:साक्ष्य ग्रहण करने पर राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' चौहान वंशोत्पन्न क्षत्रिय ही सिद्ध होते हैं।

एक ओर जहाँ लखनऊ से दस कोस दक्षिण उन्नाव जिले में बसे काँधा के राजा रणजीत सिंह के तृतीय पुत्र एवं अवध प्रान्त के इंस्पेक्टर ऑफ पुलिस ठाकुर शिवसिंह सेंगर, डब्लिन (आयरलैण्ड) के निवासी भारतीय विद्या-विशारद आई.सी.एस. अधिकारी सर डॉ. जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, लखनऊ डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के उपाध्यक्ष पण्डित गणेशबिहारी मिश्र, डिप्टी कमीशनर तथा काउंसिल ऑफ स्टेट के

सम्मानित सदस्य रायबहादुर रावराजा पण्डित डॉ. श्यामबिहारी मिश्र एवं भरतपुर राज्य के दीवान रायबहादुर पण्डित शुकदेवबिहारी मिश्र जैसे महानुभावों ने साहित्य-जगत् में राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' की कीर्ति-कौमुदी का प्रीतिपूर्वक साक्षात्कार किया, वहीं उनके स्वयं के राज्य ओयल के इतिहास में उनका कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। इण्टरनेट पर उपलब्ध तीन वेबसाइट क्रमश: OEL - members.iinet.com.au,[6] Oel (Taluk) Homepage and Map : Rajput Provinces of India[7] एवं OEL - Royal Family of India[8] ओयल राज्य का अद्यतन इतिहास प्रस्तुत करती हैं, किन्तु इनमें से कोई भी वेबसाइट हिन्दी-साहित्य के अमर रत्न राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' के विषयों में किसी भी प्रकार की कोई जानकारी उपलब्ध नहीं कराती। पहली वेबसाइट में ओयल राज्य का संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार दिया हुआ है -"The ancestors of the family were originally Chauhan Kshatriyas in the service of the Sayyids of Pihani, having migrated from Rajasthan in the 16th century. Jamni Khan, an early ancestor, obtained the post of Chaudhuri of Kheri from Sayyid Khurda in 1553, with a right to levy tax on all the lands in that pargana. His descendants gradually increased their possessions, the Chaudhri Parbal Singh owning Oel, Kaimahra, and Khogi, and his descendant, the Rai Than Singh, of Oel, owning many more villages. The estate in 1911 comprised 164 villages in Kheri and the village of Baransa in Sitapur[9] ? पहली वेबसाइट जहाँ ओयल के राजघराने को चौहान कहती है, वहीं दूसरी और तीसरी वेबसाइटें जनवार कहती हैं।

उपर्युक्त वेबसाइटों में चौहान एवं जनवार का जो सन्दर्भ आया है, उसका निराकरण इतिहासकार श्री पवन बख़्शी की पुस्तक 'अवध के तालुकदार' से होता है। श्री पवन बख़्शी लिखते हैं- 'पुस्तक मैनुअल ऑफ टाइटिल लिखती है कि यह घराना अपने आपको लखीमपुर खीरी के चौहान क्षत्रियों की एक शाखा मानता है। इस ताल्लुके के वास्तविक संस्थापक जनवार क्षत्रिय थे, जो कई शताब्दियों पूर्व इस परगना के मुख्य भूस्वामी थे। अकबर के शासनकाल में उन्हें चौधरी का पद और राय की उपाधि प्राप्त थी। इस घराने के अन्तिम वंशज मेहमान सिंह हुए जिन्होंने राजा की पदवी हासिल की। वे नि:सन्तान थे। इनके निधन के बाद हलदेव सिंह ताल्लुके के उत्तराधिकारी हुए। हलदेव सिंह जयपुर के मूर के राजा चौहान वीरसिंह देव के पुत्र थे। हलदेव का विवाह मेहमान सिंह की पुत्री से हुआ था। (श्री पवन बख़्शी : अवध के तालुकदार : रूपा पब्लिकेशंस, इण्डिया प्रा.लि., 7/16 अंसारी रोड़, नई दिल्ली-110 002, द्वि.सं. 2012ई. पृ. 246-247).

वस्तुत: अकबर के पूर्व ओयल का राज्य जनवार क्षत्रियों के अधीन था। जनवार वंश के अन्तिम राजा मेहमान सिंह के पश्चात् यह राज्य उनके चौहान वंशीय दामाद राजा हलदेव सिंह के अधीन हो गया। तब से अब तक ओयल में चौहान क्षत्रियों का ही राज रहा है। इतिहासकार श्री पवन बख़्शी की पुस्तक 'अवध के तालुकदार' में भी राजा सुब्बा सिह 'श्रीधर' का उल्लेख नहीं है। इस सम्बन्ध में दूरभाष के माध्यम से पूछने पर श्री पवन बख़्शी ने बताया कि 'अवध के तालुकदार' के प्रणयन-काल में सामग्री-संचयन के सन्दर्भ में ओयल के राजा साहब श्री विष्णुनारायण दत्त सिंह से मिलने का मैंने कई बार प्रयत्न किया, किन्तु हर बार मुलाकात उनके चचेरे भाई कुंवर प्रदुयम्ननारायणदत्त सिंह से ही हुई। उन्होंने जो जानकारी उपलब्ध करायी उसके आधार पर मैंने ओयल का इतिहास लिखा।' इसका तात्पर्य यह है कि ओयल राज्य के वर्तमान् उत्तराधिकारियों को राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने अपने 'सरोज-सर्वेक्षण' में राजा सुब्बा सिंह के प्रपितामह का नाम गजराज बताया है (डॉ. किशोरीलाल गुप्त : सरोज सर्वेक्षण: हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहबाद, प्र.सं. 1967 ई. पृ. 723) किन्तु इण्टरनेट पर उपलब्ध अलग-अलग वेबसाइटों, श्री पवन बख़्शी की पुस्तक 'अवध के तालुकदार' एवं राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' के ग्रन्थों के अन्त:साक्ष्यों का गम्भीरतापूर्वक अन्वीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि चौहान राजा वीरसिंह देव की बारहवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए राजा देवीसिंह के अनुज राव आनन्द सिंह के

दो पुत्रों में बड़े राजा गजराज सिंह को कैमहा का राज मिला और छोटे राजा प्रीतम सिंह उर्फ हेम सिंह को ओयल का। राजा प्रीतम सिंह उर्फ हेम सिंह के दो पुत्रों में ज्येष्ठ राजा बख़्त सिंह और कनिष्ठ कुँवर शिव सिंह उर्फ सेवा सिंह हुए। राजा बख़्त सिंह के चार पुत्र, क्रमशः राजा रघुनाथ सिंह, कुँवर जालिम सिंह, कुंवर उमराव सिंह एवं राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' हुए। राजपूतों की पारिवारिक परम्परा के अनुसार बड़े भाई राजा रघुनाथ सिंह के रहते सुब्बा सिंह को राजा की उपाधि नहीं मिल सकती है। इसका मतलब यह है कि राजा रघुनाथ सिंह के बाद सुब्बासिंह 'श्रीधर' कुछ समय तक ओयल के राजा अवश्य रहे हैं। मिश्रबन्धुओं के अनुसार राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' नि:सन्तान थे। इसलिए उनके बाद कुँवर उमराव सिंह के पुत्र अनिरुद्ध सिंह ओयल के राजा हुए। ओयल के चौहान राजवंश की वंशावली निम्नांकित है –

1. राजा वीरसिंह देव चौहान
(मूर, जयपुर, राजस्थान)

2. राजा हलदेव सिंह
(ओयल के जनवार राजामेहमान सिंह की पुत्री से विवाहित एवं राजा मेहमान सिंह के पश्चात् ओयल के प्रथम चौहान राजा।)

3. राजा उदित सिंह

4. राजा मोतीमल सिंह

5. राजा भव सिंह

6. राजा भोगीमल सिंह	6. राजा नारायण सिंह		
7. राजा जमनीभान सिंह	7. राव हिम्मतमल सिंह		
8. राजा प्रताप सिंह	8. राव मान्धाता सिंह		
9. राजा महा सिंह	9. राव भगवन्त सिंह		
10. राजा मान सिंह			
11. राजा अपरबल सिंह	11. राव अजतीमल सिंह	11. राव युवराज सिंह	11. राव नरपति सिंह
12. राजा देवी सिंह	12. राव खान सिंह	12. राव आनन्द सिंह	12. राव चैन सिंह
	13. राजा गजराज सिंह (कैमहा राज)	13. राजा प्रीतम सिंह उर्फ हेम सिंह (ओयल राज)	
	14. राजा बख़्त सिंह	14. कुँवर शिव सिंह उर्फ सेवा सिंह	
15. राजा रघुनाथ सिंह	15. राव जालिम सिंह	15. राव उमराव सिंह	15. राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर'
		16. राजा अनिरुद्ध सिंह	
		17. राजा कृष्णदत्त सिंह	
18. राजा रामदत्त सिंह	18. राव शम्भुदत्त सिंह	18. राव तेजदत्त सिंह	
19. राजा युवराजदत्त सिंह			
20. राजा जगदीशनारायणदत्त सिंह		20. कुँवर गोपालनारायणदत्त सिंह	
21. राजा विष्णुनारायणदत्त सिंह	21. कुँ. हरिनारायणदत्त सिंह	21. कुँ. प्रदुयम्ननारायणदत्त सिंह	
22. कुँ. मानवेन्द्रनारायणदत्त सिंह	22. कुँ. ध्रुवनारायणदत्त सिंह	22. कुँ. अनिरुद्धनारायणदत्त सिंह	

राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' के दो ग्रन्थ उपलब्ध है :- 1 विद्वन्मोदतरंगिणी और 2. शालिहोत्र प्रकाशिका। प्रथम ग्रन्थ 'विद्वन्मोदतरंगिणी' का सम्पादन नदीष्ण विद्वान् एवं पाठालोचक डॉ. किशोरीलाल जी ने किया है, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित है। द्वितीय ग्रन्थ 'शालिहोत्र प्रकाशिका' की चार पाण्डुलिपियाँ नागरी प्रचारिणी सभा काशी के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। 'शालिहोत्र प्रकाशिका' की रचना विक्रम संवत् 1896 में नकुल एवं शारङ्गधर के संस्कृत भाषा में रचित ग्रन्थों के आधार पर हुई है। इसका उल्लेख राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' ने स्वयं किया है -

सारङ्गधर अरु नकुल मत, सालिहोत्र लखि ग्रन्थ।
समुझि सुरुचि भाषा करी, लै औरौ कछु पन्थ ।।
तिनके मतहिं प्रकाशिका, कातिक बदि रविवार।
संवत षट् नव वसु ससी, त्रयोदसी अवतार।।
(राजा सुब्बासिंह 'श्रीधर' : शालिहोत्र प्रकाशिका, छं.सं. 18-19)

अर्थात् षट् (6), नव (9), वसु (8), ससी (1)। 'अंकानां वामतो गति:' 'सूत्रानुसार उल्टा कर देने पर 1896 विक्रम संवत् होता है। 'शालिहोत्र प्रकाशिका' में पूर्ववर्ती रचना 'विद्वन्मोदतरंगिणी' का भी उल्लेख हुआ है-

विद्वन्मोदतरंगिणी, ज्यों कीन्हीं रसखानि।
त्यों विरच्यो बहु छन्द में, सालिहोत्र सुखदानि।। (तदेव : छं.सं. 17)

वस्तुत: 'विद्वन्मोदतरंगिणी' षोडश तरंगों में विभक्त रीतिशैली का एक विशाल संग्रह-ग्रन्थ है। हिन्दी-रीतिशैली में जो लक्षण-ग्रन्थ लिखे गये वे संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों की तुलना में सर्वथा पृथक् हैं। हिंदी में लक्षण और लक्ष्यांशों का रचयिता एक ही व्यक्ति होता था पर संस्कृत में लक्षणकार और लक्ष्यकार का व्यक्तित्व सर्वथा भिन्न रहा है। संस्कृत में पण्डितराज जगन्नाथ ही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने रसगंगाधर में स्वरचित लक्षणों और उदाहरणों का ही प्रयोग किया है।[10] राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' ने विद्वन्मोदतरंगिणी में संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा का पोषण किया है, क्योंकि लक्षण उनके हैं और उदाहण रीतिकाल के विविध कवियों से गृहीत हैं। इसका उल्लेख वे स्वयं करते हैं-'लक्षन निज मति रचित करि उदाहरन प्राचीन।'

'विद्वन्मोदतरंगिणी' के सम्पादक डॉ. किशोरीलाल जी ने इसका परिचय देते हुए लिखा है-'अप्रकाशित रहने के कारण इस विद्वन्मोदतरंगिणी को बहुत-से लोगों ने यह समझा कि यह संस्कृत विद्वन्मोद्तरंगिणी का अनुवाद है। श्री चिरंजीव भट्टाचार्य कवि द्वारा रचित संस्कृत की विद्वन्मोदतरंगिणी आठ तरंगों में विभक्त है और उसमें शाक्त, वैष्णव, वेदान्ती, मीमांसक, वैय्याकरण, साहित्यिक आदि की रुचिर वार्ता नाटकीय शैली में प्रस्तुत की गयी है। यहाँ प्रत्येक अपने सिद्धान्तों और विचारों का तो समर्थन करता है और दूसरे के सिद्धान्तों और विचारों का उपहास करता है। यह बहुत छोटी पुस्तक है और सं. 1985 में वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से छप चुकी है। नाम-साम्य के कारण इस प्रकार का भ्रमोत्पादन स्वाभाविक है। प्रस्तुत विद्वन्मोदतरंगिणी उससे भिन्न है और सचमुच विद्वानों के आनन्द की सरिता है जिसकी अनेकश: श्रृंगारिक वीचियों में सहृदय रसिकों का मानस मत्स्य की भाँति निरंतर प्रवाहित होता रहता है। इस तरंगिणी की 16 तरंगें श्रृंगार के विभिन्न स्वरूपों की सूक्ष्म एवं गम्भीर विवेचना के निमित्त अर्पित हैं। (डॉ. किशोरीलाल : विद्वन्मोदतरंगिणी, पृ. 26)

'विद्वन्मोदतरंगिणी' में 49 कवियों के छन्द हैं। इसके अतिरिक्त 89 छन्द अज्ञात कवियों के भी हैं। इसमें राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' के कुल 24 छन्द हैं। (राजा सुब्बासिंह 'श्रीधर' : विद्वन्मोदतरंगिणी, छं.

सं. 1, पृ. 73) मंगलाचरण के निमित्त लिखित घनाक्षरी छन्द से ही राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' की काव्य-कला का परिज्ञान हो जाता है –

इतै सीस मकुट विराजै सीसफूल उतै,
इतै भाल खौरि उतै बेंदी है पखान की।
इतै श्रुति कुण्डल तर्योना उतै राजत है,
इतै बनमाल उतै माल मुकतान की।
इतै पीत पट उतै सारी जरतारी सोहै,
दोऊ नेह भरे जोरी मानो एक प्रान की।
श्रीधर बखानि बन्दै बर बरदानि सदा,
नन्द के किसोर औ किसोरी बृषभान की।।
(तदेव, छं. सं. 1, 10, 35, 221, 322, 343, 347, 706, 712, 716, 717, 718, 891, 949, 981, 982, 1012, 1013, 1016, 1042, 1101,1102,1176)

इसी तरह सुब्बा सिंह 'श्रीधर' ने एक मत्तगयन्द सवैये में 'विद्वन्मोदतरंगिणी' की रचना के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है –

कारन भाव को भाव को रूप
नवो रस पूरन को दरसायो
नाइका दूती रसौ मिलि जात
इन्हैं करि न्यारोई भेद बतायो।
जन्य पिता अविरोध विरोध औ
दिष्टि सबै रसाभास जनायो।
विद्वन्मोदतरंगिणी श्रीधर
आनँदखानि बखानि बनायो।। (तदेव, छं.सं. 6, पृ 74)

चारुसर्वांगी नायिका के उदाहरण के रूप में राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' का निम्नलिखित सवैया द्रष्टव्य है :

जासु की दीपति दीप ते सौगुनी
दामिनी कुन्दन केसरि आइका।
काम की खानि सदा मृदु बानि
स्नेह छकी छिति में छवि छाइका।
अंग अनूपम को बरनै सब
अंगन पीतम को सुखदाइका।
मानो रची विधि मूरति मोहनी
श्रीधर ऐसी सराहत नाइका।। (तदेव, छं.सं. 10, पृ 74)

इसी क्रम में मध्या नायिका का भी उदाहरण देखा जा सकता है –

बाह गहे ते न बात कहे अरु
मूँदति नैन के चारु चलाँकी।
अंक भरै को करै रहि जाति

लजाति देखावति भा चपलाकी।
यों दुविधा बिच बाल परी भले
मोहति है मति नित्त लला की।
श्रीधर साज कहाँ लौं कहै मनौ।
मूरति लाज औ काम कला की। (तदेव, छं.सं. 35, पृ. 80)

राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' ने महाकवि देव की तरह दूतिका-प्रसंग में जाति विषयक नायिकाओं के गुण का वर्णन किया है। बरइनि जाति की दूतिका के गुण का वर्णन करते हुए 'श्रीधर' लिखते हैं -

एला लवंग कपूर भरो अरु
और सुगन्ध कहाँ लौं गनावौं।
मोहिं जो लोभ देखावै कोऊ
त्याहि को कबहूँ नहिं नाव बतावौं।
श्रीधर जौन सबै सर है हिय
धीर धरौ न विलम्ब लगावौ।
तौ मैं तमोलनि रावरी हौ सुनौ
सुन्दर पात कौ बीरा लगावौ। (तदेव, छं.सं. 343, पृ 157)

राधिका-कृष्ण की रासलीला का एक सरस चित्र 'श्रीधर' की लेखनी से अवतरित हुआ है -

कानन मैं हरि राधिकै पूछत
नाम दुराइ कह्यौ हम गोपी।
राधिकै पूछी कि को तुम नायक
हैं हम गोप कोऊ चित चोपी।
ये छलछन्द भरी बतियाँ वर
कौन बखानि सकै बुधि ओपी।
देखि छटा घन की कहि श्रीधर
दोऊ भुजा भरि कै रति रोपी।। (तदेव, छं.सं. 716, पृ 228)

अन्तिम में इस ग्रन्थ का समापन करते समय राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' ने स्पष्टत: स्वीकार किया है कि इसमें राधिका और कृष्ण का चरित्र होने के कारण ज्ञानीजन अवश्य प्रसन्न होंगे -

राधिका कृष्ण को यामें चरित्र
विचित्र महा सुनि रीझिहैं ज्ञानी।।
अंग उपंग समेत नवों रस
राजत है अति ही सुखदानी।
विद्वन्मोदतरंगिणी श्रीधर
आनँद रूप अनूप बखानी।।
याहि पढ़े गुने आनँद कीरति
बुद्धि औ सिद्धि मिलै मनमानी।। (तदेव, छं.सं. 1176, पृ. 314)

वस्तुत: 'विद्वन्मोदतरंगिणी' की रचना रीति-परम्परा को समझने और नवोदित कवियों को काव्य-रचना का मर्म समझाने के लिए की गयी है। राजधर्म का पालन करते हुए राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर'

के द्वारा कविकर्म का सम्पादन किया जाना अपने आप में प्रशंसनीय है। जब-जब ठाकुर शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह-सरोज' की चर्चा होगी, तब-तब उसके प्रमुख आधार ग्रन्थ के रूप में 'विद्वन्मोदतरंगिणी' की चर्चा होगी ही। राजा सुब्बा सिंह 'श्रीधर' भले ही ओयल में 'स्वदेशे पूज्यते राजा' को चरितार्थ न कर सके हों, किन्तु उन्होंने 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' को भलीभाँति चरितार्थ किया है, इसमें किंचित् सन्देह नहीं।

सन्दर्भ

1. ठाकुर शिवसिंह सेंगर : शिवसिंह-सरोज (सम्पादक डॉ. किशोरीलाल गुप्त) : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्रथम संस्करण - 1970 ई. पू. 551.
2. ठाकुर शिवसिंह सेंगर : तदेव, पृ. 804
3. ठाकुर शिवसिंह सेंगर : शिवसिंह-सरोज सम्पादक डॉ. किशोरीलाल गुप्त : हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्रथम संस्करण - 1970 ई. पू. 813
4. 'He then went to Raja Subba Singh (No. 590) of Oel and assisted him the compilation of the Bidwan Moda Tarangini' Sir Dr. George Abraham Grierson : The Modern Vernacular literature of Hidusthan, First Edition 1889 A.D., Page 127.
5. मिश्रबन्धु : मिश्रबन्धु-विनोद, भाग पृ. 924
6. OEL members.iinct.com.au:https://www.google.co.in/search?clinet.....
7. Oel (Taluk) Homepage and Map : Rajput Provinces of India : https//www. google.co. in/url? sact & sou....
8. OEL Royal Family of India : https ://www.google.co.in/url?q=http://...
9. OEL members.iinct.com. au:https://www.google.co.in/ search ? Client ....
10. निर्माय नूतनमुदाहरणस्वरूपं
    काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित।
    किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
    कस्तूरिका जनन शक्तिभृता मृगेण।।
    - पण्डितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, पृ. 3

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षणच्छेदनतापताड़नैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा। - भर्तृहरि

जिस प्रकार सोने की परीक्षा घिसकर, छेदकर, तपाकर और पीटकर चार तरह से की जाती है, उसी प्रकार मनुष्य की परीक्षा भी उसके त्याग, शील, गुण और कर्म से की जाती है।

हिंदी सेवी राजा कमलानन्द सिंह 'सरोज'

डॉ. किरन पाल सिंह

हिंदी के प्रचार-प्रसार एवं साहित्य-संवर्द्धन में बिहार ने सदैव अग्रणी भूमिका निभाई है। स्वतंत्रतापूर्व भी इस क्षेत्र में अनेक ऐसे हिंदी-सेवी विद्वान्-मनीषी राष्ट्रीय फलक पर उभरकर आए हैं जिन्हें समस्त हिंदी जगत् सादर नमन करता है। जनसामान्य से लेकर शिक्षित समाज, व्यापारी वर्ग आदि सभी ने हिंदी को सम्बल प्रदान किया- यहाँ तक कि उस राजसी-वर्ग ने भी इसे प्राणपन से अपनाया जिसे अपने राज्य-विस्तार अथवा संरक्षण हेतु निरंतर युद्धरत रहना पड़ता था और जिसका शेष समय ऐशो-आराम-विलासिता में व्यतीत होता था। इनमें जर्मीदार-ताल्लुकेदार, जागीरदार, राजा-महाराजा सभी का यथोचित योगदान रहा है। बिहार में कई ऐसी देशी रियासतें थीं जहाँ के नरेशों ने न केवल हिंदी रचनाकारों को आश्रय दिया, वरन् स्वयं भी बड़े अच्छे साहित्य की रचना की। इनमें विशेषोल्लेख्य हैं - हथुआ के राजा कृष्णप्रताप शाही, दरभंगा-नरेश लक्ष्मेश्वर सिंह, डुमराव महाराजा राधाप्रसाद सिंह, सूर्यपुरा के राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह- उनके उत्तराधिकारी राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह तथा बनैली राज्य के शासक राजा वेदानन्द सिंह और उनके वंशज राजा कीर्त्यानन्द सिंह, राजा कमलानन्द सिंह एवं उनके सुपुत्र राजा गंगानन्द सिंह आदि। ''राजा वेदानन्द ने आयुर्वेद पर 'वेदानन्द विनोद' नामक विख्यात ग्रन्थ की रचना की। राजा कीर्त्यानिन्द सिंह की शिकार पर अंग्रेजी में पुस्तक प्रकाशित है। राजा कमलानन्द सिंह का बंकिमचन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'आनन्द मठ' का प्रथम हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ।'' (द्र. कुमार गंगानन्द सिंह ले0 सुरेन्द्र झा 'सुमन' अनु. कृष्ण मोहन मिश्र, पृ. 19) यही राजा कमलानन्द सिहं हमारे आलोच्य नायक हैं।

पूर्णिया जनपदांतर्गत बनैली राज्य की 'श्रीनगर' शाखा के राजा नन्द सिंह के पुत्र थे कमलानन्द सिंह। आपका जन्म सोमवार, दिनांक 29 मई, सन् 1876 में हुआ था (हिन्दी-साहित्य और बिहार, तृतीय खण्ड : उन्नीसवीं शती उत्तरार्द्ध, पृ. 73) यद्यपि एक अन्य ग्रंथ 'बनैली, रूट्स टू राज' में आपकी जन्म तिथि सन् 1875 दर्शायी गई है (पृ. 130)। राजा नन्दसिंह की तीसरी धर्मपत्नी से दो पुत्ररत्न उत्पन्न हुए-प्रथम कमलानन्द सिंह तथा द्वितीय कालिकानन्द सिंह। अभी आप पाँच वर्ष के ही हुए थे कि आपके पिता महाराज का निधन हो गया। छः वर्ष की आयु में आपकी शिक्षा आरंभ हुई। नौ वर्ष तक राजभवन में ही रहकर शिक्षा प्राप्त की। इस बीच 'चाणक्यनीति' और 'अमर कोश' के श्लोकों का अभ्यास भी किया। दो वर्ष तक पूर्णिया जिला स्कूल में पढ़ने के उपरांत आप भागलपुर चले गये। वहाँ के जिला स्कूल के मुख्य अध्यापक थे पं. अम्बिकादत्त व्यास। स्कूली शिक्षा के साथ-साथ आपने वहाँ संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। जब आपने प्रवेशिका कक्षा में प्रवेश किया उस समय आपकी अवस्था लगभग सोलह वर्ष की थी, लेकिन इसी समय आपका स्वास्थ्य बिगड़ गया और आगे आने वाले समय में आपको स्कूली शिक्षा छोड़नी पड़ी।

अब राजा कमलानन्द सिंह अपने राजकार्यों के निर्वहन में लग गये। अपने साहित्य गुरु पं. अम्बिकादत्त व्यास 'सुकवि' के सानिध्य-मार्गदर्शन में जो काव्य-रचना सीखी थी उसका अभ्यास भी चलता रहा। इतना ही नहीं स्वयं तो रचना करते ही थे, अन्य साहित्यानुरागियों को भी प्रेरित करते रहे।

कवियों की अच्छी रचनाओं पर आप नगद पुरस्कार देते थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की पत्रिका 'सरस्वती' जब अर्थाभाव के कारण बंद होने की स्थिति में आई तब राजा साहब ने अपने राज्य के सभी विद्यालयों के लिए 'सरस्वती' को नियमित रूप से खरीदकर उनकी सहायता की। आचार्य द्विवेदी ने जब एक अंग्रेजी पुस्तक 'लिबर्टी' का हिंदी अनुवाद आपको समर्पित किया तो आपने उन्हें पाँच सौ रुपये देकर पुरस्कृत किया। ऐसे ही जब एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ -'वाग्विलास', जो असनी के कवि 'सेवक' द्वारा रचित था, अप्राप्य हो गया तो उसे आपने पं. अम्बिकादत्त व्यास द्वारा संपादित करा कर प्रकाशित कराया। आप साहित्यिक कार्यों पर बड़ी उदारता से धन खर्च करते थे। आपका दरबार तत्कालीन साहित्य-जगत् की बहुत-सी महान् विभूतियों से सुशोभित था उनमें मुख्य थे -''1. महावैयाकरण खुद्दी झा, 2. श्रीकान्त मिश्र, 3. जनार्दन 'जनसीदन' 4. ज्योतिषी परमेश्वर दत्त मिश्र, 5. श्रीकृष्ण मिश्र (बोवाजी), 6. जगन्नाथ दास रत्नाकर, 7. पं. अम्बिकादत्त व्यास, 8. शीतला प्रसाद तथा 9. राम नारायण मिश्र।''(द्र. बनैली, रूट्स टू राज, पृ. 182)

ध्यातव्य है कि यह महानुभाव नवरत्न थे राजा साहब के दरबार के, जो अपने-अपने क्षेत्र के-अपने-अपने विषय के महाविद्वान् थे।''साहित्य के प्रति आपके अनन्य अनुराग और साहित्यकारों को दिए जाने वाले प्रोत्साहन को देखकर कवि-मंडली की ओर से आपको 'कवि भोज' तथा 'भारत धर्म महामंडल काशी' की ओर से 'कविकुलचन्द्र' की उपाधि से अलंकृत किया गया था।''(द्र. आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन'- दिवंगत हिन्दी-सेवी, प्र.खं., द्वि.आ. सन् 1983, पृ. 107).

''राजा कमलानन्द सिंह का विवाह काकरौड़ के दिदेर झा की सुपुत्री के साथ संपन्न हुआ। आपकी पत्नी रानी सत्यारामा थीं। आपके तीन पुत्र और तीन पुत्रियाँ थीं। पुत्रों में कुमार गंगानन्द, कुमार अम्बिकानन्द तथा कुमार अच्युतानन्द थे और पुत्रियाँ थीं रासेश्वरी, ब्रजेश्वरी तथा सुरेश्वरी।''(द्र. बनैली, रूट्स टू राज, पृ. 185) राजा साहब के सबसे बड़े पुत्र कुमार गंगानन्द सिंह (सन् 1898-1970) उच्च शिक्षित मैथिली, हिंदी-संस्कृत के प्रकांड पंडित तथा उच्चकोटि के साहित्यकार थे। उन्होंने गद्य-पद्य-नाटक आदि सभी विधाओं में साहित्यिक रचनाएँ कीं। हिंदी तथा मैथिली दोनों भाषाओं में भाषण देते थे। इस सबका श्रेय उन्होंने अपने पिताश्री राजा कमलानन्द सिंह को दिया।

राजा कमलानन्द सिंह अधिक समय तक साहित्य की सेवा नहीं कर सके और थोड़े-से समय की बीमारी के बाद अप्रैल 1910 में परलोक सिधार गये। उस समय राजा साहब की आयु 34 वर्ष की थी।

रचनाएँ :- राजा कमलानन्द सिंह, 'सरोज' उपनाम से कविता किया करते थे। जब आपकी आयु बीस वर्ष की थी तभी आपने कविता करना प्रारंभ कर दिया था। आपकी अधिकांश रचनाएँ ब्रज तथा खड़ीबोली भाषा में हैं। कविता करना आपको अधिक रुचिकर लगता था। वैसे बाद में गद्य में भी आपने बहुत-कुछ लिखा। आपकी रचनाओं का संग्रह आचार्य शिवपूजन सहाय के संपादकत्व में 'सरोज रचनावली' के नाम से प्रकाशित हुआ। 'सरोज रचनावली' में निम्न रचनाएँ समाहित हैं -

''1. मिथिला-चन्द्रास्त, 2. हा! व्यास शोक-प्रकाश, 3. आलोचक और आलोचना, 4. दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला का प्रेमपत्र, 5. महामहोपाध्याय कविवर विद्यापति ठाकुर, 6. श्रीएडवर्ड बत्तीसी, 7. शान्तनु-प्रति गंगा, 8. पत्रावली, 9. रायबहादुर दीनबन्धु मित्र, 10. डायरी, 11. आनन्द मठ, 12. वीरांगना-काव्य, 13. वोट-बतीसी, 14. दाम्पत्य-दण्ड-विधान, 15. स्फुट गेय पद, 16. समस्यापूर्ति और 17. मैथिलक धन-विद्या।''(द्र. हिन्दी साहित्य और बिहार : तृतीय खण्ड, उन्नीसवीं शती (उत्तरार्द्ध), पृ. 75-76)

संकेत्य है कि आपकी अनेक गद्य-पद्य रचनाएँ 'सरस्वती' और 'मिथिला मिहिर' पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ करती थीं। आपकी प्रथम पुस्तकाकार रचना है 'आनन्द-मठ', जो बँगला लेखक

बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'आनन्द-मठ' उपन्यास का हिंदी-अनुवाद है। बंकिम बाबू की एक अन्य रचना का भी राजा साहब ने 'राजा-रानी' नाम से अनुवाद किया था लेकिन वह अप्रकाशित ही रह गई। 'मिथिला-चन्द्रास्त' आपकी प्रथम रचना है जो सन् 1899 में प्रकाशित हुई। इस छोटे-सी कविता पुस्तिका में तत्कालीन दरभंगा-नरेश श्री लक्ष्मेश्वर सिंह के निधन पर श्रीनगर-दरबार के राजकवियों के शोकोद्गार संगृहीत हैं। आपकी दूसरी काव्य-कृति 'व्यास शोक-प्रकाश' सन् 1910 में प्रकाशित हुई थी जिसकी रचना आपने अपने साहित्यिक गुरु पं. अम्बिकादत्त व्यास के निधन पर की थी। आपकी काव्य-रचना 'समस्यापूर्ति' ब्रजभाषा में लिखित एक उत्तम कृति है जो मुख्यत: पं. रसिकलाल शर्मा के संपादकत्व में कानपुर से प्रकाशित 'रसिकमित्र' में छपा करती थी। द्रष्टव्य हैं उसके तीन कवित्त -

''पीत पट ऐसी पियराई चहु ओर छाई,
सोनजुही सरसों वसन्तिका अनन्त की।
तीसी-फूल राजै श्याम-गात सों 'सरोज' कहै,
लतिका हरी-सी हरी होति मति सन्त की।
कोकिला की तान बाँसुरी-सी धुनि हो चारु
कामिनी बिलोकि दास पावै रति कन्त की।
नाना भाँति सुमन बिराजै बनमाल ऐसी,
जसुधा-कुमार कैधों सुखमा बसन्त की।।'' (उपरिवत्, पृ. 76)

'बसंत' शीर्षक अथवा शब्द पर प्रदत्त समस्या की पूर्ति के बहाने वसंत ऋतु का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है कवि ने। निम्न पद की रचना उन्होंने 'जानिबे को खबर लगाय दीनों तार है' को आधार मानकर की है। देखिये -

''प्यारी परभात मन्द-मन्द केलि-मन्दिर तें,
उतरत आवै चली सुखमा अपार है।
मैन नींद माती अलसाती फटी कंचुकी है,
सोहत सुआनन पै बिथुरीले बार है।
छत पै उरोज के तहाँ ते परी एक लट,
उपमा 'सरोज' लखि करत बिचार है।
मानो मुखचन्द सम्भु-चन्द सों मिताई करि,
जानिबे को खबर लगाय दीनों तार हैं।'' (उपरिवत्, पृ. 76-77)

शृंगार रस का अति सुंदर उद्धरण प्रस्तुत किया गया है समस्यापूर्ति के मिस। नायिका के खुले केश की एक लट उसके उरोज के ऊपर पड़ी हुई है जिसे देख कवि को ऐसा आभास होता है मानो नायिका के हृदय का भेद ज्ञात करने हेतु तार लगा दिया गया है। पद में उपमा का सुंदर प्रयोग दर्शनीय है।

एक अन्य छंद में कवि ने 'जानिबे को सिसुता मनोज चढ़ि आयो है' पर समस्यापूर्ति की है। वय: संधि काल की नायिका को अज्ञात योवना कहा जाता है। उसके अंग-प्रत्यंगों में यौवन जन्य परिवर्तन होने लगते हैं। बालपन पीछे छुटता जाता है-तरुणाई आने लगती है। इसको लक्ष्य कर कवि कह उठता है कि ऐसा आभास होता मानो शिशुता-बालपन को समाप्त करने के लिये कामदेव ने चढ़ाई कर दी हो। प्रस्तुत है वह कवित्त-

''परम चलाक छोटे नैनन को जानि खोटे,
कानन समीप ताको पकरि पठायो है।
करिके कठिन चारु कोमल हिये को तहाँ,

समर सरोज दोय दुंदभी धरायो है।
गति को कियो हैं मंद चपल गयंदन की,
अंगन की ओप यो प्रताप बगरायो है।
रचि रनभूमि प्यारी-अंग-काज जोबन के,
नासिबे को सिसुता मनोज चढ़ि आयो है।'' (उपरिवत्, पृ. 77)

भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र का सादृश्यमूलक एक सवैया यहाँ दर्शनीय है-

''सिसुताई अजौं न गई तन तें तउ जोबन-जोति बटोरै लगी।
सुनि कै चरचा 'हरिचन्द' की कान कछूक दै भौंह मरोरै लगी।।
बचि सासु जेठानिन सौ पिय तें दुरि घूँघट में दृग जोरै लगी।
दुलही उलही सब अंगन तें दिन द्वै तें पियूष निचोरै लगी।।''
(श्री ब्रजरत्नदास-भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ. 251)

नायिका मान करके बैठी है। उसको मनाने के लिए नायक के सखा बहुरूप धारण कर, अनेक प्रकार से मनोरंजन कर, दोनों का संयोग कराने के लिए कृत्संकल्प हैं। प्रस्तुत है राजा साहब का तत्संबंधी कवित्त-

''जाहिर जहान में विदूषक हमारो नाम,
बीसबिसे कीरति कुमारी को मनावेंगे।
सखा संग प्यारी को मिलाय कै 'सरोज' आज,
मोद सरसाय बहुरूपहू बनावेंगे।
कौतुक दिखाय बोलि-बोलि बहुरंगन की,
अद्भुत बनाय मुँह नाच कै हँसावेंगे।
कूदि फाँदि हू-हा करि भाषत हौं साँची बात,
याही बिधि मानियों को छन में रिझावेंगे।।''
(द्र. हिन्दी साहित्य और बिहार, तृ.खं., उतरार्द्ध, पृ. 77)

गोपियों कृष्ण को माखन खाने और लुटाने का निमंत्रण दे रही हैं और साथ ही ब्रज को छोड़कर कहीं न जाने की विनती भी कर रही हैं। कवि सरोज के निम्न पद का रसास्वादन करें -

''आइये कान्ह कृपा करके दधि माखन खाइये खाइये खाइये।
खाइये और लुटाइये पै ब्रज छोड़ि न जाइये जाइये जाइये।।
जाइये भूमि न गोपिन प्रेम प्रमोद सों छाइये छाइये छाइये।''
छाइये मेरे सरोज हिये मन मोहन आइये आइये आइये।।''
(उपरिवत्, पृ. 78)

कमलानन्द सिंह जी ने स्फुट गेय पदों की रचना भी की है। ब्रज में फाग खेलना अति प्रसिद्ध रहा है। पद्माकर, नागरीदास, भारतेन्दु प्रभृति अनेक कवियों ने फाग-वर्णन किया है। कवि 'सरोज' ने भी तत्संबंधी कुछ पद रचे हैं। उद्धृत है यहाँ उनका एक फाग गीत, जिसमें गोपियाँ कृष्ण को फाग खेलने के लिए कहती हैं -

''लला तुम भागत हो क्यों आज
खेल लेहू फगुआ अब मोसे तजि सब डर ओ लाज
बूझि पड़ेगी तबहि तुमको कैसी नारि समाज
ब्रज युवती वृषभानु सुताकी सखी साज सब साज
लला तुम ....
पकड़ि रंग में यों बोरोंगी उड़िहैं होस मिजाज
आइहों ले कुमकुम रोलि भरि झोरि एहि काज
बदले सब दिन की सरोज अब लैहों हो ब्रज राज
लला तुम ....।।'' (द्र. बनैली रूट्स टू राज, पृ. 183)

कवि पद्माकर (सं. 1810-1890) ने भी फाग-होरी संबंधी एक अति सुंदर पद की रचना की है जो उपरिवत् पद के समतुल्य है। दृष्टव्य है वह पद-

''फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोविंद लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी।।
छीनि पितंबर कम्मर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय, लला फिर आइयो खेलन होरी।।''
(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 213,
अनुपम प्रकाशन, पटना, सं. 2008)

संयोग श्रृंगार का एक गीत लिखा है कवि 'सरोज' ने जिसमें कान्हा को रंगे हाथ पकड़ लिया है गोपिका-राधा ने। कान्हा के शरीर पर युगल-प्रेम के-रति के चिह्न अंकित हैं। देखिए-

''आजु भलि बनि आये लाल
अंजन अधर पीक पलकन में
सोहत जोक सुन्दर भाल
बिनु गुन माल बिराजत हिय में
अलसाये दुहु नैन विशाल
मृग मद लसत भुजायें नीको
चुम्बन चीन्ह चारु बिच गाल
चित सरोज-लखि चकित भये हैं
तेरी यह मतवाली चाल'' (द्र. बनैली, रूट्स टू राज, पृ. 183)

ऐसा ही एक चित्र खींचा है संयोग श्रृंगार का महाराज सावंतसिंह 'नागरीदास' ने। प्रस्तुत है उनका यह पद 'रति-श्रांता' शीर्षक के अंतर्गत -

''छुटी अलक, माला तुटी, मैंन लुटी सी अंग
ए सखि फीके अधर क्यौं, लग्यौ कपोलनि रंग।।
मन ही मन जु सिहात सी, मन ही मन मुसिक्यात
तू मनमोहन सों मिली, पाई मन की बात।।
छबि झलकैं, अलकैं सिथल, सब तन सिंथल सिगार
सूचत तेरी सिथलता, निसि दृढ़ लगन बिहार।।
'नागरि' उरझी स्यांम सौं, आरस उरझे बैंन
तेरी उरझी अलक मैं, मेरे उरझे नैन।।''
(द्र. नागरीदास पदमुक्तावली- संपा. डॉ. किशोरीलाल गुप्त, पृ. 384)

राजा कमलानन्द सिंह ने एक बहुत ही व्यावहारिक गीत लिखा जो सत्यता की कसौटी पर पूर्णत: खरा उतरता है, और वह है 'याचन कतहु न जैये प्यारे'। याचना करने से-किसी-से कुछ माँगने से कुल के गुण और गौरव तो तुरंत नष्ट हो जाते हैं और फिर माँगने वाले से मित्र-सगे-संबंधी भी मुँह फेरने लगते हैं। याचक की इच्छा-याचना तो पूरी नहीं होती, लेकिन वह हँसी का पात्र बनकर रह जाता है। प्रस्तुत है उनका वह गीत -

''याचन कतहु न जैये प्यारे याचन कतहु न जैये
हाथ पसारत कुल गुण गौरव ताछन अपन गमैये
प्यारे याचन कतहु न जैये
त्यागत मीत मित्रता प्यारी बहुदिन जाहि निबाहि
देखतहि मुख फेरि लेतुहैं अरु बोलत कछु नाहि
प्यारे याचन कतहु न जैये
नृप दरबार चढ़न नहिं पावत प्रहरि डाँटि भगावे
सब कोउ नाच नचावन चाहें हंसि व्यंग सुनावे
प्यारे याचन कतहु न जैये।'' (द्र. बनैली, रूट्स टू राज, पृ. 183)

मुगल सम्राट् अकबर के दरबार के नवरत्नों में अग्रगणनीय अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहीम' ने भी याचना को गर्हित कार्य माना है। माँगने से व्यक्ति छोटा हो जाता है। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, स्वयं त्रिभुवनपति भगवान् विष्णु की भी महिमा कलंकित हो गई -

''रहिमन जाचकता गहे, बड़े छोट है जात।
नारायन हू को भयो बावन आंगुर गात ।।''

(द्र. रहीमन ग्रंथावली : डॉ. देशराज सिंह भाटी,
सं. 2000,पृ. 22, अशोक प्रकाशन, दिल्ली-6)

गद्य साहित्य की भी रचना की है राजा साहब ने। 'समालोचक और समालोचना शीर्षक से एक निबंध लिखा था उन्होंने जो 'सरस्वती' (9 सित. 1902) पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इस निबंध में उन्होंने उन साहित्यिक समालोचकों को निशाना बनाया है जो विषय का पूरा ज्ञान अर्जित किए बिना ही आलोचक बन बैठते हैं। आलोचना गुण-दोष के आधार पर होनी चाहिए। आपके उस निबंध का कुछ अंश यहाँ उद्धृत करना समीचीन ही होगा। अत: अवलोकनीय हैं कुछ पंक्तियाँ - ''समालोचकों को चाहिए कि आलोचना करने के समय अपनी दृष्टि को शुद्ध कर लें और किसी प्रकार की मलिनता उसमें न रहने दें, तब दृश्य पदार्थो के गुण-दोषों की विवेचना करें; क्योंकि कभी-कभी अपने नेत्र-दोष से भी पदार्थो पर दोषाध्यास होना संभव है। यह तो प्रत्यक्ष है कि जिनके नेत्र में पीलापन आ जाता है, तो वे विशद पदार्थ को भी पीत कहकर अपने नयनदोष का परिचय देने लगते हैं और सामाजिक लोग उनके कहे हुए को एक कौतुक मात्र समझते हैं। ऐसे ही शास्त्ररूपी चक्षु होते हुए भी जिनका ज्ञान-प्रदीप विषय-वायु से ताड़ित होकर लुप्त हो गया है, उनको अपने हृदयगारस्थ विवेकरत्न ही का प्रत्यक्ष होना कठिन है ; फिर, वे दूरदर्शी सूक्ष्म विषयों की आलोचना क्या करेंगे, और हठात् उनकी की हुई आलोचना सभ्य समाज में कैसे मान्य हो सकती है ? शास्त्र-परिनिष्ठित बुद्धि न होने के कारण ग्रन्थकर्त्ता के आशय को बिना समझे ही उसके सदर्थ बोधक विषय में दोष दिखलाना मानों एक प्रकार से अपना उन्माद प्रकट करना है।'' (द्र. हिन्दी-साहित्य और बिहार, तृतीय खण्ड : उन्नीसवीं शती (उत्तरार्द्ध) पृ. 78) अयोग्य होते हुए-अनधिकार चेष्टा करते हुए किसी पांडित्यपूर्ण कृत्ति की अनर्थक आलोचना करना साहित्य और साहित्यकार दोनों का ही घोर अपमान है। ऐसे दुष्कृत्य को सभ्य समाज कभी स्वीकार नहीं कर सकता है।

उपन्यास के विषय में भी एक छोटा-सा लेख लिखा है 'सरोज' जी ने। वस्तुत यह लेख नहीं है वरन् बंकिम बाबू के बंगला-उपन्यास 'आनन्द-मठ' के हिन्दी अनुवाद की भूमिका है। लेखक उपन्यासकार नहीं है। तत्कालीन उपन्यासकारों द्वारा उचित कोई अच्छा उपन्यास लेखक को हस्तगत नहीं हुआ। बंगला भाषा का चर्चित उपन्यास 'आनन्दमठ' आपको बहुत पसंद आया और हिंदी में ऐसे उपन्यासों की कमी देख उसका हिंदी-अनुवाद प्रस्तुत कर दिया। इस रूपांतरित 'आनन्द-मठ' की भूमिका में आपने लिखा-''संस्कृत में अभाव रहने के कारण हिन्दी के विद्वानों ने अंगरेजी के नाविलों का अनुकरण किया और कतिपय अंगरेजी भाषा के उपन्यासों का उल्था भी कर डाला है। बंगाली लोग भारतवासियों में बिलायती अनुकरण करने में सबके दिग्दर्शक हैं और उनका साहित्य भण्डार भी उनके उत्साही सुपुत्र द्वारा बिचारी हिन्दी के पहले ही से भरपूर है। बंगभाषा में बहुत से मनोरंजक उपन्यास भरे हुए हैं जिसका कुछ अंश हमारे हिन्दी प्रेमी द्वारा रसिकों को अनुवाद रूप में बंग भाषा के उपन्यास दृष्टिगोचर भी हुए हैं। लेखकों में बाबू बंकिमचन्द्र सबसे प्रथम श्रेणी में गिने जाते हैं। इनके बनाये बहुत से उपदेशप्रद ऐतिहासिक और मनोरंजक उपन्यास हैं जिनमें दो-चार उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद भी हो चुका है। बंकिमचन्द्र के उपन्यास के ढंग पर हिन्दी में आज तक मुझे एक भी उपन्यास देखने में नहीं आया है। इसलिए मुझे हिन्दी में इससे अच्छा रोचक उपन्यास रचने का साहस नहीं हुआ। मैं कुछ इतना बड़ा विद्वान नहीं हूँ कि स्वतंत्र उपन्यास लिखकर इतने अच्छे-अच्छे उपन्यासों के रहते लोगों को आनन्द कर सकूँ। अनुवाद करना भी अपूर्ण साहित्य भण्डार के पुष्ट करने का एक मुख्य कारण है, यह विचार मैंने आनन्दमठ का अनुवाद किया है। (उपरिवत् पृ. 79-80)

राजा कमलानन्द सिंह 'सरोज' की रचनाओं में से यही कुछ (कुछ पद्य और कुछ गद्य के प्रयुक्त नमूने ही) प्राप्त हो सके हैं। सन् 1932 में श्रीनगर राजमहल में आग लगने के कारण आपकी समस्त रचनाओं-पांडुलिपियों सहित पूरा-का-पूरा पुस्तकालय जलकर राख हो गया। आपकी समस्त उपलब्ध रचनाओं का संग्रह आचार्य शिवपूजन सहाय ने संपादित कर 'सरोज-रचनावली' नाम से प्रकाशित कराया। बहुत प्रयत्न करने पर भी इन पंक्तियों के लेखक को कुछ अधिक विशेष सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी।

भाषा-शैली :- राजा कमलानन्द सिंह की भाषा ब्रज और खड़ीबोली है। आपके काव्य की भाषा ब्रज है। गद्य के लिए खड़ीबोली का प्रयोग किया गया है। आपको हिंदी, संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान था। लेकिन आपने साहित्य लेखन के लिए हिंदी को ही प्राथमिकता दी। आपकी भाषा सरल है, सहज है और संप्रेषणीय भी। क्लिष्ट भाषा-प्रयोग से बचे हैं। अरबी-फ़ारसी के शब्दों से मुक्त हैं आपकी रचनाएँ। शुद्ध हिंदी-प्रयोग के पक्षधर रहे हैं। अनुप्रास, उपमा, रूपक, आदि अलंकारों को यथोचित स्थान दिया गया है, पर वे लादे नहीं गये हैं। अनुवाद कला-प्रवीण थे राजा साहब। बंकिम बाबू के बँगला उपन्यास 'आनन्द-मठ' तथा 'राजा-रानी' का बड़ा सुंदर और सटीक हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त माइकल मधुसूदन दत्त के 'वीरांगना काव्य' के कुछ अंशों का पद्यबद्ध अनुवाद भी किया जो आपके काव्य-कौशल का द्योतक है।

हिंदी के संवर्द्धन में-स्वयं रचना करके तथा अन्य रचनाकारों को प्रोत्साहन देकर, जो योगदान राजा कलानन्द सिंह 'सरोज' ने दिया है उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता, बल्कि उसकी जितनी सराहना की जाय, वह कम ही होगी।

महाराज चतुरसिंह : मालवा-मेवाड़ की दिव्य विभूति

डॉ. पूरन सहगल

मेवाड़ और मालवा परस्पर सहोदर भाई की भाँति माने जाते हैं। विशेष रूप से दशपुर जनपद तो राजनैतिक रूप से और सांस्कृतिक रूप से मेवाड़ से सदा प्रभावित रहा है। अरावली के पठार पर और तलहटी में बसा दशपुर जनपद कई बार मेवाड़ द्वारा शासित भी रहा है। यहाँ की भाषा, भूषा और भलावण मेवाड़ से भिन्न नहीं रही। आज भी नहीं है।

मेवाड़ के वंशज शासक सिसोदियों की यश-पताका जहाँ शूरवीरता और राष्ट्रभक्ति के लिए सदा स्वाभिमान से लहराती रही है वहीं भक्ति एवं सतीत्व के लिए भी इसकी दिव्यता विश्ववंद्य है।

यहाँ साँगा और महाराणा प्रताप जैसे शूरवीर हुए हैं तो मीरा जैसी कृष्ण भक्त और महारानी पद्मिनी जैसी सतवंती नारियाँ भी हुई हैं। मालवा के अरावली पठार पर स्थित सिंघल (सिंगौली) गढ़ की बेटी महारानी पद्मिनी ने अपने सतीत्व की रक्षा करते हुए तथा दोनों कुल-वंशों की मर्यादा की रक्षा करते हुए जिस प्रकार आत्म-उत्सर्ग किया वह पूरा विश्व भली भाँति जानता है।

राजस्थान तो वीरों-पीरों-फकीरों, संतों-महंतों, सतियों और वीरांगनाओं की भव्य भूमि है। यहाँ देवता भी दर्शन करने आते हैं और यहाँ की धरा-धूल को मस्तक पर लगाकर स्वयं का मस्तक चंदन चर्चित करते हैं।

बावजी चतुरसिंहजी महाराज का जन्म 9 फरवरी 1880 ई. तदानुसार वि.सं. माघ बुदी 14, 1936 वि. में करजली हवेली, उदयपुर में रानी कृष्णा कुँवर की कोख से महाराज सूरतसिंह जी ठिकाना करजली में हुआ था। वे महाराज बाघसिंह जी के वंशज थे। महाराज बाघसिंह जी महाराणा संग्राम सिंह जी के तृतीय पुत्र थे।

महाराजा चतुरसिंह जी राजसत्ता सुख के स्थान पर परमपिता परमेश्वर की भक्ति के सात्विक आनंद में मग्न हो गए। इसी कुलवंश की बहू मीरा थी। मीरा ने भी सेजसुख के स्थान पर साँवलिया की चाकरी का सुख स्वीकार करते हुए कहा था।

''स्याम म्हने चाकर राखो जी।
चाकर रहस्याँ बाग लगास्याँ,
नित उठ दरसण पास्याँ।

यही भाव बावजी चतुरसिंह भी अपने पदों में अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं।

''म्हें तो छां चाकर थांकां।
म्हें तो ठेठ-ठेठ जनम का।
बाज लीला रे, म्हें तो सदा पागड़े लागां।''

'मैं तो जन्म-जन्म से आपका चाकर हूँ। सदा-सदा आपके चरणों में समर्पित हूँ।' एक वीर का

ऐसा भक्ति भाव जब प्रकट होता है तब वह शौर्य में बदल जाता है। वे एक बार यों भी कहते हैं –

''मुजरा मालुम नित करवावाँ, डोडियाँ दो वगताँ का।
काल पणा सू ही वाकफ छाँ, मारग सब मेहलां का।।

ऐसी समीपता, ऐसी निकटता, ऐसा समर्पण अद्‌भुत है। नित्य प्रति आपको मेरा वन्दन करने का नियम। आपकी देहरी पर नित्य सीस नवाने की परम्परा निर्वाहित करना मेरा धर्म है। यही तो आपसे मिलने का लाभ है। आपके सभी महलों का मार्ग मैं भली भाँति जानता हूँ।

बावजी महाराज ने अपने इष्ट के प्रति सदा समर्पण भाव बनाए रखा। सारा राजपाट, प्रभु समर्पित, सारा जीवन भी प्रभु समर्पित। यह संसार तो नश्वर है। हम तो इस संसार में केवल यात्री हैं। रेल में बैठे यात्री की तरह हमारा जीवन है। असावधानी रखो तो जेब (गांठ) कट जाए। जीवन को बहुत सावधानी से, नित्य नियम और मर्यादा से व्यतीत करना पड़ता है। संयम-धर्म का पालन करना होता है। जो भी टिकिट लेकर रेल में सवार होता है उसे यात्रा पूरी होने पर उतरना ही पड़ता है। अर्थात् जो जन्म लेता है उसे तो मरना ही पड़ता है। जीवन में सावधानी बहुत आवश्यक है। षड्‌रिपु चोर, जेबकतरे बहुत हैं। जरा भी असावधान हुए कि गाँठ कट जाएगी अर्थात् जीवन में दोष आ जाएँगे। वे कहते हैं

''कठे अंणरखी कठे पगरखी, कठे पाग़डी की।
टिकट टेम की खबर खोजनी, कटगी गांठ टका की।
घर जाण जूं व्हीयो गाफिल, रेल घणी दौड़ाकी।
छड़े जणी ने पड़े उतरणो, या हे रीत अठा की।।''

बावजी महाराज के ज्ञानपरक एवं सदाचार परक दोहे भी मालवा-मेवाड़ में घर-घर गाए जाते हैं। वे कहते है –

''गुण क्यूँ भूल्यो गुमान रा, रे मन मूढ़ कठोर।
फरे वणी ने छोड़ ज्युँ, बना घणी रो ढोर।।
ज्ञानी गुरु गुमान हे, कीको भी कम हैन।
सूर प्रकासे दिवस जूँ, चन्द प्रकासे रैन।।
लोभ हमारे लाल हे, मोह हमारे मित्त।
क्रोध हमारे काम हे, काम हमारे चित्त।।

अरे अहंकारी तू गुणों को भूलकर अवगुणों को याद रख रहा है। इसी कारण तुझे भटकना पड़ रहा है। शूर तो वही है जो सूर्य की भाँति दिन में चमकता है। चन्द्रमा रात में चमकता है। लोभ को हमने अपना पुत्र मान लिया है। मोह को मित्र, क्रोध को कार्य और काम को चित्त में धारण कर लिया है। ऐसी स्थिति में हमारा उद्धार कैसे सम्भव है ?

उन्होंने एक रचना अलख पच्चीसी भी लिखी थी। जिसमें उन्होंने ''उधा'' को संबोधित करते हुए अपने विचार प्रकट किए हैं। ''उधा'' कोई सजीव पात्र था अथवा काल्पनिक यह कहना कठिन है। वे कहते हैं –

सांख्य योग को सर हे, यो गीता को ज्ञान।
उपनिष्दां रो सार हे, उधा अलख पिछाण।।
लख पचीसी अलख ने, औलख कही गुमान।
वा चातुर चौवे करी, ऊधा अलख पिछाण।।

बावजी सांख्य योग के परम ज्ञाता थे। गीता के भी वे ज्ञाता थे। वे सचमुच प्रज्ञापुरुष की भाँति ही अपना जीवन यापन करते थे। अलख, को पहचान लेने का उपदेश वे देते हैं। जिस दिन अलख की पहचान हो जाएगी उस दिन सारे भटकाव मिट जाएँगे।

बावजी महाराज गीता के उपदेश और सार को सदा स्मरण रखते थे। उसी आधार पर उनका जीवन भी था। जैसे गीता में कहा गया है। उन्होंने समस्त आसक्तियों पर विजय प्राप्त कर ली थी। इन्द्रियों को वश में कर लिया था। उनके भीतर की समस्त गाँठें खुल चुकी थीं। गीता में यही तो भगवान कहते हैं –

यततो ह्यपि कौन्तेय, पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसभं मनः।।
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

– गीता अध्याय 2, श्लोक 60-61

'हे अर्जुन! आसक्ति का नाश न होने के कारण ये प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ, यत्न करते हुए भी बुद्धिमान पुरुष की प्रज्ञा और उसके मन को बलात हर लेती हैं, इसलिए सम्पूर्ण इंद्रियों को वश में करके, समाहित चित से सम्पन्न होकर जो व्यक्ति मेरे ध्यान में बैठता है जिस पुरुष की इंद्रियाँ उसके वश में होती हैं, उसकी बुद्धि स्थित हो जाती है।'

बावजी ने समस्त इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया था। इसीलिए वे स्थितिप्रज्ञता को प्राप्त हो गए थे।

बावजी ने गीता का अनुवाद भी किया है जो अत्यंत लोकप्रिय हुआ। इसी प्रकार उनका चन्द्रशेखर स्रोत का मेवाड़ी भाषा का अनुवाद भी अत्यंत रोचक एवं लोकप्रिय हुआ। वे मेवाड़ी लोक भाषा के महाकवि के रूप में सर्वत्र जाने जाते हैं। उनके पद-भजन मेवाड़ में व मालवा के दशपुर अचंल में पूरे चाव आस्था और भक्तिभाव से गाए और सुने जाते हैं।

जब भक्त अपने इष्ट के भक्ति भाव में लीन हो जाता है तब उसे भौतिक संसार का भान तक नहीं रह जाता। वे एक पद में कहते हैं –

''आँख न मूंदूं, कान न मूंदै- हट करम सनौ हटाई,
खुले ही नैना निरख राम को, राम ही राम लखाई।।''

मैं न तो आँख, कान, बंद कर ध्यान समाधी लगाना चाहता हूँ और न हठयोग करना चाहता हूँ। मैं तो खुले नेत्रों से अपने राम के दर्शन करना चाहता हूँ। मैं तो अपने राम को कण-कण में देखता हूँ। वे सर्वव्यापी हैं व सर्वत्र हैं। उन्होंने अपने इष्ट राम के दर्शन साक्षात्रूप में किए थे। वे इस संदर्भ को एक साखी में कहते भी हैं –

''उगणी सौं अठयोतरै, तीज पोष सुद भाण।
नाऊवा नगरी में वणी, उदया अलख पिछाण।।''

विक्रमी संवत् पौष शुक्ला तीज रविवार को बावजी ने अपने इष्टदेव राम को साक्षात्रूप में देख व उनके दर्शन कर स्वयं को धन्य किया। जब उन्हें राम के प्रत्यक्ष दर्शन हो गए तब से उनकी भक्ति और भी प्रगाढ़ हो गई।

''जा दिन आलम ओलख्यां, अलगो लगो अखूट।
बंधन रा भी बल गया, उण दिन बंदन छूट।।

भगवान के सामुख्य दर्शन के पश्चात् संसार के समस्त बंधन शिथिल हो गए। सभी बंधनों से मुक्ति मिल गई। बावजी महाराज केवल भक्त ही नहीं बहुत बड़े समाज सुधारक भी थे। उन्होंने नारी चेतना और साक्षरता के लिए बहुत काम किया था। नारी चेतना का एक पद देखें -

''घेना आपां ओछी नी हां।
ओछी मत रे कणी कह्यो के नीच जात नारी हे।
नारी हां तो कांई व्हीयो म्हें नारां री नारी हां।
शूरां घर जलमी हां, शूरां घर परणी हां,।।
शूरां री जननी हां आपां, पोते ही शूरां हां।।''

हे बहनो हम कहीं भी ओछी नहीं हैं। किसी ओछी मति वाले ने हमें नीच और ओछी कह दिया है। हम स्त्री हैं तो क्या हुआ? हम सिंहों की पत्नियाँ हैं तथा स्वयं भी सिंहनियाँ हैं। शूरवीरों के वंश-कुल में हमने जन्म लिया है। शूरवीरों से हमने विवाह किया है। हमने शूरवीरों को जन्म दिया है। हमारी सभी संतानें पोते-नाती सब शूरवीर हैं। फिर हम नीच अथवा छोटी कैसे कही जा सकती हैं ?

महाराज ने जब ऐसा विचार व्यक्त किया होगा तब निश्चित रूप से उनके मन में वीरांगना हाड़ी रानी, पद्मी सत्वंती, सावित्री, आदि महान नारियों का इतिहास और त्याग, प्राणोत्सर्ग ध्यान में रहा होगा।

नारी चेतना के अतिरिक्त साक्षरता के क्षेत्र में भी उनका योग सराहनीय है। उन्होंने ''रमत-भनत'' माध्यम से स्त्री-शिक्षा और बाल-शिक्षा के क्षेत्र में बहुत कार्य किया जिसे आज हम ''सीखो-कमाओ-खाओ'' मिशन के नाम से जानते हैं अथवा ''खेल-खेल में सीखो'' जैसे प्रशिक्षण देते रहे हैं उसे तो बावजी अपने युग में प्रयोग में ला चुके थे। अपनी मातृभाषा में पढ़ने-बोलने पर उन्होंने बार-बार समझाइश दी।

बावजी महाराज का कथन था कि नारी जागेगी तो समाज जागेगा। नारी अनपढ़ रहेगी तो सारी-की-सारी पीढ़ियाँ पिछड़ती चली जाएँगी। इसलिए जो प्रौढ़ नारियाँ हैं वे साक्षर बनें। इसका लाभ परिवार के बच्चों को मिल सकेगा। आने वाली पीढ़ियाँ पढ़-लिखकर योग्य बनेंगी। वे राष्ट्र-धर्म, समाज-धर्म, परिवार-धर्म और आत्म-धर्म का अच्छी तरह पालन करेंगी।

समाज सुधार में बावजी महाराज का योगदान मालवा-मेवाड़ में सदा याद रखा जाएगा। भारत की आजादी के प्रति भी वे चिंतित थे। उन्हें युद्ध की विभीषिका से भी ग्लानि थी। वे सदा प्रयत्न करते रहे कि युद्ध से नहीं बल्कि आपसी व्यवहार और सदाशयता से हम अपना-अपना जीवन जिएँ। ऐसे राष्ट्रचेता, समाज और धर्म-चेता थे बावजी महाराज। यही कारण है कि उन्हें आज सवासौ वर्ष से अधिक व्यतीत होने के पश्चात् भी पूजा और आराधा जाता है। उनके उपदेश-भजन जन-जन में व्याप्त हैं।

मेवाड़ राजपरिवार से सम्बन्धित चतुरसिंह की वाणी दिव्य थी, उनके उपदेश दिव्यता के पोषक थे। उनका चिन्तन उदात्त था क्योंकि वे अनुपम सौंदर्य के उपासक थे, उनका सम्बोधन आत्मीय था वे आत्मरूप थे। उन्होंने कुल 18 छोटे-बड़े ग्रंथों की रचना मेवाड़ी बोली में लिखी। उनकी-गीता पर लिखी गंगा प्रसिद्ध पुस्तक हैं। चतुरसिंह की दोहावली का संग्रह चतुर चिंतामणी नामक रचना है, सामान्य लोक जीवन पर आधारित इन दोहों में मानव कल्याण, संसार और ईश्वर के बीच के सम्बन्ध को दार्शनिक तरीके से समझने में मदद मिल सकती है। लोक व्यवहार के दोहों में चतुरसिंह जी ने वर्तमान और प्राचीन समय के उदाहरणों का प्रयोग अच्छी तरह किया है।

प्रस्तुत दोहे - बावजी चतुरसिंह जी की रचना 'चतुर चिंतामणी' से लिए गये हैं जो इस राजस्थानी कवि की मेवाड़ी हिंदी और ब्रजभाषा के समिश्रण का उत्कृष्ट उदाहरण है। सामान्य लोक व्यवहार से जुड़े इन दोहों में मनुष्य, ईश्वर और संसार के मध्य के सम्बन्ध को समझने में मदद मिलेगी।

धरम धरम सब एक हैं, पण वरताव अनेक।
ईश जाणनों धरम हैं, जिरो पन्थ विवेक।।

– इस संसार में अनेक धर्म हैं, उन सबका व्यवहार भी अलग, लेकिन प्रत्येक धर्म का मूल अलग है- उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति है। ईश्वर को जानने का मुख्य मार्ग ज्ञान है। व्यक्ति सच्चे ज्ञान के द्वारा ईश्वर को जान सकता है प्राप्त कर सकता है।

पर घर पग नी मैल्यो, वना मान मनवार।
अंजन आवै देख नै, सिंगल रो सतकार।।

– जिस घर में मान सम्मान नहीं मिले उस घर में कभी कदम नहीं रखना चाहिए। व्यावहारिक जीवन में देखा जाता है, कि रेलवे स्टेशन पर सिग्नल दिखाई नहीं देता है तो इंजन स्टेशन पर नहीं आता है। रेल आने से पूर्व स्टेशन मास्टर सिग्नल लगाता है, जिसे देखकर इंजन प्रवेश करता है। इस प्रकार सिग्नल इंजन का सम्मान है।

रेठ फरै चरक्यो फरै, पण फरवा में फेर
वो तो वाड़ हर्यों करै, यों छुंता रो ढेर।।

– कुए से पानी निकालने के लिए रहट वैली का उपयोग किया जाता है, यह यंत्र ऊपर से जल की सतह तक जाता हैं। छोटी बाल्टियों में – फिर पानी भरकर स्वयं ऊपर आता हैं। इसी जल से सिंचाई की जाती हैं, जिससे खेत हरे-भरे हो जाते हैं। यह रहट ऊपर नीचे फिरता रहता हैं। इसी प्रकार गन्ना पेरने की चरखी गन्नों के बीच दबकर फिरती हैं, गन्ने का रस निकालकर पात्र में रख देती हैं तथा छिलकों को निकालकर एक तरफ ढेर निकाल देती है। कहने का मतलब यह है, कि रहट और चरखी दोनों उपकरण फिरते हैं परन्तु दोनों के फिरने की क्रिया और फल में अंतर है।

कारट तो केतो फरै, हरकीनै हकनाक।
जीरो व्हे विन्नै कहै, हियैं लिफाफों राख।।

– एक स्थान से दूसरे स्थान पर पत्र भेजने के लिए पोस्टकार्ड और लिफाफे बेहद लोकप्रिय थे और आज भी हैं परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से पोस्टकार्ड द्वारा भेजा गया संदेश कोई भी पढ़ सकता हैं इस कारण इससे संदेश की गोपनीयता नहीं रहती हैं, लेकिन लिफाफे में जिसे हम संदेश देना चाहते हैं वही पढ़ सकता है।

वी भटका भोगै नहीं, ठीक समझले ठौर।
पग मेल्या पेला करे, गैला उपर गौर।।

– जीवन में कुछ प्राप्त करने के लिए समझदारी के साथ-साथ सोच समझकर कार्य करना चाहिए। बिना कुछ कार्य के इधर-उधर भटकने से कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। इसलिए हमें स्थान के बारे में पहले से ही अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। जैसे किसी राह में चलने से पूर्व रास्ते की जानकारी पता कर लेनी चाहिए, इससे मार्ग की कठिनाइयों का पता चल जाता है।

क्यूं किसू बोलू कठे, कुण कई की वार।
ई छै वाता तोल नै, पछै बोल्नो सार।।

– इस संसार में व्यवहार करने के लिए हमें बातचीत एक दूसरे से करनी पड़ती है, परन्तु बोली एक अमूल्य वस्तु है कि किससे कब और कहां क्या बोलना है, किसको कब क्या कहना उचित हैं आदि बातों को अपने हृदय में पहले से ही तोल लेना चाहिए, इन बातों के सार को ही कहना चाहिए निरर्थक बातें करने से कोई फायदा नहीं है।

ओछो भी आछो नहीं, वतो करै कार।
देन्णों छावैं देखनै, अगनी मुजब अहार।।

– जीवन में किसी वस्तु की सार्थकता या आवश्यकता पर्याप्तता होने पर ही होती है। यदि आवश्यकता से कम है या अधिक है तो उसका विशेष महत्त्व नहीं होता है। आग को जलती रखने के लिए उसमें आवश्यकता के अनुसार ईधन डालते रहना चाहिए। यदि आवश्यकता से कम ईधन डालेंगे तो आग बुझ जाएगी, आवश्यकता से अधिक डालेंगे तो भी वह बुझ जाएगी।

अपणी आण अजाणता कईक कोरा जाय।
समझदार समझे सहज, आँख इशारा माय।।

– इस संसार में बहुत से लोग हैं जो अपनी इज्जत, मान मर्यादा और योग्यता के सम्बन्ध में अनजान रहते हैं। ऐसे बहुत से व्यक्ति व्यर्थ में अपनी जिन्दगी बिताते हैं। समझदार व्यक्ति बहुत जल्दी संकेत के रूप में सारी बात समझ जाते हैं कि कौन कैसे उसका सम्मान और अपमान करता है।

क्षमा क्षमा सब ही करे, क्षमा न राखे कौय।
क्षमा राखिवैं तै कठिन, क्षमा राखिवौं होय।।

– इस संसार में सभी व्यक्तियों को क्षमा – अर्थात् मनुष्य को क्षमा करने की भावना व क्षमा शीलता का गुण रखना चाहिए, पर व्यवहार में कोई भी व्यक्ति क्षमा या धैर्य नहीं रखता हैं। क्षमा करने की भावना कठिन धैर्य रखने की क्षमता है। अर्थ यह है कि धैर्य रखना क्षमा करने से अधिक महत्त्वपूर्ण है; अर्थात् क्षमा के पात्र व्यक्ति के गुण दोषों के बारे में चिन्तन आवश्यक है।

विद्या विद्या वेल जुग, जीवन तरु लिपटात।
पढ़ीबौ ही जल सिंचिबौ, सुख दु:ख को फल पात।।

– विद्या और युग रूपी बेल-जीवन रूपी वृक्ष के चारों ओर लिपटे रहते हैं। लगातार पढ़ने यानि ज्ञान रूपी जल से जीवन रूपी वृक्ष को सींचना चाहिए, जीवन रूपी वृक्ष को सींचने से ही सुख-दुख रूपी फल और पत्ते प्राप्त किए जा सकते हैं।

रेल दौड़ती ज्यू घणा, रुंख दोड़ता पेख।
तन नै जातो जाण यूँ, दन नै जातो देख।।

– जब रेलगाड़ी दौड़ती है तो-हम वृक्षों को दोड़ता हुआ देखते हैं। उसी प्रकार जीवन में समय और दिन जाते हुए देखते हैं हम समझते हैं, दिन जा रहा है वर्ष जा रहा हैं परन्तु हमें यह सोचना चाहिए कि दिन व वर्ष नहीं जा रहे हैं बल्कि हमारा नश्वर शरीर धीरे-धीरे नष्ट हो रहा है।

गाता रोता निकलया, लड़ता करता प्यार।
अणि सड़क रै उपरे, अब लख मनख अपार।

– हमने इस संसार में गाते-रोते हुए जन्म लिया और एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते प्यार से जीवन जिया। इसी प्रकार संसार रूपी सड़क पर अनगिनत मनुष्य जीवन जीते हैं।

गोख्दिया खड़िया रया, कड़ियाँ झांकणहार।
खडखडिया पड़िया रया, खड़िया हाकनंहार।।

– ऊँचे भवन के ऊँचे गोखड़े झरोखे तथा सड़क पर चलने वाले तांगे आदि सभी यहीं पड़े रह जाते हैं किन्तु तांगा चलाने वाला चला जाता है, उसी प्रकार शरीर से आत्मा तो चली जाती है, लेकिन शरीर यहीं रह जाता है।

गेला नै जातो कहैं, जावै आप अजाण।
गेला नै रवै नहीं, गेला री पेछाण।।

– इस संसार में कुछ व्यक्ति स्वयं अज्ञानी हैं, तथा दूसरों को भी मूर्ख बनाते हैं। एक मूर्ख जाते हुए एक व्यक्ति से कहता है कि वह मूर्ख है क्योंकि वह सही मार्ग पर नहीं जा रहा हैं जबकि आप स्वयं जानकार होते हुए भी गलत मार्ग पर जा रहे है। वह व्यक्ति गलत मार्ग पर इसलिए जा रहा है, क्योंकि उसे सही राह की पहचान नहीं हैं परन्तु खेद तो यह है अपने आप को ज्ञानी मानकर गलत राह पर जा रहे हैं।

धन दारा रै मायने, मती जमारो खोय।
वणी आणि रा वगत में, कूण कणी रा होय।।

– बावजी महाराज चेतावनी देते हुए कह रहे हैं, कि इस समय संसार में धनसम्पति पत्नी के बीच रहकर अपना जीवन मत खोवो, क्योंकि कुछ समय भगवान् का भी स्मरण करो, कठिन समय में कोई भी व्यक्ति किसी का साथ नहीं देता है। बावजी महाराज ने ऐसे अनेक नीतिपरक दोहे लिखे हैं –

मदिरा पान करने वालों को भी उन्होंने खूब फटकारा है। वे कहते हैं –

मदिरा रो मद पीवतां वीजो मति मदांध,
धन लुटे, इज्जत घटे, मूंडे कढ़े संढाध।।

– मदिरा पीकर मदांध मत होओ। इससे धन लुटता है, इज्जत घटती है मुँह से सड़ांध निकलती है। अर्थात् फेफड़े आदि सड़ जाते हैं। मदिरा पान करने वालों के लिए लोक प्रसिद्ध यह दोहा कितना मार्मिक है। मदिरा पान करने वालों को इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है ?

''आम फले पर वार ती, महुओ फले पत खोय।
वण पाणी पीवताँ, थाँ में बुद्धि किण होय।।

जब आम फलता है तब उसके पत्ते हरियाले हो जाते हैं किन्तु जब महुए के फल आते हैं तब वह पूरा वृक्ष पत्र विहीन हो जाता है। मदिरा पान करने वालो। ऐसे वृक्ष का रस (मदिरा) पीने से तुझ में सद्‌बुद्धि कैसे आ सकती है ? जिसका फल प्रकट होते ही परिवार का नाश कर लेता है उसकी मदिरा भी तुम्हारे परिवार को नष्ट कर देगी।

बावजी चतुरसिंह जी महाराज मेवाड़ी लोकभाषा एवं साहित्य के संत-साहित्यकार थे। उनका उपदेशक साहित्य मेवाड़ी साहित्य ही नहीं अपितु समूची साहित्य सम्पदा की अमूल्य निधि है। वह हमारे लिए उनके द्वारा दी गई अमानत है जिसे लोक ने अपने कंठों पर वेदमंत्रों की तरह धारण कर रखा है। बावजी के लोक के अधरों पर धरे पद-भजन-दोहे कृष्ण की बांसुरी की भाँति बजते रहते हैं, जिससे लोक के जीवन को प्रेरणा मिलती है।

राजस्थान के यश-बखान में एक कवि ने कहा है -

सोना री धरती जठे, चाँदी रो असमान।
रज-रज में राजपूत है, म्हारो ऐसो राजस्थान।।

राजपूत राजस्थान की रज में बसते हैं। सूरमाओं की यह धरती त्याग-बलिदान के साथ मीरा और बावजी जैसे कृष्ण-राम भक्तों के लिए भी बखानी-जानी जाती है। यहाँ का केसरिया और भगवा रंग पूरे देश को धर्म की रक्षा का संदेश सदा देता चला आ रहा है। मालवा-मेवाड़ अपनी इन दिव्य विभूतियों पर सदा गर्व करता रहेगा।

ऐसा महामानव 1 जुलाई 1929 सोमवार को इस संसार से विदा होकर अपने इष्ट धाम को चला गया। आत्मा, परमात्मा में समा गई। ज्योति-महाज्योति में विलीन हो गई। शेष रही उनकी यश गाथाएँ उनकी प्रेरक वाणी एवं आत्मीय तथा महनीय स्मृतियाँ।

कुककुट कुटंबिनी के कोठरी में डारि राखौं
चिक दै चिरैयन की रोकि राखी गलियाँ
साराँग में साराँग सुनाइ के प्रवीन बीना
साराँग दै साराँग की ज्योति करी मलियाँ
बैठि परजंक में निसंक ह्वै के अंक भरौं
करौंगी अधर-पान मैन मत्त मिलियाँ
मोहि मिले प्रानप्यारे 'धीरज नरिंद' आजु
एहो बलि चंद नेकु मंद गति चलियाँ
राजा इंद्रजीत सिंह 'धीरज नरिंद', जागीरदार कछौआ, (जन्म सं. 1625)
ओरछा नरेश रामसिंह के अनुज ; शिवसिंह सरोज, छं. 312

हाथरस (उ.प्र.) जीवनकाल सन् 1886-1979

साहित्यकार राजर्षि महेन्द्रप्रताप

आचार्य कृष्णतीर्थ

हिन्दुस्तानी शौर्य के प्रतीक थे राजा महेन्द्रप्रताप कि उन्होंने दिसम्बर 1, 1915 में जर्मनी सम्राट् कैसर और तुर्की के ख़लीफ़ा सुलतान राशिद से सैन्य सहायता का आश्वासन पाकर काबुल, अफ़गानिस्तान में आजाद हिन्द सरकार की स्थापना कर राष्ट्रपति बने। साम्राज्यवादी ब्रितानी शासक दहल गया। 32 वर्ष तक बिना किसी देश की नागरिकता लिये समूचे विश्व के जल-थल मार्ग से पाँच बार चक्कर काटे कि देश को गुलामी से मुक्ति मिले। इतनी नग्नता में साहित्य सृजन कार्य करना कितना हैरत अंगेज है कि वे सतत लिखते रहे। पत्रकारिता उनका जुनून रहा और आलेख विभिन्न देशों के पत्रों में प्रकाशित होते रहे। यहाँ तक कि हिन्दुस्तानी अंग्रेज शासकों ने सन् 1931 में उनके लेखों का प्रकाशन प्रतिबंधित करा दिया था।

सन् 1909 में देश का प्रथम औद्योगिकी संस्थान स्थापित करके छात्रों को हिन्दी माध्यम से शिक्षा देने का अनुप्रयोग करके दर्शा दिया कि गुलाम हिन्दुस्तान में भी अपनी भाषा में शिक्षा दी जा सकती है। इसी के साथ हिन्दी पत्रिका 'प्रेम' की नींव रखी और स्वयं संपादन किया। विद्यालय में एक प्रेस स्थापित किया। इस पत्रिका से जन-जन में आजादी की अलख जगा दी। पत्रिका में राजा महेन्द्रप्रताप का रचित नाटक, 'इण्डिया का रोना', प्रकाशित हुआ जिसमें इण्डिया को पत्नी और ब्रिटेन को पति मानकर संवाद लिखे। रोते हुए पत्नी विश्वयुद्ध के विरुद्ध रुदन करती हुई पति से अपने 33 करोड़ (अविभाजित हिन्दुस्तान की आबादी) बच्चों के भरण-पोषण का आग्रह करती है। सुझाव रखे हैं जिनमें सबसे उल्लेखनीय है कि निजाम हैदराबादी को परिवार प्रमुख बना दिया जाना। उनके विचारों को देखकर देश का तात्कालिक अंग्रेज शासक थर्रा गया था कि हिन्दू-मुस्लिम एकता होने पर तो उनका हिन्दुस्तान पर शासन करना कठिन हो जायेगा। सन् 1914 में विश्वयुद्ध छिड़ने पर देहरादून से हिन्दी समाचार पत्र 'निर्बल सेवक' निकाला जो साथ में उर्दू में भी छपने लगा। अपने समाचार पत्र के माध्यम से धार्मिक एकता भावना की पुनः स्थापना की, प्रसार-प्रचार आलेख प्रकाशित कराए। उनके गौरक्षा के लेख पर ब्रितानी कलक्टर ने उन पर पाँच सौ रुपये की पैनाल्टी ठोक दी जो उन्होंने जमा कर दी और इसके साथ ही अंग्रेजी पत्रिका 'सर्वेन्ट्स ऑफ पावर लैस' का प्रकाशन कराया।

राजा महेन्द्रप्रताप ने एक शतक पूर्व नाटक, कहानी, कथा आदि विधाओं में अपनी रचनाएँ रचीं। साथ ही वर्ल्ड फैडरेशन व संसार संघ का सन् 1929 से 1979 तक हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, गुरुमुखी, चीनी, जापानी आदि भाषाओं में प्रकाशन किया तथा 'प्रेमधर्म' के संस्करण अलग से प्रकाशित किए। समग्र रचनाओं की अनुपलब्धि से समालोचना तो संभव नहीं है। वर्तमान में हिन्दी की पन्द्रह, अंग्रेजी की बाइस और उर्दू की तीन कृतियां उपलब्ध हैं। यहाँ उनकी हिन्दी और अंग्रेजी की कृतियों को लेकर प्रयास किया गया है। 'लालाजी की तखड़ी', 'बाबूजी की भाभी', 'रानी कमला के पत्र', 'राजाजी का कुत्ता' और 'चमार का लौंडा' कहानी विधा में लिखे गये हैं। 'ब्रजवाला' और 'राजपूत संसार संघी' नाटक हैं। 'हमारी रियासतें', 'आजादी', 'सरदार स्वर्ग सिधार गए', 'सदाचारगुर', 'प्रेमधर्म के साधु और

प्रेमविहार','ब्रजवासी संघ' आदि निबंध कार्य हैं। स्वेच्छा से राज एवं राजपरिवार के त्याग के साथ देश त्याग किया केवल महान उद्देश्य को लेकर अंग्रेजी-गुलामी से मुक्ति। दो विश्व युद्ध झेले, पर राजा से रंक बनकर भी वे अपने कथानक डायरियों में लिखते रहे। अधिकांश डायरियां विभिन्न देश यात्रा में चोरी हो गई, अनेकों को तीव्र रुग्णावस्था में अग्नि को भेंट कर दिया। यहाँ शेष के आधार पर अपनी स्मृति पटल से 'मेरी जीवन गाथा के 55 वर्ष'' सन् 1946 में देश लौटने पर संकलन कर प्रकाशित किया जिसे उनके आदर्शों का एक संग्रह कह सकते हैं। वर्तमान में, इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विषयों पर कई शोध-ग्रंथ विभिन्न विश्वविद्यालयों में विराजमान है। 125वें जन्म दिवस के शुभ अवसर पर संकलन 'अक्षयवट' का सम्पादन एक अमूल्य निधि है जिसका आधार ही ये संक्षिप्त प्रस्तुति है जिसे साहित्यिक चर्चा में एक अंश मात्र मान सकते हैं। यदि शोधीजन उनके लिखे पत्र एवं पत्रोत्तरों को संगृहीत कर संश्लेषण एवं विश्लेषण करता है तो उसे निश्चय से कई एक अनुपम उपलब्धियाँ मिलेंगी।

राजाजी ने सर्वप्रथम कहानी विधा का चुनाव किया। 'लालाजी की तखड़ी' एक व्यंग्यात्मक कहानी है। 'खरातोल, खरा बोल' का निर्वाह करने वाला शासक कितना ठहरा है अपने बोल-वचन पर यही दर्शाया गया है कि ऊपर कुछ है और भीतर कुछ और ही है जैसे लालाजी की तराजू (तखड़ी) जब अपने लिये तोलती है तो कुछ फालतू तोलती है, जबकि ग्राहक के लिये कसके तोलती है। 'बाबूजी की भाभी' अपने आप में सरस है। बाबूजी अपनी भाभी से फागुन में होली खेलते हैं तो हास्य कलाकार रूप में अपनी भाभी पर खूब हँसी-मजाक कसते हैं, सावन में झूले पर सुमधुर मल्हार गाकर हास्य-व्यंग्य सुनाते हैं। सबसे प्रमुख कहानी है- 'चमार का लौंडा' जिसमें दलित वर्ग के चमार जाति के युवा हृदय से करुण रस में निकले बोल मन को मोहित करते हैं कि ऐसा ज्ञानी-ध्यानी बालक कहाँ से पा गया इतना गहरा ज्ञान, जो यही दर्शाता है कि राजाजी विचारक के रूप में दलित उद्धारक रहे। वैसे उन्होंने सन् 1911 में अल्मोड़ा तथा सन् 1912 में मथुरा-वृन्दावन, आगरा तथा द्वारका (बड़ौदरा) में व्यवहार करके दर्शा दिया था। यथा, मन्दिर दरवाजे पर पंडों, पुजारियों ने चारों ओर से घेर लिया और प्रश्न किया, ''आपकी क्या जाति है?'' राजाजी ने उत्तर दिया ''मैं झाड़ू देने वाला भंगी हूँ'' उन्होंने रोका और कहा, ''आप मन्दिर में दर्शन को नहीं जा सकते।'' ''मैं नहीं आऊँगा'' और आगे कहा, ''मैं ऐसे मन्दिर में नहीं जाना चाहता, जहाँ ऐसे लोगों का पहरा है कि जिसका मानवता के प्रति सम्मान नहीं।'' सन् 1915 में दक्षिण अफ्रीका से देश आकर महात्मा गाँधी ने उनके अछूतोद्धार आन्दोलन को अपनाया और वृन्दावन में आकर कहा, ''आप लोग मुझे बड़ा मानते हैं लेकिन वे (राजाजी) मुझ से भी बड़े हैं।'' क्या ये वचन आज हमें याद हैं ? एक यक्ष प्रश्न है।

राजा महेन्द्रप्रताप ने कई नाटक लिखे। उनमें हिन्दी की 'बृजबाला' और उर्दू का 'पुठवार के नवाब', 'राजपूत संसार संघी' और 'हमारी रियासतें' उपलब्ध हैं परन्तु समीक्षा हेतु हासिल नहीं हो सकीं। पत्रिका संसार संघ के कई अंकों में उनका जिक्र किया गया है कि उनके संवाद तत्कालीन व्यवस्था पर करारी चोट करते और शोषण से ग्रसित विभिन्न वर्गों की करुण दशा को जताते हैं।

राजाजी ने प्रेमधर्म की स्थापना करके उसपर बहुत कुछ लिखा। सन् 1919 में मास्को में कामरेड लेनिन से मुलाकात की और उन्हें अपनी प्रेमधर्म की पुस्तक भेंट की। कामरेड लेनिन उस समय रूस में वोलशेविक अक्टूबर कीर्ति स्थापित कर चुके थे। पुस्तक का अवलोकन कर उन्होंने राजा महेन्द्रप्रताप की तुलना विश्वविख्यात चिन्तक टाल्सटाय से की थी। प्रथम युद्ध में हिन्दुस्तानी क्रांतिकारियों ने विदेशों में अपनी जीत के जीतोड़ प्रयास किये जिसमें लाला हरदयाल, मौलाना बरकतुल्लाह, श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा, सरदार सोहन सिंह भरवाना आदि ने मिलकर भरसक जतन किये। राजा महेन्द्रप्रताप के नेतृत्व में आजाद हिन्द सरकार बनी, आजाद हिन्द सेना का गठन हुआ, यहाँ तक कि हिन्दुस्तानी रियासतों को 26 रेशमी पत्र जर्मनी सम्राट् कैसर से लिखाये जो कि अंग्रेजी शासन के जब्त होने पर 'रेशमी पत्र षड्यंत्र' नाम से इतिहास में दर्ज हुआ। सन् 1919 में क्रांति असफल हो गई जबकि सन् 1915 से चार बार अंग्रेजी शासन

पर आक्रमण हुए परन्तु विफलता मिली क्योंकि ब्रितानी शासन 'बांटों और राज्य करो' की कूटनीति से हिन्दुस्तानी क्रान्ति को दबाने में सफल रहा। जलियांवाला बाग हत्याकांड केवल एक जुनून में ही सिमट चुका था। देश के नवोदित पूंजीपतियों ने विश्वयुद्ध से कमाई करने को कुछ कांग्रेसी नेताओं को आगे कर रखा था। सन् 1919 में राजा महेन्द्रप्रताप का कामरेड लेनिन से मिलन सैन्य सहायता हेतु आखिरी प्रयास था। सन् 1919 में आजाद हिन्द सरकार विफल होने पर वे विश्व शान्ति की ओर बढ़ चुके थे। शांति नोबिल पुरस्कार को भी अस्वीकार कर दिया।

सन् 1946 में देश लौटने पर वर्धाआश्रम में महात्मा गांधी के प्रात: प्रवचन में प्रेमधर्म प्रार्थना का गायन किया। स्मरण रहे कि वर्धा में उस समय कांग्रेस कार्य समिति की बैठक चल रही थी और सरदार पटेल मद्रास से उन्हें लेकर आये थे। प्रेमधर्म प्रार्थना के अंश है - ''प्रतिदिन सवेरे और श्याम भजन करो, समय का हिसाब दो, कैसे समय बिताया है, व्यर्थ तो नहीं बिताया है ? व्यर्थ बिताया है तो ईश्वर से क्षमा मांगो कि आगे व्यर्थ समय नहीं बिताओगे, संकल्प करो। और जो अच्छा समय बिताया है उसके लिये ईश्वर को धन्यवाद अर्पण करो फिर कहो - ओम, देवा, प्रेम, अल्लाह, ...'' और आगे प्रार्थना के बोल बचन है - ''हे अनन्त प्रेम। मुझे इस प्रेम ज्ञान से अलग न होने दे, घमण्ड न करूँ मैं, व्यभिचार में, जाल में न फसूँ, मैं झूठा मोह न करूँ, न मान और धन की लालसा करूँ, न कदापि झूठ बोलूँ और न अनुचित क्रोध करूँ मैं। हे अमर प्रेम ! धर्मानुसार कार्य करता बिल्कुल निडर रहूँ, न्याय, सच्चाई, दया, क्षमा मेरे मन को रोशन रखें, मैं सदा मनुष्यजाति की सेवा करता रहूँ।'' लेखनी मात्र से नहीं राजा महेन्द्रप्रताप आजीवन प्रेम के पुजारी रहे। जैसा उन्होंने प्रेमधर्म पर लिखा वैसा उन्होंने व्यवहार में बर्ता। हर वर्ष सितम्बर 21-23 को वे सर्व धर्म सम्मेलन आयोजित करते तथा उसके सारगर्भित अंश प्रसार-प्रचार हेतु पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी कराते ।

वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे और हिन्दुस्तान विभाजन के कट्टर विरोधी रहे जो संसार संघ, वर्ल्ड फैडरेशन आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। सन् 1946 में देश आते ही उन्होंने प्रकाशन आरम्भ करा दिया। यह उल्लेखनीय होगा कि जापानी सैन्यवादी शासन ने सन् 1942 से उनकी पत्रिकाओं के प्रकाशन पर रोक लगा दी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापानी पराभव के बाद जनरल तोजो के साथ तोइमा और राजा महेन्द्रप्रताप छ: महीने जापान जेल में अमेरिका शासन के बंदी रहे। राजाजी ने इस दौरान लिखना बंद नहीं किया जो बाद में 'रैम्बलिंग साउन्ड्स' और अंग्रेजी पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुये।

महात्मा गांधी और राजा महेन्द्रप्रताप दोंनों ने 'सत्य पर प्रयोग' किये। महात्माजी के सत्य के प्रयोग गुजराती भाषा में उनकी आत्मकथा के रूप में प्रकाशित हुए। राजर्षि ने भी सन् 1946 में देश लौटने पर लाहौर में ठहरकर लिखे जो आंग्ल भाषा में लिखी गई थी, शीर्षक था- 'मेरी जीवन गाथा के 55 वर्ष' (My life story of 55 years) उपन्यासकार आचार्य चतुरसेन ने पुस्तक की समीक्षा कर आग्रह किया था ''यदि यह पुस्तक इस ढंग से लिखी जाती कि आप छिपे रहते और गत आधी शताब्दी में विश्व में जो महान राजनैतिक और सांस्कृतिक घटनाएँ असाधारण रूप से घटित हुई उनका सम्यक् दर्शन और इसपर विस्तृत व्याख्या होती है तो यह पुस्तक विश्व क्रांति का अमर इतिहास बन जाती।'' आचार्य कृष्णतीर्थ की कृति 'अक्षयवट' इस दिशा में प्रथम चरण है जो राजाजी की कृति का संशोधित प्रारूप है और हिन्दी भाषा में है। यहाँ पर राजा महेन्द्रप्रताप की अभिरुचि पर उनके कुछ प्रसगों की चर्चा अति आवश्यक है एवं वांछनीय भी। संक्षेप में चर्चा करते हैं।

प्रस्तुत है उस समय का उनके कथन का एक अंश जब 12 अगस्त 1914 को कमिश्नर, आगरा डिवीजन, प्रेम महाविद्यालय में पुरस्कार देने आये। इस अवसर पर राजा महेन्द्रप्रताप ने कहा, ''हम अन्याय को प्रत्येक स्थान से उखाड़ फेंकना चाहते हैं और उनके स्थान पर न्याय स्थापित करना चाहते हैं।'' क्या

ऐसा वचन किसी अन्य ने कभी कहा जो आजाद भारत में गद्दीनशीन हुए, शायद कदापि नहीं। स्मरण रहे कि 4 अगस्त 1914 को विश्वयुद्ध छिड़ चुका था और 6 अगस्त 1914 को महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका से चलकर लन्दन पहुँच गये, साथ में श्री गोपाल कृष्ण गोखले। इस विश्वयुद्ध से हिन्दुस्तान का कहीं और कोई संबंध नहीं रहा। फिर भी लाखों हिन्दुस्तानी फौज में भरती हुए और हताहत हुए, आखिर क्यों ?इसका एक स्मरण स्मृति 60 हजारों की बलि का 'आहुति स्तंभ' राज पथ पर खड़ा है।

सन् 1919 में अंतरिम आजाद हिन्द सरकार की पराभव के पश्चात् उन्होंने आगे लिखा है, ''हम क्रांति के लिए निकले हैं, एक पूर्ण क्रांति-राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक क्रांति। हम बीच में रुकने वाले नहीं हैं। इस भूमण्डल को समूची मानव जाति का एक शांति भवन बनाना है।'' और आगे-'आओ और हमारे साथ हाथ मिलाओ। हर कोई हर प्रकार का सहयोग प्रदान करें। समाज के समूह गठित करें जो हमारी योजना को लेकर आगे बढ़ें। हम सभी मिलकर समूचे मानव समाज का एक संयुक्त परिवार बनायेंगें ? ये था उनका आदर्श दर्शन है जो न्याय नीति है जिसमें सभी सुखी हैं, शासित हैं और शासक भी।

वर्ल्ड फैडरेशन के 'मांचुकुओ यात्रा' अंक में राजा महेन्द्रप्रताप के दर्शन की एक झलक मिलती है। इसका सार है- ''मानव जीवन एक अमूल्य धरोहर है जिसकी सुरक्षा प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। धन साधन है जबकि समाज उसे साध्य मानकर उसकी साधनारत है और ये साधना न्यायहीन है। न्यायिक व्यवस्था में सर्वोपरि 'जीवन' है जिसमें भूख-भय-भ्रष्ट का समूल विनाश है'' ये स्वर्णिम प्रान्त गठन के अवसर की चर्चा है। सभी सहमत थे परन्तु जापान का सैन्यवाद इसका घोर विरोधी था। सितम्बर 1934 'मंगोलिया अंक' में मंगोलिया यात्रा का विवरण प्रस्तुत किया है जिसमें स्वर्णिम प्रान्त के साथ धार्मिक एकता एवं प्रेमधर्म पर चर्चा की गई है। राजाजी के शब्दों में 'कार्ल मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष की मूल जड़ 'धर्म' को माना है और धर्म को अफीम कहा है क्योंकि उसका सेवन ही समाज में भ्रांतियों को बिखेरता है। जबकि मैं उसको 'सोम सुधा' मानता हूँ क्योंकि मानस इसका सेवन करके तृप्ति को पाकर प्रेमानुभूति में रमता है। और यही सर्वव्यापी प्रेमधर्म है।' यही कारण रहा कि वे साम्यवादियों के लिये बुर्जुआ रहे जबकि बुर्जुआ वर्ग उन्हें यूटोपियन कहकर नकारता था। राजर्षि महेन्द्रप्रताप बहुधा प्रेमधर्म पर चर्चा करते और कहते थे कि प्रेम हर युग का दर्पण है। ये ही सर्वधर्म सद्भाव है, ये ही सुलह कुल है और ये ही प्रेमधर्म है।

मृत्यु से पूर्व अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी छात्र सभा संबोधन का एक अंश - 'मेरी दृष्टि में दुनिया एक कुटुम्ब है, विविध देश इस कुटुम्ब के सदस्य हैं। तो क्या ये कुटुम्ब एक सम्मिलित कुटुम्ब नहीं हो सकता ? क्या भाईचारे पर इस कुटुम्ब की बुनियाद नहीं हो सकती ? क्या प्रेम के अस्त्र-शस्त्र और शक्ति की सेना हमारे हृदयों को नहीं जीत सकती ? राजनीतिक मुझे स्वप्न देखने वाला कहते हैं। परदेशों और महाद्वीपों को पारकर विविध देशों की जनता से जब मैं अपनी बात कहता हूँ तो उनकी द्रवित आंखें मुझे आश्वासन देती हैं कि महेन्द्रप्रताप तेरा मार्ग ठीक है। मैंने अपना नाम हिन्दू पीटर-पीर-प्रताप रख लिया है जिससे बृहत् मानव परिवार के सदस्य के नाते मेरा जन्मजात धर्म मेरे प्रेमधर्म सम्मिलन के रास्ते में बाधक न हो।'

राजर्षि महेन्द्रप्रताप एक सहज स्वभाव पुरुष रहे, परन्तु कृत संकल्प रहे तथा उससे कभी पीछे नहीं डिगे। उनका आदर्श एक सूत्र सारभाव में - 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मन' सतत यथार्थ में रहा, यानि मनसा-वाचा-कर्मणा वे एक रहे। सरलता, विनम्रता, शालीनता, स्पष्टवादिता आदि सतगुणों की वे एक सजीव प्रतिमा रहे जिसका मिलना इस युग में दुर्लभ है। वे एक युगदृष्टा तथा युगसृष्टा पुरुष रहे यानि जो देखता है और रचना भी करता है। वह आजादी के लिये लड़ता है, वह सरकार बनाता है और जब विश्व-युद्ध का नर संहार देखता है तब संसार को शांति की इकाई मान कर विश्व-परिवार की सोचता है, कहता है और प्रयास करता है। उन्होंने संसार संघ, आर्यन संघ आदि सपने देखे पर वे फलीभूत नहीं हो

सके। वे तो बस मानवता के लिये थे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तो पुरातन विचार है परन्तु राजर्षि महेन्द्रप्रताप ने इस सत्य प्रयोग को करने का प्रयास किया और सदैव अमली जामा देने की कोशिश की, एक खाका खींचकर और उसकी शिक्षा देकर। वे एक दुर्लभ पुरुष थे, एक आदर्श व्यक्तित्व थे पर अभाग्यवश वे समय से पूर्व आ गये।

अमर क्रांतिवीर राजा महेन्द्रप्रताप एक महान त्यागी पुरुष रहे। मुरसान नरेश राजा घनश्याम सिंह के यहाँ 1 दिसम्बर 1886 को जन्म लिया, हाथरस रियासत के 20 दिसम्बर 1914 तक शासक रहे। अंग्रेजी शासकों द्वारा उन्हें 'राजा' पदमान नहीं नवाजा गया, पर देश की जनता ने उनको राजा जाना, देखा और माना क्योंकि वे अल्पकाल के राज्यकाल में ही ब्रजक्षेत्र में 'रामराज' स्थापित कर गये। देश का सर्व प्रथम औद्योगिकी संस्थान प्रेम महाविद्यालय वृन्दावन में स्थापित किया जिसके लिये तीन महल और पाँच गाँव दानकर दिये। हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस की स्थापना हेतु महामना मदन मोहन मालवीय को इतना दान दिया कि महामनाजी ने उन्हें विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी का सदस्य मनोनीत किया। माओ कालिज (वर्तमान् अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय) को भरपूर भूमिदान किया, अलीगढ़ के बारह सैनी कालिज, धर्म समाज कालिज आदि संस्थाओं को धनदान एवं अलीगढ़, मथुरा, बुलन्दशहर में प्राइमरी पाठशालाएँ खोलीं, किसानों की आर्थिक सहायता हेतु बीस हजार रुपये दान किया। इलाहाबाद कांग्रेस अधिवेशन सन् 1910 में प्रथम शिक्षा प्रसारण आयोजित किया। वे देश की शिक्षा प्रसार-प्रचार के एक अग्रणी दूत रहे।

स्वेच्छा से राज्य-रियासत एवं राजपरिवार और वैभव त्याग कर देश गुलामी मुक्ति हेतु सन् 1914 में देश त्याग किया। जर्मनी सम्राट् कैसर और तुर्की ख़लीफ़ा राशिद से सैन्य सहायता आश्वासन पाकर काबुल मिशन के साथ अफगानिस्तान में 1 दिसम्बर, 1915 में अंतरिम आजाद हिन्द सरकार गठित की और राष्ट्रपति बने और साथ में मौलाना बरकतुल्लाह को प्रधान मंत्री नियुक्त किया। आजाद हिन्द फौज गठित कर सन् 1919 तक चार बार हमले किये जो हिन्दुस्तान नरेशों की उदासीनता से असफल रहे। दूसरे विश्वयुद्ध काल में जापान जाकर 'हिन्दुस्तानी अधिशासी बोर्ड' गठित किया और अध्यक्ष रहे, क्रांतिकारी रासबिहारी बोस उपाध्यक्ष बने। जापानी शासन से मिलकर नेताजी सुभाष चन्द्र बोस को जर्मनी से बुलाया जो सन् 1941 में काबुल मार्ग से जर्मनी पहुँचे थे। आजाद हिन्द फौज का पुनर्गठन करके नेताजी सुभाष बोस को सेनापति रूप में सजाया। 32 वर्ष बिना किसी देश के नागरिक बने विश्व के जल-थल मार्ग से पाँच चक्कर काटे। देश लौटकर कांग्रेस को सदाचारी बनाने हेतु संघर्ष करते रहे जबकि कांग्रेस ने उन्हें 1952 में कांग्रेस से निकाल दिया। सर्वोपरि देश की एकता हेतु सन् 1946 में मौहम्मद अली जिन्ना से मिले उन्हें राजी कर लिया परन्तु माउन्ट बैटन फॉरमूला जो अंग्रेजों की 'बांटों और राज करो' का सुपरहिट था, कामयाब रहे, देश विभाजन होने पर भी नहीं थमे। वे आजन्म हिन्दू-मुस्लिम एकता के पथिक रहे क्योंकि वे ईरान से लेकर श्रीलंका तक के आर्यान संघ के पेशवा रहे तथा पाकिस्तान निर्माण के पश्चात् पाकिस्तान के घोर विरोधी भी। वे एक युगपुरुष थे, एक महामानव थे। वे युगदृष्टा थे और युग सृष्टा भी, वे सदैव विश्व शांति के एक सजग विचारक रहे और वे आज भी मरकर अमर हैं।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी : राय राजेश्वर बली

पवन बख्शी

राय राजेश्वर बली का जन्म अवध के एक ताल्लुकेदार परिवार में हुआ था। राजेश्वरजी के पितामह-राय अभिराम बली का अवध के ताल्लुकेदारों में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

कायस्थ जाति के पृथुराज नामक व्यक्ति को यहाँ की चकलेदारी मिली। माथुर कायस्थों का यह वंश खिलजियों के जमाने में ब्रजभूमि से इधर आया। भर जाति के मूल निवासियों को चकलेदारी की प्रथा अच्छी न लगी। उन्होंने पृथुराज के पूरे वंश को समाप्त करने के लिए आक्रमण किए। प्रथुराज की पत्नी (जो कि उस समय गर्भवती थी) अपनी जान बचाने के लिए भागी। रास्ते में नीम का एक वृक्ष मिला जिसमें खोह थी। पृथुराज की पत्नी ने उसी खोह में छिपकर अपनी जान बचाई। शाम के समय एक ब्राह्मण उधर से गुजर रहा था। ब्राह्मण के पूछने पर उस महिला ने अपनी कथा सुनाई। महिला की करुण कथा सुनकर ब्राह्मण उस महिला को अपने घर ले गया। समय आने पर पृथुराज की पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। नीम के वृक्ष की खोह में उत्पन्न होने के कारण उसका नाम नीमाराव रखा गया। नीमाराव के वयस्क होने पर ब्राह्मण उन्हें अकबर के दरबार में ले गया। पूरी बात जानने के बाद अकबर बादशाह ने नीमाराव को उसकी जागीर लौटा दी।

उस समय उनका मुख्यालय महमूदाबाद में था। वे कृष्ण भक्त थे, इस क्षेत्र के कुछ गांवों के नाम बदलकर उन्होंने मथुरा, गोकुला और वृन्दावन आदि नाम रखे। शाक्त होते हुए भी यह वंश वैष्णव मान्यताओं से ही अधिक परिचालित रहा। पृथुराज के निधन के पश्चात् उनके पुत्र-पौत्र और प्रपौत्रों, क्रमश: सुन्दर दास, शोभा राए, शंकर दास, सन्तोष राए, अवधूत सिंह, हीरा लाल एवं शीतला प्रसाद ने राज किया।

शीतला प्रसाद के समय परिवार बड़ा होने के कारण ड्योढ़ी दरियाबाद में स्थानान्तरित कर दी गई। कचहरी भी दरियाबाद स्थापित हो गई। शीतला प्रसाद नि:सन्तान थे। एक गुरु महात्मा ने उन्हें आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे तीन पुत्र होंगे - घर बहुत बड़ा और भरा-पूरा होगा। सूरज का प्रताप अनन्त रहेगा। गुरु महात्मा के आशीर्वचनों से उनके यहाँ तीन पुत्रों ने जन्म लिया। उनके नाम सूरज, प्रताप तथा अनन्त रखे गये। गुरुजी ने उन्हें बली की पदवी से भी विभूषित किया। तब से इस वंश के लोग अपने नाम के साथ बली लिखने लगे। गुरु महात्मा की खड़ाऊं आज भी घर में पूज्यनीय रूप में रखी हुई हैं। इस वंश के लोग नीम के वृक्ष तथा ब्राह्मण को बहुत महत्त्व देते हैं। शीतला प्रसाद के निधन के पश्चात् उनके बड़े पुत्र सूरज बली और उनके बाद पौत्र अभिराम बली तालुके के स्वामी हुए।

'राय' शब्द रचि (धन) से सम्बद्ध है। जो वैदिक है। (रचिर्न चित्रा) इसका प्रयोग धनिकों, राजाओं इत्यादि के सन्दर्भो में प्रयुक्त होता था जो जाति से मुक्त होता था। जैसे कृष्णदेव राय (महान् विजय नगर सम्राट्, राम मोहन राय ब्राह्मण, राय कृष्ण दास वैश्य) इत्यादि। यह कायस्थों का एक विशेषण भी रहा है। इस वंश के पूर्वजों को यह उपाधि अकबर बादशाह ने दी थी।

राय अभिराम बली का जन्म 3 नार्च 1821 को हुआ था। इनके दो विवाह हुए थे। दोनों पत्नियों से

तीन-तीन पुत्र उत्पन्न हुए। पहली पत्नी के ज्येष्ठ पुत्र राय महाराज बली हुए। 28 जनवरी 1874 को इनके निधन के बाद राय महाराज बली तालुके के उत्तराधिकारी हुए। इनके पुत्र राय नारायण बली और पौत्र राय राजेश्वर बली हुए।

डॉ. राय राजेश्वर बली द्वारा लिए गये सुधारवादी कदमों की प्रमुख विशेषता यह थी कि उनकी कार्यान्वित योजनाएं उनके समय में ही फलीभूत हुई। ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तुत बाधाएं उनके द्वारा लिये निर्णयों और संकल्पों में बाधक न बन सकीं। उनकी उपलब्धियाँ उनके द्वारा ईमानदारी से किये गये प्रयत्नों और उद्देश्यों के प्रति उनकी एकाग्रता के विषय में बहुत कुछ बोलती हैं।

उन्होंने प्राइमरी एजूकेशन एक्ट, घातक रोगों की रोकथाम, बोर्ड ऑफ इण्डियन मैडिसिन, आगरा यूनिवर्सिटी एक्ट, कला प्रदर्शनियाँ, मैरिस कॉलेज ऑफ म्यूजिक, हिन्दुस्तानी एकेडमी इत्यादि की स्थापना के अतिरिक्त साइमन कमीशन का विरोध कर उसे हराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।

पूर्णरूप से श्वेत (अंग्रेजी) साइमन कमीशन का, हर क्षेत्र में प्रबुद्ध भारतवासियों ने सार्वभौमिक रूप से विरोध किया। देश ने इसके आगमन का चतुर्दिश प्रदर्शन करके विरोध किया, जिससे निबटने के लिए शासकों ने लाठी चार्ज और गोली चलाने के आदेशों का सहारा लिया। विधान सभाओं में कुछ और ही कहानी थी। जैसाकि एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (14 वाँ संस्करण) में विचार व्यक्त किया गया है। शनै:-शनै असहयोग ध्वस्त हो गया और एक को छोड़कर, सारी प्रान्तीय विधान सभाओं ने इस कमीशन को अनुमोदन देने का निर्णय लिया। वह एक प्रान्त, सयुंक्त प्रान्त ही था और उसके पीछे प्रोत्साहन देने वाले थे राय राजेश्वर बली। यद्यपि अधिकांश सदस्य कमीशन के विरुद्ध थे किन्तु बहुत कम, विधान में इसके विरोध में प्रस्ताव के समर्थन में मतदान देने का साहस रखते थे। किन्तु राय राजेश्वर बली ने जो विरोध के इस प्रस्ताव को समर्थन देने के लिए तत्पर थे, अनेक सदस्यों को अपने समूह में समेट लिया। राज्यपाल, सर एलेक्जेन्डर मुडीमैन को उनकी इस इच्छा की भनक लग गई और उन्होंने चतुरता से मतदान को उस दिशा से विपरीत दिशा से प्रारम्भ किया जहाँ शिक्षामंत्री बैठे थे। राज्यपाल की इच्छा के विरुद्ध जाने का किसी को साहस न हुआ और न वे सब प्रस्ताव के विरोध में बोल पाए, किन्तु अंत में राय राजेश्वर बली के साहसपूर्ण और प्रोत्साहित करने वाले हाँ ने स्थिति उलट दी। वातावरण तुरन्त बदल गया और अनेक सदस्यों की न हाँ में बदल गई। सरकारी गुट को मिलाकर भी प्रस्ताव 37 के विरुद्ध 56 मतों से पारित हो गया। यू.पी. में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी जोकि सम्पूर्ण देश में फैल गई।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान राय चन्द्रहर बली (दरियाबाद) ने (राय राजेश्वर बली की ओर से) अंग्रेजों को महत्त्वपूर्ण आर्थिक सहायता प्रदान की और 'जनरल-कमेटी' के सदस्य भी रहे। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार की ओर से राय राजेश्वर बली को 15 जनवरी सन् 1919 को ओ.बी.ई. (आर्डर ऑफ द ब्रिटिश एम्पाइर) की उपाधि प्रदान की गयी। लेकिन राय राजेश्वर बली ने अपने हाथों से लिखे एक ड्राफ्ट में उल्लेख किया है कि, ''महान युद्ध के सम्बन्ध में मेरे कार्यो के लिए मुझे सन् 1917 में सोने की घड़ी एवं जुलाई 1918 ई. में ओ. बी.ई. की उपाधि प्रदान की गई।''

राजेश्वरजी की प्रारभिक शिक्षा लखनऊ में स्थित 'काल्विन ताल्लुकेदार्स' कॉलेज में हुई। काल्विन ताल्लुकेदार्स कॉलेज से हाई स्कूल एवं कैनिंग कॉलेज लखनऊ (अब लखनऊ विश्वविद्यालय) से इण्टरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण की। बी.ए. की डिग्री राजेश्वर बली ने 'जमुना मिशन कॉलेज', इलाहाबाद से 'दर्शन शास्त्र', अंग्रेजी और मनोविज्ञान विषयों में ली थी। अंग्रेजी भाषा में पारंगत होने के साथ-साथ उन्होंने अंग्रेजी और उर्दू-फारसी के कवियों और नाटककारों का गहन अध्ययन किया था। इटैलियन साइकोलॉजी पर राजेश्वरजी ने एक पेपर भी लिखकर बी.ए. की परीक्षा के लिए प्रस्तुत किया था। राजेश्वर बली को 'काल्विन ताल्लुकेदार्स कॉलेज, लखनऊ से दो बार स्वर्ण पदक मिले थे। वे टेनिस के अच्छे खिलाड़ी भी थे।

राजेश्वरजी के दो विवाह हुए थे। उनका प्रथम विवाह श्रीमती स्वरूप रानी जी से हुआ था, परन्तु अस्वस्थ होने के कारण उनका देहान्त हो गया था। स्वरूप रानी जी को एक पुत्री भी हुई थी, जिनका नाम 'विंध्येश्वरी' था। बलीजी का दूसरा विवाह बाद में श्रीमती सुशीला रानी जी से हुआ था। सुशीला रानी जी धार्मिक प्रवृत्ति की महिला थीं। वे अपने पति राजेश्वर बली की बहुत सहायता करती थीं। श्रीमती सुशीला रानी को संगीत-कला का अच्छा ज्ञान था। वे बन्दूक चलाना भी जानती थीं। इस द्वितीय विवाह के पश्चात् राजेश्वर बली को पाँच पुत्र प्राप्त हुए, क्रमशः -राय दीनानाथ बली, राय कैलाशनाथ बली, राय गोपेश्वर बली, राय मदन गोपाल बली और राय कौशलेन्द्र बली। राजेश्वर बली अपनी माताजी (श्रीमती भूरी देवी) का बहुत सम्मान करते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने जो कुछ भी सीखा उसके पीछे उनकी माँ का स्नेह एवं दुलार था। राजेश्वर बली अपनी माँ से बहुत प्रेम करते थे, उनके साथ एक बहुत ही दुःखद दुर्घटना सितम्बर 1944 में हुई जब राजेश्वर बली अपनी माँ एवं परिवार के कुछ सदस्यों के साथ लखनऊ-फैजाबाद मार्ग पर रात्रि को अपनी मोटर से अपने घर दरियाबाद को जा रहे थे। अचानक उनकी मोटर गाड़ी दुर्घटनाग्रस्त हो गयी, जिसमें उनकी माताजी के सिर में गम्भीर चोटें आयीं और दूसरे ही दिन उनका स्वर्गवास भी हो गया। राजेश्वर बली इस गहरे सदमे से स्वयं भी उबर न सके और लगभग दो माह पश्चात् लखनऊ के 'किंग जार्ज मेडिकल कॉलेज' में 20 नवम्बर, 1944 को अचानक दोपहर बाद हृदय गति रुक जाने के कारण उनका भी देहान्त हो गया।

जन्म से ही राजेश्वरजी की आस्था भक्ति के प्रति थी। बी.ए. की परीक्षा के तुरन्त बाद कॉलेज के छात्रावास में उनका सम्पर्क 'श्रीकृष्णमूर्ति' नामक एक दक्षिण भारतीय छात्र से हुआ, जिन्होंने दर्शनशास्त्र में एम.ए. की परीक्षा दी थी। राजेश्वर बली एवं श्रीकृष्णमूर्ति ने कृष्णभक्ति के दर्शन से सम्बन्धित तीन-चार दिन और रात गहन विचारों का आदान-प्रदान किया और अन्ततः जब दोनों की सारी शंकाएँ दूर हो गयीं तो राजेश्वर बली जी ने तुरन्त छात्रावास छोड़ दिया और किसी को कुछ बताये बिना, अपने घर दरियाबाद न जाकर, नौकर को लेकर वृन्दावन की ओर प्रस्थान किया। वे गोकुल, वृन्दावन, नन्दगाँव, बरसाना, गोवर्धन, मथुरा आदि पूर्ण ब्रज मण्डल का मई-जून की गर्मी में हफ्तों तक भ्रमण करते रहे और काफी समय पश्चात् दरियाबाद लौटे। जिस दिन वे वहाँ पहुँचे, उसी दिन उनके विवाह के लिए टीका जाना था। राय साहब समय पर पहुँच तो गए पर उनके पैरों में मोटे-मोटे छाले पड़े हुए थे।

राय राजेश्वर बली : एक कृष्ण-भक्त, सहज-कवि-हृदय एवं उदार प्रवृत्ति के ताल्लुकेदार (सन् 1912 ई. से सन् 1944 ई. तक) थे। विधि ने राय राजेश्वर बली को विद्यानुरागी, कला-प्रेमी और भावुक प्रकृति का बनाया था। वे अत्यन्त सहृदय कवि और सफल नाटककार भी थे, परन्तु उनका स्वभाव इतना संकोची था कि वे अपनी व्यक्तिगत बातों को यथासम्भव छिपाए रहते थे। राय साहब ईश्वर में विश्वास रखते थे तथा वे सच्चे वैष्णव थे। उनके मन में लीला पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्तिभावना थी। वृन्दावन के बाँके बिहारी के मंदिर में दर्शनों के लिए ये प्रायः जाया करते थे।

ब्रज-भूमि की रज राय राजेश्वर बली के माथे पर जो लगी तो ऐसी लगी कि उसके बिना उनका जीवन रसहीन हो गया। वे जीवन के सारे कार्यकलाप पूरी जिम्मेदारी से निभाते किन्तु उनका मन वृन्दावन के श्री बाँकेबिहारी के चरणों में निवास करता। इसी सम्बन्ध में एक रुचिकर बात यह है कि श्री बिहारी जी के मंदिर में बाँई ओर के चबूतरे पर घण्टों एक पैर पर खड़े हो राजेश्वरजी श्रीबिहारीजी को निहारा करते और नयनों ही नयनों में श्री बिहारीजी से न जाने किन गहन अनुभूतियों का आदान-प्रदान करते। बड़ी कठिनाई से वे अपना स्थान छोड़ते और वहाँ से प्रस्थान करते। इसी प्रकार एक बार राजेश्वर बली अपने परिवार के साथ वृन्दावन के बाँकेबिहारी के मंदिर में दर्शनों के लिए रुके। परिवार के सब सदस्य पूजा-अर्चना करके वाहन में बैठ गये। दीर्घकाल तक राजेश्वर बली के न आने पर उनकी धर्म पत्नी (श्रीमती सुशीला रानी) ने अपनी बहन (श्रीमती शान्ति माथुर) को उन्हें बुलाने के लिए भेजा। जब वे

मंदिर गई तो उन्होंने देखा कि राजेश्वर बली एक खम्भे से प्रगाढ़ आलिंगन किये, ध्यान में खोये हुए खड़े थे। जब उन्होंने राजेश्वर बली को झकझोरा तभी उन्होंने आँखें खोलीं। जब उन्होंने राजेश्वर बली से शीघ्र प्रस्थान करने का आग्रह किया तो वे स्तब्ध हो कुछ समय तक श्रीमती माथुर को देखते रहे, फिर बिहारीजी की ओर संकेत कर बोले 'पहले ये छोड़े तब तो चलूँ ? श्रीमती माथुर बिना कुछ बोले उल्टे पाँव वापस आकर कार में बैठ गयीं। राय राजेश्वर बली के साथ ऐसी घटनाएँ प्राय: घटित होती रहती थीं। इसीलिए वृन्दावन के भक्तों ने उन्हें संतों की गणना में रखा था।

राजेश्वर बली अपनी रियासत दरियाबाद में श्रीकृष्ण जन्माष्टगी बड़ी धूम-धाम से मनाया करते थे। दरियाबाद के मंदिर में कसौटी-पत्थर से बनी 'श्रीकृष्ण' की एक सुन्दर मूर्ति है जो वृन्दावन के बाँकेबिहारी के समान है किन्तु आकार में कुछ छोटी है। जन्माष्टमी के समय सूरदास, मीरा और स्वयं राय राजेश्वर बली द्वारा रचित पदों के गायन से वातावरण गूँज उठता था। सम्पूर्ण बली परिवार और दरियाबाद का जनसमूह इसमें सम्मिलित होता था। दरियाबाद में राजेश्वर बली द्वारा 'श्री रामलीला' का आयोजन भी बड़ी धूम-धाम से होता था। राय साहब ने अपनी रियासत के अनेक राजसी कपड़े चाँदी की कुर्सियाँ व छत्र आदि अनेक आयुध रामलीला को अर्पित कर दिये थे। प्रतिदिन रामलीला समाप्त होने पर राय साहब राम, सीता और लक्ष्मण का पाठ करने वाले बालकों को अपने दीवानखाने में बिठाते और स्वयं अपनें हाथों से उनके किरमिच के जूते और मोजे उतारते और नीचे बैठकर बड़े भाव विभोर होकर देर तक उनके पैर दबाते, ऐसे सेवा करते जैसे साक्षात् श्रीराम, सीता, लक्ष्मण वहाँ विराजमान हों। राजेश्वर बली जी के शब्दों में -

> ''विविध विधिन जेहि को सब पूजन, धरे अनेकन नाम,
> एकहिं रूप अनेक भाव रस, सर्वरूप सुखधाम।
> सब आधार को छाँड़ि एक अब, गह्यों चरन अवलम्ब,
> 'राजेश्वर' पर द्रवहु वेग अब, प्रभु काहे करत विलम्ब।।''

वास्तव में राय साहब 'श्रीकृष्ण के भक्त मात्र नहीं थे अपितु वे उनकी लीलाओं के ऐसे रसिकों में थे, जो उन लीलाओं को सदैव निहारा करते हैं और अन्तत: उन लीलाओं का एक अंग बन जाते हैं। वे मुक्ति नहीं चाहते बल्कि उनकी लीला में बँधना चाहते हैं। राय साहब के गदगद हृदय को सोच-विचार की नहीं, बहाव की आवश्यकता थी। उनके सम्बन्ध में एक रोचक बात यह है कि कृष्णभक्ति से प्रेरित होकर उन्होंने अपनी रियासत के कुछ ग्रामों के नाम परिवर्तित कर किसी का बिन्द्रावन तो किसी का गोकुल, मथुरा, बरसाना, नन्दगाँव आदि कर दिया, जो आज भी इन्हीं नामों से जाने जाते हैं।

डॉ. राय राजेश्वर बलीजी द्वारा रचित 'श्रीकृष्ण-जन्म' एवं 'रुक्मिणी-मंगल' नाटकों के कुछ पद संगृहीत करके इनके सुयोग्य पुत्रों ने पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कराया। यह पुस्तिका पायनियर-प्रेस लखनऊ से मुद्रित हुई थी। जन्माष्टमी के उपलक्ष्य में अष्टमी की रात में राजा साहब की बहू-बेटियाँ स्वयं उनके पदों का गायन इसी पुस्तिका से करती थीं। यह कार्यक्रम रात्रि 9 बजे से प्रारम्भ होता और श्रीकृष्ण के जन्मोपरान्त लगभग 3 बजे प्रात: तक चलता रहता था। नवमी की रात्रि को सार्वजनिक गायन का कार्यक्रम होता जिसमें बाहर के सुविख्यात गायक भी भाग लेते थे। इस पुस्तिका में 16 पृष्ठ हैं। कुछ छंद तो ऐसे हैं जिन्हें वही लिख सकता है जिसे सिद्धि प्राप्त हो। राजेश्वर वली की कृतियों का परिचय निम्नवत् है -

1. **श्री कृष्ण जन्म नाटक** - इसकी पाण्डुलिपि राजेश्वर वली के सुपुत्र राय गोपेश्वर बली ने बड़े परिश्रम के साथ तैयार की। इस हस्तलिखित प्रति में 215 पृष्ठ हैं। नाटक में कुल पदों की संख्या - 99, 3 अंकों में कुल दृश्यों की संख्या-19 है।
2. **रुक्मिणी-मंगल नाटक** - कुल पद संख्या - 57, कुल पृष्ठ संख्या-100, दृश्य-15

3. **'श्री द्रोपदी चीरहरण नाटक'** - पद संख्या-32, पृष्ठ संख्या-74, दृश्य-7
4. **अहिरावण-वध नाटक** - पद संख्या - 7, पृष्ठ -संख्या-38, दृश्य - 6,
5. **श्री प्रह्लाद चरित्र नाटक** - पद संख्या -92, पृष्ठ -संख्या-74, दृश्य-5,
6. **वसंतोत्सव नाटक** (अपूर्ण) - पृष्ठ संख्या-62, पद संख्या- 45, दृश्य - 8

बलीजी ने इसमें, ऋतुराज वसन्त को नाटक मान कर सृष्टि के क्रमिक विकास व ह्रास की झांकी प्रस्तुत की है। वसन्तोत्सव बलीजी का छटा मौलिक नाटक था परन्तु अनायास देहावसान के कारण यह अधूरा रह गया। दरियाबाद में ये सभी नाटक समय-समय पर मंचित होते थे, जिसमें पूरा बली परिवार व दरियाबाद की सारी जनता चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, अपनी पूरी निष्ठा से तल्लीन हो जाती थी। मिर्जा साहब नाटकों के सेट एवं पर्दे बनाने और रंगने में जुट जाते और उनके साथ राय हरदेव बली और दरियाबाद के ही गुणी व्यक्ति इन नाटकों के पात्र बनते और श्रीमती सुशीला रानी जी और राय सुरेन्द्र नाथ बली रायसाहब की नई-नई काव्य रचनाओं की धुनें निकालने और उन्हें सिखाने में व्यस्त हो जाते। श्रीमती सुशीला रानी जी, पात्रों की वेषभूषा का निर्माण भी करवातीं और राय बहादुर चन्द्रहर बली नाटकों के मंचन एवं प्रस्तुतीकरण करते। राय विश्वेश्वर बली नाटकों के कल्पना पूर्ण कला पक्ष को निखारते। नाटकों के मंचन के समय निर्देशन स्वयं राय राजेश्वर बली करते। इस प्रकार उच्च कलात्मक रूप और रसिक रूप में ये नाटक प्रस्तुत होते।

राजेश्वर बली के देहावसान के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र राय दीनानाथ बली और रायसाहब के तीसरे पुत्र राय गोपेश्वर बली ने जीवन-पर्यन्त इस परम्परा को पूरी निष्ठा और लगन से निभाया। राय साहब के अन्य पुत्र राय कैलाशनाथ बली, राय मदन गोपाल बली और राय कौशलेन्द्र बली भी विभिन्न क्षेत्रों में अपना योगदान देते। डॉ.बली की तीनों पुत्रियों श्रीमती विंध्येश्वरी नारायण माथुर, श्रीमती पुष्पा चन्द्रा व श्रीमती मिथलेश्वरी नारायण माथुर भी अपनी रुचि और कला दक्षता के अनुसार इन नाटकों के मंचन को निखारतीं। इन नाटकों में राय राजेश्वर बली द्वारा रचित अनेक छंद हैं जो अत्यन्त सुन्दर और भावपूर्ण होते हुए भी नाटकों के रसपूर्ण गद्य में छिप से गए हैं। उनकी विशिष्टता उजागर करने के लिए राय राजेश्वर बली के पुत्र राय कौशलेन्द्र बली ने 'रूप-लहरिया' (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद,-2002) में अलग से संकलित किया है। इसके कुछ विशिष्ट उदाहरण निम्नलिखित हैं -

श्री कृष्ण जन्म नाटक के कुछ पद

श्री भगवान (वसुदेव से) कहते हैं :-

ना मैं बसूँ अकास, बसूँ मैं नाहि पताले
ना मसजिद मैं बसूँ, बसूँ नाहिं सिवाले
ना मेरे कहुँ अगम लोक, परतै पर वाले
सो मेरो निजधाम, जहाँ मेरे मतवारे।।
मोहिं जेल भवन में देखि क्यों, परि गए खेद खंभार में
मैं तो नित ही कैदी रहूँ, हियके कारागार में।

नारद जी कहते हैं (गोलोक में) :-

जय जय मम जन्म देश, भारत भूतल नरेश,
यक ते यक मनि विशेष, जासु मुकुट साजै।
नदियन मनि जहाँ गंग, गिरि मनि हिमगिरि उतंग,

मानसरहु तालन मनि, हंस जहाँ राजै।।
कोकिल जहँ करत सोर, पंछी मनि नचत मोर,
द्वार-द्वार हाथी झूमे, बननि सिंह गाजै।
आम जहँ फलन रत्न, तुलसीदल दलनि रत्न,
अमल कमल देखि देखि, कुसुम बृन्द लाजै।।
केसर सी फूलै घास, चन्दन की फैले बास,
षट्रितु को जहँ विलास, रम्यता समाजै।
हरित भरित सोहि रही, 'राजेश्वर' पुन्य मही,
लछमीपति चलिय तहीं, लछमी जहाँ विराजै।।

श्री भगवान (नारद से -गोलोक में) कहते है :-

जगत ते न्यारों भारत देस
पृथ्वी, पानी, पवन जहाँ के गुन सम्पन्न विशेष
साधन तत्व ज्ञान जपतप में सब ते पेसा पेस
बार-बार आचरज अति आवै, सो किन हरत कलेस
भोग रोग ते लोग दुखित हैं; भूले झूठे ऐस
जगतगुरु ह्वै के 'राजेश्वर' क्यों न देत उपदेश।।

श्री भगवान (कहते हैं गोलोक में) :-

माय पियावै दूध को, अन्न खवावै पूत
माय पूत दोउ बूत हैं, हिन्द करै मजबूत।।
ऐसे बल देवान की जो सेवा करे गंभीर
भारत की सब जाति में, उत्तम जाति अहीर।।
औरन नाहिं सतावहीं, आप सहैं जल वाय
थोरी लै दवैं बहुत, सो सब मेरी गाय ।।

(जमुना तट पर वसुदेव का श्री भगवान को सूप में रक्खे हुए प्रवेश)
वसुदेव (कहते हैं) :-

ऐसे काल में, मेरी कौन जो होय सहाय,
कारो पख, कारी निसा, झुकी घटा अतिकारि,
तापै कारो भाग मम अंधियारोई अंधियार।
नहिं सूझे कछु, कछु हाय।। ऐसो काल में।।1।।
तरजि तरजि दामिनि उठै, गरजि गरजि घनघोर
सुनसान, तन सनसनी, सन सन विकट झकोर
मनु वाय बैहे मुँह बाय, ऐसौ काल में।2।।

श्री रुक्मिणी मंगल नाटक के पदों से -
(ब्राह्मण द्वारा रुक्मिणी की पत्रिका लाना)

मेरिये लगावैं आस, ब्रह्म शुक शम्भु व्यास,
मेरो नाम लै लै सदा सिद्धिता लहत हैं।
कोउ व्रत नेम धारि, सारे सुख दुख बिसारि,

मेरे शुभ चरित सरित नित्य ही बहत हैं।
दान देत मान देत, मेरे हित प्रान देत,
एक कृपा कोर छांड़ि, आन न चहत हैं।
ऐसो मैं जगत बन्दि, बन्धो रहौं प्रेम फंद
प्रेमी रुचि आगे मेरे लाज न महत है।

कृष्ण-ब्याह

नई शान सनो छविवंत घनो, बनरा बन्यो आज कँन्हैया ।।1।।
पढ़ि मंत्र ठग्यों रथ हांकि भग्यो हरिलायो नवल दुल्हैया ।।2।।
अति धूम मची, रति झूमि नची, गावैं रम्भादि बधैयाँ। ।3।।
सब ताकि रहीं झुकि झांकि रहीं, ललना बढ़ि लेत बलैयाँ।।4।।

वसन्तोत्सव नाटक के पदों से -

देस भेद, रेस भेद, मति भेद, गति भेद,
मारि पिचकारी सबै भेदन मिटाय दे।
ठौर ठौर, पौरि पौरि, गले मिलै, दौरि दौरि,
बौरन के झोरन को जोर तो दिखाय दे।
'राजेश्वर' तेरी गंध सूंघै रस चाखैं चहुँ,
अपन परायो ताहि सपन कराय दे।
विजई जुसीले ऋतुराज हूँ नसीले,
काहू रंग चटकीले विस्वभर को रंगाय दे।।
ईसा ने, हुसैन ने कि सत्य गुरु गोविन्द जू ने,
औधी अंधी अकल पै, अकल जगायौ है।
कैंधों सुकरात ने कि मीरा ने प्यालो पियो,
सत्य हरिचंद ने कि मरघट रखायो है।
सूरमनि मनसूर, हँसि हसँ ब्रूनो भूर
कानै लाये फूजा हक हक पर चढायो है।
सरसों प्रसूननि पै आज पाला आंधी बहै,
गाँधी ने कि जेल ओर कदम उठायो है।।

'पैंगे' :- राय राजेश्वर बली के जीवन से अनेक घटनाएँ जुड़ी हैं जो उनका जन्मजात ईश्वर भक्त होना सिद्ध करती हैं और जो उनपर विशेष ईश्वर कृपा की द्योतक हैं। ईश्वर प्रेम के आनन्दातिरेक की अनुभूतियों ने उन्हें उसी प्रकार काव्य-सर्जन के लिए बाध्य कर दिया था जैसा कभी भक्त कवियों को किया होगा। उनकी गहन अनुभूतियों का ज्वार तभी थमता था जब वे काव्य के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त कर देते थे। नाटकों और अनेक झाँकियों की रचनाएँ भी उनकी भक्ति की अभिव्यक्ति के माध्यम थे। राय राजेश्वर बली ने अपनी काव्यकृतियों के एक छोटे से संग्रह ''पैंगे'' के निवेदन में लिखा है-''मैं न कवि हूँ न कभी काव्य क्षेत्र प्राप्त करने की चेष्टा की। श्री बिहारीजी की झूला-झांकी के उत्सवों पर जब-जब चारों ओर हरियाली का महाधिपत्य छाया तो, पत्थर पर घास समान दो-चार अंकुर मेरे भी हृदय में फूट निकले, यह संग्रह इन्हीं का फल है। संग्रह बसते में लपेटी धरी थी। हाल में एक परम मित्र ने सुनी। उन्हीं के आग्रह पर प्रकाशन का विचार हुआ। तीजें समीप थीं, अतएव पुस्तक बहुत जल्दी में छपी और कहीं-कहीं अशुद्धियाँ

रह गई। मैं तो अब भी इसे 'छपावन जोग' नहीं बल्कि 'छिपावन जोग' समझता हूँ। इसी से सीमित संस्करण ही प्रकाशित हो रहा है। यदि रसिकों ने उत्साह बढ़ाया तो, होली और बसन्तोत्सव पर लिखे पदों सहित, दूसरा संस्करण उपस्थित करूँगा।''

पैंगे में राजेश्वर बलीजी ने राज्य में सूखा पड़ने पर जल की वर्षा हेतु एक रचना की है जो इस प्रकार है -

हिंडोरे झूलए बलबीर,
बिन तेरे हिंडोल के झूले, दूर होय क्यों पीर
सावन आयों बूंद परत नहिं, कैसे धरिये धीर,
त्रसित, तृषित, कृशु, पशु कृषिदल, विह्वल विकल सरीर।
उपजत ही हिंडोल रुचि तेरे, जुरिहै बदरन भीर
झरिहै नेह मेह रस धारन, फिर तो नीरैं नीर।
जन के, तन के, मन के संकट कटै समान
हरि की यारी सो हरियारी 'राजेश्वर' दृढ़ मानि।।

वर्षा होने पर जन-जन में खुशहाली छा जाने पर राजेश्वर बली जी पुन: इस प्रकार लिखते हैं-

लोनी ललित लड़ैती के संग, झूलत प्यारो बिहारी लाल,
बन माली, बन मालाधारी, कुंज बिहारी मदन गोपाल।
हुलसे देखि जुगल रस सागर, धाई घन मंडली उताल,
ज्यों ए झूलैं त्यों ये बरसै, मेटि मेटि मेढ़न जंजाल।
रही जो बिन पानी के बरसे प्रजा दुखारी बिकल बिहाल,
मूसलधार दया की धारनि, मन प्रसन्न, जग माला माल।
दोउन के हिन्डोर के चढ़ते 'राजेश्वर' औरै भए हाल,
घन के, जन-जन के, राव के मन लहरै, सब बहाल खुशहाल, निहाल
लहरि लहरि लहराय लहरिया,
आज लहरिया ही को रंग।
पाग लहरिया, चुनरि लहरिया,
लखि लखि इन्द्र सरासन दंग ।।1
त्यों लहरत सिंगार लहरिया,
उठत दुहुन के अंग सुढंग।
कोसर, काजर, पीक रेख ते,
तीन रंग की त्रिविधि तरंग ।।2

राय राजेश्वर बली ने अपनी इस रचना को श्री बिहारी जी के चरणों में इस प्रकार समर्पित किया है- ''आपके चरण कमलों में थोड़ी ह्दय की पैंगें सर्पित हैं।''

'फाग' :- राय राजेश्वर बली की एक अन्य रचना 'फाग' महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रकाशन राय राजेश्वर बली के स्वर्गवास के पश्चात् उनकी धर्मपत्नी 'सुशीलारानी' द्वारा दरियाबाद हाउस से (बसन्त सं. 2001) हुआ। अपने निवेदन में 'सुशीलारानी' जी ने लिखा है-''गत सावन में तीजों पर कुछ हिंडोले 'पैंगे' नामक पुस्तक के रूप में मेरे दिवंगत स्वामी डॉक्टर राय राजेश्वर बली ने प्रकाशित कर श्री बिहारीजी के चरणों में समर्पित की थी। 'पैंगे' के निवेदन में उन्होंने लिखा था "यदि रसिकों ने उत्साह बढ़ाया तो होली और

वसन्तोत्सव पर लिखे पदों सहित दूसरा संस्करण उपस्थित करूँगा। पर इसके प्रकाशन के पूर्व ही वह इस नश्वर शरीर को छोड़कर अमर धाम को पधार गये। मेरा जीवन नीरस हो गया, कुछ शांति पाने की आशा से मैंने उनकी कृतियों का संग्रह आरम्भ किया। यद्यपि किसी कार्य भार को उठाने की शक्ति शरीर में नहीं थी; तथापि पति की इच्छानुसार और बिहारीजी की सेवा निमित्त वसन्तोत्सव व होली पर गाने योग्य पदों के संग्रह को प्रकाशित करने का साहस किया। श्री बिहारीजी की कृपा से, जिनके पूजनार्थ इन पदों की रचना की गई थी, मैं इस संग्रह का सीमित संस्करण उपस्थित कर रही हूँ, आशा है भक्तजन इस संग्रह को अपनी स्वाभाविक सहृदयता से अपनाएंगे।''

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा राजेश्वर बली की काव्य-कृतियों के सम्बन्ध में लिखते हैं कि, ''राय साहब की रचनाएं हिंदी भक्तिकाल की उच्चतम कृतियों का स्मरण दिलाती हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता उत्कृष्ट काव्यकला और सच्ची आत्मानुभूति के संमिश्रण में है। यह गुण उन्हें सूर और मीरा के समकक्ष ला बिठाता है- वे कबीर, नानक जैसे धार्मिक कवि अथवा केशव, मतिराम जैसे कलाप्रिय कवियों से भिन्न थे।''

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार राय राजेश्वर बली की रचनाओं में केवल साधारण श्रृंगार रस का चित्रण न होकर अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी का धार्मिक रूपक या रहस्यवाद प्रत्येक स्थल पर छिपा दिखाई पड़ता है। इस श्रेणी के कुछ पद तो बहुत ही सुंदर तथा भावपूर्ण हैं, जैसे-

रंग बिन कौन बचे जब हरि हाथन पिचकारी।
ना बचिहैं सरसों, ना किंसुक,
ना बचिहैं अलिकुल, कोकिल, सुक,
गुललाला, चंपा न चमेली,
ना बचिहैं, ब्रज कोई नवेली,
जाय जु छिपी भवन के भीतर, तू कचनारौ ते कचनारि।30

कामरी-सम्बन्धी यह पद सूर के इस विषय सम्बन्धी रहस्यपूर्ण पदों की टक्कर का है -

रही अँधेर पसारि, कान्ह तेरी कारी कमरिया।
जो सचमुचि रुचि होरि खेलन पे,
धरि दे याहि उतारि।।कान्ह।।
भाँति-भांति के रँग हम डारैं
करि-करि जतन हजार
यह ऐसी पक्की अपने रँग
रँगै न एको तार।। कान्ह ।।

निम्नलिखित पद होली के प्रतीक द्वारा स्पष्टरूप में सर्वव्यापक परमात्मा का वर्णन करता है-

आयो, आयो, आयो, नटखट
भरि मूठी वह आयो।
दाएँ आयो, बाएँ आयो,
हमही पे मड़रायो।
'राजेश्वर' कब, कहाँ कौन विधि
प्रगटत दुरत खिलारी
प्रात रात संध्या एकै सँग
चकित चेतना भारी।।

आत्मा-परमात्मा के अभेद की भावना निम्नलिखित पद में नए ढंग से चित्रित की गई है –

रंगनि रंगी रंगीली जोरी।
ह्वै गयो एकै रूप दुहुन को,
सखियन मुखनि मली जब रोरी।
एक बैस, एकै रँग बागे,
चितवन में समान चित चोरी
ऊधम भरी एक सी मुसकानि
छलनि, चलनि, मचलनि, झकझोरी।
मेल मिलाय, भेद भल, भुलवै,
धन्य ! जमीलि जुसीली होरी
राजेश्वर पहिचान परे नहिं,
कौन श्याम को श्यामा गोरी ।।

कुछ पदों में सहृदय कवि ने भक्त-हृदय की भिन्न-भिन्न भावनाओं का चित्रण गोपी-कृष्ण की फागलीला के बहाने चित्रित किया है। इस श्रेणी के पदों में निम्नलिखित दो पद अत्यन्त ही सुन्दर हैं –

हमहु पे याकी इतनी निगाह।
ना गुन, कला, न रूप, न वैभव, प्रेम न नेम निबाह।।
जुमना के तट फाग खेलिबे,, सखियाँ जुरी अथाह।
सबन, मध्य अबिरा लै मोहन मल्यो मोहिं मुँह माहिं।
बिसरि गई तब तैं सब मैं तैं अपन पराई चाह।
जो पग उठत-उठत 'राजेश्वर' अबिरा ही अब राह ।।

तथा यह भी देखिये –

अबिरा मलाय लियो मखु सूधे
कैसी तू नारि अनारी
ना ठिठकी, हटकी, ना मटकी
ना चटकी दै गारि।। अबिरा।

मर्यादा-मार्ग और सच्चे प्रेम-मार्ग के भेद को कवि (राजेश्वर बली) ने द्वारिका और ब्रज की होली के रूप में प्रकट किया है। यह अत्यन्त ही भावपूर्ण है। अंत में मर्यादा-मार्ग को प्रेम-मार्ग के आगे झुकना ही पड़ा –

रगं डारो बचाय-बचाय, कहीं सारी की लोच न जाय।
हिये जु हौस, तो हाँ-हाँ, मलो-मलो अबिरा,
मगर सँभालि के, बिगरे न नैन का कजरा,
बेंदी बूँदहु दीजे बराय।। रँग डारो ।।

निम्नलिखित पद के छंद का प्रवाह, शब्दावली का चयन तथा सुंदर संगीत और साथ ही अनुरागपूर्ण हृदय के प्रेम का चित्रण, इस को पद-साहित्य में ऊँचे स्थान पर उठा कर रख देता है –

मनमोहन के, एरी नैना बड़े, मेरे पीछे पड़े कैसे खेलूँ मैं फाग
जाऊँ जहाँ तहँ, सँग सँग डोलैं
मूँदूँ आँख तु हिये कलोलैं
मैं तो सचमुच भई, सखी नैनागई, कियो टोना की लाग ।। मनमोहन0।।

राजेश्वर बली की इस रचना के सम्बन्ध में डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है- ''इस सत्तर (70) पृष्ठ के छोटे-से संकलन में स्वर्गीय राय साहब के कवि-हृदय तथा असाधारण प्रतिभा की सुंदर झांकी मिलती है। यदि उनकी समस्त रचनाएँ सुसंपादित रूप में प्रकाशित हो सकीं तो आधुनिक ब्रज-भाषा काव्य को ऊपर उठाने में वे विशेष सहायक सिद्ध होंगी। हिंदी का यह दुर्भाग्य ही है कि ऐसी अमूल्य ज्योति का इस प्रकार सहसा निर्वाण हो गया।''

वर्ष 2002 में राय राजेश्वर बली के पुत्र राय कौशलेन्द्र बली ने हिन्दुस्तानी एकेडेमी के प्रकाशन से ''रूप-लहरिया'' नामक पुस्तक में राजेश्वर बली जी की रचनाओं को पुन: सुसंगठित रूप से प्रकाशित कराया। राय कौशलेन्द्र बली ने एक साक्षात्कार में बताया कि उनकी माँ श्रीमती सुशीला रानी ने पिता राजेश्वर बली जी के देहान्त के पश्चात् ''पौराणिक कथा कोश'' नामक पुस्तक की रचना की है जिसमें 8175 पृष्ठ हैं, किन्तु अभी यह अप्रकाशित है। इस प्रकार राय राजेश्वर बली, भारत के महान् भक्त कवियों में से एक अनूठे कवि थे। 'राजेश्वर बली द्वारा रचित अनेक पदों को स्वयं पं. भातखण्डे ने स्वर बद्ध किया था।' किन्तु अधिकतर पदों को श्री एस.एन. बली एवं राजेश्वर बली की धर्म पत्नी श्रीमती सुशीला रानी जी ने संगीत बद्ध किया था तथा इन पदों की आत्मा को समझकर बड़े सुन्दर रागों से उन्हें संवारा था।

(विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं व पुस्तकों द्वारा प्रकाशित रचनाओं पर आधारित-लेखक)

कठोर वचन न बोलो, बोलने पर (दूसरे भी वैसे ही)
तुम्हें बोलेंगे, दुर्वचन दु:खदायक (होते हैं), (बोलने से)
बदले में तुम्हें दण्ड मिलेगा। टूटा काँसा जैसे नि:शब्द
रहता है, (वैसे) यदि तुम अपने को (नि:शब्द रक्खो)
तो तुमने निर्वाण को पा लिया, तुम्हारे लिये कलह
(हिंसा) नहीं रही।

-भगवान बुद्ध (धम्मपद 10/6)

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह का हिंदी अवदान

डॉ. मिथिलेशकुमारी मिश्र

हिन्दी साहित्य का फलक बहुत ही विराट् है जिस पर कुछ साहित्यकारों के चित्र अपने वैशिष्ट्य के कारण सदा के लिए अंकित हो गये। इसी क्रम में 1890ई. में 10 सितम्बर को सूर्यपुरा, (तब शाहाबाद अब रोहतास, बिहार) में राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह 'प्यारे' कवि के यहाँ कायस्थ कुल में जन्मे थे राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह ; जो अपनी सहजता, सरलता, के साथ गंगाजमुनी शैली के लिए सदा याद किये जायेंगे। इनकी माता का नाम रानी शकुन्तला था। बी.ए. संस्कृत से तथा एम.ए. इतिहास विषय से किया। इनके पास शब्द सम्पदा अथाह थी। (चाँदी) आरा निवासी श्रीजगदानन्द सहाय की पुत्री ललिता देवी के साथ इनका विवाह हुआ। दाम्पत्य जीवन सुखमय रहा। इनके द्वितीय पुत्र साहित्यकार उदयराज सिंह के बेटे प्रमथजी आज भी नई धारा पत्रिका का दायित्व संभाले हुए हैं। 1915 ई. में प्रथम पुत्र श्री राजेन्द्रनाथ प्रताप सिंह तथा 1921 ई. में द्वितीय पुत्र श्री उदयराज सिंह का जन्म हुआ था। ये भी साहित्यकार थे। 1932 ई. से हरिजन-सेवक संघ के अध्यक्ष रहे उस समय भूकम्प पीड़ितों की उल्लेखनीय सेवा की। सन् 1971 की 24 मार्च को समर्पित हिन्दी सेवी का महाप्रयाण हो गया ।

कृतियाँ:- राजाजी के लेखन की शुरुआत कविता से हुई। डॉ. वासुदेवनन्द प्रसाद के अनुसार उनकी अनेक कविताएँ बंगला पत्रिकाओं में छप चुकी थीं। रवि बाबू का उनपर सीधा प्रभाव था। श्री अरविन्द के पत्र 'वन्देमातरम्' में भी वे प्राय: लिखा करते थे। इनके शिल्प या भाव पर विचार करने के पूर्व साहित्य के विषय में जानकारी आवश्यक है अत: प्रकाशन क्रमानुसार इनका रचना संसार प्रस्तुत है :-

1. नये रिफॉर्मर (नवीन सुधारक), प्रहसन — सन् 1911 इलाहाबाद
2. गल्प कुसुमावली (कुसुमांजलि) कहानियों — सन् 1912 इलाहाबाद
3. नवजीवक (प्रेमलहरी), कथात्मक गद्यकाव्य — सन् 1912 इलाहाबाद
4. तरंग (लघु उपन्यास), वार्ताशैली — सन् 1920 रोहतास फोर्ट
5 राम रहीम (वृहत् उपन्यास) — सन् 1936 नैनीताल
6. गाँधी टोपी (कहानियाँ) — सन् 1938 मसूरी
7. सावनी समाँ (कहानियाँ) — सन् 1938 कश्मीर
8. पुरुष और नारी (राष्ट्रीय आन्दोलन पर आधारित मनोवैज्ञानिक उपन्यास) — सन् 1939 शिमला
9. टूटा तारा (संस्मरणात्मक जीवन चरित्र) — सन् 1941 इलाहाबाद
10. सूरदास (मनोवैज्ञानिक उपन्यास) — (मार्च) सन् 1942 इलाहाबाद
11. संस्कार (बंगाल अकाल पर आधारित उपन्यास) — सन् 1944 कलकत्ता
12. नारी क्या एक पहेली ? (जानी-सुनी-देखी) कहानियाँ — सन् 1950 राजगृह

13. पूरब और पच्छिम (जानी-सुनी-देखी) कहानियाँ (जुलाई) सन् 1951 तिलौथू
14. हवेली और झोपड़ी (जानी-सुनी-देखी) कहानियाँ सन् 1951 देहरादून
15. देव और दानव (जानी-सुनी-देखी) कहानियाँ सन् 1951 देहरादन
16. धर्म की धुरी (नाटक) सन् 1953 कलकत्ता
17. अपना-पराया (नाटक) सन् 1953 कलकत्ता
18. वे और हम (जानी-सुनी देखी) कहानियाँ सन् 1956 पटना
19. चुम्बन और चाँटा उपन्यास सन् 1956 पटना
20. धर्म और मर्म (जानी-सुनी-देखी) कहानियाँ, धर्म-चर्चा सन् 1959 पटना
21 तब और अब संस्मरण सन् 1959 पटना
22 नजर बदली, बदल गये नजारे (नाटक) सन् 1961 पटना
23 अबला क्या-ऐसी सबला ? (कहानियों) सन् 1962 पटना
24 माया मिली न राम (लघु उपन्यास) सन् 1963 पटना
25, मॉडर्न कौन-सुन्दर कौन (उपन्यास) (जून) सन् 1964 पटना
26 बिखरे मोती, खण्ड 1 (कहानियों) सन् 1965 पटना
27. अपनी-अपनी नजर, अपनी-अपनी डगर (लघु उपन्यास) सन् 1966 पटना
28. बिखरे मोती, खण्ड 2 (सन्देश-संस्मरण) सन् 1966 पटना
29. बिखरे मोती, खण्ड 3 (स्फुट रचनाएँ) सन् 1967 पटना
30. बिखरे मोती, खण्ड 4 (भाषण-संकलन) सन् 1970 पटना

यों तो राजा राधिकारमण ग्रन्थावली-पाँच खण्डों में प्रकाशित हो चुकी है जिसका विवरण इस प्रकार है-

पहला खण्ड (उपन्यास) : राम रहीम, पुरुष और नारी।

दूसरा खण्ड (जानी-सुनी-देखी) : नारी क्या-एक पहेली ? अपनी और पराई; मोह ओर छोर; रूप और स्वरूप। पूरब और पश्चिम, वे और हम; अपनी-अपनी नजर; माँ-बेटी; अपना-अपना तौर; अपनी-अपनी व्यवस्था; जाति और रंग; अपनी-अपनी छूट; अपनी-अपनी देन; अपनी-अपनी गाँठ; रस की प्यास; अपनी-अपनी कसौटी; ताने-बाने; अपनी-अपनी राह; श्रम का मूल्य।

चुम्बन और चाँटा (उपन्यास)

तीसरा खण्ड (उपन्यास और कहानियाँ) : टूटा तारा : मौलवी साहब, देवी बाबा।

सूरदास (उपन्यास); संस्कार (उपन्यास)

गाँधी टोपी (कहानियाँ) : गाँधी टोपी, दरिद्रनारायण, पैसे की घुघुनी एक अनुभूति, इस हाथ दे उस हाथ ले, बान का मसला।
सावनी समाँ (कहानियाँ) : सावनी समाँ, बाप की रोटी, माँ। अबला क्या ऐसी सबला ? (कहानियाँ) : भगवान जाग उठा ! शैतान मर गया ! मगलामुखी क्या ऐसी दूध की धोई ? आँखे दो-नजर एक, ईट का जवाब पत्थर, अबला क्या ऐसी सबला ? कर्त्तव्य की बलिवेदी, ऐसा महँगा सौदा ?

कुसुमांजलि (कहानियाँ) : सुरबाला, बिजली, मरीचिका, कानों में कँगना, गुड़गुड़ी, वीरबाला।

बिखरे मोती, खण्ड 1 (कहानियाँ) : देव या मानव ! क्षमा की क्षमता, नाम-रूप की मोह-माया, ना जाने केहि भेस में नारायण मिलि जाय ! भैया दूज, याद आ गया अभी वह गुजरा हुआ जमाना, गुरु गुड ही रहे चेला चीनी हो गये !, मियाँ की जूती मियाँ के सर।

चौथा खण्ड (जानी-सुनी-देखी) :

हवेली और झोपड़ी (कहानियाँ) : भोर का सपना, फिर भी। हवेली और झोपड़ी, तब और अब, मोतीचूर, खतरा, सभ्य और बर्बर, मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।
देव और दानव : काँटे से काँटा, होटल और तीर्थ, देव और दानव, झूठ और सच, पद और मद, मैं और मेरा, फूल और काँटा।
धर्म और मर्म : धर्म और मर्म, अपनी-अपनी राह, धनी कौन ?, प्रेम का स्वरूप एक।
तब और अब : छह अध्याय।

पाँचवाँ खण्ड (लघु उपन्यास, नाटक, प्रहसन तथा विविध) :
माया मिली न राम (लघु उपन्यास)मॉडर्न कौन-सुन्दर कौन ? (लघु उपन्यास), अपनी-अपनी नजर, अपनी-अपनी डगर (लघु उपन्यास)अपना-पराया (नाटक)-3 अंक, धर्म की धुरी (नाटक)-3 अंक नजर बदली, बदल गये नजारे (नाटक)-3 अंक, नये रिफॉर्मर (नवीन सुधार)-प्रहसन।

बिखरे मोती, खण्ड 2 (सन्देश और संस्मरण) :
नई मांग- नई रुझान, खुला दिल, खुली आँख, कला का कौशल, अमृत का रस-स्रोत, कहानी की मोहिनी, वसन्त का सन्देश, एक पत्र : गुरुदेव सिन्हा साहब, प्रतीक और प्रत्यक्ष (राजेन्द्र बाबू), दिव्य- दर्शन, दिव्यवाणी (टण्डनजी), वह याद हरी की हरी है (जवाहरलाल), माली चला गया (डॉ. रघुवीर), तैरती जाती है आँखें, डूबता जाता है दिल ! (शिवजी) हमीं जानते हैं जो हम जानते हैं ! (नलिनजी), प्रतिभा और करुणा के प्रतीक (महावीर बाबू)।

बिखरे मोती, खण्ड 3 (स्फूट कृतियाँ) :
नारी की लाचारी (कहानियाँ), हर रोज बरातें आती हैं हर रोज जनाजे उठते हैं (कहानियाँ), ढाई अक्षर प्रेम का (कबीर), श्रीमहेन्द्र बाबू (संस्मरण), रस की चासनी (सूक्ति-संकलन : प्रो. हरिमोहन झा), कुछ और सुनिये। (कविता), जीवन के एक विशिष्ट कलाकार (जैनेन्द्र जी), विविध विधाओं के विधायक (डॉ. रामकुमार वर्मा), हिन्दी के अनन्य उन्नायक (लक्ष्मीनारायण सुधांशु), तुम्हीं अपने दोस्त, तुम्हीं अपने दुश्मन (कहानी)।

बिखरे मोती खण्ड 4 (भाषण-संकलन) :
बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, बेतिया; बिहार-अस्पृश्यता-निवारण सम्मेलन, पटना; हरिऔध अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पण, आरा; बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, आरा; द्वितीय विश्वयुद्ध कालीन जनसभा, आरा; विद्यार्थियों के बीच, पटना; हिन्दी-साहित्य-संघ, गर्दनीबाग, पटना; सुहृदसंघ, मुजफ्फरपुर; राजेन्द्र कॉलेज, छपरा; शाहाबाद संगीत संघ, आरा; डॉ. राजेन्द्र प्रसाद अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पण, आरा; शाहाबाद जिला हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, विक्रमगंज; पटना डिवीजनल प्रधानाध्यापक सम्मेलन, सूर्यपुरा; शायरों के बीच।

उक्त साहित्यिक वैभव के धनी राजा साहब एक विराट् व्यक्तित्व के भी धनी थे। रियासत के कार्यो में व्यस्त रहने के बाद भी राजा साहब की साहित्यिक व सामाजिक गतिविधियाँ अबाधरूप से जारी रहीं। लेखन के प्रति उनकी अटूट निष्ठा बनी रही। संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंगरेजी का ज्ञान तो इन को कराया ही गया था इनके अतिरिक्त बंगला आदि की भी इन्हें पर्याप्त जानकारी थी। उनकी रचनाओं पर इसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। सभी रचनाओं का विश्लेषण तो पुस्तकाकार ही सम्भव है। लेख की सीमा को देखते हुए एकाध का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

'कानों में कंगना' यह कहानी सरस्वती में सर्वप्रथम 1819 ई. में प्रकाशित हुई थी। भाषा की दृष्टि से यह कहानी दूसरी कहानियों से पृथक् है। दूसरी कहानियों की भाँति यह उर्दू, फारसी शब्दों से सुसज्जित है। शैलीय उपकरणों में राजाजी ने पर्यायवाचिता पर विशेष बल दिया है। एक उद्धरण देखें-''जब माखन चुराने वाले ने गोपियों के सरके मटके तोड़कर उनके भीतरी किले को तोड़ डाला, या नूरजखाँ ने अंचल से कबूतर को उड़ाकर शाहंशाह के कठोर हृदय की धज्जियाँ उड़ा दीं फिर नदी किनारे वसन्त-वल्लभ रसाल पल्लवों की छाया में बैठी, किसी अपरूप बालिका की सरल स्निग्ध लीला एक मानव अन्तर पर क्यों न दौड़े ?'' इस में तीनों स्थलों पर अर्थ की अलग-अलग छटा है। तीन रंगवाली अर्थ छबियाँ झाँकती हैं। 'कानों में कंगना' कहानी की भाषा कलात्मक है। उस समय यह कहानी विद्वानों के बीच खूब चर्चित रही।

उपन्यास विधा में इन्हें सर्वाधिक ख्याति मिली। यों इनके सभी उपन्यास मन को बाँधने की क्षमता रखते हैं। सूरदास जैसे उपन्यास में पात्रों का मनोविज्ञान आकर्षक है। इनके सभी उपन्यास अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं। 'राम रहीम' उपन्यास सर्वाधिक चर्चित हुआ। इसमें भारतीय जीवन के आचार विचारों को यथार्थवादी ढंग से उपन्यस्थ किया गया है। इसके साथ ही अध्यात्मक, शृंगार, दर्शन, आदर्शवाद, नैतिकता दिखाई पड़ती है। उपन्यासकार के शब्दों में - ''रोजमर्रे की एक दिलचस्प कहानी की टेक लेकर धर्म और समाज के तमाम कच्चे चिट्ठे खोलकर रख देने की कोशिश की है। मैंने भारत वर्ष के अन्तर्गत इस युग के आधार को, इस युग के विचार को, इस युग की पुकार को दो जीती-जागती स्त्रियों के जीवन तट पर प्रस्फुटित करने का प्रयास किया है। यहाँ अध्यात्म के साये में शृंगार है, फैशन का दामन थामे दर्शन है। इसीलिए वास्तविकता की सादी जमीन पर नैतिकता की किनारी तक है- यथार्थवाद के मौसम में आदर्शवाद के छींटे हैं। आजकल की टकसाली कला के पहलू में मैंने अपनी पुरानी धज भी कायम रखने की कोशिश की हैं।''

इस उपन्यास के माध्यम से एक ओर लेखक के धर्म सम्बन्धी उदार मानवीय और वैज्ञानिक चिन्तन का परिचय मिलता है तो दूसरी ओर इसका महत्त्वपूर्ण पक्ष है नारी समस्या। भारतीय जीवन में विशेषकर मध्यकाल से नारी, पुरुष के शोषण का शिकार रही है। राजा साहब ने 'राम रहीम' में बेला के चरित्र के माध्यम से नारी शोषण को विस्तार से प्रस्तुत किया है। वैधव्य की शिकार बेला के प्रति उसके ससुराल विशेषकर सास और ननद के अमानवीय व्यवहार का चित्रण उपन्यासकार ने बड़ी ही गम्भीरता से किया है। नारी के शोषण का एक पक्ष बिजली की कहानी द्वारा भी प्रस्तुत किया गया है। बिजली की माँ के बहाने जमींदार परिवार की स्त्रियों की परतंत्रता, घुटन विवशता का मर्मस्पर्शी विवरण है। यहाँ तक कि कथाकार स्वयं कहता है, जब उसकी कराहों के चींख टोले मुहल्ले वालों के कानों से टकराती है-शायद कलेजे तक भी कँपा जाती है। मगर जब महल की रानी रोती है तब जान अन्दर ही अन्दर घुलती रहती है, उस छिदी हुई छाती के चीत्कार को फरिश्ते भी नहीं सुन पाते।'' बेला और बिजली के वार्त्तालाप से कथाकार ने नारी स्वातंत्र्य के विविध पक्षों का विस्तृत वर्णन किया है। लेखक के भाव प्रस्तुत हैं- ''शिक्षा का अर्थ चरित्र गठन है, किसी भाषा का मनन नहीं। सच्ची तालीम से स्वच्छन्दता में आकाश-पाताल का अन्तर है। शिक्षा नारी सुलभ लज्जा को तोड़ती नहीं, वरन् लज्जा की लज्जा को तोड़ती है। ....

स्त्रियों की शिक्षा उनके अन्तर की महत्ता है, सेवा और संयम की क्षमता।

राजा साहब को भाषण का जादूगर कहा जाता है। वे हिन्दी और प्रचलित अरबी फारसी के शब्दों का प्रवाहपूर्ण शैली में सम्मिश्रण कर देते हैं जो पाठकों के लिए आकर्षण का कारण बन जाती है। कहीं तो अरबी-फारसी और संस्कृत के प्रचलित शब्दों से युक्त सहज तो कहीं-कहीं संस्कृत निष्ठ हिन्दी का प्रवाहपूर्ण प्रयोग करते हैं। संस्कृत निष्ठ हिन्दी का नमूना देखें- ''बनारस में आकर भी बेला बेला ही बनी रही- बेला-सी कोमल, बेला-सी विमला के शर के हास सी मीठी, रसाल की कोंपल-सी चिकनी, बालक के हृदय-सी सरल, मल्लिका के मुकुल-सी मंजुल, माता के आँसू-सी निर्मल, आरती की शिखा-सी उज्ज्वल, विधवा की मुस्कान-सी करुण, सती की छाती-सी कठिन, नववधू की लज्जा-सी मधुर, उषा के तुषार-सी सुन्दर।'' राम-रहीम की भाषा ही उसे पठनीय बनाती है। ध्वनिमूलक शैलीय उपकरणों द्वारा व्यंग्य की सृष्टि द्वारा भाषा सजीव बन गयी है। राजा साहब की कथाकृतियों में पात्र-पात्राओं और इनके कार्य-व्यापारों को चित्रात्मक रूप देने का ये श्लाघनीय प्रयास किया गया है। उनकी कथाकृतियों में भारतीय जीवन के समग्र सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों का यथाक्रम सुष्टु प्रयोग किया है। यही कारण है कि राजा साहबकी कथा भाषा भावपक्ष और कलापक्ष, दोनों दृष्टियों से आनन्दानुभूति प्रदान करती है। इनकी सूक्तिमय, मुहावरेदार, और अनुप्रासिक भाषा में तत्सम और तद्भव शब्दों का संगुम्फन है जो पर्याप्त प्रभावशाली रहा है।

उपन्यास और कहानियों के अतिरिक्त राजा साहब के चार नाटक प्रकाशित हुए-नये रिफार्मर, अपना पराया, धर्म की धुरी, तथा नजर बदली बदल गये नजारे। प्रथम नाटक 1911 ई. में लिखा गया शेष स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद लिखे गये। इनके नाटकों में समय की आहट सुनायी पड़ती है। इस तथ्य को इस प्रकार समझा जा सकता है कि उनमें आधुनिक भारत का सामाजिक राजनीतिक जीवन का कलात्मक रूप उकेरा गया है। नये रिफार्मर राजा साहबकी प्रथम प्रकाशित कृति है। यह नवयुवक राधिकारमण प्रसाद सिंह द्वारा उनके कॉलेज जीवन से लिखी गयी रचना है इसमें पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप जीवन पद्धति में आ रहे परिवर्तनों को व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति दी गयी है। यद्यपि यह लघुनाटक है तथापि आगे चलकर लेखक की अभिव्यंजना क्षमता एवं विकसित होने वाली भाषा-शैली के स्पष्ट संकेत उपलब्ध हैं। इस नाटक का मंचन भी कई स्थलों पर हुआ। इनके नाटक हमारी राष्ट्रीय चेतना को उद्बुद्ध करते हैं और कथात्मक आनन्द भी देते हैं।

इनके साहित्य लेखन के अतिरिक्त इनके भाषण भी बहुत ही प्रभावी होते थे तभी तो आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने कहा था कि ''भाषा और भाषण तो सभी बोलते और लिखते हैं, मगर हर शब्द को और हर वाक्य को बोलने की कला विरले को हासिल है।'' सभी विद्वान इनके भाषण के कायल रहे। इनकी समन्वय शैली हमारी भावात्मक एकता की द्योतक, साहित्य में हिन्दी की गंगा, उर्दू की यमुना और संस्कृत की सरस्वती तीनों धाराएं एकात्मक हो जाती हैं। राजा राधिकारमण सिंह पर लक्ष्मी और सरस्वती की समान कृपा थी। साहित्य उन्हें विरासत में मिला था। राजसी वैभव में पलने के बाद भी उन्होंने अध्ययन-मनन की लगन की उपासना यानी साहित्य सृजन में लगे रहे।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि कविता के माध्यम से साहित्यिक जगत में प्रवेश करने वाले राजा साहब ने प्राय: साहित्य की सभी विधाओं को अपनी कृतियों से भूषित किया है कृतियाँ भी सामान्य नहीं, अति विशिष्ट हैं। कथ-साहित्य में तो उनकी देन क्रोशशिलात्मक रही है। भाव और भाषा दोनों पर समान अधिकार के लिए सुख्यात राजा साहब ने हिन्दी-साहित्य को एक अभिनव शैली प्रदान की। उनकी भाषा में शोखी, विदग्धता तथा वक्रता के सर्वत्र दर्शन होते है। आम फहम भाषा का वस्तुत: व्यवहारिक रूप उनकी रचनाओं में सुलभ है। विभिन्न विधाओं में प्रस्तुत उनकी रचनाओं से सम्पूर्ण हिन्दी-आलोकित

है, इसलिए उनकी परिगणना अनावश्यक होगी। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि राजा साहब हिन्दी-संसार में एक पैगम्बर की तरह आये थे और एक योगी की भाँती अपना अमर सन्देश छोड़कर समाधिस्थ हो गये।

महात्मा गाँधी हिन्दी के जिस रूप-हिन्दुस्तानी, की कल्पना करते थे, उसे राजा साहब ने अपनी रचनाओं से साकार कर दिया। 'राम रहीम' **देशरत्न डॉ. राजेन्द्रप्रसाद** के परामर्शानुसार ही ऐसी भाषा में लिखी गई, जिसे हिन्दुस्तानी का सर्वोत्तम ग्राह्य रूप माना जा सकता है।

इनकी कहानी 'कानो' में कँगना' हिन्दी-साहित्य में प्रथम साहित्यिक कहानी के रूप में स्वीकार की गई। रामचन्द्र शुक्ल जैसे कठोर आलोचक ने भी इनके साहित्यिक-अवदान की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है।

सहृदय साहित्यकार के हृदय में लोक-कल्याण की संवेदना संचरित रहती है वह संसार के सुख-दुख को अपने मन के आसन पर बिठाकर उनका श्रृंगार और संस्कार करता है। वह दरिद्र में 'नारायण' के दर्शन करता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम' का भाव उसके मन-मस्तिष्क में अनुस्यूत रहता है। राजमहल छोड़कर 'हरिजन सेवक संघ' के माध्यम से पद-दलितों की सेवा करने के प्रयास में जुट जाने की राजा साहब की अदम्य अभिलाषा आखिर रहस्य भी तो यही था। उनकी इसी प्रवृत्ति एवं बिहार में उनके अभिव्याप्त प्रभाव को देखकर राष्ट्रपिता ने यरवदा जेल से उन्हें बिहार के आन्दोलन की बागडोर सौंपी और बिहार हरिजन सेवक संघ का अध्यक्ष बनाया।

राजा साहब की उदारता, सदाशयता, परोपकारता की कथाएँ जग-विख्यात हैं। हिन्दी-साहित्य ही नहीं वरन् सभी साहित्यकार भी उनके अभाव में अभिभावक हीन होने का अनुभव करते हैं। राजा साहब की यश:काया हिन्दी-साहित्य और साहित्यकारों का पथ निर्देशन सदा करती रहेगी, ऐसा विश्वास है। राजा साहब का व्यक्तित्व निराला था। अनेकता में एकता भेद में अभेद यही उनका सिद्धान्त रहा। सबके प्रति स्नेह, स्वभाव की मृदुलता उनकी सहज प्रवृत्ति थी। वे पहले मानव थे बाद में कुछ और। सरलता, सहृदयता तथा निरहंकार से भरपूर थे उनके व्यक्तित्व में क्रोध, क्षोभ और मोह के लिए कोई स्थान नहीं था। लक्ष्मी और सरस्वती अपना वैर भूलकर उन्हें समान रूप से स्नेह देती रहीं। उनका व्यक्तित्व ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय था। उनका लेखन ही इसका प्रमाण है। एक छोटा उदाहरण देखें ''जिस जमीन पर धरती के वासियों की जिस फुलवारी में समता के गुण हैं सहृदयता के परिफल, प्रगति की रीति है, परिणति की नीति, कठोर कर्मण्यता का मान है, अहिंसा का मान है आनन्द की खोज के मूल में सेवा है, कला के कौशल की तह में साधना-बस, अपना तो यही काशी, अपना तो यही ब्रज है''। ऐसे साहित्यकार के अवदान को भुलाया नहीं जा सकता है।

मेरे वतन तों चंगा कोई वतन नहीं है।
सारे जहाँ विच ऐसा कोई रतन नही है।
गाँधी दी ऐड़ी बस्ती नानक गुरु दी हस्ती।
पैदा ऐथे होई सी गाँधी जई नेक हस्ती।
एस देश जैसी धरती ऐसा गगन नहीं है।

साहित्य-सेवी ठाकुर गोपालशरण सिंह

पं. राम सागर शास्त्री

विद्वानों में सरस्वती और लक्ष्मी का विरोध माना है। सामान्यत: धनाढ्य विद्वान नहीं होते और विद्वान् धनवान्, किन्तु ठाकुर गोपालशरण सिंह इसके अपवाद थे। वे धनवान् विद्वान् और हिन्दी के यशस्वती अमर कवि थे। ठाकुर साहब का जन्म सेंगर क्षत्रिय कुल में विक्रमी सम्वत् 1948 में नईगढ़ी जिला रीवा में हुआ। आपके पिता श्री ठाकुर जगत प्रताप सिंह संस्कृत के बड़े अच्छे विद्वान् थे, गुणज्ञों का आदर करते थे और सन्त-महात्माओं की सेवा। वे दयालु, धार्मिक और सच्चे समाज सेवक थे। संस्कृत के प्रचार के लिए आपने अपने ग्राम नईगढ़ी में एक संस्कृत पाठशाला खोल रखी थी, जहाँ विद्यार्थियों को भोजन, वस्त्र नि:शुल्क मिलता था। आपके पितामह ठाकुर प्रतापसिंह बड़े योद्धा थे। उनके युद्ध-कौशल संबंधी विभिन्न प्रकार की कथाएँ आज भी सुनी जाती हैं।

श्रुतिवाक्य है - 'आत्मा वै जायते पुत्र:' अर्थात् आत्मा ही पुत्र रूप में उत्पन्न होती है। भाग्यवान पुत्र पिता के सदगुणों का प्रतिरूप होता है। अत: ठाकुर गोपालशरण सिंह जी अपने पिताजी के सद्गुणों से अत्यधिक प्रभावित थे। साथ ही पितामह के योद्धापन से भी प्रभावित थे।

ठाकुर साहब के पिता श्री जगत बहादुर सिंह बहुत दिनों तक कोई सन्तान न होने से बहुत चिंतित थे। नईगढ़ी में समय-समय पर संस्कृत के विद्वानों का समागम होता रहता था। एक दिन उस समय के प्रसिद्ध ज्योतिषी 'जरकटी' ग्राम निवासी पं. दीनानाथ पाण्डेय के समक्ष सन्तान सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित किया गया, तब उन्होंने ठाकुर साहब की जन्मपत्री देखकर कहा -''सन्तान का योग है, कई लड़के होंगे, किन्तु प्रथम सन्तान के लिए 'गोपाल सन्तान' का अनुष्ठान करना होगा।'' अत: ज्योतिषीजी के आज्ञानुसार उक्त अनुष्ठान का विधिवत् आयोजन वृन्दावन में सम्पन्न किया गया। कालान्तर में फल मिला। ठाकुर गोपालशरण सिंह का जन्म हुआ। अनुष्ठान से पैदा होने के कारण ठाकुर साहब का नाम 'गोपाल शरण सिंह' रखा गया। बाद में पांच सन्तानें (चार लड़के और एक लड़की) और हुई।

सम्मानित जागीरदार के परिवार में जन्म होने के कारण ठाकुर साहब का लालन-पालन राजसी ढंग पर हुआ। नौकर-चाकर तथा हर प्रकार की सुख-सुविधाएँ सुलभ थीं। उठना-बैठना, टहलना, भोजन, शयन आदि सभी कार्य नियमबद्ध था। वे कभी भी नियम के विपरीत कोई कार्य नहीं करते थे। सर्वदा नियमों का पालन करते थे। ये कहें कि नियम के विपरीत अवसर ही नहीं आने देते थे।

आरम्भ में आपने अपने पिताजी के संरक्षण में घर पर ही हिन्दी और संस्कृत का अध्ययन किया और 13 वर्ष की अवस्था में अंग्रेजी पढ़ने के लिए रीवा गये। उसी वर्ष पिताश्री का स्वर्गवास हो गया। हाईस्कूल परीक्षा उतीर्ण करने के बाद आप म्योर सेंट्रल कालेज, इलाहाबाद में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रविष्ट हुए, किन्तु कुछ कारणोंवश पढ़ाई शीघ्र बन्द कर देनी पड़ी। वयस्क होने पर इलाके का प्रबंध-भार भी आपके कन्धों पर आ गया, परन्तु अध्ययन की ओर आपकी अभिरुचि बनी रही। गृहस्थी का सम्पूर्ण कार्य देखते हुए अधिक-से-अधिक समय साहित्य-सेवा में ही लगाते थे। आपने अपने घर में ही विविध विषयों का अध्ययन करके अपनी विशिष्ट विद्वत्ता का परिचय दिया है।

ठाकुर साहब स्वभाव से शान्त चित्त थे और एकान्त में चुपचाप कार्य करना अधिक पसंद करते थे। उनका सीधा-सादा जीवन और साधारण वेष-भूषा बड़ी ही चित्ताकर्षक थी। एक सम्मानित क्षत्रिय कुल में जन्म पाकर अतुल सम्पत्ति के अधिकारी होते हुए भी आप अत्यन्त सरल थे आपके जीवन की सादगी तो वस्तुत: पैत्रिक सम्पत्ति थी। आपने कभी किसी के साथ कड़ाई नहीं की। इलाके का पूरा प्रबंध, लगान वसूली और किसानों के झगड़ों को शान्त करने आदि में पूर्ण सहनशीलता का परिचयत देते थे। परिचित-अपरिचित सभी व्यक्तियों से हृदय खोलकर मिलते थे। नईगढ़ी रीवा राज्य के प्रमुख इलाकों में से था। ठाकुर साहब को आनरेरी मैजिस्ट्रेट के भी कुछ अधिकारात मिले हुए थे, किन्तु कभी भी उन अधिकारों का दुरुपयोग नहीं किया। आपके शासन-काल में किसानों के ऊपर कड़ाई न होने से लगान की वसूली बहुत बाकी थी। एक बार इलाका के स्वामिभक्त कर्मचारियों ने ठाकुर साहब से गाँवों में चलकर लगान वसूल कराने का आग्रह किया। क्योंकि प्रतिवर्ष इलाका को सरकारी लगान देना पड़ता था और किसानों से वसूली नहीं होती थी, इस कारण इलाके की आर्थिक स्थिति बिगड़ रही थी। बड़ी कठिनाई के बाद ठाकुर साहब ने गाँवों में जाना स्वीकार किया। वे जिस गाँव में पहुँचते थे, वहाँ के सभी किसान एकत्र होकर लगान जमा कर देते थे, किन्तु जो किसान लगान नहीं दे पाते थे, उन्हें बार-बार लगान जमा करने का आदेश दिया जाता था फिर भी कुछ लोग लगान नहीं दे पाते थे। यह क्रम कई दिनों तक चलता रहा। एक दिन ठाकुर साहब भोजन के बाद आराम करने लगे और कर्मचारीगण किसानों से लगान वसूली की कड़ी कार्यवाही करने लगे। लगान न देने के अपराध में जेठ मास की चिलमिलाती धूप में खड़ा कर दिया। किसानों ने बहुत अनुनय-विनय किया, किन्तु कर्मचारियों ने एक न सुनी। इसी बीच ठाकुर साहब की नींद खुली और बाहर आकर यह दृश्य देखा। कारण जानकर वे बहुत दुखी हुए और किसानों को तुरन्त छाया में बुला कर धीरे-धीरे लगान पटाने की बात कही। साथ ही दंडित किसानों को छुड़वा दिया और भविष्य में इस प्रकार का दंड देना रोक दिया।

ठाकुर साहब को व्यायाम और मल्लयुद्ध से बड़ा प्रेम था। वे प्रतिदिन दंड बैठक, मुग्दल भांजना, वजन उठाने आदि का अभ्यास करते थे। बाल्यकाल से ही इस ओर उनका झुकाव था। बाद में व्यायाम तो छोड़ दिया था, किन्तु टहलने का क्रम आखिर तक चलता रहा। अंत के दिनों में इलाहाबाद में रहने लगे थे, फिर भी गर्मी के महीनों में 'नईगढ़ी' में ही रहते थे। उन्हें श्री हनुमान जी का इष्ट था। ऐसा कोई दिन न होता था, जब वे श्री हनुमान जी का दर्शन न करते रहे हों। ठाकुर साहब की धार्मिक प्रवृत्ति का प्रभाव उनकी कविताओं पर भी पड़ा है।

ठाकुर साहब में कवित्व-प्रतिभा जन्मजात थी, जो सुयोग्य पथ-प्रदर्शक मिल जाने पर चमक उठी। खड़ीबोली की शैशवावस्था के कवियों ने अपनी चमत्कारी कविताओं के द्वारा सत्साहित्य-सृजन की एक लहर पैदा कर दी। उसी के फलस्वरूप आज हिन्दी राष्ट्रभाषा के उच्चतम स्थान पर सुशोभित है। इस काव्य धारा ने भारतेन्दु काल में जन्म पाकर द्विवेदी युग में परिष्कृत हुई और भारतीय भाषाओं में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कवियों, लेखकों और समालोचकों की रचनाओं को शुद्ध करने का गुरुतर भार ग्रहण किया था और स्वसम्पादित 'सरस्वती' पत्रिका में संशोधित रचनाएँ प्रकाशित कर उदीयमान कवियों, लेखकों ओर समालोचकों को प्रोत्साहित किया था। ठाकुर साहब के काव्य-माधुर्य से आचार्य द्विवेदीजी बहुत प्रभावित हुए थे और 'सरस्वती' पत्रिका में आपकी रचनाएँ प्रकाशित कर निरन्तर प्रोत्साहित करते रहे। ठाकुर साहब कॉलेज छोडते ही कवि कर्म की ओर प्रवृत्त हुए और जीवन भर साहित्य की सेवा करते रहे।

ठाकुर साहब विक्रमी सम्वत 1967 के आस-पास कवि-कर्म की ओर प्रवृत्त हुए। उस समय ब्रजभाषा की काव्य-धारा खड़ीबोली की ओर मुड़कर लड़खड़ा रही थी। ऐसे सन्धिकाल में भविष्य का कोई संकेत दिखायी नहीं देता था। उस काल के कवियों को स्वयं अपना मार्ग खोज निकालना था। सन्धि

काल के कवियों में ठाकुर गोपालशरण सिंह तथा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ठाकुर साहब ने आरम्भ में ब्रजभाषा में कविताएँ लिखीं, किन्तु युग की पुकार उन्हें खड़ीबोली की ओर खींच लायी। क्योंकि बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस खड़ीबोली के आन्दोलन का श्रीगणेश किया था, वह क्रमशः विकास पर था। यत्र-तत्र खड़ीबोली की रचनाएँ प्रकाश में आने लगीं थीं। साथ ही आचार्य द्विवेदी जैसे उद्‌भट विद्वान् का वरदस्त खड़ीबोली को प्राप्त था। उन्हीं की छत्रछाया में आप भी खड़ीबोली में कविता करने लगे। आपकी पहली कविता 'ग्रन्थ' शीर्षक सर्वप्रथम सन् 1921 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हुई। ब्रजभाषा में लिखी कविताओं का अलग से कोई संकलन तैयार नहीं हुआ और अधिक मात्रा में थीं भी नहीं। ठाकुर साहब ने स्वयं हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित आधुनिक कवि भाग 4 की भूमिका में लिखा है -''पहले मैंने ब्रजभाषा में कुछ पद्य लिखे थे, जिन्हें अब ढूंढ निकालना सम्भव नहीं।''

आप पर आचार्य द्विवेदी की विशेष कृपा थी। उन्हीं के मार्ग-दर्शन में ठाकुर साहब की काव्य-प्रतिभा विकसित हुई है। 'संचिता' की भूमिका में ठाकुर साहब ने लिखा है -''पुण्यस्मृति श्रद्धेय पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की मुझ पर सदैव कृपा रही है और कविता लिखने के लिए वे मुझे बराबर प्रोत्साहित करते रहे हैं। यदि उनका करावलम्बन न मिलता तो मैं अधिक दिन तक कवि-कर्म में प्रवृत्त रह सकता या नहीं ? इसमें सन्देह है। मेरे आरंभिक कविता काल में तो वे मेरे पथ-प्रदर्शक ही थे।'' वस्तुतः आचार्य द्विवेदी जैसे महान् युग-प्रवर्तक साहित्यकार का वरदहस्त पाकर ठाकुर साहब को काव्य-जगत् में ख्याति प्राप्त करना स्वभाविक ही है।

रीतिकाल की कविताओं में काव्य के सात्विक माधुर्य गुणों का अभाव-सा हो गया था, जिनके कारण उस काल के कवि बाह्य आडंबरों के विविध जालों में फंस कर वास्तविकता से अलग हो चुके थे। यही कारण है कि पूरा जन-समाज कृतिम काव्य जगत् से ऊब चुका था। वह किसी सीधी-सादी वास्तविक काव्य-कला की खोज में था। आचार्य द्विवेदी ने ऐसी ही सरल सरस भावपूर्ण काव्य-धारा को प्रवाहित किया, जिसमें नवीनता थी, सादगी थी और समाज की वास्तविक पुकार थी। जो लोग सरलता और स्वभाविकता के प्रेमी थे, उन्हें द्विवेदी-युग की कविताओं ने अत्यधिक प्रभावित किया। ठाकुर साहब उसी युगानुकूल नवीन काव्य धारा के समर्थक प्रारम्भिक कवि थे। इसीलिए इनकी कविताओं को पूरे हिन्दी-जगत् ने समादृत किया है।

विद्वानों की दृष्टि में:- आपकी काव्य-कला के सम्बन्ध में स्वर्गीय डॉ. श्यामसुन्दर दास ने लिखा है- ''ठाकुर साहब कोमल भावनाओं के कवि हैं। आपकी रचनाओं में प्रेम की प्रधानता है। वह कहीं ईश्वर के प्रति है कहीं संसार के प्रति और कहीं देश के प्रति। आपका प्रेम पवित्र प्रेम है। वस्तुतः आपका ईश्वरोन्मुख प्रेम-भाव विराट् भावना में अनन्त हो गया है। इसमें कोई सीमा नहीं रह गयी है। वही आदर्श-प्रेम ईश्वर के प्रति है, मानव समाज के प्रति है और देश के प्रति भी। उनकी प्रेम साधना काव्यमय है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने द्विवेदी काल में प्रवर्तित खड़ीबोली की काव्य-धारा में ठाकुर गोपालशरण सिंह को प्रथम स्थान दिया है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में-''प्रारंभिक रचनाएँ साधारण हैं, पर आगे चलकर हमें बराबर मार्मिक उद्‌भावना तथा अभिव्यंजना की एक विशिष्ट पद्धति मिलती है। इनकी छोटी-छोटी रचनाओं में, जिन में कुछ गेय भी हैं, जीवन की अनेक दशाओं की झलक है। 'मानवी' में इन्होंने नारी के 'दुलहिन', 'देवदासी', 'उपेक्षिता', 'अभागिनि', 'भिखारिणी', 'वारांगना' इत्यादि अनेक रूपों को देखा है। 'ज्योतिष्मती' के पूर्वाद्ध में तो असीम और अव्यक्त 'तुम' है और उत्तराद्ध में ससीम और व्यक्त 'मैं' संसार के बीच। इसमें प्रायः उन्हीं भावों की व्यंजना है, जिनकी छायावाद के भीतर होती है, पर ढंग बिल्कुल अलग अर्थात् रहस्यदर्शियों का सा न होकर भोले-भाले भक्तों का सा है। व्यंजना को गूढ़

बनाने के लिए कुछ असंबद्धता लेने के निमित्त अपेक्षित पद या वाक्य भी छोड़ देने, अत्यन्त अस्फुट संबंध के आधार पर उपलक्षणों का व्यवहार करने का प्रयत्न इनकी रचनाओं में नहीं पाया जाता।''

डॉ. रवीन्द्र भ्रमर ने लिखा है -''खड़ीबोली का परिमार्जन एवं संस्कार करने वाले कवियों में गोपालशरण सिंह का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने अपनी काव्य भाषा में शुद्ध, सहज एवं साहित्यिक प्रयोग बड़ी सतर्कता से किये। विषय एवं भावानुरूप शब्द-चयन में इन्हें अपूर्व सफलता मिली। खड़ीबोली में लिखे गये इनके कवित्त और सवैये प्राचीन ब्रजभाषा छन्दों से टक्कर लेते हैं। उनमें सरसता और मार्मिकता का निर्वाह आद्यन्त हुआ है। उदाहरणार्थ 'यह छवि' (माधुरी, 1925 ई.) शीर्षक रचना ली जा सकती है।

''तेज धारियों में है कृशानु का भी नाम बड़ा,
किन्तु भानु सबसे महान् तेजवान है।
पादपों में पारिजत, पर्वतों में हिमवान,
नदियों में जाह्नवी मनोज्ञता की खान है
भोर-सा मनोहर न कोई जग रूपवान,
फूल कौन दूसरा गुलाब के समान है।
यद्यपि सभी हैं उपमान इन्हें मान चुके,
किन्तु उस छबि-सा न कोई छबिभान है।।''

गोपालशरण सिंह की अधिकांश रचनाएँ इस प्रकार की मार्मिक उद्‌भावनाओं से ओत-प्रोत हैं और उनमें अभिव्यंजना की एक विशिष्ट पद्धति परिलक्षित होती है। इनकी रचनाओं में जीवन की नाना दशाओं के चित्र उपलब्ध हो जाते हैं। ये वस्तुत: धरती-चेतना के कवि रहे हैं। इनके काव्यगत दृष्टिकोण को समझने के लिए इनकी प्रार्थना उल्लेखनीय है- ''पृथ्वी पर ही मेरे पद हों, दूर सदा आकाश रहे।'' गोपालशरण सिंह की कविताओं में कहीं-कहीं छायावाद की भी झलक मिलती है। भावों की व्यंजना तथा रमणीय लाक्षणिक प्रयोगों की दृष्टि से ये अपने कुछ प्रगति मुक्तकों में छायावाद के निकट आ जाते हैं। गोपालशरण सिंह कवि के अतिरिक्त एक सक्रिय साहित्यिक व्यक्तित्व के रहे हैं। रघुराज साहित्य परिषद्, रीवा, कवि-समाज, प्रयाग तथा मध्य भारतीय साहित्य समिति, इन्दौर के सभापति के रूप में इनकी साहित्य सेवाएँ उल्लेख्य हैं। सन् 1960 ई. में आपका देहरावसान हो गया। (हिन्दी साहित्य कोष, भाग 2 पृ. 137).

काव्य-जगत् में अस्तित्व :- ठाकुर साहब लगभग अर्द्ध-शताब्दी काव्य-साधना में संलग्न रहे हैं। जिस समय ठाकुर साहब ने कविता के क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय खड़ीबोली की रूपरेखा निश्चित नहीं हो पायी थी। परिवर्तन का युग था। नयी-नयी धाराएँ बन-बिगड़ रही थीं। पिछले पचास वर्षों में जैसा युगान्तर हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में हुआ है वैसा अन्य साहित्य में नहीं हुआ है। भाषा-शैली तथा मापदंड़ों में भी परिवर्तन हुआ है। पुरानी परम्पराएँ नये रूप में सामने आयीं, वह भी अनेक रूपों और रंगों में। क्षण-क्षण परिवर्तनशील साहित्यिक विभिन्न वादों के भंवरजाल से अप्रभावित काव्य-पक्ष की अपनी लीक पर चलने वाले सम्भवत: आप एक मात्र कवि थे। खड़ीबोली कविता के विकास में आपका योगदान महत्त्वपूर्ण है।

ठाकुर साहब राष्ट्रीयता और विश्व-बन्धुत्व की भावनाओं से अत्यधिक प्रभावित थे। मानवी, प्रेमांजलि, विश्वगीत, शान्ति गीत आदि काव्य-कृत्तियों से स्पष्ट है। आपने बंगला, संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य का भी अध्ययन किया था, उसका प्रभाव भी उनकी रचनाओं पर पड़ा है। साथ ही बाल्यकाल के साहित्यिक वातावरण का प्रभाव भी उन पर पड़ा था, जिसका उल्लेख उन्होंने स्वयं किया है - ''अपने

पिताजी के समय में जिस साहित्यिक वातावरण में मैं पला था उसका संस्कार मेरे मन में बराबर बना रहा और उसी ने समय पाकर काव्य-रचना की ओर मुझे आकृष्ट किया। यदि मेरी रचनाओं में कुछ सात्विकता है तो वह निस्सन्देह मेरे स्नेहालु पिता और ममतामयी माता के भक्तिपूर्ण जीवन और पवित्र विचारों का फल है।'' तात्पर्य यह कि ठाकुर साहब साहित्यिक वातावरण में पले और आचार्य द्विवेदीजी समयोचित प्रोत्साहन से आगे बढ़े। आपकी आरंभिक रचनाएँ राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की शैली पर होती थीं, किन्तु बाद में स्वयं ठाकुर साहब की एक अलग शैली ही बन गयी। प्रसाद गुण आपकी वर्णन शैली की प्रमुख विशेषता है।

रचनाएँ:- ठाकुर साहब की काव्य-साधना से प्रभावित होकर उत्तर प्रदेश सरकार ने उनकी 'ग्रामिका' और 'जगदालोक' काव्य कृतियों को पुरस्कृत किया है। इसके अतिरिक्त पूर्व विन्ध्य-प्रदेश-शासन ने भी वर्ष 1953-54 ई. में सर्वोत्तम काव्य-ग्रन्थ पर दिया जाने वाला सर्वोच्च देव-पुरस्कार 'जगदालोक' महाकाव्य पर प्रदान किया है। आपने विन्ध्य-भूमि की गौरव-गरिमा को अक्षुण्य रखकर साहित्य-जगत् में इस पवित्र भूमि के मस्तक को ऊँचा किया है। ठाकुर साहब की रचनाओं की संख्या 14 है, जिनके नाम इस प्रकार हैं - माधवी, संचिता, कादाम्बनी, मानवी, ज्योतिष्मती, सुमना, सागरिका, ग्रामिका, प्रेमांजलि, जगदालोक (महात्मा गाँधी पर लिखा गया महाकाव्य), विश्वगीत, शान्तिगीत, मीरा और आधुनिक कवि भाग 4। शान्तिगीत और मीरा को छोड़कर शेष सभी पुस्तकें प्रकाशित हैं।

ठाकुर साहब बाल्यकाल से ही भीड़-भाड़ से दूर रहते थे। उन्हें एकान्तवास में अधिक आनंद आता था। कहीं आना-जाना उनके अनुकूल न था। बहुत ही आवश्यक कार्य होने पर वे यात्रा करते थे एकान्त भगवत्प्रेम में तल्लीन रहना काव्य गुणों से युक्त कविताओं की रचना करना आपका दैनिक कार्य था। अभ्यागतों का सत्कार एवं परिवार की देखभाल और समय मिलने पर त्रिवेणी तट का दर्शन, यही आपकी जीवनचर्या थी।

आपका जीवन वस्तुतत: एक तपस्वी साहित्यकार का जीवन था। वे काव्य-रचना को सर्वाधिक महत्त्व देते थे। अपनी काव्य-रचना के समय के सम्बन्ध में ठाकुर साहब ने स्वयं लिखा है-''मेरी अधिकांश रचनाएँ रात को सोने से पहले लिखी गयी हैं। प्राय: ऐसा हुआ है कि मैंने रात्रि में कोई पद्य या गीत सोचकर अपने स्मृति पटल पर अंकित कर लिया है और दूसरे दिन प्रात: काल लिपिबद्ध कर दिया है।'' तात्पर्य यह कि ठाकुर साहब सोते समय में ही अधिकांश कविता लिखा करते थे। अखिल भारतीय कवियों में ठाकुर साहब का प्रमुख स्थान है। द्विवेदी-युग के तो प्रतिनिधि कवि थे ही। 2 अक्टूबर 1960 को आपका परलोकवास हो गया। आज ठाकुर साहब का पार्थिव शरीर नहीं है, किन्तु काव्य-रूपी शरीर विद्यमान है और युगों तक रहेगा। आप विन्ध्य-भूमि के अमूल्य रत्न हैं।

ठाकुर गोपालशरण सिंह की कुछ कृतियों से गृहीत कुछेक उद्धरण अवलोकनार्थ यहाँ दिए जा रहे हैं -

'माधवी' से -

मैंने कभी सोचा वह मंजुल मयंक में है,
देखता इसी से उसे चाव से चकोर है।
कभी यह ज्ञात हुआ वह जलधर में है,
नाचता निहार के उसी को मंजु मोर है।
कभी यह हुआ अनुमान वह फूल में है,
दौड़ कर जाता भृंगवृंद जिस ओर है।
कैसा अचरज है, न मैंने जान पाया कभी,
मेरे चित्त में ही छिपा मेरा चित्त-चोर है।।

आते जो यहाँ हैं ब्रज-भूमि की छटा वे देख,
नेक न अघाते होते मोद-मद-माते हैं।
जिस ओर जाते उस ओर मनभाये दृश्य,
लोचन लुभाते और चित्त को चुराते हैं।
पल भर को वे अपने को भूल जाते सदा,
सुखद अतीत-सुध-सिन्धु में समाते हैं।
जान पड़ता है उन्हें आज भी कन्हैया यहाँ।
मैया मैया टेरते हैं गैया को चराते हैं।।

'ज्योतिष्माँ' से- छिपी सदा रहती है मुझसे
अद्‌भुत शक्ति महान,
पर न कभी आता है उसका
मेरे मन में ध्यान।
X X
मैं हूँ मुक्त तथापि देखिए
क्या है मेरा हाल,
अखिल बन्धनों से रहता हूँ
बँधा हुआ सब काल।

'ग्रामिका' से - दुख से कब डरता है किसान ?
है शिशिर कपा देता शरीर,
चुभता-सा है शीतल समीर,
तो भी कभी, न होता अधीर,
वह बसन हीन भी कर देता,
है शीत-व्यथा का ध्वस्त मान,
है जीत चुका दु:ख को किसान।

कादम्बनी से - ''मेरे जीवन की मधुर साध।
सिंचित विलोचनों के जल से,
सुरभित उर-शतदल-परिमल से
जीवित केवल आशा-बल से,
अपराध बनी है निरपराध,
मेरे जीवन की मधुर साध!''

शिशु ने दुनिया में आकर
रो-रो कर हँसना सीखा,
लघु होकर बढ़ना सीखा
गिर-गिर कर चलना सीखा।

'प्रेमांजलि' से- प्राण न परिचित है जीवन से,
मन है परिचित नहीं हृदय से,

हृदय न परिचित है लोचन से,
उर की बात छिपी है उर में
मिला ज्ञान किसको सुरपुर से ?
तारे क्या बतला सकते हैं
वे हैं परिचित नहीं गगन से!

'जगदालोक' से-गान्धी जी की दिव्य साधना सफल हुई है अनुपम,
विजयी हुए विश्व में फिर से सत्य अहिंसा संयम।
हृदय-हृदय से उमड़ रहा है देश-प्रेम का सागर,
कंठ-कंठ से निकल रहा है राष्ट्र भावना का स्वर।

'विश्वशान्ति' से-मानव मानव से प्यार करे ?
उर में वह आत्म विकास करे,
जीवन में प्रेम प्रकाश करे,
मानवता में विश्वास करे,
जो आधि-व्याधियाँ हैं जग में
उनका समुचित उपचार करें।

कवि ने 'कामना' शीर्षक कविता में अपनी उदात्त भावनाओं का परिचय दिया है। उन्होंने कामना व्यक्त की है कि मैं पुष्पों के समान खिलकर सारे संसार को आनंदित कर दूँ। व्यक्ति को समष्टि के रूप में देखने की कल्पना की है। वस्तुत: जब तक व्यक्ति की पृथक्-पृथक् सत्ता स्थापित रहती है, तब तक देश की वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती। इसीलिए कवि ने अपने लघु जीवन को जग के विशाल जीवन में मिलाने की कामना अभिव्यक्त की है।

मिल जाय तरुणता मेरी जग के अनंत यौवन में।
लय हो मेरा लघु जीवन जग के विशाल जीवन में।।
जीवन-चिन्ता-सागर की लहरों में मैं लहराऊँ।
दुख-शैलों से टकराकर में कभी नहीं घबराऊँ।।

'मानवी' कविता संग्रह में कवि ने नारी के विभिन्न रूपों को देखा है। उनका मानना है कि मानव समाज में नारी का जीवन कितना कारुणिक है। प्रत्येक प्राणी जानता है। प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में स्पष्ट उल्लेख है कि आदिकाल में नारियों का यथेष्ट सम्मान रहा है। उनकी उपेक्षा नहीं थी। बल्कि गृह-लक्ष्मी के रूप में पूजा होती थी। किन्तु मानव-समाज ज्यों-ज्यों नवीन आलोक में आता गया और पाश्चात्य प्रभाव से आधुनिक सभ्य होता गया, त्यों-त्यों नारी के अधिकारों का अपहरण करता गया और पुरुषों ने नारियों को भोग्य वस्तु मान लिया। फलत: अधिकार का संघर्ष छिड़ गया। आज बींसवी शताब्दी की नारी परम्परा बद्ध पुरुष की अधीनता स्वीकार नहीं करना चाहती, परन्तु यह सब होते हुए भी महिला समाज की स्थिति शोचनीय है और पुरुष किंकर्तव्य है। आज नारी का रूप पुरुषों के लिए पहेली बन गया है। फिर भी वह नारी को समझने का प्रयास कर रहा है, किन्तु आज का समाज 'मानवी' के गूढ़तम भावनाओं को नहीं परख पाया है। क्योंकि उसमें भारतीय आदर्श का अभाव-सा हो गया है।

ठाकुर साहब ने 'मानवी' में नारी के विविध रूपों को पहचाना है और उसके हृदय तक पहुँचने का प्रयास किया है। कवि के शब्दों में 'मानवी' की प्रत्येक कविता में किसी-न-किसी सामाजिक समस्या की

ओर संकेत हैं। यद्यपि इन रचनाओं का सम्बन्ध मुख्यत: भारतीय समाज से है। किन्तु साधारणत: इस पुस्तक में समस्त संसार के नारी हृदय के भाव चित्रित हैं।'' वस्तुत: जिन कारणों से नारी का जीवन दु:खमय हो जाता है उसका प्रभाव संसार के समस्त नारी समाज में देखने को मिलता है। संसार की समस्त भाषाओं के साहित्य में नारी की दुरवस्थाओं का वर्णन मिलता है। जहाँ प्रेम का अभाव है वहाँ दाम्पत्य जीवन अभिशाप बन जाता है। इच्छा के विपरीत विवाह होने पर स्त्री की क्या दशा होती है ? इसका परिचय ''ब्रजबाला' शीर्षक कविता में मिलता है। विरह वर्णन केवल सामाजिक कुरीतियों एवं रुढ़ियों तक ही सीमित है। विधवाओं का कलंक उनके नेत्र जल से धुल जाय यह संभव नहीं है, उनकी आह भरी वेदनाओं से और भी गहरा हो जाता है। अत: धैर्य धारण करना ही उनके लिए एक आधार है।

''तू कभी नहीं कुछ कह सकती है,
चुपचाप सभी कुछ सहती है।
जग में रस धारा बहती है,
पर तू प्यासी ही रहती है।''

'मानवी' में कवि की करुण अनुभूतियों का चित्रण है। नारी-जीवन की समस्या केवल आधुनिक युग की समस्या नहीं है, बल्कि युगों से यह परंपरा चली आ रही है। उन्हीं परंपरागत भावनाओं से प्रभावित होकर कवि ने 'मानवी' का भावचित्र प्रस्तुत किया है -

''है स्वामिनी जगत के उर की प्रेम राज्य की रानी।
युग-युग के अगणित क्लेशों की तू है करुण कहानी।
मानव कुल को शक्ति-दायिनी तू है भव्य भवानी।
बनती है तू विश्वविजयनी ले आँखों में पानी।''

परदे के भीतर आंगनों में बंद रहने वाली स्त्रियों की क्या हालत है?उनका जीवन कितना विषादमय होता है? इसे क्या कोमल कलियों के सुन्दर रूप-रंग की ओर आकृष्ट होने वाले जानते हैं?बाह्य सौन्दर्य की ओर संसार आकृष्ट होता है, किन्तु उसके हृदय में छिपी हुई वेदनाओं को कितने लोग जानते हैं। स्त्रियाँ परदे के भीतर रह कर विविध व्यथाओं से व्यथित होकर सूने घरों में अश्रु-पात करती रहती हैं और संसार उनसे अनभिज्ञ रहता है।

गंगा-यमुना की धारा
बहती सूने सदनों में।
परदे के भीतर सागर
लहराता है नयनों में।
हैं गूंज रही परदे में
कितनी ही क्लेश-कथाएँ।
महलों के भीतर छिप कर
रहती हैं विविध व्यथाएँ।

कवि ने 'दुलहिन' शीर्षक कविता में उसकी आशाओं, आकांक्षाओं, हिचक, झिझक और निर्भीकता का वास्तविक वर्णन किया है। वस्तुत: 'दुलहिन' के स्वरूप में पत्नी का प्रारम्भ होता है। वह नये वातावरण में नये जीवन का श्री गणेश करती है। उस समय उसके मन में भांति-भांति की आशंकाएँ और सम्भावनाएँ रहती हैं। एक और संकोच और दूसरी और निर्भीकता, एक ओर शोक और दूसरी और सौन्दर्य

आदि का परिचय मिलता है -

'' श्रृंगार छिपा है उरमें, करुणा है भरी नयन में।
है शोक भरा मृदुमन में, लावण्य-लोक है तन में।
सुध स्नेह मूर्ति माता की है बारम्बार रुलाती।
पर नयी प्रीति आकर है सान्त्वना उसे दे जाती।''

पूजा और पुजापा प्रभुवर! इसी पुजारिन को समझो।
दान-दक्षिणा और निछावर इसी भिखारिन को समझो।।
मैं उन्मत्त प्रेम की प्यासी हृदय दिखाने आई हूँ।
जो कुछ है, बस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ।।
चरणों पर अर्पित है इसको चाहे तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो।।
- सुभद्राकुमारी चौहान

कुमार गंगानंद सिंह की हिंदी-सेवा

डॉ. ब्रजेन्द्र कुमार सिन्हा

बनैली बिहार के कोशी क्षेत्र का भूभाग है। यह वर्तमान पूर्णिया जिले में अवस्थित है। अंग्रेजों के जमाने में इसे इस्टेट कहा जाता था। ऐसे रजवाड़ों को राज्य रियासत और इनके प्रधान राजा या नरेश जाने जाते थे। काशी नरेश, दरभंगा नरेश, हथुआ नरेश जैसे नरेशों को पूरे देश में प्रचलित राज्य व्यवस्था के संचालक, या अधिपति, भूपति, स्वामी, आदि उपाधियों से अभिहित थे। यही जनता के भाग्य-विधाता होते, आश्रयदाता, संरक्षक, पोषक, पालनहार, जीवन-प्रदाता होते। इनके आश्रय में साहित्य, संस्कृति, शिक्षा को प्रश्रय ही नहीं राजाश्रयों में साहित्य के विकास को सुयोग प्राप्त हुआ है। हिंदी के साथ कई भाषाओं का विकास इनके पोषण से साहित्यकारों, कवियों, गायकों के माध्यम से होता रहा।

कवियों, कलाकारों एवं कृतिकारों के आश्रयदाताओं में दरभंगा, डुमराव, रामनगर, बनैली, हथुआ, अमांवा, मकसूदपुर, चौतरिया, टेकारी, सूर्यपुरा, श्रीनगर, गिद्धौर, जगदीशपुर, रामगढ़, नरहन, मझौलिया, सीतामढ़ी, बेतिया, मांझा, आदि रियासतों के अधिपति एवं भूपति विशेष रूप से उल्लेखनीय एवं सक्रिय रहे। तत्कालीन पूर्णिया के साहित्यकार श्री रूपलालजी द्वारा संगृहीत बनैली-पूर्णिया विषयक साहित्यिक इतिवृत्ति की स्थिति उनके अभाव में, प्रकाश में नहीं आ सकी।

बनैली इस्टेट की स्थापना का श्रेय स्व. कमलानन्द सिंह 'सरोज' के प्रपितामह राजा दुलार सिंह को जाता है। राजा दुलार सिंह के दो पुत्र वेदानन्द सिंह और रूद्रानंदसिंह सौतेले भाई थे। वेदानन्द सिंह साहित्यिक अभिरुचि के एक अच्छे लेखक रहे। इनकी कृतियों में 'वेदानन्द विनोद' चर्चित पुस्तक रही। राजा दुलार सिंह के द्वितीय पुत्र रुद्रानन्द सिंह के पाँच पुत्रों में एकमात्र पुत्र श्रीनन्द सिंह ने एक नगर की स्थापना की, जो श्रीनगर कहलाया। स्थान परिवर्तन से इनकी तीसरी धर्मपत्नी रानी जगरमा देवी से दो पुत्र हुए। प्रथम कमलानंद सिंह 'सरोज' और द्वितीय कालिकानंद सिंह।

राजदरबार में कमलानंद सिंह की शैक्षिक पठन-पाठन की व्यवस्था रही। बाल्यकाल की शिक्षा राजभवन में होती रही। राजभवन में ही 'चाणक्यनीति' और अमरकोष के श्लोकों का अभ्यास किया। विद्यालयीय शिक्षा का आरम्भ पूर्णिया जिला स्कूल से प्रारम्भ हुआ और मन्मथनाथ मुखर्जी के अभिभावकत्व में भागलपुर के जिला स्कूल में अध्ययन किया। वहाँ के प्रधान पंडित साहित्याचार्य पंडित अम्बिकादत्त व्यास 'सुकवि' के सम्पर्क से हिन्दी साहित्य की ओर उन्मुख हुए। बंगाली अभिभावक के साथ अन्य विद्वानों के सम्पर्क से बंगला, हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, मैथिली के स्वाध्याय से ज्ञानार्जन के साथ ख्याति परवान चढ़ी, तब इनकी साहित्यिक कृतियों के साथ इनके व्यक्तित्व के प्रकाश से आलोकित हुआ समस्त जनमानस, साहित्य जगत।

साहित्य रचना-धर्मिता के साथ अनेक व्यक्तियों की साहित्य साधना के उत्प्रेरक भी रहे। इनके दरबार में श्रीकान्त मिश्र कोइलख के सुप्रसिद्ध विद्वान पंडित खुदी झा, ज्योतिषी पं. परमेश्वरी दत्त मिश्र, वैदिक पंडित वासुदेव ठाकुर, श्रीविद्यानन्द ठाकुर आदि कई विद्वान आश्रित रहे। इनके आश्रय में ही पंडित श्रीकान्त मिश्र की संस्कृत में ''साम्ब कमलानन्द-कुल रत्न'' 15 भागों में प्रकाशित की गई थी। वहीं कवि लछिराम ने 'कमलानंद कल्पतरु' की अलंकार की रचना समर्पित की थी।

बनैली की राज्य परम्परा की दिशा को नया आयाम देने वालों में 'साहित्य-सरोज - कवि-कुलचन्द्र' कमलानंद सिंह 'सरोज' के सुपुत्र कुमार गंगानंद सिंह का नाम हिंदी एवं संस्कृत के यशस्वी विद्वानों में उल्लेखनीय है। कुमार गंगानंद सिंह की शिक्षा-दीक्षा उनके चाचा स्व. बनैली नरेश राजा श्रीकीर्त्यानन्द सिंह बहादुर के संरक्षण में हुई थी। वर्ष 1898 के 14 सितम्बर को पूर्णिया जिला के श्रीनगर में इनका जन्म हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा मुंगेर से प्रारम्भ होकर जिला स्कूल पूर्णिया में, तदुपरांत कोलकाता के प्रेसिडेन्सी कॉलेज, संस्कृत कॉलेज तथा कोलकात्ता विश्वविद्यालय में समाप्त हुई थी।

कोलकात्ता विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग में रिसर्च स्कॉलर के रूप में भरहुत शिलालेखों के आधार पर तत्कालीन इतिहास की रचना की जिसे कालान्तर में विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया।

देश-विदेश की अनेकानेक साहित्यिक, सामाजिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, एवं शोध-संस्थाओं के सम्मानित सदस्य रहे, जिनमें रॉयल सोसाइटी आफ ग्रेट-ब्रिटेन एण्ड आयरलैंड, रॉयल एशिआईटिक सोसाइटी, बंगाला एशिआईटिक सोसाइटी, बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी आदि के साथ साहित्यिक संस्थाओं में बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन, दरभंगा जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पूर्णिया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, बिहार संस्कृत परिषद्, बिहार संस्कृत समिति आदि के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं।

राजनीति के क्षेत्र में इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण ही है, जहाँ शिक्षा शास्त्री के रूप में पटना एवं संस्कृत विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध रहे, वहीं अखिल भारतीय हिन्दू महासभा एवं अखिल भारतीय कांग्रेस से जुड़े रहे।

भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में निर्वाची सदस्य के रूप में वर्ष 1923 से 1930 तक इनका कार्य अंकणीय रहा। यह सर्वाधिक उल्लेखनीय है कि 1957 में बिहार सरकार के शिक्षा मंत्री के पद को सुशोभित किया, जिसकी कालावधि, 18 फरवरी, 1961 तक रही। शैक्षिक उपलब्धियों में श्री कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में एक नयी दिशा दी। महाकवि विद्यापति के साहित्य का अनुसंधान, सम्पादन एवं प्रकाशन इनकी देख-रेख में हुआ है। एक महत्त्वपूर्ण बात इनके शिक्षा मंत्रित्वकाल में हुई। बिहार के शिक्षा विभाग में जिला स्तर पर जिला शिक्षा पदाधिकारी के साथ अनुमंडल शिक्षा पदाधिकारी के पद सृजित किये गये। यह एक परिवर्तनकारी कार्य रहा।

अंग्रेजी के साथ संस्कृत, हिन्दी, मैथिली के विद्वानों में इनकी उल्लेखनीय गणना आज भी है। अपने जीवनकाल में बिहार प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के स्थायी उपसभापति रहे। साहित्यिक क्षेत्र में इनके योगदान को वर्ष 1919 से स्मरणीय माना जाता है। इनके ही अध्यवसाय के फलस्वरूप हिन्दी भाषा को डाक-टिकट में स्थान मिला था।

इनकी कतिपय रचनाएँ 'बालक'' गल्पमाला'' महावीर', ''हिन्दूपंच', 'अभ्युदय', 'तेज' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। कुमार गंगानंदसिंह को विरासत में मिली थी काव्य-कला। इनके पिता राजा कमलानंद सिंह एक अच्छे साहित्यकार थे जो 'सरोज' उपनाम से कविता करते थे। मैथिली पत्रिका 'अभिव्यंजना' के पत्र-प्रतिनिधि से साक्षात्कार में उन्होंने स्वयं इस बात का खुलासा करते हुए कहा है- ''साहित्य के प्रति मेरी जो अभिरुचि जागी और प्रवर्धिति हुई उसका मुख्य कारण वह वातावरण है जिसमें मेरा लालन-पालन हआ। मेरे पिता महान साहित्य-रसिक और मर्मज्ञ थे। साहित्यकारों के लिए उनके मन में बड़ा स्नेह, आदर और सम्मान-भाव रहता था, इसलिए हमेशा दूर-दराज से साहित्यकार आते रहते थे। साहित्य चर्चा चलती रहती थी। अबाध-निरन्तर। .... मुझमें जब सज्ञानता आई तो इस ओर आकृष्ट हुआ, साहित्य चर्चा अच्छी लगती, रुचि बढ़ी, तब इन साहित्यकारों की संगति में अधिक-से-अधिक समय बिताने की कामना करने लगा।''

''मेरे पिताजी के पास तत्कालीन बहुत-सी पत्र-पत्रिकाएं आती थीं। रुचि तो जाग ही चुकी थी,

अत: आद्योपांत पढ़ जाता और आगामी अंक की प्रतिक्षा करता। पत्रिकाओं में कथा-कहानी और निबंध आदि जैसे पढ़ता, वह रुचिकर लगता और मन में यह भी इच्छा होती कि मैं इस तरह से लिख सकता हूँ कि नहीं ?''

''और यही प्रश्न मेरी साहित्यिक प्रेरणा का मूल बिन्दु है। लगभग पाँच दशक पूर्व 'युकिलिप्टस' नामक निबंध इलाहाबाद से प्रकाशित 'सरस्वती' (हिन्दी) में छपी और यही हमारी पहली रचना थी।'' (द्र. कुमार गंगानन्द सिंह - ले. सुरेन्द्र झा 'सुमन', अनु. कृष्ण मोहन मिश्र, पृ. 44).

और फिर साहित्य-सृजन का यह सिलसिला चलता ही रहा अबाध गति से। परिणामस्वरूप कहानी, निबंध, एकांकी, कविता, भाषणादि के रूप में प्रचुर मात्रा में रचित साहित्य सामने आया। ध्यातव्य है कि कुमार गंगानंदजी हिंदी के साथ-साथ अपनी मातृभाषा मैथिली में उत्कृष्ट रचनाएं किया करते थे। हिंदी तथा मैथिली की उनकी प्रमुख रचनाएं हैं- 'जीवन-संघर्ष', 'मनुष्य का मोल', 'विवाह', 'आम का बगीचा', 'बिहाडि', 'पण्डितपुत्र', 'पंच परमेश्वर', 'अगिलही' तथा अन्य गद्य निबंध-व्याख्यानमाला आदि।

कुमार साहब यद्यपि कविरूप में प्रसिद्धि नहीं पा सके परंतु जहाँ कवि सम्मेलन होता, उन्हें अध्यक्ष के रूप में सादर आमंत्रित किया जाता था। उनमें एक अति विशिष्ट प्रतिभा थी, वह थी उनका अध्यक्षीय भाषण, जो काव्यात्मक रूप में होता था, हिंदी में भी और मैथिली में भी-जहाँ जैसी परिस्थिति होती उसी के अनुसार। उदाहरण के लिए यहाँ दिया जा रहा है उनके भाषण 'कविता को खोज लाओ कविगण' का एक अंश -

''विपिन, जहाँ से प्रसारित हुई वेद-वाणी
जहाँ से प्राप्त कर नानाविध तत्व
होता था अजर, अमर प्राणी
आज ऋषिहीन हो, करता है विलाप
याद कर अपने लुप्त गौरव और महत्त्व को
नि:सन्तान विधवा समान, रिक्तता का अनुभव कर।
X X X
कविता को खोज लाओ, कविगण।
कहीं है खोई कृशकाय
सरस्वती धार सदृश किसी मरुभूमि में।'' (द्र. वही, पृ. 47)

अपनी भाषा-बोली के प्रति भी सचेत किया है जनता को कुमार साहब ने। विदेशी भाषा अंग्रेजी तथा अरबी-फारसी को नकारते हुए अपनी 'विवाह' कहानी में उन्होंने एक पात्र के मुख से कहलवाया है -''यह अंग्रेजी-फारसी हम नहीं समझते हैं जो कुछ कहना है अपनी बोली में साफ-साफ कहो।'' (द्र. वही, पृ. 72)

जैसाकि आमतौर पर होता है और यह होना भी चाहिए, राजा साहब को अपनी मातृभाषा से बहुत लगाव रहा है परंतु साथ ही उन्हें राष्ट्रभाषा भी उतनी ही प्यारी है। मातृभाषा मैथिली और राष्ट्रभाषा हिंदी के विषय में विचार व्यक्त करते हुए उनका कहना है कि-''मैथिली हिन्दी की उपभाषा कदापि नहीं है। तब रही प्रतिस्पर्धा की बात। मेरे मत में हिन्दी राष्ट्रभाषा (राष्ट्रीय सम्पर्क की भाषा) है और मैथिली हम सबकी मातृभाषा। दोनों का क्षेत्र और उपयोगिता भिन्न है। राजकीय कार्य के लिए हम लोगों को राष्ट्रभाषा का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। साथ ही-साहित्यिक भाषा जिन-जिन जगहों पर समाविष्ट होती है उन-उन जगहों पर मैथिली को स्थान अवश्य मिले। मैथिली, हिन्दी की श्रीवृद्धि करेगी, श्रीहीन नहीं। प्रतिस्पर्द्धा की

आशंका संकीर्ण विचार का परिचायक है।'' (द्र. वही, पृ. 70)

इस तरह देखा जाय तो कुमार गंगानंद सिंह एक ओर जहाँ राष्ट्रभाषा की उन्नति के लिए प्रयत्नशील हैं तो दूसरी और वे अपनी मातृभाषा में साहित्यरचना के लिए भी कटिबद्ध हैं। अपने इसी संकल्प की पूर्ति के लिए उन्होंने मातृभाषा मैथिली में भी कहानी, निबंध, कविता आदि की रचना की है।

कुमार गंगानंद सिंह के संरक्षक व चाचा राजा कीर्त्यानंद सिंह बहादुर भी हिंदी के प्रति बहुत उदार थे। आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन' के अनुसार-''हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति अगाध प्रेम होने के कारण आपने समय-समय पर अनेक संस्थाओं और साहित्य-सेवियों को आर्थिक सहयोग देकर प्रोत्साहन दिया था। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन पटना का भवन आप ही के नाम पर बना है, जिसके लिए आप के सुपुत्रों, कुमार श्यामानन्द सिंह और कुमार तारानन्द सिंह ने दस हजार रुपये प्रदान किए थे। आरा से प्रकाशित होने वाले 'मनोरंजन' नामक मासिक पत्र के प्राकाशनार्थ भी आपने दो हजार रुपये प्रदान किए थे और उसके सम्पादक पं. ईश्वरी प्रसाद शर्मा को उनकी 'रामचरित' नामक पुस्तक पर रेशमी वस्त्रों के साथ एक हजार रुपये का पुरस्कार भी दिया था।''(आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन'-दिवंगत हिन्दी-सेवी, प्र.खं., द्वितीय आवृत्ति, मार्च, 1983 पृ. 125)

वास्तविकता यह है कि बनैली के राजाओं ने राष्ट्रभाषा हिंदी का बहुविध उपकार किया है - स्वयं साहित्य की रचना करके और हिंदी के साहित्यकारों को प्रोत्साहन और पुरस्कार देकर। उनका यह योगदान सर्वदा स्मरणीय, संग्रहणीय एवं प्रशंसनीय रहेगा।

सखि भोर उठी बिन कंचुकी कमिनी कान्हर ते करि केलि घनी।
कवि ब्रह्म भने छवि देखत ही बलि जात नहीं मुख से बरनी।
कुच अग्र नखक्षत नाह दियो सिर नाथ निहारति यों सजनी।
ससिसेखर के सिर ते सुमनो निहुरे ससि लेत कला अपनी।।

– कवि 'ब्रह्म' राजा बीरबल

ओरछेश वीरसिंह जू देव 'द्वितीय' का हिन्दी भाषा की विकास यात्रा में योगदान

हरिविष्णु अवस्थी

काशी नरेश अनिरुद्ध के वंशजों ने बुन्देलखण्ड में अपनी सत्ता स्थापित की थी, जो बाद में बुन्देला शासकों के नाम से प्रसिद्ध हुए। बुन्देला शासकों को कुल परम्परा से ही कला और साहित्य के विकासात्मक मार्गदर्शन का गुण विरासत में प्राप्त होता रहा। रुद्र प्रताप ने ''वेत्रवती के वनाच्छादित, सुरक्षित वाएँ सूड़ा पर बैशाख सुदी 13 संवत् 1588 तदनुसार 1531 ई.को ओरछा दुर्ग का शिलान्यास कर नगर की तथा ओरछा राज्य की स्थापना की थी।'' (डॉ. काशीप्रसाद त्रिपाठी-बुंदेलखण्ड का वृहद इतिहास, पृ. 58)

कालंजर के प्राचीन दुर्ग में प्रशस्तियों की खोज करने में कृष्ण कुमार को एक प्रशस्ति रुद्रप्रताप की प्राप्त हुई थी। उन्होंने लिखा है कि-''सर्वाधिक बड़ा अभिलेख कालंजर के बुन्देल शासक श्री प्रताप रुद्र देव की संस्कृत प्रशस्ति है, जिसकी रचना श्री ज्ञानदास के पुत्र कवि दुर्गादास द्वारा संवत् 1543 में की गई। यह अभिलेख एक विशाल आयताकार लाल बलुआ प्रस्तर खण्ड पर उत्कीर्ण है, जो कालंजर दुर्ग में 'कीटितीर्थ' नामक सरोवर के पूर्वोत्तर कोण में स्थित 'पथर महलामसजिद' के भीतरी भाग : चेम्बर (अंग्रेजी-पुलपिट) के नीचे एक सकरे मार्ग की पूर्वी दीवार में तिरछा चुना हुआ है। ......24 पक्तियों का यह अभिलेख उत्तर मध्यकालीन नागरी लिपि में सुन्दर अक्षरों में उत्कीर्ण है (डॉ. सुधा गुप्ता - भारतीय इतिहास के कुछ पहलू, डॉ. भगवानदास गुप्त स्मृति ग्रंथ, पृ. 12-13) ''श्लोक 31 में प्रताप रुद्र देव द्वारा वैदर्भी पांचाली एवं गौड़ीय रीति से काव्य रचना का उल्लेख है।'' (वही, पृ. 17) स्पष्ट है कि ओरछा राज्य के संस्थापक स्वयं सिद्ध कवि थे।

''विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में ओरछा दरबार ने साहित्य की जो बेल रोपी, उसके सुमनों में से ही हरी राम व्यास ने भक्ति भाव, मित्र मिश्र ने पांडित्य और केशव ने आचार्यत्व की गरिमा और काव्य के चमत्कार रूपी जो सुरभि बिखेरी उससे जनमानस आप्लावित हो उठा। प्रवीन राय का नृत्य, संगीत काव्य रस से सराबोर हो गया और उसका व्यक्तित्व भी अनोखा हो गया।'' (वीरेन्द्रशर्मा, संपा. स्मारिका, बुनियादी प्रशिक्षण संस्था कुण्डेश्वर, पृ. 35).

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में स्थापित साहित्य, संगीत की यह परंपरा साढ़े तीन सौ वर्षो तक अक्षुण्ण बनी रही भले ही इसकी गति में अनेक उतार-चढ़ाव आते रहे हों। साहित्य उन्नयन की इस स्थापित परंपरा को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने का श्रेय ओरछेश वीर सिंहजू देव द्वितीय (1930-56 ई.) को जाता है। अपने पितामह प्रताप सिंहजू देव के ब्रह्मलीन होने पर उन्होंने दिनांक 3 मार्च 1930 ई. को राजभार ग्रहण किया था।

आप बड़े ही विद्यानुरागी, हिन्दी प्रेमी, प्रजावत्सल और सुरुचि सम्पन्न महाराजा हैं। आपकी विद्वत्ता और सुप्रबंधकता प्रशंसनीय है। सिंहासनारूढ़ होते ही आपने अनेक सुधारों को आरंभ किया था। अपने शासन के प्रथम दिन ही उन्होंने जो आज्ञाएँ प्रकाशित कीं, उनमें से कुछ निम्न प्रकार की हैं -

1. राज्य की भाषा शुद्ध हिन्दी होगी।
2. राज्य में छुआछुत दण्डनीय अपराध होगा।
3. बिना मजदूरी अथवा कम मजदूरी देकर बेगार में काम लेने की प्रथा राज्य में समाप्त की जाती है।
4. राजा के सामने लोग किसी पोशाक में नंगे सर आ सकते हैं, छाता लगा सकते हैं।
5. बाल विवाह करना राज्य में दण्डनीय अपराध माना जायेगा।''

(पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, संपा. ओरछेश स्मृति, पृ. 65)

जू देव के जन्मोत्सव पर श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् आपके ही संरक्षण में 15 अप्रैल 1930 ई. तदनुसार वैशाख कृष्ण द्वितीया संवत् 1987 वि. में राय बहादुर श्री पं. श्याम बिहारी मिश्र एम.ए. 'मिश्र बन्धु' दीवान (अब प्रधान मंत्री ओरछा) द्वारा संस्थापित हुई थी।'' (पं. गौरी 'शंकर' संपा. श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् की द्वितीय वार्षिक रिपोर्ट, सं. 1988 वि. (सन् 1931-32), पृ. 4) एक सितम्बर 1930 को देवेन्द्र साहित्य विद्यालय की स्थापना टीकमगढ़ में की गई। इस विद्यालय में हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद द्वारा आयोजित हिन्दी साहित्य की विभिन्न परीक्षाओं हेतु अध्ययन की समुचित व्यवस्था की गई। इसका प्रधानाचार्य पं. बालकृष्ण देव तैलंग को नियुक्त किया गया।

श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् की सक्रियता, और बढ़ती सदस्य संख्या के फलस्वरूप साहित्य अध्ययन की समुचित व्यवस्था हेतु एक पुस्तकालय एवं वाचनालय की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। जिसकी व्यवस्था ओरछेश द्वारा 18 अक्टूबर सन् 1930 ई. को देवेन्द्र पुस्तकालय एवं 'सुधा बाचनालय' का शुभारंभ कर की गई। धीरे-धीरे साहित्यिक अभिरुचि में वृद्धि के साथ अध्येताओं द्वारा गद्य एवं पद्य में लेखनकार्य आरंभ हो गया। इसके प्रकाशन की समस्या सामने आ खड़ी हुई। इसका हल भी स्थानीय सवाई महेन्द्र हाई स्कूल में सन् 1932 ई. में 'वीरेन्द्र लिटेरेरी क्लब' की स्थापना कर उसके माध्यम से मासिक 'वीर बुन्देल' के प्रकाशन की व्यवस्था कर ढूंढ़ लिया गया। समकालीन विद्वान आचार्य प्रवर पं कृष्ण किशोर जी द्विवेदी के अनुसार- ''संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'वीर बुन्देल' में उस समय भी वह सब कुछ था, जिसकी हम आज अपेक्षा करते हैं।'' (डॉ. कांति कुमार जैन, संपा. ईसुरी 91-92 स्मारिका पृ. 12)

''ओरछा नरेश की सारी जिंदगी हिन्दी और हिन्दी साहित्यकारों की सेवा के लिए समर्पित रही। उन्होंने न केवल हिन्दी के साहित्यकारों, साहित्यिक परंपराओं और साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं को विस्तार का मुक्त आकाश प्रदान किया बल्कि हिन्दी के तकनीकी पक्ष को भी मजबूत करने के लिए स्वयं योगदान दिया। सत्ता संभालने के दो वर्ष बाद ही उन्होंने झाँसी में सन् 1932 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आयोजन करवाया। इस सम्मेलन के संयोजक वृन्दावन लाल वर्मा को उन्होंने हर प्रकार से सहायता की।'' (मृणाल पाण्डेय- संपा. कादम्बिनी मासिक, सित- 2003, पृ. 113)

ओरछेश द्वारा निरंतर मिल रहे प्रोत्साहन एवं वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् की बढ़ती सक्रियता का परिणाम थोड़े ही समय में सामने आने लगा। नई युवा पीढ़ी में तो जागरूकता आई ही पुरानी पीढ़ी भी कुछ चेतन्यता का अनुभव करने लगी। देश में चल रहे स्वतंत्रता आन्दोलन की बयार का प्रवेश भी राज्य की सीमाओं में परिलक्षित होने लगा। इस स्थिति को भाँप कर एक अधिकारी ने 'मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त 'की युक्ति को चरितार्थ करते हुए ओरछेश से शिकायत के ढंग पर कहा-'' श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् द्वारा बड़ा अनर्थ हो रहा है, वहाँ कितने ही अखबार आने लगे हैं, बाहर की हलचलें पढ़-पढ़ कर यहाँ के लड़के कानाफूसी करने लगे हैं। कुछ कड़ा कदम उठाना होगा।"

ओरछेश ने अट्टहास करते हुए कहा-''हजरत ! किस युग की बात कर रहे हो ?परिषद् ने राज्य में नवयुग का संचार किया है। प्रकाश की किरणों से अंधकार अपने आप दूर हो जाता है। अनर्थ नहीं

प्रशंसनीय कार्य हुआ है-राज्य में प्रभात आया है।" (पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, संपा. ओरछेश स्मृति ग्रंथ, पृ. 65)

आचार्य पं. कृष्ण किशोर जी द्विवेदी के अनुसार-"श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् , देवेन्द्र साहित्य विद्यालय तथा ''वीर-बुंदेल'' के माध्यम से ओरछा राज्य में ऐसा साहित्यिक वातावरण निर्मित हुआ जो उस काल में अन्यत्र दुर्लभ था। इस उपलब्धि के कारण ओरछा राज्य अन्य देशी राज्यों की ईर्ष्या का कारण बना।'' (द्र. ईसुरी, पृ. 11)

राज्य की राजभाषा हिन्दी घोषित कर देने मात्र से ओरछेश निश्चिंत नहीं हुए। उन्होंने इस बात का भी पूरी तरह ध्यान रखा कि राज्य के मंत्रियों, अधिकारियों, कर्मचारियों द्वारा राज-काज में हिन्दी भाषा का प्रयोग किया जा रहा है अथवा नहीं। हुआ यह कि एक अधिकारी ने अँग्रेजी में रिपोर्ट लिखकर महाराजा साहब के पास भेज दी। उस रिपोर्ट को पढ़कर उन्होंने लिखा- ''मेरी कई बार आज्ञा हो चुकी है कि नागरी लिपि का ही प्रयोग होना चाहिये। परन्तु फिर भी यह रिपार्ट अंग्रेजी में लिखी गई है। बैताल ने ठीक ही लिखा है कि -''बैताल कहें विक्रम सुनो चतुर चुप्प कैसे रहे।'' (ओरछेश स्मृति ग्रंथ, पृ. 76)

इसी प्रकार की एक घटना और घटी। श्री गोविन्द प्रसाद बख्शी एक्साइज कमिश्नर के पद पर कार्यरत थे। उन्होंने एक पत्र महाराजा साहब के नाम भेजा। लिफाफे पर प्रेषक के स्थान पर लिखे हुए 'अज' शब्द को घेरकर उन्होंने राज्य के चीफ एडवाइजर पं. श्याम बिहारी मिश्र (मिश्र बन्धुओं में अग्रज) के पास भेजकर लिखा-"अज बकरा कहलाता है पात तोड़ कर खाता है। दुहाई मिश्र बन्धु की ये एक्साइज कमिश्नर आयुक्त हिन्दी की हरी-भरी क्यारी को बकरा बन कर चरे जा रहे हैं। बचाइये।'' (कमला प्रसाद, संपा. बुंदेलखण्ड की विरासत ओरछा, पृ. 13)

संवत् 1990 वि. सन् 1933 ई. में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का अभिनंदन समारोह काशी में आयोजित हुआ था। समारोह की अध्यक्षता ओरछेश वीर सिंह जूदेव ने की थी। इस अवसर पर उन्होंने जो घोषणा की थी उसका उल्लेख करते हुए श्री रायकृष्ण दास जी ने लिखा है- ''सोलहवीं शती में जो नव जीवन तरंगित हो रहा था, उसमें बुन्देलखण्ड के महाराज वीर सिंह जू देव (प्रथम 1605-27 ई.) का विशेष स्थान है। हिन्दी कविता में रीति शैली के जन्मदाता आचार्य केशवदास उन के यहां राजकवि थे। इसी बुंदेल वंश के समुज्ज्वल रत्न वर्तमान ओरछा नरेश सवाई महेन्द्र महाराजा वीर सिंह देव के.सी.एस.आई हैं जिनका हिन्दी प्रेम सराहनीय है। सं. 1900 वि. में द्विवेदी अभिनंदन उत्सव के सभापति के आसन से काशी में महाराज ने 2000/वार्षिक हिन्दी सेवा के लिए राज्य की ओर से देने की घोषणा की थी। इसी घोषणा का मूर्तरूप 'देव पुरस्कार' है जिसमें 2000/- वार्षिक एक साल ब्रजभाषा के, दूसरे साल खड़ीबोली के सर्वोत्तम काव्य पर दिया जाता है।" (रायकृष्णदास, भारतीय मूर्तिकला, पृ. 9)

''सन् 1934 का वर्ष तो हिन्दी साहित्य संसार के इतिहास में अविस्मरणीय एवं अमर रहेगा जब ओरछेश श्री वीरसिंह जू देव ने 'देव पुरस्कार' की घोषणा श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर की थी। महाराज ने कहा था : 'अपनी भाषा की सेवा करना हम सब का कर्तव्य है। हमारी भाषा ही हमारे भावों और संस्कृति की धात्री है। इसी उद्देश्य की किंचित पूर्ति के लिए आचार्य द्विवेदीजी (पं. महावीर प्रसाद जी) के अभिनंदन के अवसर पर काशी में मैंने कुछ पत्र-पुष्प राज्य की ओर से वार्षिक रूप में भेंट करने का निश्चय किया था और यह भी निवेदन किया था कि उसके नियम इस वसन्तोत्सव पर प्रकाशित किये जायेंगे। तदनुसार आज में आप लोगों के सम्मुख उपस्थित करता हूँ।

'देव पुरस्कार' प्राप्त करने का गौरव सर्वप्रथम श्री दुलारे लाल भार्गव लखनऊ को उनकी कृति 'दुलारे दोहावली' पर प्राप्त हुआ था। इसके पश्चात् अनेक साहित्यकारों यथा डॉ. रामकुमार वर्मा, श्री श्याम नारायण पाण्डेय, डॉ. गोपाल शरण सिंह, यशपाल जी, श्री माखनलाल चतुर्वेदी प्रभृति विद्वानों को इस पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 'वीर सिंह देव पुरस्कार' संक्षिप्त नाम' देव पुरस्कार' वर्तमान समय में

मध्य प्रदेश शासन द्वारा साहित्य अकादमी, म.प्र. संस्कृति परिषद् भोपाल के माध्यम से प्रतिवर्ष अखिल भारतीय स्तर पर 51,000 का दिया जाता है।

''श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद्, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की स्थायी समिति की सदस्य थी। सन् 1935 ई. में जब वर्धा (गुजरात) में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग का वार्षिक अधिवेशन था, परिषद् के प्रतिनिधि के रूप में टीकमगढ़ से श्री पं. गौरी शंकर द्विवेदी 'शंकर' उसमें सहभागिता हेतु गये थे। उन्होंने वहाँ पूज्य बापू जी महात्मा गाँधी जी से भेंट की थी। पं. गौरी शंकर द्विवेदी ने लिखा है कि 'बुन्देल वैभव' में ओरछेश का चित्र देखकर महात्माजी ने कहा था- ''यह संतोषजनक है। ओरछा हिन्दी के लिए बहुत काम कर रहा है। वहाँ के नरेश हिन्दी प्रेमी हैं। ऐसा मालूम होता है।" लेखक ने जब ओरछेश की हिन्दी सेवाओं का विवरण बापू को सुनाया तो वे और अधिक प्रसन्न हुए।'' (विभूति मिश्रा, संपा. हिंदी की विकास यात्रा और हिंदी सेवी संस्थाएँ, पृ. 955)

ओरछेश वीर सिंह ने स्वयं बापू जी से भेंट की थी। बिना किस भय के कारण ब्रिटिश साम्राज्य में किसी नरेश की बापू जी से भेंट करना ब्रिटिश शासन के विरुद्ध खुली अराजकता थी। उन्होंने टीकमगढ़ से दिनांक 20/10/36 को मुंशी अजमेरीजी को जो पत्र लिखा था, उसमें बापू जी से भेंट करने के संबंध में लिखा है-''तो इस चल फिर में बापू जी से भी भेंट हुई और काका कालेलकर जी से भी। नहीं, अभी तक कालेलकर जी का कोई पत्र नहीं मिला। संभव है वे भूल गये हैं। बापू से तो कई व्यक्ति रोजाना मिलते रहते हैं। किस-किस का उन्हें स्मरण रहे। अत: कोई आश्चर्य नहीं कि उन्हें मेरा स्मरण भूल गया हो।.....'' (ओरछा स्मृति ग्रंथ, पृ. 140)

वीर सिंहजू देव का ध्यान प्रशासनिक सुधारों की ओर भी सदैव बना रहता था। वह भली प्राकर जानते थे कि देश से ब्रिटिश हुकूमत की बिदाई सुनिश्चित है। राज्य की जनता को प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली से परिचित कराने, उसका अनभुव कराने हेतु राज्य में उन्होंने उसकी व्यवस्था की। 15 अप्रैल 1939 ई. को जब श्रीमान ओरछा नरेश अपने राज्य में टप्पा(एक छोटी प्रशासनिक ईकाई), प्रजा मण्डल,ओरछा प्रजामण्डल तथा राज्य परिषद् की स्थापना की घोषणा की थी।

विधिवत निर्वाचन के पश्चात् प्रथम अधिवेशन 4, 5, 6 मार्च सन् 1940 ई. को टीकमगढ़ में हुआ था। श्री महाराजा साहब के निम्नलिखित शब्द अब भी हमारे कानों में गूँज रहे हैं। ''मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपने-अपने टप्पों की तथा राज्य की परिस्थिति के अनुसार साधनों को जुटाने में अग्रसर हों जिससे प्रजा की आर्थिक और नैतिक उन्नति हो। इन कार्यो के लिए आन्दोलन करने की आवश्यकता है और प्रजा के निर्वाचित तथा विश्वास पात्र सदस्य होने के कारण आप लोगों को आन्दोलन करने का सबसे अच्छा अवसर प्राप्त है। अपनी दशा सुधारने के लिए बाहर से सहायता की आशा करना बड़ी भूल है, क्योंकि हम अपनी परिस्थित को जितना खुद जान और समझ सकते हैं इतना दूसरे लोग नहीं समझ सकते। इसीलिए हमारा यह धर्म है कि हम अपनी परिस्थिति की अच्छी तरह जाँच करें, लोगों में लोकोपकार की लहर पैदा करें और प्रजा में इतनी शक्ति पैदा करें कि वह अपने राज्य के हित-अनहित का ज्ञान प्राप्त कर उपयोगी साधनों की खोज करे।" (पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, संपा. 'मधुकर' पाक्षिक, 15 दिस. 1940)

एक अक्टूबर 1940 ई. से पं. बनारसीदासजी चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में 'मधुकर' पत्रिका का शुभांरभ श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् द्वारा आरंभ हुआ। मधुकर के प्रवेशांक के सम्पादकीय में चतुर्वेदी जी ने लिखा था-'' श्री वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् के कार्यकर्ताओं की यह इच्छा बहुत दिनों से थी कि परिषद् की ओर से कोई पत्र निकाला जाय, पर विशेष परिस्थितियों के कारण यह अभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकी थी। आज जब मधुकर का जन्म हो रहा है हमारा कर्त्तव्य है कि परिषद् के भूतपूर्व कार्यकर्ताओं के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करें, क्योंकि मुख्यतया उन्हीं की साधना का यह फल है कि इस राज्य में पत्र निकालने के लिए उपयुक्त वायुमंडल तैयार हो सका है।'' (वही, प्रवेशांक, 1 अक्टू. 1940, पृ. 1)

पं. बनारसीदास जी ने लिखा है कि उन्होंने (ओरछेश वीर सिंहजू देव) मुझसे कहा था- चौबे जी ! अगर तुमने मधुकर में मेरी तारीफ में एक भी शब्द लिखा तो याद रखो मैं ललितपुर से तुम्हारा टिकिट कटवा दूँगा।..... उन्होंने मेरी प्रार्थना पर हजारों ही रुपये साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यो पर व्यय किये थे। यदि उनको जोड़ा जाय तो कई लाख बैठेगा।'' (ओरछेश स्मृति ग्रंथ, पृ. 15)

सुविख्यात स्वतंत्रता सेनानी चन्द्रशेखर आजाद का गुप्त निवास ओरछा में लगभग 2 वर्ष तक रहा। तत्कालीन मुख्य वनसंरक्षक ओरछा राज्य श्री हरबलसिंह ने लिखा है कि-''महाराजा साहब को मैंने यह सूचना देना आवश्यक समझा था कि चन्द्रशेखर आजाद ने हमारे राज्य में शरण ली है। महाराज वीर पुरुष थे और उन्हें इस बात से कुछ भी डर नहीं लगा था कि यदि ब्रिटिश सरकार को पता लग गया कि आजाद हमारे राज्य में छिपे हैं तो वह क्या कार्यवाही करेगी।" (वही, पृ. 91-92)

पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के कुण्डेश्वर निवास तो क्रांतिकारियों की शरण स्थली बन गया था। श्री चतुर्वेदी जी ने लिखा है कि-जब प्रोफेसर रंजन (यह कल्पित नाम था) फीरोजाबाद पधारे तो मैंने उन्हें कुण्डेश्वर आकर शरण लेने की सलाह दी थी। वे अजमेर जेल का फाटक तोड़ कर भी भागे थे। कई महीने वे हमारे पास रहे। श्री चन्द्र अग्निहोत्री, जो आगे चल कर सोवियत भूमि में नौकर हुए, हमारे यहां छिपे रहे। मऊ (आजमगढ़) के भी एक युवक छिपे रहे थे। श्री बिहारीलाल विश्वकर्मा सरीला ने भी टीमकगढ़ में शरण पाई थी। कविवर मिश्र जी के जामाता ने भी फौजी नौकरी से भाग कर कुण्डेश्वर में शरण ली थी। उनका नाम मैंने बिहारी लाल रखा था।

जब मेरे नाम बिहार तथा यूपी. दोनों प्रदेशों की सरकार के वारण्ट थे, महाराजा ने मुझे ब्रिटिश सरकार के सुपुर्द नहीं किया। मैंने उनसे कहा भी था ''मुझे जेल जाने दीजिये, आप राज्य को संकट में क्यों डालते हैं?'' उस पर महाराज ने कहा ''तुम जेल से जिन्दा नहीं निकलोगे। वहाँ चार बजे चाय और पेड़ों का प्रबन्ध कौन करेगा....... पंडित चन्द्रसेन ने स्वयं मुझ से कहा था आपके नाम तो सिर्फ दो जगह के वारंट हैं लाला राम बाजपेई के नाम चार जगह के........" (वही, पृ. 17-18)

वर्तमान ओरछेश मधुकर शाहजू देव ने लिखा है कि-''मेरी दादी महारानी कमला देवी (विधवा श्री वीर सिंह देव) कहा करती थीं-''उन दिनों प्राय: महाराज से राज्य के हाकिम पूछते थे कि उन्होंने 'कॉंग्रेसी साँप' क्यों पाल रखा है ?लेकिन जब रियासतें विलीन हुई तो सब खुदगर्ज हाकिम स्वयं छोड़कर चले गए। मगर आखिरी समय तक दादाजी (पं. बनारसी दास चतुर्वेदी) का श्री वीरसिंहजूदेव से वही स्नेह बना रहा।'' (रामसिंह तोमर, संपा. विश्वभारती पत्रिका अप्रैल 1993 मार्च 1994, पृ. 113)

मधुकर प्रकाशन के फलस्वरूप सम्पादक के पास लोकसाहित्य संबंधी प्रचुर सामग्री संकलित हो चुकी थी। इस अवशिष्ट सामग्री के समुचित उपयोग हेतु जून 1944 में लोक साहित्य परिषद् की स्थापना हुई, जिसका सचिव श्रीकृष्णानंद गुप्त को बनाया गया तथा वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ. बैरियर एलविन, पं. राम नरेश त्रिपाठी तथा एन.सी. मेहता इसके सदस्य मनोनीत किये गये। लोक साहित्य परिषद् के माध्यम से 'लोकवार्ता' त्रैमासिक का प्रकाशन श्रीकृष्णानंद गुप्त के सम्पादकत्व में माह जून 1944 से आरंभ हुआ।'' (बुंदेलखण्ड की विरासत ओरछा, पृ. 21)

''15 अगस्त 1947 को अंग्रेजों ने भारत को स्वतंत्र कर दिया। तब ओरछेश महाराजा वीर सिंह देव ने यह मानते हुए कि जब तक प्रजा (जनता) उन्हें अपना राजा मानती है एवं उनकी आज्ञाओं, आदेशों एवं कानूनों का पालन करती है तब तक ही वह राजा हैं। जनता का दमन एवं खून खराबा भी उचित नहीं। इस सोच के साथ उन्होंने सन् 674 ई. में प्रारंभ हुए, राज्य की सत्ता 17 दिसम्बर 1947 को भारत के 562 देशी नरेशों, राज्यों में सर्वप्रथम जनता के लीडर (प्रतिनिधि) पं.लालाराम वाजपेयी को सौंप दी थी।" (डॉ. काशी प्रसाद त्रिपाठी, ओरछा राज्य-इतिहास और विरासत, पृ. 9)

''भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद 28 मार्च सन् 1953 ई. में टीकमगढ़ पधारे थे। उन्होंने

ओरछेश वीरसिंहजूदेव का आतिथ्य स्वीकार किया था। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की मूर्ति का अनावरण करते समय स्थानीय राजेन्द्र पार्क में वीर सिहंजू देव की हिन्दी के प्रति की गई सेवाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।''(बुंदेलखण्ड की विरासत, ओरछा, पृ. 22)

7 अक्टूबर 1956 ई. को मुंबई में श्री वीरसिंहजू देव का स्वर्गवास हो गया। राजसत्ता के परित्याग के पश्चात् अपनी मृत्युपर्यन्त वह कभी किसी भी तरह की सत्ता के मोह में नहीं पड़े । पठन-पाठन में अपना समय लगाया। ओरछा नरेश की सारी जिन्दगी हिन्दी और हिन्दी के साहित्यकारों की सेवा हेतु समर्पित रही।

पं. बनारसीदासजी चतुर्वेदी द्वारा संपादित एवं सन् 1979 ई. में प्रकाशित ओरछेश स्मृति ग्रंथ की भूमिका में श्री श्रीनारायण जी चतुर्वेदी ने लिखा था-''हिन्दी के ऐसे महान उन्नायक और योग्य सेवक को विस्मृत कर देने पर हम हिन्दी वालों पर अकृतज्ञता का सही आरोप लगाया जा सकता है। वे एक नरेश थे इसलिए उनकी हिन्दी सेवाओं पर हरताल फेर दी जाय यह तर्क मेरे गले नहीं उतरता, हम हिन्दी वाले यदि उन जैसे सर सयाजी गायकवाड, महाराजा विश्वनाथ सिंह, केशव के आश्रयदाता वीरसिंह देव और अंतिम ओरछेश की हिन्दी-सेवाओं की प्रति कृतज्ञता ज्ञापित नहीं करते तो अकृतज्ञता के दोषी होंगे।" (ओरछा स्मृति ग्रंथ, पृ. 4-5)

जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।
स हेतु सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च।

जिस प्रकार नल से गिरने वाली पानी की एक-एक बूँद से धीरे-धीरे सारा मटका भर जाता है, उसी प्रकार एक-एक अक्षर प्रतिदिन पढ़ने से मनुष्य एक दिन विद्वान्, एक-एक पैसा जोड़ने से धनवान् तथा थोड़ा-थोड़ा धर्मानुष्ठान करने से धार्मिक प्रवृत्ति का बन जाता है। अतः इस विषय में थोड़े को बहुत समझकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

चाणक्य नीति

राष्ट्रभाषा-उपासक : रा.कु. रणवीर सिंह

डॉ. किरन पाल सिंह

राजकुमार रणवीर सिंह का जन्म भूपति भवन अमेठी में 21 जुलाई सन् 1899 में हुआ था। राजा भगवान बख्श सिंह के द्वितीय पुत्र थे। एक भाई उनसे बड़े थे युवराज जंगबहादुर तथा दो छोटे थे - रणन्जयसिंह और शत्रुन्जय सिंह। उनकी एक बहन भी थी। उनके पिता धर्मज्ञ थे और विद्या अनुरागी भी। उन्होंने कई विद्यालय और चिकित्सालय भी बनावाये थे। वे स्वयं धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष आदि के प्रकाण्ड पंडित थे। अत: उन्होंने सभी राजकुमारों को अच्छी शिक्षा दिलाने की विशेष व्यवस्था की। राजप्रासाद में ही रणवीर सिंह जी की शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबंध किया गया। संस्कृत-अंग्रेजी आदि की उच्च शिक्षा देने के लिए अच्छे विद्वानों को नियुक्त किया गया। बाद में उन्हें लखनऊ के काल्विन ताल्लुकेदार कॉलेज में उच्च शिक्षा हेतु प्रवेश दिलाया। विलक्षण बुद्धि पाई थी उन्होंने, शीघ्र ही संस्कृत, अंग्रेजी, हिंदी, फ़ारसी आदि भाषाओं का उत्कृष्ट ज्ञान अर्जित कर लिया तथा माँ सरस्वती की अनुकंपा से 11 वर्ष की आयु में ही कविता और उपन्यास लिखने लगे थे। अद्‌भुत वाक् शक्ति मिली थी उन्हें। हिंदी-अंग्रेजी में भाषण देने में अत्यंत कुशल थे।

कम आयु में ही एक योग्य कवि का दर्ज़ा प्राप्त कर लिया था राजपुत्र रणवीर सिंह ने। हिंदी गद्य-पद्य रचनाओं के साथ संस्कृत में भी काव्य रचा है उन्होंने। 19 वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'आत्म परिचय' शीर्षक के अंतर्गत कई पद लिखे, जिनमें-से दो को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। प्रथम कवित्त में अमेठी राज्य तथा अपने पिता राजा भगवान बख्श सिंह का यशोगान है तथा द्वितीय में स्वयं का। देखिये पहला पद -

''मर्यादा पुरुषोत्तम राम जी की जन्म भूमि,
निकट अयोध्या के सुलतानपुर जिला है।
उसी में अमेठी एक राज्य आठ लाख का है,
रामनगर में श्री नरेश्वर का किला है।।
एक पत्नीव्रत भूप भगवान बख्श सिंह,
राज्य करते हैं, प्रजोद्यान खूब खिला है।
ईश्वर की महती कृपा से उन्हें पुत्र पौत्र,
धन धान्य और सब भाँति सुख मिला है।''

(द्र. कविता-कंकोष : राजकुमार रणवीर सिंह, पृ. 127)

दूसरे पद में स्वयं का परिचय है -

''राजा का द्वितीय पुत्र मैं हूँ, 'रणवीर सिंह'
मेरा नाम है, अभी तलक ब्रह्मचारी हूँ।
छात्र हूँ, अवस्था मेरी उन्नीस बरस की है,

हिन्दी का अनन्य भृत्य और हितकारी हूँ।।
भारत का भक्त, आर्य धर्म अनुरक्त और,
धृष्टता क्षमा हो शुद्ध वीर रक्तधारी हूँ।
कविता का सेवक और प्रेमी, दृढ़ आर्य हूँ मैं,
सूर्यवंशी क्षत्रिय निरामिष आहारी हूँ।।''
(द्र. दिवंगत हिन्दी-सेवी-आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन, पृ. 409, प्र.खं., द्वि.सं. मार्च 1983)

हिंदी के ऐसे प्रतिभाशाली रचनाकार को क्रूर काल ने असमय ही, 7 फरवरी, 1921 को केवल 22 वर्ष की आयु में ही निगल लिया। यह राजपरिवार, अमेठी राज्य और उसकी प्रजा पर ही वज्राघात नहीं हुआ, वरन् हिंदी-जगत् भी इस उगते साहित्य-सूर्य ही आभा-प्रभा से वंचित हो गया।

रचनाएँ :- राजकुमार रणवीर सिंह ने दस-ग्यारह वर्ष की आयु से ही लिखना प्रारंभ कर दिया था और अपने जीवन के अंत समय, अर्थात् 22 वर्ष की अवस्था तक लिखते ही रहे। इस ग्यारह वर्ष के अंतराल में कविता, उपन्यास, निबंध एवं अन्य आलेखन पर उनकी लेखनी निरंतर गतिशील रही। इस प्रकार उन्होंने दो दर्जन से अधिक पुस्तकों की रचना की, जिनमें कुछ प्रकाश में आई और कुछ अप्रकाशित ही रह गई। अपनी रचनाओं और लेखन के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है -

''ग्यारह बरस की उम्र से पुस्तक बनाने मैं लगा,
एवं त्रयोदश वर्ष से फिर शौक कविता का जगा।
दो दर्जन से अधिक लिखकर पुस्तकें रक्खी यहाँ,
यह भी व्यसन मुझको सदा आनन्द देता है महा।।''
(द्र. कविता-कंकोष, पृ. 128)

उनके द्वारा लिखित पुस्तकों की सूची 'कविता-कंकोष' के पृष्ठ 94 पर दी गई है जिनकी संख्या 26 है। प्रदत्त क्रमानुसार उनकी कृत्तियों के नाम इस प्रकार हैं -

''1. सुभट तरुण
2. सुघोर संगर
3. यतोधर्मस्ततोजयः
4. सत्यमेवजयते नाऽनृतम्
5 मित्रम् प्रति संमुक्ति
6. शूरेन्द्र शिशु
7. योद्धा युवक
8. यूरोपीय युद्ध यात्री युवक
9. धीरेन्द्र धीर
10. विजयोल्लास
11. वीरेश्वर विजय
12. रणवीर विजय
13. क्या राम मांसाहारी थे ?
14. राम विवाह वयोविचार
15. अवतार वादालोचन
16. पाप पुण्य निरूपण
17. मन्त्रिमण्डल महत्त्व
18. सामाजिक सुधार
19. उत्थानोद्बोधन
20. नागरी गौरव
21 नागरी महत्त्व
22. नागरी की महत्ता
23. हिन्दी माहात्म्य
24. उर्दू पर वृज्रपात
25. ब्रह्मचर्य महत्त्व
26 ईश्वराराधन।''

राजकुमार रणवीर सिंह ने गद्य और पद्य भाषा के दोनों ही रूपों को अपनी लेखनी से सुष्ट-पुष्ट किया है। एक सफल गद्यकार के साथ ही वे एक प्रतिभावन् कवि भी रहे हैं। उनकी अनेक रचनाएं हैं जिनमें-सुभट-तरुण, सुघोर संगर, मेरा स्वप्न, उत्थानोद्बोधन एवं कविता-कंकोष प्रमुख हैं। रणवीर रत्नाकर उनके निबंधों का संग्रह है। यद्यपि उनके सृष्ट साहित्य में गद्य-रचनाएँ ही अधिक हैं तथापि वे काव्य-सृजन में अधिक रुचि लेते थे। इसी का सुफल हैं 'कविता-कंकोष', जो उनकी एक अमर कृति है।

'कविता-कंकोष' नामक काव्य-संग्रह अमेठी राज्य के नरेशों द्वारा रचित, श्री रणवीर ग्रन्थ माला के अंतर्गत प्रकाशित प्रथम पुष्प है जिसके प्रधान संपादक हैं अमेठी के अंतिम कवि-राजा, राजा रणन्जय सिंह और संग्रहकर्त्ता हैं श्री ओंकार नारायण मिश्र 'प्रणब', जो स्वयं भी एक अच्छे कवि रहे हैं - राजा रणन्जय सिंह के आश्रय में। सन् 1977 में प्रकाशित प्रस्तुत पुस्तक पाँच भागों में प्रदर्शित है। प्रथम में राजा हिम्मत सिंह 'महीपति' (सन् 1709-1741), द्वितीय में राजा गुरुदत्त सिंह 'भूपति' (1703-1774) की 'भूपति सतसई; तृतीय में राजा लाल माधव सिंह जू देव 'क्षितिपाल' (1823-1891), चतुर्थ में राजकुमार रणवीर सिंह (1899-1921) तथा अंतिम पंचम भाग में सिंहासनारूढ़ राजा रणन्जय सिंह (जन्म अप्रैल 29, 1901) के चयनित पद समाहित हैं। इनमें से चतुर्थ भाग के रचयिता राजकुमार रणवीर सिंह ही हमारे आलेच्य कवि हैं। अत: उन्हीं की रचनाओं पर यहाँ संक्षेप में चर्चा की जायेगी।

राजकुमार रणवीर सिंह-रचित कविता-कंकोष के 38 पृष्ठों (93 से 130 तक) में 125 पद समाहित हैं जो विभिन्न शीर्षकों के अंतर्गत दर्शाये गये हैं। यथा-ईशस्तवन, सरस्वती वन्दना, मातृभूवन्दना, मातृभाषा महत्त्व, विजयादशमी-महोत्सव, शिव युद्ध वर्णन, महर्षि दयानन्द, तिलक वियोग, वारि विदारक विनय, मित्रम्प्रति संमुक्ति, अहिंसा अभ्यर्थना, पशु मानव भेद, समस्या पूर्ति, आत्म परिचय आदि। यह मुक्तक काव्य है और दोहा, रोला सवैया, सरसी, हरिगीतिका, मालिनी, घनाक्षरी, षट्पदी, गीतिका, कवित्त आदि जैसे छंदों में आबद्ध है। काव्य-कला में निपुण थे वे और बौद्धिक प्रतिभा-सम्पन्न भी, जो उनके कवित्त में स्पष्ट झलकता है। इसको परखने के लिए कविता-कंकोष के विविध छंदों का अनुशीलन तथा विवेचन करना होगा, जो यहाँ प्रस्तुत है -

कवि रणवीर सिंह संस्कृत के भी विद्वान् थे और उन्होंने इस भाषा में काव्य-रचना भी की है। पुस्तक के प्रारंभ में उनका ईशस्तवन, सरस्वती एवं मातृभू-वंदना संस्कृत पदावली युक्त है। सर्व प्रथम वे उस ईश्वर से भक्ति और शक्ति की याचना करते हैं जो न्यायनिधान हैं सबके कष्ट-निवारक हैं और हैं सभी लोकों के आश्रय -

''हरे! न्याय निधे! स्वामिन् !
विश्वात्म! कष्ट मर्दन !
सर्वलोक शरण्या !,
भक्तिं शक्तिं प्रदीयताम्।।

(द्र. ईश स्तवन, कविता-कंकोष, पृ. 101)

माँ शारदे से विनय करते हैं कि हे शुभ्रवसना, मुक्त केशधारी माँ, अपनी वीणा की झंकार से सब भारतवासियों के हृदय में नवीन चेतना भर दे जिससे हम सदैव सजग रहें -

''अयि विमल वसने! आलुलायित कुन्तले! श्री शारदे!
राष्ट्रीय वीणा तनिक कृपया हे जननि! झंकार दे।
अनुनाद हाँ हृत्तन्त्रियों में ध्वनित हो जावे तथा,
प्रतिरोम में चैतन्यपूरित हो, जगें हम सर्वथा।।''

(द्र. सरस्वती वन्दना, कविता-कंकोष, पृ. 102)

इसी भाँति मातृ-भूमि, सुर-वंदित माँ वसुंधरा, जो रत्नों की खान है और जिसके मस्तक पर हिमालय ताज की तरह तथा गंगा हार की तरह गले में सुशोभित हैं; को विनीत हो प्रणाम करते हैं। देखिये मातृ-भू-वन्दना का यह पद –

''हिम कुधर किरीटे जाह्नवी हार शुभ्रे,
परिकर शुचि विन्ध्यालङ्कृते रत्न गर्भे।
सलिल निधि सुसेव्ये धौत पादाब्ज दिव्ये,
वसुमति सुरवन्द्य मातृभूमे नमस्ते।।''   (वही, पृ. 102)

ध्यातव्य है कि संस्कृत के ये तीन छंद ही उन्हें महाकवियों की श्रेणी में ला देते हैं, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

कवि राजकुमार हैं; सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं, धन-धान्य से परिपूर्ण हैं, कोई दुःख नहीं-कोई बंधन नहीं, वह पूरी तरह आज़ाद है। परंतु उसे एक कष्ट है – एक भारी चिंता है कि अपने देश पर विदेशियों का शासन है। हम स्वाधीन नहीं, पराधीन हैं। तुलसी की भाँति-'पराधीन सपनेहु, सुख नाहिं' वह भी दुखी है। वह अपने को धिक्कारता है साथ ही अन्य सामर्थ्यवानों को भी। जो देश स्वतंत्र नहीं, वह निंदनीय है। अपने उद्‌गारों को वह रोक नहीं पाता और कह उठता है-'पारतन्त्र्य भर्त्सना' का निम्न पद द्रष्टव्य है –

''धिक्! वीणा जो अरस कर्ण कटु ध्वनि झंकारे।
धिक्! मृगेन्द्र जो तज कर गज को मूषक मारे।।
धिक्! मणि जो द्युति क्षीण काँच सम आभा धारे।
धिक्! है उस कलुषित राष्ट्र को जो स्वतंत्रता हीन है।
ज्यों अश्वाधीन सवार हो, जो यों अस्वाधीन है।।''   (वही, पृ. 102)

पद की अंतिम पंक्ति में अश्वाधीन तथा अस्वाधीन में शाब्दिक चमत्कार दर्शनीय है।

अपनी मातृभाषा के साथ राष्ट्रभाषा की भी चिंता है रणवीर सिंह को। राष्ट्रभाषा हिंदी का जो महत्त्व उनके पूर्ववर्ती लेखकों-कवियों भारतेंदु आदि ने दर्शाया था उसे बनाए रखने-उसको उन्नत करने के लिए वे भी कृत-संकल्प हैं। अपनी देश-भाषा का आदर करने, उसे ग्रहण करने के लिए देशवासियों को ललकारते हैं। देखें 'मातृभाषा महत्त्व' –

''राष्ट्रात्मा मातृभाषा जननि समसदा पूजनीया सभी को,
खोई जो मातृभाषा जनु विष पिया त्याग पीयूष ही को।
देशोत्थानाभिलाषा अगर तनिक भी चित्त के मध्य होवे,
तो जल्दी मातृभाषा गृहण कर उठो, जो सभी दुःख खोवे।।''   (वही, पृ. 104)

विद्यावान होने के साथ ही उनमें क्षत्रियोचित गुणों की भी कमी नहीं थी। शारीरिक व्यायाम का अभ्यास इतना कि लोहे की मोटी जंजीर भी तोड़ दी। अस्त्र-शस्त्र संचालन में भी निपुण थे। अर्थात् वीरोचित गुणों से संपुष्ट, जो उनके काव्य में स्पष्ट झलकता है। हिंदूपति मराठा योद्धा छत्रपति शिवाजी के वीरत्व से विशेष प्रभावित थे, फलतः उनके युद्ध-कौशल का भी बखान किया है अपनी कविता में। 'खनाक्षी' शीर्षक से रचित उनके पद वीररस के कवि भूषण की काव्य-शैली से प्रभावित हैं। इस कसौटी पर उनका निम्न पद बिलकुल खरा उतरता है –

"भूषण भरित भारी भारी खोद शीश धारे,
भूखे सिंह भाँति भट्ट खग्ग मूठ मसकत।
झल्ल झल्ल झलकि के झिल्लिम झुलत खूब,
झूमि झूमि वीर चले यम हिय कसकत।
तोप चक्र घर्र घर्र घर्र धूमि घोर नाद,
करैं तासे बड़े बड़े शैल सुनि ढसकत।
'रणवीर' शिवा महाराज की चलत सैन,
ताते भारी भार भूत भई धरा धसकत।।" (वही, पृ. 109)

प्रस्तुत पद में 'भूखे सिंह की भाँति' तथा 'झूमि-झूमि वीर चले' में मुहावरों का सुंदर प्रयोग है। 'झल्ल-झल्ल', 'झूमि-झूमि' और 'धर्र-धर्र' में पुनरुक्ति-प्रकाश अलंकार की छटा दर्शनीय है।

आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद सरस्वती (सन् 1824-1883) के प्रशंसक और अनुयायी भी थे रणबीर सिंह। स्वामीजी ने अशिक्षित जनता को शिक्षा का महत्त्व बताया। धर्म की रक्षा, अत्याचार का विरोध, राष्ट्रीयता और राष्ट्रभाषा का प्रचार, स्वार्थ-त्याग, सदाचार-सद्भावना और आपसी मेल-मिलाप के प्रति सभी को चेताया। उनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शन तथा उनकी महानता का स्मरण कराने हेतु कवि ने कुछ पदों में उनका गुणगान किया है उनके निर्वाण दिवस पर। द्रष्टव्य है यहाँ उनका ये पद -

"सुधी, साधु, सन्यासी, स्वामी सत्याग्रही, सदार्य,
कूट कूट पूरित था जिसमें स्वार्थ-त्याग, औदार्य।
आर्य धर्म यात्री रक्षक श्री दयानन्द मुनिराज,
कल्याणामृत पान करा कर लिया मोक्ष पद आज।।" (वही, पृ. 115)

राष्ट्रीय नेताओं में बाल गंगाधर तिलक (सन् 1856-1920) को विशेष मान-सम्मान और स्थान प्राप्त है। संस्कृत, गणित, ज्योतिष, इतिहास और दर्शन के महान् पंडित तो थे ही, लेकिन इससे भी बढ़कर वे एक महान् स्वतंत्रता सेनानी थे। उन्होंने देश को स्वतंत्रत कराने के लिए अँग्रेजी-शासन को ललकारा था- "स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, हम उसे लेकर ही रहेंगे"। उस महापुरुष के निधन पर कवि रणवीर भी अपने अश्रु रोक नहीं पाये। अपने सजल नेत्रों से उन्हें श्रद्धांजली अर्पित करते हुए आर्द्र स्वर में बोल पड़े-

कर्मण्यता सिखला गये राष्ट्रीय सेवा के लिए,
तन मन धनादि समस्त वारे, बाल गंगाधर तिलक।
नर केसरी "रणवीर" थे ध्रुव धर्म धारी धीर थे
असमय वही सुर पुर सिधारे बाल गंगाधर तिलक।।" (वही, पृ. 116)

ऋतु परिवर्तन के साथ प्रकृति के स्वरूप में परिवर्तन न हो यह असंभव है और इससे कवि-हृदय अछूता रह जाय यह नामुमकिन है। नवीन ऋतु के आगमन पर कवि की लेखनी को पंख लग जाते हैं और वह श्वेत पृष्ठों को रंगती चली जाती है। भयंकर गर्मी से छुटकारा दिलाने वर्षा ऋतु आई। उन्होंने सोल्लास उस पर लेखनी चलाई। आकाश से गिरने वाली प्रत्येक बूँद निःस्वार्थ भावसे सबको शीतलता प्रदान करती है। पृथ्वी से गंदगी बहा ले जाती है, वन-वनस्पति को जल से तो संतुष्ट करती ही है-परोपकार की शिक्षा भी देती है। यथा-

''जल शोषकर निर्दोष बन सन्तोष सबको दे रहे,
गेरे सघन घन गगन से जल, भूमि के बहुमल बहे।
परमार्थ साधन की सुशिक्षा है भरी प्रति बूंद में,
नि:स्वार्थ बुद्धि परोपकारी चाहिए होना हमें।। (वही, पृ. 117)

लेकिन जब आकाश से सामान्य से अधिक जल गिरने लगता है और फिर भी बादल निरंतर वृष्टि-कार्य में लगे रहते हैं तो मानव, पशु, अन्य जीव सभी व्याकुल हो जाते हैं। ऐसे में कवि भी अकुला उठता है और ईश्वर से वर्षा रोकने तथा सूर्य का ताप प्रदान करने हेतु अभ्यर्चन करने लगता है। द्रष्टव्य है 'वारि विदारक विनय' का निम्न पद -

''अशरण-शरण दयानिधान जगदीश,
कृपया उदक वृष्टि तुरंत निवारिये।
त्राहि मची चारों ओर नेकु तो अनुग्रह हो,
शरण तुम्हारी आये हमहिं न टारिये।
प्रखर दिनेश की प्रचण्ड रश्मि भूतल पै,
अति द्रुतमेव सर्व भाँति से पसारिये।
सादर निवेदन करत 'रणवीर सिंह',
वेगि व्योम मण्डल से वारिद विदारिये।।'' (वही, पृ. 119)

अहिंसा के पुजारी थे अमेठी-राजकुमार। राजाओं-राजकुमारों द्वारा अहिंसक, निरीह जीवों का शिकार करने के सख्त विरोधी थे। राज्य का एक रक्षक सिपाही अकारण, अपने स्वार्थ के लिए सुंदर पक्षियों को मारता था। उन्होंने अपने अग्रज युवराज श्री जंगबहादुर सिंह को पत्र लिखकर इस दुष्कर्म को रुकवाया। कवि के अनुसार प्रजा की रक्षा के लिए शेर, बाघ, सुअर आदि दुर्दान्त, हिंसक पशुओं को मारना क्षत्रियों का धर्म है। ऐसा कर्म निंदनीय नहीं है। यथा-

''हैं सिंह व्याघ्र बराह आदि नृशंस त्यों दुर्दान्त भी,
जो मनुज के अतिरिक्त जीवों से नहीं मरते कभी।
केवल उन्हीं का बध सदा सत्क्षत्रियों का कर्म है,
जो प्रिय प्रजा पतिपाल हित उत्तम अनिन्दित धर्म है।।'' (वही, पृ. 123)

इसलिए, यह सब देखकर, सोच-समझकर कि ये पक्षी भी आप की ही प्रजा है। इनको सुरक्षा प्रदान करते हुए रक्षक खड्गसिंह से अस्त्र वापस ले लिया जाय-

''सकरुण! महीपति मौलि मुकुट मणे! इधर अब ध्यान हो,
ये पक्षियां भी आप ही की हैं प्रजा यह ज्ञान हो।
'हो खड्ग सिंह निरस्त्र' यह आज्ञा तुरन्त प्रदान हो,
रोमांचकारी त्राहि पर हे दीनबन्धो! कान हो।। (वही, पृ. 123)

युवराज ने उनका आग्रह मानकर रक्षक से बंदूक वापस ले ली।

संकेत्य है कि स्वयं राजा भगवान बख्श सिंह और उनके चारों पुत्र सात्विक प्रवृत्ति के थे। मदिरा, मांस, जुआ खेलना तथा वेश्या-नृत्य देखना आदि सभी बुराइयों से विरक्त थे। इस बात की चर्चा राजकुमार रणवीर सिंह ने अपने पद 'आत्म परिचय' में भी की है -

''ज्येष्ठ सुत पूज्य जँग बहादुर सिंह वर्मा,
विवाहित हो चुके हैं एक पुत्र भी हुआ।
इनकी अवस्था अभी छब्बिस बरस की है,
तीन भाई और हैं न मद्य किसी ने छुआ।।
और नाहीं आमिष कदापि कोई खाय, तथा -
खेल कूद में भी कोई खेलत नहीं जुआ।
वेश्या नृत्य आदि का हैं करते विरोध घोर,
समाज के सुधार में सदा रहे अगुआ।।'' (वही, पृ. 127, 128)

समस्या-पूर्ति में भी रुचि लेते थे राजकुमार। आशुकवि थे। जो शब्द उन्हें दे दिया उसी पर रच दिया सवैया। इस प्रकार अनेक पद रचे हैं उन्होंने। उनमें-से एक-दो पद यहाँ प्रस्तुत हैं। रसास्वादन कीजिए उनके भावपूर्ण मधुर छंद ''प्राणहीन प्राणी है'' का -

''मृदुल मधुर सर्व प्रिय शुद्ध भाषण से,
जो पवित्र रखता नहीं सदैव वाणी है।
गुरु पितु मातु और ज्येष्ठ सज्जनों का,
आदर करै नहीं जो जोरि जुग पाणी है।
प्रभु को भुलाय हुलसाय अपकर्म करि,
जो नहीं कदापि निर्बलों का परित्राणी है।
ऐसा स्वभाव 'रणवीर' जिस मानव का,
सो सजीव रह के भी 'प्राण हीन प्राणी है।'' (वही, पृ. 125)

राजकुमार रणवीरसिंह धार्मिक प्रवृत्ति के सत्यनिष्ठ नवयुवक थे। उनका मन निर्मल था और आचरण शुद्ध। उन्होंने अपने स्वर्गगमन से दो वर्ष पूर्व एक समस्या-पूर्ति-पद लिखा-'रेलगाड़ी का'। इस पद से प्रतीत होता है कि उन्हें जीवन की क्षण-भंगुरता का भान हो गया था। जैसे रेल-यात्रा के जारी रहने तक ही यात्री एक-दूसरे के साथ हैं, तदुपरांत रेल और उसके साथी यात्रियों को भूल जाते हैं; उसी भाँति जब तक यह मानव शरीर है तभी तक नाते-रिश्ते-मित्र हैं पर शरीरांत के साथ ही सब कुछ समाप्त हो जाता है। इसी को लक्ष्यकर जीवन के इन बहुमूल्य क्षणों को मातृ-भूमि, राष्ट्र और मानव-सेवा के लिए अर्पित करने का आग्रह कर रहा है कवि अपने इस पद में -

''प्रभु गुण गाओं मातृभूमि को झुकाओं शीश,
दास बनों राष्ट्र के ज्यों माली फुलवाड़ी का।
पौरुष न त्यागो किन्तु भागो दूर पातक से,
नश्वर शरीर क्या भरोसा इस नाड़ी का।
'रणवीर' जौ लों यह जीवन है तौ लों कछु,
कर चलों अन्यथा भुलाना है पिछाड़ी का।
थोड़ी देर बैठिये टिकट गहि किन्तु फिर,
किसकी है रेल और कौन है ''रेलगाड़ी का'।।''
(द्र. कविता-कंकोष, पृ. 127)

हिंदी गद्य-रचनाओं में भी राजकुमार रणवीर एक मँजे हुए-कुशल लेखक के रूप में सामने आते हैं। उन्होंने फुटकर निबंधों के साथ ही कुछ स्तरीय उपन्यासों की रचना भी की है जिनमें सुभट तरुण, सुघोर संगर, मेरा स्वप्न तथा उत्थानोद्‌बोधन विशेष उल्लेखनीय हैं। उपन्यास लेखन की प्रेरणा उन्हें देवकीनन्दन खत्री (सन् 1861-1913) और उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' से मिली।

रणवीर सिंह ने 18 वर्ष की आयु में अपने पहले उपन्यास 'सुभट तरुण' की रचना की थी। डॉ. राधेश्याम तिवारी के मतानुसार यह एक लघु उपन्यास है जिसमें एक आदर्श राजा की कल्पना की गई है। उपन्यास के नायक का आचरण वैदिक संस्कृति से प्रभावित है जो प्रतिदिन संध्या-हवन करता है। युद्ध में छल-कपट तथा अनीति से दूर रहता है। शत्रु राजा पर विजय तो प्राप्त कर लेता है लेकिन विजित प्रदेश पर अधिकार नहीं करता। सत्याधारित आचरण की दृष्टि से उपन्यास में राम के आदर्शों की छाप दिखलाई पड़ती है। पात्रों और कथानक में महाभारत की कुछ घटनाओं की झलक है। ईर्ष्या-द्वेष की एक त्रासदी का दर्शक है यह। इसके मुख्य पात्र और नायक अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं और उनका अंत नहीं होता। वे सत्य के प्रतीक हैं और सत्यमेव जयते की घोषणा करते हैं। स्त्री पात्र-विहीन उपन्यास है यह। संस्कृतनिष्ठ हिंदी भाषा का बाहुल्य है-अरबी-फारसी शब्दों से रहित सर्वत्र तत्सम शब्दावली का प्रयोग हुआ है। (द्र. डॉ. राधेश्याम तिवारी : गढ़ अमेठी का इतिहास, पृ. 113-114).

उनका दूसरा उपन्यास 'सुघोर संगर' है जो कुछ काल्पनिक और कुछ ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित है, राष्ट्रीय भावनाओं को परिपुष्ट करता है। तीन खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में जासूसी, आखेट, संकट, संग्राम आदि प्रकरण हैं तो द्वितीय खण्ड में भीषण मारकाट, कैद, नवाब का पत्र, शुत्रदल की विजय है। तृतीय और अंतिम खण्ड में मित्रदल की विजय, मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण तथा विजय महोत्सव है। इस उपन्यास की भाषा भी संस्कृतनिष्ठ शुद्ध हिंदी है। लेखक की मौलिकता का अच्छा प्रदर्शन है इस उपन्यास में। (द्र. वही पृ. 114-115).

जहाँ तक 'उत्थानोद्‌बोधन' पुस्तक का प्रश्न है तो इसमें रणवीर सिंह के लेख हैं जो उन्होंने क्षत्रियोपकारिणी प्रान्तिक सभा में पढ़े थे। उनमें से एक लेख का कुछ अंश अवलोकनार्थ यहाँ प्रस्तुत है- ''पूर्णिमा का चन्द्र देखकर तो यह भाव उत्पन्न होता है, परन्तु अमावस्या की शशि शून्य विशद व्योम मण्डल पर नेत्रपात करने से एक बड़ा ही सुन्दर और कमनीय भाव हृदय में जागृत होता है कि निकट भविष्य में इस निशाकरहीन गगन में पूर्ण कलाधर की शुभ्रा ज्योत्सना फैली दृष्टि पड़ेगी। गत दो सप्ताहों से पूर्व दिन की भाँति आगामी दो सप्ताहों से आगे वाले दिन भी मंडल की दिव्य छटा पुनः सौन्दर्य पूर्वक नेत्रगोचर होगी।'' (वही, पृ. 115) लेखक का शुद्ध हिंदी के प्रति इतना अटूट प्रेम है कि वह लेखन-पठन- वाचन और भाषण-वक्तव्य में-सर्वत्र इसका स्तर बनाये रखते हैं।

'रणवीर रत्नाकर' राजकुमार रणवीर सिंह के निबंधों का संग्रह है। इस निबंध संग्रह पर अपने विचार रखते हुए डॉ. राधेश्याम तिवारी का कथन है-''रणवीर रत्नाकर के कुल निबन्धों की संख्या तीस है। आर्य समाज के अनुयायी होने के नाते उन्होंने प्रायः ऐसा विषय चुना है जो व्यक्ति को अनास्था से आस्था की ओर लाकर संस्कार-सम्पन्न बनाते हैं। मूर्ति पूजा जैसे पाखण्ड का खण्डन करने के लिए ईश्वराधना, अवतारवादालोचन निबन्ध लिखे गये। सत्य के प्रकाश हेतु रामायण पढ़ो, क्या राम मांसाहारी थे ? महात्मा श्री कृष्ण, पाप-पुण्य निरूपण, मैंने अनार्य समाज क्यों छोड़ा ?अजरक्षा, युवकों उठो और राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए आनन्द पाठशाला, विद्या, संस्कृत समुदार नाटक, राष्ट्रभाषा महत्त्व, नागरी की महत्ता जैसे विषयों पर उन्होंने अनेक प्रकार से अपनी लेखनी चलायी है। इसके अतिरिक्त लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रहेलिका, भव्य-भाषण, स्वागत-भाषण, मन्त्रिमंडल का महत्त्व तथा विजयोल्लास जैसे शीर्षकों पर भी आपने बहुत कुछ लिखा है।'' (गढ़ अमेठी का इतिहास, पृ. 116) उनके निबंधों में विविधता है। अधिकांश निबंध समाज सुधार तथा राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों को लेकर लिखे गए हैं। राष्ट्रगौरव और

मातृभूमि प्रेम के प्रति विशेष आकर्षण था उनके मन में।

मातृ-भाषा-राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति अति सजग थे रणवीर सिंह जी। 'हिन्दी हमारी मातृभाषा हम हैं हिन्दू हिन्द के' कहकर अपनी भाषा का बहुविध प्रसार-प्रचार किया है और उसे समृद्ध-समर्थ बनाने के लिए विपुल साहित्य की रचनाएँ भी की हैं। हमें 'रणवीर रत्नाकर' निबंधावली तो नहीं मिली परंतु उसी पुस्तक से हिंदी भाषा आधारित- राष्ट्रभाषा का महत्त्व, हिन्दी महत्त्व, हिन्दी भाषा की महत्ता और नागरी की महत्ता नामक चार निबंध श्रद्धेय डॉ. माधव प्रसाद पाण्डेय जी (अमेठी) के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं। इनके पारायण से रणवीर सिंह जी के हिंदी की उन्नति के लिए किए गये सद्प्रयासों से रूबरू होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके द्वारा किए गये भाषा-सम्बन्धी विविध कार्यो पर हिंदी-सेवा शीर्षक के अंतर्गत विचार-विमर्श करते हैं।

हिंदी-सेवा :- रणवीर सिंह जी मातृभाषा एवं राष्ट्रभाषा के महत्त्व से भली भाँति परिचित थे। बिना मातृभाषा के व्यक्ति और बिना राष्ट्रभाषा के राष्ट्र, दोनों ही पंगु होते हैं और गूँगे भी, जो न तो आगे बढ़ सकते हैं और न ही कुछ बोल-सुन सकते हैं। दोनों जड़ता को प्राप्त हो जाते हैं जिन्हें कोई भी अपने स्वार्थ के लिये उजाड़ सकता है-अपने आधिपत्य में ले सकता है। उस समय देश और जनता की यही दशा हो रही थी। उन्होंने इसे पहचाना और अविद्या को नष्ट करने, विद्या का प्रचार, मातृभाषा तथा राष्ट्रभाषा के प्रति लोगों को जागरूक करने का बीड़ा उठाया। शिक्षा देने के लिए पाठशाला-स्कूल खुलवाने का अभियान चलाया जिसके अंतर्गत आनन्द पाठशाला खोली गई। हिंदी को बढ़ावा देने के लिए अनेक लेख लिखे और स्थान-स्थान पर भाषण दिये। अनेक हिंदी की पुस्तकें छपवाने का खर्चा उठाया और कितने ही विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देकर पढ़ाया। केवल इतना ही नहीं जब भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए आंदोलनरत थे और साथ ही महात्मा गाँधी हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने का आग्रह कर रहे थे (सन् 1918 के आसपास) तब राजकुमार रणवीर सिंह अपने, राज्य अमेठी में हिंदी को राजभाषा के पद पर आसीन करा रहे थे। वैसे तो उन्होंने हिंदी की बहुविध सेवा की लेकिन विशेष रूप से जिन बिंदुओं पर उन्होंने बल डाला, वे हैं मातृभाषा, राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रीय लिपि देवनागरी। उन्हीं के विचारों पर दृग्पात करते हैं।

मातृभाषा : व्यक्ति के मुख से सर्वप्रथम निकलने वाली वाणी मातृभाषा है जो उसकी अपनी भाषा होती है लेकिन लोगों ने उसे त्याग दिया और दूसरों की मातृभाषा अंग्रेजी बोल रहे हैं। यह बड़े शर्म की बात है। इस पर विरोध जताते हुए-क्षोभ प्रदर्शित करते हुए रणवीर सिंह कहते हैं-"आज हमारी पवित्र मातृभाषा के स्थान पर दूसरे राष्ट्रों की जबानें अठखेलियाँ खेल रही हैं। जबान आज हमारी नहीं है। जिस जबान से हम प्रतिदिन सुस्वाद उत्तमोत्तम भोजनों का आवस्वादन कर उसे उदरस्थ करते हैं; शोक! वह जबान गैरों की है। दूसरों की जबान का खाना खाकर हम जी रहे हैं। ऐसी दशा में हिन्दू रिवाजों का पालन भी व्यर्थ ही है। खान-पान में धर्माधर्म की समस्या रखने वाले हिन्दुओं! मेरी बातें अनसुनी न करना। प्रश्न गम्भीर तथा विचारणीय है। आँखें खोलकर गौर करो। आज हमारे-तुम्हारे मुँह में गैरों की जबाने घुल कर क्या अनर्थ कर रही हैं। हमें चाहिए कि अपनी जबान पुन: मुख में स्थापित करें, गैरों की जबानें पृथक् करें। सारा शरीर अपना, रोम-रोम अपने, हाड-मांस अपना, रंग व रक्त अपना, अंग-प्रत्यंग अपने, परन्तु जबान दूसरे की, यह कहाँ की सभ्यता, कहाँ की मनुष्यता है?" (द्र. रणवीर रत्नाकर : संपा यज्ञनारायण उपाध्याय; सन् 1981, राजकुमार रणवीर सिंह का निबंध 'हिन्दी भाषा की महत्ता', पृ. 90) इन शब्दों में उनकी स्पष्ट ललकार है उन धर्म के ठेकेदारों को, जो दूसरी जाति के व्यक्ति के हाथ से छुये पानी अथवा खाद्य पदार्थ के सेवन को अधर्म कहते हैं; परंतु अपनी भाषा के बजाय दूसरों की भाषा बोलने में गर्व का अनुभव करते हैं। शरीर के सब अंग अपने, लेकिन उससे निकली वाणी अपनी नहीं वह दूसरों की है। किसी भी सभ्य समाज

के लिए यह स्थिति बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है। हमें अपनी मातृभाषा को सहेजना होगा। मातृभाषा का अभाव अनिष्ठकारी होता है। इसके प्रति सचेत करते हुए वे आगे लिखते हैं -''यदि जगत् के इतिहास में अपना, अपनी जाति का तथा अपने राष्ट्र का नाम और कीर्ति अमर रखने की इच्छा, हो, तो मातृभाषा का त्याग करना ठीक वैसा ही है जैसे विषस्वादन से अमरत्व प्राप्ति की इच्छा, अत: मातृवत् पूज्या मातृभाषा का तिरस्कार, बहिष्कार न कर उसे अटल रूप से अन्त:स्थ करना उचित है, यही पूर्ण उन्नति का सुलभ उपाय है तथा राष्ट्रोद्धार का सर्वोपरि श्रेष्ठ साधन है।'' (वही, पृ. 91)

लेखक का कथन सर्वथा उचित है। मातृभाषा को अपनाए बिना, उसकी उन्नति के बिना न अपनी उन्नति होगी, न जाति-समाज की और न ही राष्ट्र की। सर्वोन्नति का सर्वप्रथम आधार मातृभाषा है। इसको ध्यान में रखते हुए मातृभाषा की शिक्षा ग्रामीण-स्तर से ही दी जानी चाहिए। राजकुमार की कथनी और करनी में अंतर नहीं था। उन्होंने बच्चों को शिक्षित कराने के लिए प्राथमिक पाठशालाओं की स्थापना भी कराई जिसका मुख्य उद्देश्य मातृभाषा की उन्नति करना था और समाज को शिक्षित करना भी।

राष्ट्रभाषा : मातृभाषा के साथ ही राष्ट्रभाषा के भी पक्षधर थे रणवीर सिंह। सभी प्रदेशों-रियासतों में जहाँ अपनी-अपनी मातृभाषाएँ फूले-फलें वहीं राष्ट्रीय स्तर पर भारत में एक ही राष्ट्रीय भाषा हो और इसके लिए वे हिंदी को सबसे अधिक उपयुक्त मानते थे। अपना और अपने राष्ट्र का स्वाभिमान बनाये रखने के लिए एक ऐसाी भाषा का चयन करना होगा जो बोलने में आसान और लिखने में सरल हो और जो व्यापक आधार वाली हो। जैसा कि उनका मत है कि -''वर्तमान समय में इस देश की राष्ट्रभाषा वही भाषा हो सकती है, जो सबसे सरल हो; जिसके बोलने वाले सबसे अधिक हों तथा जिसकी लिपि आसानी से लिखी या समझी जा सकती है। हिन्दी के बोलने वाले बारह करोड़ से भी ऊपर हैं। हिन्दी भाषा सरल और बोधगम्य है। उसके बोलने वाले भी अधिक हैं। वह सीखी भी सरलता से जा सकती है और सबसे बड़ा गुण यह है कि उसमें जैसा लिखा जाता है वैसा ही पढ़ा जाता है। ये गुण संसार की किसी भी भाषा तथा लिपि में नहीं है। हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि लासानी है।'' (द्र. रणवीर रत्नाकर : संपा-यज्ञनारायण उपाध्याय(रणवीर सिंह का निबंध-'राष्ट्रभाषा का महत्त्व, पृ. 78).

इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी में ऐसे सभी गुण हैं जो एक राष्ट्रभाषा में होने चाहिए। वह सरल भी है, आसानी से सीखी-समझी जा सकती है और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि उस समय देश की अधिकांश जनता के व्यवहार की भाषा बनी हुई थी। यही कारण था कि उन्होंने हिंदी की पक्षधरता की थी। जब कुछ लोगों ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के लिए असक्षम-अनुपयुक्त बताया तो उन्होंने उनकी बात का जोरदार शब्दों में खंडन करते हुए कहा-''झूठी बात है जो लोग हिंदी को निर्बल कहते हैं। मेरा दावा है कि हिन्दी में जितनी शक्ति, जितना प्रताप और जितनी योग्यता ठूँस-ठूँस कर भरी है; भारत के लिए त्रैलोक्य में भी इस समय ऐसी सर्वथा उपकारिणी तथा उपयुक्त एवं उत्तम भाषा नहीं मिल सकती। लिखावट शुद्ध, पाठ शुद्ध, न एक स्वर प्रकाशक अनेकाक्षर, न कोई ऐसा शब्द जिसमें लिखे हुए कई अक्षरों को पढ़ना मानो पाप समझा जाता है।'' (द्र. वही, 'हिन्दी भाषा की महत्ता',पृ. 93) वास्तविकता भी यही है कि हिंदी एक सक्षम भाषा है, उसका शब्द भण्डार अति विशाल है। उसकी लिपि वैज्ञानिक है। उसमें जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है। कुछ लोग अल्पज्ञता तथा स्वार्थपरतावश अनर्गल प्रलाप करने के आदी होते हैं, उनकी बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

राष्ट्रभाषा के माहात्म्य पर प्रकाश डालते हुए लेखक आगे कहता है-''संसार में वे राष्ट्र आज भी जीवित हैं जिन्होंने विदेशी लोगों से घोर सामना कर बड़ा युद्ध किया था और अंत में इसी शर्त पर आत्म-समर्पण किया कि हमारी राष्ट्रभाषा का नाश कर विदेशी भाषा की प्रतिष्ठा न बढ़ायी जाय।' और एक हम हैं भारतीय। देश भर में विदेशियों का साम्राज्य स्थापित कर सन्तुष्ट न हुए बल्कि उन्हें अपने मुख

की जिह्वा का भी शासक बना दिया।'' (द्र. वही, 'राष्ट्रभाषा का महत्त्व', पृ. 74) लेखक का यह कथन निराधार नहीं है। राष्ट्रभाषा का महत्त्व राष्ट्र से अधिक है। एक बार यदि राष्ट्र को हार दिया जाय तो भविष्य में उसे पुन: जीता जा सकता है परंतु यदि किसी देश की भाषा, उसका साहित्य ही नष्ट कर दिया जाय तो उसकी पुन: प्राप्ति अति दुष्कर हो जाती है। इस बात के साक्षी हम स्वयं हैं, भुक्तभोगी भी और सच कहें तो अपराधी भी। हमने अपने देश को ही नहीं वरन् मातृभाषा के साथ राष्ट्रभाषा को भी आक्रांताओं को भेंट कर दिया और आज तक उनकी भाषा बोल रहे हैं। विश्व के अनेक देशों ने ऐसी पराजय स्वीकार की पर उन्होंने अपनी भाषा विजेताओं के हाथों बंधक नहीं होने दी, लेकिन हम नहीं बचा पाये। इसी की पुन: प्राप्ति हेतु निर्बल प्राणों को ऊर्जान्वित करने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं राजकुमार रणवीर सिंह।

देवनागरी लिपि :- निबंधकार ने राष्ट्रभाषा के लिए देवनागरी लिपि को सर्वोत्कृष्ट बताया है। उनके अनुसार-''हिन्दी ही ऐसी भाषा है जिसकी लिपि देवनागरी सर्वांगसुन्दर तथा पूर्णरूप से शुद्ध होती है। नागरी की वर्णमाला प्राकृतिक रीति से निर्धारित है। स्वर और व्यंजन अलग-अलग हैं। सबसे पहले 'अ' पढ़ाया जाता है। यह बालकों के मुख से प्राय: स्वयं ही निकला करता है। आगे आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ आदि समस्त स्वर नैसर्गिक क्रम से पढ़ाये जाते हैं। स्वर का ज्ञान हो जाने के पीछे व्यंजनों का बोध कराया जाता है। व्यंजन पहले 'क' से प्रारम्भ होते हैं तथा सिलसिले से ख, ग, घ इत्यादि अक्षर पढ़ाये जाते हैं। यह क्रम ऐसी वैज्ञानिक रीति से रखा गया है कि जिससे विद्यार्थी आसानी से सब कुछ थोड़े ही समय में जान लेता है।'' (द्र. वही, हिन्दी भाषा की महत्ता, पृ. 96) तात्पर्य यह है कि देवनागरी लिपि बड़ी सुगमता से सीखी जा सकती है। इसकी वर्णमाला का क्रम वैज्ञानिक है, जिसमें पहले स्वर और उसके बाद व्यंजन रखे गये हैं। उच्चारण दोष रहित है, जो लिखा जाता है वही उच्चरित होता है। प्रत्येक वर्ण के लिए अलग ध्वनि है। रोमन लिपि जहाँ सुप्ताक्षरों और छोटे-बड़े अक्षरों से बोझिल है, वहीं देवनागरी इन दुगुर्णो से सर्वथा मुक्त हैं। उर्दू की लिपि भी दोषमुक्त नहीं है, लेखन में कुछ और पढ़ने में कुछ और राष्ट्रलिपि के लिए रोमन फ़ारसी दोनों ही को अनुपयुक्त मानकर वे केवल देवनागरी लिपि को ही उचित ठहराते हैं।

रणवीर सिंह जी राष्ट्रीय लिपि देवनागरी तथा राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति स्वंय तो प्रणत और प्रणबद्ध हैं ही-सभी भारतीयों से भी यही आग्रह करते हैं-''राष्ट्रीय लिपि देवनागरी तथैव मातृभाषा हिन्दी के प्रति हमें ईर्ष्या न रखनी चाहिए। यह ईर्ष्या हमें स्वदेश प्रेम से पृथक् करती है, जो मनुष्य मात्र के लिए स्वप्न में भी श्रेयस्कर नहीं, हम लोगों को एक मन तथा एक स्वर हो कर अपने अस्तित्व के विचार से, अपने प्यारे देश के विचार से, ... आज यह प्रण करना चाहिए कि संसार भर की विद्याएँ तथा भाषाएँ ज्ञान-वृद्धि के लिए जानने से तो हम कभी घृणा न करेंगे, सही, परन्तु अपने पवित्र राष्ट्र की विशुद्धि हिन्दी भाषा को हम कदापि अश्रद्धा की दृष्टि से न देखेंगे और अपने सम्पूर्ण कार्य देवनागरी लिपि में करेंगे। स्वत्व रक्षार्थ मातृ-भाषा की भक्ति अहर्निशि हृदयंगम किये रहेंगे। धर्म और जाति का औचित्य शून्य पक्षपात न कर अखिल भारतीय व्यक्तियों को अपना राष्ट्रीय भ्राता समझ सबसे सहानुभूति रखेंगे और सदैव अन्त:करण से उठकर ये ही शब्द हमारे मुख से निकलेंगे कि देवाराध्य भारत की जय, देवलिपि नागरी की जय एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी की जय।'' (द्र. वही, नागरी की महत्ता, पृ. 105).

हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि के समर्थक थे रणवीर सिंह पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे अन्य भाषाओं के विराधी थे। अपने ज्ञानार्जन के लिए अथवा व्यवसाय-स्वार्थ सिद्धि के लिए विश्व की कोई भी भाषा सीखने में कोई हानि नहीं है- वरन् अच्छा ही है। केवल इतना स्मरण रखना चाहिए कि अपनी राष्ट्रभाषा हिंदी और उसकी लिपि देवनागरी का किंचित भी अहित न हो।

भाषा-शैली:- राजकुमार रणवीर सिंह को कई भाषाओं का ज्ञान था। हिंदी, संस्कृत, उर्दू, अरबी-फ़ारसी तथा अंग्रेजी भाषाओं का अच्छा अध्ययन किया था। हिंदी-संस्कृत उर्दू में तो उन्होंने साधिकार रचनाएँ भी की हैं। भाषा के गद्य और पद्य दोनों ही रूपों में रचित साहित्य उच्चकोटि का है। इसके लिए उन्होंने भाषा के खड़ीबोली रूप को वरीयता दी है। भाषा समासयुक्त है और आद्यांत भाव-गांभीर से परिपूरित भी। अपने थोड़े से जीवन में ही उन्होंने आध्यात्म-अध्ययन तथा समाज से जो भी ज्ञानार्जन किया उसे अपनी कृतियों में उँडेल दिया। उन्होंने भाषा के आम बोलचाल के हिंदुस्तानी रूप को न लेकर शुद्ध साहित्यिक हिंदी को अपनाया जिसमें संस्कृतनिष्ठ शब्दों पर विशेष ध्यान दिया गया है। ऐसे अवसरों पर उनके संस्कृत-प्रेम की छटा दर्शनीय होती है। ऐसे श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से भाषा अलंकृत ही हुई है बोझिल नहीं।

शब्द-भण्डार की दृष्टि से रचनाकार समृद्ध हैं-पर्यायों की कमी नहीं है। अलंकारों का प्रयोग बड़ी सुघड़ता से किया गया है। 'हे करुणाकर करुणाकर करुणाकर देखो' में यमक तो 'पावन परम पद्य पंचक पढ़ पाय पूर्ण प्रासन्न' में अनुप्रास का सौंदर्य अवलोकनीय है। संस्कृत शब्दावली के साथ अरबी-फ़ारसी तथा अंग्रेजी शब्दावली भी प्रयुक्त हुई है उनकी रचनाओं में। ''इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि रणवीर सिंह की भाषा में संस्कृत की माधुर्य, हिन्दी की मिठास और उर्दू फारसी की चाशनी है।'' (द्र. डॉ. राधेश्याम तिवारी : गढ़ अमेठी का इतिहास, पृ. 117) वस्तुत: इन विविध भाषायी शब्दों के प्रयोग ने भाषा-प्रवाह में कोई बाधा नहीं डाली, वरन् एक रवानगी-निरंतरता ही प्रदान की है। उनकी भाषा में मुहावरे तथा लोकोक्तियों का प्रयोग भी हुआ है। यथा-लकीर का फकीर, माई का लाल, राग अलापना, अपने पैर कुल्हाड़ी मारना, ख्याली पुलाव पकाना आदि के साथ ही संस्कृत-सूक्तियों-उत्साहमात्रमाश्रित्य भाषां प्रतिलभेमहि, न वदेद्यावनी भाषा प्राणै: कण्ठागतैरभि, धर्मेण हीना: पशुभि: समाना:, मुक्ति मुक्तमुपा देयं वचनं बालकादपि और जननी जनाभूमिश्च स्वर्गादपिगरीयसी की प्रयुक्ति ने उनकी भाषा को और अधिक धारदार बना दिया है।

अपने लेखन में अनेक प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है रणवीर सिंह ने। कहीं पंडिताऊ शैली तो कहीं व्यंग्यात्मक शैली है। वैसे वर्णनात्मक, उपदेशात्मक तथा उदाहरणात्मक शैली का प्रयोग तो प्रचुर मात्रा में किया गया है। गद्य में संस्कृतनिष्ठ खड़ी शैली के समर्थक रहे हैं'; विशेषरूप से राष्ट्रभाषा के पक्ष में तो वे अरबी-फारसी के कट्टर विरोध में खड़े नज़र आते हैं। उनके निबंधों में राष्ट्रीयता एवं भारतीय संस्कृति के प्रति अटूट प्रेम तथा सम्मान दृश्यमान् है।

काव्य के क्षेत्र में एक विलक्षण बौद्धिक प्रतिभा लेकर अवतरित हुए हैं। उनकी रचनाओं में तद्‌युगीन समस्याओं की झलक अंकित है। अशिक्षा, अछूतोद्धार, स्वदेश-प्रेम, स्वभाषा के प्रति चेतना, अहिंसा, सदाचार आदि को अपनी कविता का विषय बनाया। उनकी कविता-कंकोष एक उत्कृष्ट कृति है। यह दोहा, सवैया, रोला, घनाक्षरी, गीतिका, मालिनी आदि सरल छंदों से युक्त स्फुट काव्य संग्रह है। विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ भाषा में उनका समग्र जीवन-दर्शन समाहित है। सरस, सरल और सुबोध शैली में रचित इस काव्य में अश्लीलता तथा श्रृंगार रस का सर्वथा अभाव है लेकिन इसके विपरीत वीर, रौद्र, करुण एवं शांत रस को उचित स्थान दिया गया है। इसको स्पष्ट करते हुए कवि ने स्वयं ही कहा है-''मुझे वीर, करुण, शान्त तथा रौद्र इन्हीं चार रसों की स्वाभाविक अभिरुचि है ....। वीर रस के पाठ से नवयुवकों को साहस की प्राप्ति तथा आत्मसम्मान का ज्ञान होता है एवम् करुण रस से हृदय कोमल रहता है, सहानुभूति का भाव अहर्निशि विद्यमान रहता है। शान्त रस से उद्विग्नता, अशान्ति तथा दुर्विचारों का लोप होता है और रौद्र रस से सीमाबद्ध उचित उमंग, उत्तेजना तथा उत्साह से संसार में कुछ सुकार्य करने, देश भक्तिपूर्ण-नरोचित कर्त्तव्यों के पालन तथा राजसेवा में प्रशंस्य कौशल प्रकट करने और राष्ट्रीयता के राग अलापने में आनन्द गद्‌गद होने के सौम्य भाव प्राप्त होते हैं, रौद्र रस से ही उचित आत्माभिमान जागृत होता है

तथा इसी से ऊर्ध्व लिखित समस्त उत्तम कृत्यों का सम्पादन कर मनुष्य यशस्वी होता है।'' (द्र. कविता कंकोष : रणवीर साहित्य ; संपा. ओंकारनारायण मिश्र-यज्ञनारायण उपाध्याय, पृ. 99) उनके इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने अपने काव्य में शृंगार रस-रसराज को स्थान नहीं दिया लेकिन वीर, करुण, शांत तथा रौद्र रस से अपनी कविता का शृंगार किया। इस विशद रस-विवेचन से उनकी असाधारण बुद्धिमत्ता तथा काव्य-कौशल का परिचय मिलता है।

निष्कर्षत: यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि राजकुमार रणवीर सिंह जी एक उच्चकोटि के कवि-लेखक थे। उनकी लेखनी से नि:सृत साहित्य हिंदी जगत् की अमूल्य धरोहर है। इतनी कम आयु में जितनी साहित्य-सर्जना उन्होंने की है वह उनके असीम ज्ञान, अलौकिक प्रतिभा और अनुपम रचनाकारिता का परिचायक ही है। मातृभाषा तथा राष्ट्रभाषा हिंदी के सच्चे सेवक और महान् उन्नायक थे। राष्ट्रप्रेम तथा भारतीय संस्कृति उनके रक्त में पूर्णतया समाहित थी। सत्यव्रती, सदाचारी, सद्हृदयी महापुरुष थे वे। साहित्य और समाज के लिए की गई उनकी सेवाओं को कम करके न तो आँका जा सकता है और न ही उन्हें विस्मृत किया जा सकता है।

ऐसे समय जब वे देश, समाज तथा राष्ट्रभाषा की प्रगति के लिए-उन्हें नई दिशा और नये आयामों तक पहुँचाने के लिए प्राणप्रण से कार्यरत थे, उनका दृश्यपटल से एकाएक लोप हो जाना सभी के लिए असहनीय सिद्ध हुआ। उनके द्वारा रिक्त स्थानों की क्षतिपूर्ति तो असंभव ही रही। इस युवा रचनाकार से हिंदी जगत् को बहुत आशाएँ थीं जो उनके निधन से सभी धूल-धूसरित हो गई।

> धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है। (कौन-सा धर्म) अहिंसा, संयम और तप। जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म में सदा संलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।
>
> – भगवान् महावीर

महाराजा राजेन्द्र सिंह 'सुधाकर' का साहित्यिक अवदान

ललित शर्मा

ब्रिटिश युगीन भारतीय राज्यों के राजपूताना (अब राजस्थान) में झालावाड़ राज्य (वर्तमान कालिक जिला) के इतिहास की ओर दृष्टि करें तो वहाँ के शासक राजेन्द्र सिंह 'सुधाकर' को विस्मृत करना सम्भव नहीं होगा। 'सुधाकर' उपनाम से ही स्पष्ट है कि उनके राजसी व्यक्तित्व में साहित्यिक व भक्ति तथा समाजोत्थान के आयामों का ऐसा अद्‌भुत मिश्रण था जो उस युग के भारतीय राजे-रजवाड़ों के अनेक शासकों से भिन्न पाई जाने वाली दुर्लभ अभिवृत्ति का परिचायक है।

राजेन्द्र सिंह सुधाकर का जन्म 15 जुलाई सन् 1900 ई. को झालावाड़ राज्य के झाला शासकीय परिवार में हुआ था। उनके पिता झालावाड़ राज्य के महाराज राणा भवानी सिंह थे। सन् 1929 ई. अपने पिता के देहान्त के पश्चात् उन्होंने झालावाड़ राज्य की राजगद्दी संभाली। वे मूलत: हिन्दी भारती, देशभक्ति, ईश्वर भक्ति और समाजोत्थान तथा समन्वय भावों को समर्पित हो जाने वाले ऐसे सुनरेश रहे जिन्होंने अपने काव्य और सामाजिक कार्यों के माध्यम से परतन्त्रता के उस युग में अनेक चुनौतियों को ललकारा और वर्णवादियों से संत पीपाजी की भांति टक्कर ली। अपने देश प्रेम और समाजोत्थान के भावों को अपने सुदृढ़ कार्यो की क्रियान्विती से देश को जगाने वाले सुधाकर जी जब तक जीये, सभी वर्गो के लिए जीये। वे हिन्दी में 'सुधाकर' तथा उर्दू में 'मख्मूर' नाम से काव्य का सृजन करते थे। उनकी अनेक कृतियों में राष्ट्रीयता, भक्ति, धर्ग-दर्शन, समाजोत्थान, तथा हालावाद की महक मिलती है।

राजेन्द्र सिंह 'सुधाकर' का कार्य और व्यक्तित्व बहुआयामी था। विशाल स्तर पर विराट् कवि सम्मेलनों, हिन्दी भारतीय उत्थान व संगीत समारोहों के विराट् आयोजन इस साहित्यकार शासक ने अपने काल में झालावाड़ की धरती पर करवाये। उनका कृष्ण प्रेम भी अगाध था। बल्लभ भक्ति सम्प्रदाय के प्रति उनकी एकान्तिक दृढ़ निष्ठा और काव्य-सेवन की चर्चा आज भी साहित्यिक जगत् के पुराने साहित्यकारों की जुबां पर जीवित है।

स्वदेश प्रेम, राष्ट्रीय गौरव की अभिव्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक कुरीतियों पर प्रखर प्रहार करने वाले सुधाकरजी ने अछूतोद्धार और अस्पृश्यता का निवारण बिना किसी बाहरी प्रेरणा के यहाँ काफी पूर्व से ही आरम्भ करवा दिया था। उस समय गांधीजी का अछूतोद्धार आन्दोलन केवल वैचारिक कल्पना मात्र ही था। उसी समय अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियों के कई लोगों को सुधाकरजी ने शिक्षा प्राप्ति के अनेक सुअवसर दिये। उन्होंने हरिजन बालिकाओं को शिक्षार्थ प्रोत्साहन स्वरूप वस्त्र, पुस्तकें और छात्रवृत्ति प्रदान की जो उनके विद्यानुराग का जीवन्त उदाहरण है। उस युग में यहाँ के प्रमुख बाजारों में भी हलवाई और विक्रेता तक हरिजनों व अछूत जातियों के उद्धार के काम में लगे कार्यकर्ताओं को सौदा देने से पूर्व पैसों को पानी से धुलाते थे, तब सिक्का भी हरिजनों, अछूत जातियों के सम्पर्क मात्र से अशुद्ध माना जाता था। ऐसी स्थिति देखकर अन्तत: सुधाकरजी ने धर्म के नाम पर प्रचलित छुआछूत की कुरीति का खण्डन करने का कठोर निश्चय किया। उन्होंने कर्मवीर गांधी के अछूतोद्धार की संकल्पना को सर्वप्रथम देश में झालावाड़ राज्य के झालरापाटन नगर में स्थित बल्लभ सम्प्रदाय के झाला राजशाही परिवार के प्रभू

द्वारकाधीश कृष्ण मंदिर में साकार करके हरिजनों-अछूतों को मंदिर में प्रवेश कराकर दर्शन करा दिये और सारे देश का ध्यान पलक झपकते ही इस नगर की ओर खींच लिया था।

हरिजनों, अछूतों के इस मंदिर में प्रवेश कराने के लिए उनका यह सत्याग्रह इतना दृढ़ और अटल था कि जब इस जनघटना का वैष्णव समुदाय तथा सवर्णों द्वारा उनका व्यापक और उग्र विरोध हुआ तब उसे देखकर उन्हें अत्यन्त ग्लानि हुई कि पतित-पावन भगवान द्वारकाधीश के द्वार पर भी सहज करुणा व समन्वय के बजाय छुआछूत मानते मनुष्य-मनुष्य में भेदभाव है। अत: उन्होंने उसी घड़ी वहीं कठोर शपथ ली कि- 'मैं झाला राजपूत नरेश राजेन्द्र सिंह, अब इस मंदिर में तभी दर्शनार्थ आऊंगा जब हरिजनों और अछूतों को भी मेरी ही तरह यहाँ आना आप सब स्वीकार करेगें और वे फिर मृत्युपर्यन्त कभी इस मंदिर में नहीं गये जहाँ झाला राजसी परम्परा के अनुसार वर्ष में एक बार तो झाला शासक को शीश नवाने जाना ही पड़ता था। ये सुधाकरजी ही थे जिन्होंने कहा था :-

"वह तड़प रहा है पड़ा-पड़ा, मैं देख रहा हूं खड़ा-खड़ा।
ये पाप नहीं है तो क्या है मत धर्म बताओ बढ़ा-बढ़ा ।।"

और फिर उन्होंने 'निस दिन डगर बुहारू हरिजन' जैसे भक्ति पद लिखकर अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त किया। जनता की उग्र भावना से आहत होकर उन्होंने फिर अपने राजमहल में उपवास आरम्भ कर दिये थे अत: बात गम्भीर हो गई। राज्य भर में यह बात फैली। अन्तत: राज्य के एक सेवाभावी व्यक्ति ने अपने निजी मंदिर में हरिजनों को दर्शनार्थ प्रवेश की अनुमति देकर दर्शन करवाये। इस अवसर पर सुधाकरजी स्वयं वहाँ आए। वे न केवल हरिजनों के मंदिर में प्रवेश से प्रसन्न हुए अपितु उन्होंने हरिजनों के हाथों से सभी दर्शनार्थियों को प्रसाद भी बंटवाया और प्रसाद लेने वालों को स्वयं की ओर से एक-एक कलदार रुपया भी भेंट किया। द्वारकाधीश मंदिर में हरिजनों, अछूतों के प्रवेश का ऐसा क्रांतिकारी कदम उन्होंने भावावेश में नहीं उठाया था अपितु उनका हृदय वास्तव में भारत के अछूतों के प्रति सवर्णो के अन्याय को सहन नहीं कर पाया था। उन्हें विश्वास था कि :-

आयेगी स्वराज सिद्धी, हाथ जोड़ आगे ।
भारत की यदि आपसी, छुआछूत छूट जायेगी।।

यह घटना 1937 ई. के आसपास की है जो देश में पहली बार हुई थी। परन्तु देखा जाये तो यह कैसी विचित्र स्थिति थी जब एक राजतन्त्र का शासक राजा सुधाकर तो प्रगतिशील दृष्टिकोण का आचरण कर रहा था और अंग्रेजों से स्वराज तथा प्रजातन्त्र मांगती जनता मनुष्य-मनुष्य में भेद-विभेद मानती हुई उसका (राजा का) विरोध कर रही थी। इस घटना की बात जब देश भर में फैली तब भारतीय हरिजन सेवा संघ की ओर से (गांधीजी की ओर से) मुख्य प्रतिनिधि रामेश्वरी नेहरू 1938 ई. में झालावाड़ आई थी। स्थानीय भवानीनाट्यशाला में आयोजित जनसभा में रामेश्वरी नेहरू ने सगर्व-सविनय यह घोषणा की थी कि "झालावाड़ में हरिजनोद्धार के लिए अब नया करने को मेरे पास कुछ नहीं है। आपके तो शासक स्वयं ही पूज्य गांधीजी के कार्य को अपना कार्य मानकर रुचि ले रहे हैं। मैं आप सभी को और राजराणा सुधाकर जी को हार्दिक धन्यवाद अर्पित करती हूँ।" उन्होंने सुधाकर जी को पतित-पावन की उपाधि से विभूषित किया था।

सुधाकरजी की रचनाएं मानवीय सद्भाव, समभाव, भक्ति तथा देशहित का सच्चा गुणगान करती हैं। उन्हें एक सच्चे संत, सेवाभावी की भांति अपने देश की धरती से अगाध प्रेम था। भारत उन्हें प्राणों से अधिक प्रिय था। अपनी धरती उन्हें त्रिलोक से भी अधिक प्यारी लगती थी। इस देश की मिट्टी का

काजल उन्होंने अपनी आंखों से लगाकर यह लिखा था कि :-

एक एक दृश्य हैं अनूठो याको।
हमें यह त्रिलोकी ते मातृभूमि प्यारी है। – तथा
झालावाड़ क्रांतिकारी सुधाकर स्वच्छ हूँ मैं,
देश भक्ति हाला वाला मस्त मतवाला हूं मैं।

एक राष्ट्र और एक भाषा के परमोपासक सुधाकरजी ने आज से 75 वर्ष पूर्व ही यह उद्घोषणा कर दी थी :-

बिना एक भाषा के ना, होगा कभी राष्ट्र एक,
एक राष्ट्रकारी भाषा परम परकास है।
भारत को एक करने को, हिन्दी मूल मंत्र,
जीवन यही है यही स्वांस यही आस है।- तथा
गाँव-गाँव गेह गेह इसका प्रचार करो,
सुधाकर अन्तर की यही अभिलासा है।
क्यों न अपनाते इसे, कैसा है विलम्ब यह,
क्षत्रवीरों हिन्दी की तुम्हारी राष्ट्रभाषा है।।

वे दिव्य सुधा (हाला) के मस्ताने मखमूर थे। उनकी 'मधुशाला-मधुबाला' काव्य कृति में विमलता, एकात्म और प्रेम है तभी तो उनका प्याला जीवन का सुफल देने वाला है जिसके सभी गुण ग्राहक हैं। उनका यह चिन्तन कुरीतियों के विरोध की सुन्दर अभिव्यक्ति को दर्शाता है :-

छूत-अछूत कहाँ लोगों की, कहाँ एक सबका प्याला,
राम राम कहता है कोई, कोई जन अल्ला ताला।
पण्डित, मुल्लों के मन में भी, द्वेष भाव हैं खेल रहे,
पर सबको ही गले लगती, मेरी निर्मल मधुशाला। - तथा
जाति-पाँति का प्रश्न नहीं कुछ, जो आवे पी ले प्याला,
हिन्दू-मुस्लिम हुए एक अब, साथ बैठ पीते प्याला।।

उनका धाम जाति, द्वेष, ऊँच-नीच के भावों से ऊपर उठकर जनतंत्र के सच्चे दर्शन करने वाला है। उनका मानना था कि विभिन्न विभेदों से ऊपर उठकर समता के धरातल पर ही सच्चे जनतंत्र के दर्शन होते है :-

जहाँ ऊँच ओ नीच को भेद नहीं, जहँ रंग को सेत ओ स्याम नहीं,
जहाँ द्वेष क्लेश को लेश नहीं, जहाँ छूत - अछूत को नाम नहीं
जहाँ मंदिर - मस्जिद चर्च नहीं, हमरों है सुधाकर धाम वही।

मानवता के प्रति उनका प्रेम, मात्र देश में ही नहीं अपितु सच्चे संत के समान पूरे विश्व में व्याप्त रहा और वे क्वेटा (विदेश) के भूकम्प पीड़ितों की मदद के लिये चंदा इकट्ठा कर सहायता पहुंचाने का सविनय निवेदन भी करते हैं :-

जखमी पड़े हैं कई जीव, शफाखानों बीच,
जिनको सिसकतों को लारी भर लाई है।

दीजिए दयालु नेक चन्दा निज पाकिट तै।
क्वेटा पै बड़ी भारी विपत हाय आई है।।

भारत देश को प्रेम करने के साथ ही वे भारत के मित्र राष्ट्रों से भी प्रेम करते थे। परन्तु इतना ही क्यों ? वे तो समस्त संसार के सभी प्राणियों को सुखी देखना चाहते थे। देखिये :-

मोहन लोक-लोक सुख पावै, कर्मशील हो सभी प्रजानन,
प्रति दिन बढ़ते जावें।
हरी-भरी सब वसुधा सोहे, जन-जन मोद मनावैं।।

आम जनता की सुख शांति को ही सुधाकरजी राजधर्म का रहस्य मानकर राजधर्म के मर्म को इस प्रकार अभिव्यक्ति देते हैं :-

दिन रात प्रजा की पीर जहँ न कुछ शांति सुख छान दें।
राजधर्म का लेश भी तहैं न सुधाकर तू जान ले।।

उनके हृदय में भारत के प्रति अनन्य भक्ति भाव थे। भारतीय संस्कृति के गौरव पूर्ण स्वरूप पर उनका देशाभिमान इस प्रकार प्रकट होता है :-

भारत की जय हो, जय हो, कह पियों सभी उसका प्याला
आर्यवीर हो भारत के तुम, पी पी कर सब खुल खेलो।।

वे कृष्ण भक्त थे। उन्होंने अनेक सार्थक सम्बोधनों में कृष्ण के लीला पुरुषोत्तम रूप को उद्घाटित करते हुए सूरदास की भांति गोप-गोपी की सुध लेने के लिए आह्वान किया। मूलत: उनका यह भाव भक्त हृदय में राष्ट्र भक्ति की अन्तर्धारा का निरन्तर प्रवाह है। वे भारत के उत्थान के लिए गीता उपदेशक श्रीकृष्ण से पुन: गीता रहस्य सुनाने का आग्रह करते हैं :-

एक बार प्रिय आओ, जग को फेर सुनाओं।
कान्हा मोहन श्याम-मनोहर,
गो - ग्वालन सुध लाओ।
भारत को उन्नत होने हित, गीता मर्म सुनाओं।।

कृष्ण की भक्ति के सच्चे उपासक सुधाकर उनकी बांसुरी में देश उद्धार के स्वर सुनते थे :-

सखे ! उद्धार भारत को, करेगी बांसुरी तेरी।
दिली पीड़ाएँ सब इसकी, हरेगी बांसुरी तेरी।।

देश भक्ति, समाजोद्धार के साथ-साथ सुधाकरजी ने पूर्वी भारत के संत कबीर, दक्षिण भारत के संत बसवण्णा तथा पश्चिम भारत के संत पीपाजी की चिंतन भाषा में तत्त्व, वीतराग और जीवन मुक्ति पर भी सुन्दर अभिव्यक्ति दी। एक शासक के द्वारा की गई ऐसी अभिव्यक्ति एक विचित्र संयोग है। उन्होंने कहा कि:-

जन क्या है ? तत्वों के मिलन का पुतला एक,
तन क्या है ? हाड़-माँस चाम का सुपंजर है।

अंग्रेजों के दमन चक्र में कई निर्दोष पिस गये थे। इस कारण अंग्रेजों के प्रति उनके मन में जो घृणा हो गई थी उसी का संकेत उन्होंने अपनी गजल में दिया है :-

अर्ज है मखमूर की, तुमसे ए कृष्ण जी
सर जालिमों का किसलिए होता कलम नहीं ?

देश, समाज की एकता का मूल उन्होंने चारों वर्णो तथा मंदिर-मस्जिद की समन्वय-वादिता में देखा तथा बताया कि इन्हीं की एक्यता देश की सुदृढ़ आधार शिला है :-

मंदिर औ मसजिद को एक कर मानों सदा,
भेदभाव भरे सबद मूँपै नेक लाओ ना।
चारो वर्ण वालो को न जोलौ एक कर पाओं,
भारत सपूतों तोलौ चित्त चैन पाऔ ना।

इस प्रकार सुधाकरजी की रचनायें और कर्ममय व्यक्तित्व आज भी प्रासंगिक है। उनका गोलोकवास 6 सितम्बर 1943 ई. को झालावाड़ में हुआ था।

एक ही अगत्य बात सबकूं चेताय देहूँ,
मानो या न मानो तोड़ फर्ज जान कहबो।
प्रीत को प्रभाव या है जिगर की जानबाजी,
बैठे ही बिठाये दुख खरीद के लहेबो।
इश्क यारी करिबे में मेरी कछु आड़ नहीं,
जंगल ओ पहाड़ को सबै व्यथा सहेबो।
'मान' कहे सहेलना लगनी को बन्धन यों,
प्रेम-पास हुं ते जन, सदा दूर रहेबो।।

- राजा साहब मानसिंहजी (सन् 1868-1900)
ध्रागंध्रा के झाला राजा

राजर्षि रणंजय सिंह : विलक्षण व्यक्तित्व सम्पन्न साहित्यधर्मी

डॉ. कौशलेन्द्र पाण्डेय

प्रवृत्ति सामान्यत: किसी भी स्वरूप परम्परा के मूल में होती है, वही माध्यम भी बनती है किसी भी परिवार, समाज याकि सम्पूर्ण राष्ट्र को समुचित रूप से सुरक्षित करने की, उसके सर्वांगीण विकास की, वैसे ही जैसे भोर होते ही प्राची में कुछेक मुट्ठी क्षणों में ही उभरता है सुवर्ण जटित एक लोक-लोचनाकर्षी परिदृश्य अनन्तर उसी में से प्रस्फुटित होती है सहस्रोंसहस्र कनकीली किरणें। सूर्यवंशी कछवाहा राजपुरुषों के स्तर से सुशासित गढ़ अमेठी राज्य की बागडोर राजा हिम्मत सिंह, राजा गुरुदत्त सिंह, राजा लालमाधव सिंह, राजा भगवान बख्श सिंह एवं उनके सुपुत्रद्वय सर्वश्री राजकुमार रणवीर सिंह एवं राजा रणंजय सिंह के हाथों में रही। प्रथम मात्र इक्कीस वर्ष की आयु में लोकान्तरित हो गये। काव्य-सर्जना के प्रक्रम में वीर, करुण, शान्त और रौद्र रस की चासनी में उन्होंने युवावोपयोगी साहित्य-सर्जना की। उनकी मान्यतानुसार वीर रस की रचनाओं में युवावर्ग में साहस की वृद्धि के साथ उसके आत्मसम्मान का उद्वेलन भी होता है, करुण रस उसके मानस को संवेदना से विचलित करता है, शान्त रस उसमें अनपेक्षित उद्विग्नता, दुर्विचार एवं अशान्तिजन्य तत्त्वों का शमन तो रौद्र उसे उत्तेजना तथा उत्साह के वातावरण में समष्टि को सँवारने के लिये प्रेरित करता है। कमोवेश दोनों ही स्वामी दयानन्द के विचारों से प्रभावित थे, खड़ीबोली में वह विविध विषयान्तर्गत अनेक भंगिमाई काव्य-सर्जना करते, किन्तु अपने जीवन की अत्यल्पता का पूर्वाभास होने के कारण राजकुमार रणवीरजी पूर्ण ब्रह्मचारी ही रहे, लोकैषणा से सर्वथा विरत! इसी कारण उन्होंने अपने सर्जना-सोच में श्रृंगार को लेशमात्र स्थान नहीं दिया हालाँकि अमेठी के उल्लिखित पूर्व नरेशों ने महीपति, भूपति, क्षितिपाल प्रभृति समानार्थी उपनामों से उक्त रस-केन्द्रित अनेकश: कृत्तियों का प्रणयन किया था। राजकुमार ने 'सुधीर संगर' और 'सुभट तरुण' संज्ञापित दो उपन्यासों के अतिरिक्त काव्य-प्रेमीजनों के लिये 'कविता कंकोष' नाम की कृति भी रची। सुप्रसिद्ध उपन्यासकार देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता' से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण उन्होंने अपनी रचनाधर्मिता में उपन्यास लेखन को वरीयता दी, वर्ना तत्त्वत: ऐहिलौकिक भोगों के प्रति उनमें कभी भी कोई रुचि नहीं रही थी। पारायणकर्त्ताओं के स्तर पर आये वैचारिक बदलाव की दृष्टि से उनकी निबन्ध-कृति 'रणवीर रत्नाकर' अवश्य ही कारण रही क्योंकि उसके अवगाहनोपरान्त बहुतों ने अपनी अनास्था का परित्याग करके आस्था और सत्संकारों का वरण करने में रुचि प्रदर्शित की। 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल' विषय केन्द्रित लेखन से भी वह जनमानस में आत्म-सम्मान के साथ-साथ स्वदेश के प्रति अनुरक्ति-भाव जागृत करने में काफी कुछ सफल रहे थे। यूँ निर्विवाद रूप से सर्वस्वीकार्य धारणा यही प्रतीत होती है कि गढ़-अमेठी के सारे ही कछवाहा नरेश अपने-अपने शासनकाल की स्थिति-परिस्थिति की अपेक्षाओं के अनुरूप सात्विक प्रवृत्तियों एवं परिवारीय परम्पराओं से जुड़े रहकर आत्म-गौरव के सतत संवर्धन में रुचिशील थे।

सगे बड़े भाई थे राजकुमार रणवीर सिंह, (जन्म 1899) उम्र में मात्र दो वर्ष के अन्तर को भी रणंजयजी ने यथेष्ट सम्मान दिया। तथ्यत: ये उनके प्रति सुमित्रा-पुत्र लक्ष्मण के भाव में रहते। श्री प्रकाश वीर शास्त्री के एक लघुलेख के अनुसार ''राजा रणंजय सिंह को देखकर कोई भी आसानी से कह सकता

था –''भूल से कोई साधु अमेठी के राजघराने में जन्म ले बैठा।'' दृष्टव्य है एक अन्य टिप्पणी भी राजा साहब पर केन्द्रित चार सौ पृष्ठीय ब्रहत् अभिनन्दन ग्रन्थ के पृष्ठ संख्या-छ पर : 'उनके पहनावे, बोलने, व्यवहार में कहीं भी तो राजपरिवार वाली गंध नहीं मिलेगी। सार्वजनिक कार्य में उन्हें सुख मिलता। सहज व्यंग्य में बात कहना उनकी विशेषता थी। एक बार अपने भारी-भरकम शरीर को इंगित करते हुये किसी सभा के अध्यक्ष पद से बोलते हुए उन्होंने कहा : 'शरीर से मैं कुछ भारी हूँ-पर आपका आभारी हूँ जो आपने यह गौरव मुझे प्रदान किया।' उन जैसे खुशमिज़ाज़ राष्ट्रसेवी, शिक्षाविद् और समाज-सुधारक पर कोई भी राष्ट्र अभिमान कर सकता है। इसी अभिनन्दन ग्रन्थ के एक अन्य लेख के अनुसार ही : 'रणंजयजी भारतीय संस्कृति के पूर्ण समर्थक थे; उनकी दृष्टि में आर्य समाज के द्वारा ही भारतीय संस्कृति का प्रचार हो सकता है। अवसर मिलने पर हिन्दी में लिखते हैं, नैतिक विचारों के प्रचारार्थ पद्य रचना भी करते हैं। पहले हॉकी, फुटबाल, दण्ड-बैठक और कुश्ती जैसे व्यायामों में अभिरुचि रखते थे, किन्तु बाद में उन्होंने टेनिस को अपना प्रिय खेल बना लिया। तथ्यत: टेनिस-प्रेम ने ही उनके सुपुत्र राजकुमार संजय सिंह को टेनिस के एक उच्चकोटीय खिलाड़ी होने की ख्याति भी दिलाई जबकि पिता रूप में रणंजयजी गोवध सहित बालविवाह व दहेज जैसी दुष्प्रवृत्तियों के निपट विरोधी थे।

क्यों उन्हें ''राजर्षि'' की मान्यता मिली जबकि अमेठी के पूर्व नरेश 'राजा' या 'राजकुमार' ही कहे गये ? स्वाभाविक रूप से कोई भी व्यक्ति जानना चाहेगा इसका कारण; यदि वह रणंजय सिंह जी के व्यक्तिजन्य उक्त वैराट्य के साथ-साथ गढ़-अमेठी के पूर्ववर्ती शासकों की विशिष्ट शासन-शैली तथा उनके कार्यकाल के अंतराल में प्रसरित अवस्थितियों से अनभिज्ञ है। तथ्यत: राजर्षि से पूर्व के लगभग सभी नरेशों में कोई अमेठी राज्य की स्थापना तो अन्य उसकी सीमाओं पर आँखें चुभोये विधर्मी तत्त्वों से सततरूपेण सतर्क रहने में व्यस्त रहे, राजकुमार रणवीर सिंह की अल्पायु में ही मृत्यु ने तो राजवंश के भविष्य को असमय ही अनिश्चितता के अँधेरे में धकेल दिया था क्योंकि वह अब अपने अंतिम पावदान में था; तात्पर्यत: राजकुमार रणंजय सिंह को ही अमेठी राज्य की विषमतर स्थितियों का युक्तिसंगत शमन करना था। रिआया तथा उसकी परिसम्पतियों की रक्षा-सुरक्षा के अतिरिक्त एक यक्ष प्रश्न भी था उनके सामने कि राजवंश की पुश्तैनी साहित्यधर्मिता की प्रवृत्ति को कैसे सातत्य प्रदान किया जाय, प्रबुद्ध वर्ग भी तो दुखी होगा क्योंकि कृपाण और कलम के धनी नरेशों के स्तर से निर्मित सारस्वत वातावरण की अकस्मात शून्यता शायद ही उसे सह्य हो पाये। ऊहापोह की इस स्थिति से उन्हें मुक्ति दिलाई राजा जी के इस निर्णय ने कि अमेठी की सत्ता में रहते हुए वह राजवंश की सारस्वत परम्पराओं को अपने आसपास के क्षेत्रों में ही नहीं, राष्ट्रीय स्तर पर गति देंगे, सांस्कृतिक चेतना एवं राष्ट्रोन्नयन के निमित्त देश की शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ पारस्परिक मनुष्य भाव को भी शून्यस्पर्शी दिशा देंगे। इस मुहिम में वह आजीवन परोपकार-पारायण भी रहे। रंच मात्र परवाह नहीं की कि नीति निपुण वर्ग उनकी निंदा करेगा या प्रशंसा, लक्ष्मी का क्या व्यवहार होगा उनके प्रति, और भले ही आसन्न हो उनके जीवन की इति-वह न्यायोचित मार्ग से कतई विचलित नहीं होंगे। यूँ वह अप्रतिम कर्मयोगी और क्रान्ति-धर्मा-अर्थत: राजर्षि थे। आत्मविद्या वस्तुत: जो योगविद्या है, के अनन्य ज्ञाता की मान्यता के योग्य भी थे वह। स्वयं की इस प्रतीति का मैं श्रीमद्भगवद्गीता के अंतर्गत वासुदेव श्रीकृष्ण के स्तर से उच्चरित एक श्लोक से सम्पुष्ट करना चाहूंगा। यथा: ''इयं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवे ब्रवीत ...... एवं ''परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदु:।'' तात्पर्यत: आत्मविद्या याकि योगविद्या जिसे सर्वप्रथम उन्होंने विवस्वान को प्रदान की, अनन्तर राजा मनु और इच्छवाकु को, वह निश्चितरूपेण अमेठी नरेश श्री रणंजय सिंह के गुरु गंभीर एवं महान् सारस्वत व्यक्तित्व तक आई। तथ्यत: वह अब तक के राजर्षियों के किसी भी क्रम में हों-''राजर्षियों के पांक्तेय तो हैं ही। एक वैदिक ऋचा ''अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापति:/-यथास्यै रोच्यते विश्वं तथास्मै परिवर्तते'' के आधार पर तो वह साहित्यधर्मी होने के कारण

अतिरिक्त ब्रह्मा की लोकमान्यता के निमित्त भी अर्ह थे। इस बिन्दु पर सर्वथा उल्लेख्य है साहित्य की परिधि में केवल कविता नहीं, साम्प्रतिक परिपेक्ष्य में विचार किया जाय तो गद्य की किसी भी भंगिमा के सहारे कोई भी लेखनधर्मी पाठकीय रुचि में मनोनुकूल शुचिता उत्पन्न कर सकता है। इस आलेख के अप्रतिम नायक समग्र राष्ट्रोन्नयन के निमित्त संकल्पित 'राजाजी' जो छब्बीस वर्षों तक गढ़ अमेठी राज्य की सत्ता के केन्द्र में रहे, तो स्वदेश के स्वाधीन होने के पश्चात् सन् 1988 तक सार्वजनिक जीवन में अत्यधिक सक्रिय भी; सत्तासीन रहने की अवधि में राजपुरुष की प्रास्थिति में होते हुए भी उन्होंने स्वयं को रियाया का सेवक याकि जनसामान्य कोटीय बनाये रखा। सन् 1988 से अपने निर्वाण के अंतराल में भी उन्होंने अपनी प्रजाहितबद्धता को प्राथमिकता दी। उनके दूरगामी सोच के अनुसार हिन्दी जैसी सरल, अकृत्रिम, संस्कार-दा एवं अकल्पनीय भविष्य की स्वामिनी भाषा को अक्षरता प्रदान करने के लिए उसे जनभाषा (यानि जन-जीवन की भाषा) बनाने का अभियान प्रारम्भ करना आवश्यक था, इसलिये भी कि देश की अन्य भाषाओं की तुलना में सर्वाधिक शब्द संख्या एवं अपने आदिकाल से आजादी की तिथि तक के अंतराल में विपुल साहित्य से समृद्ध हिन्दी भारतीयता की एकजुटता तथा उसके सर्वतोन्मुखी विकास की पहचान रही जबकि इतर भाषाएँ राष्ट्र की एकजुटता तथा उसके सर्वतोन्मुखी विकास की बाधक। वह समसामयिक कवियों व अन्यायन्य विधा वाले लेखनधर्मियों, हिन्दी के अध्यापकों व प्राध्यापकों के साथ-साथ बहुविश्रुत साहित्यकारों व कलामंचों के सीधे संपर्क में भी रहे। विद्वान एवं लोकप्रिय सुकवि तथा उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' से किसी-न-किसी प्रयोजन से मिलने के लिये यदाकदा 'संस्थान' भी पहुंचते ; उनकी अनुपस्थिति में हिन्दी की अधिकाधिक परिव्याप्ति के प्रक्रम में वह संस्थान के निदेशक के अनुभवाधारित विचारों से भी लाभान्वित होते, यथावश्यकता पत्राचार भी करते। फलत: भाषा की 'भागीरथी' को यथाभिलषित दिशा मिली। विद्यालयों, क्षेत्रीय विकास प्रतिष्ठानों में स्वाधीनता दिवस, गणतंत्र दिवस व गाँधी जयंती जैसे विशिष्ट अवसरों पर सम्पूर्ण प्रदेश ही नहीं, अखिल भारतीय हिंदी भाषी क्षेत्रों में कवि सम्मेलनों एवं कवि गोष्ठियों के प्रति दीवानगी के चलते उस भागीरथी को यथेष्ट संवेग भी मिला। न केवल इतना ग्रामीण किशोर और युवावर्गीय ही नही वरिष्ठ जनों के मानस में भी दृश्यादृश्य रूप में 'सरस्वती' के अस्तित्व का आभास हुआ। लेखनियों ने श्रमगीत लिखे, कुदाल और फावड़े को माध्यम बनाकर क्षेत्रीय विकास एवं ग्रामीण जनता में अशिक्षा के तमोल्मूलन के प्रति रुचि जागी तो अवधी, भोजपुरी, ब्रज तथा हिन्दी की सहयोगी अन्यान्य भाषाओं ने जनाभिव्यक्ति को अकल्पनीय विलक्षणता प्रदान की। इन समस्त उपलब्धियों के मूल में हमारे लेखनायक भी थे, कहीं प्रत्यक्षरूपेण तो कहीं प्रकारान्तर से। वस्तुत: वह शैक्षिक क्रान्ति के पुरोधा थे, और राजपुरुष होते हुये भी हिन्दी को उपयुक्तता की दृष्टि से राष्ट्रभाषा की गरिमा से मण्डित करने वालों की पंक्ति में स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री केशव चन्द्र सेन, महात्मा गाँधी तथा अन्य कतिपय समान सोची व्यक्तित्वों की पंक्ति में बहुतों-से-बहुत क्रियाशील दिखते।

राजर्षि की दृष्टि में स्वयं से पूर्व के नरेशों की तरह उनके स्तर से भी साहित्यिक कृतियों के प्रणयन की आवश्यकता नहीं रही। नि:सन्देह उनकी कृत्तियाँ काव्य-शास्त्रीय निकशों पर उत्कृष्ट थीं, अमेठी राज्य का पढ़ा-लिखा याकि विद्वत वर्ग उनसे रचनात्मक दृष्टि ग्रहण करता था, मनोरंजक प्रकरणों से सामान्य श्रोता भी आनन्दित होते। उनकी स्तरीयता से अभिभूत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो कइयों को हिन्दी साहित्येतिहास में भी संदर्भित किया। तथ्यत: स्वदेश के लिए मन-वचन और कर्म से समर्पित सर्वसम्मान्य जननेता रणंजय जो आजादी मिलने के दिन से देश का किसी भी माली हैसियत अथवा भूखण्ड का रहने वाला समान मौलिक अधिकारों के लिए अर्ह है, संविधान से ही शासित एवं प्रशासित होने के कारण आये बदलाव के चलते क्षेत्रीय विकास के अनेकानेक कार्यक्रमों से जुड़ेगा इसलिये लेखनधर्मियों को रचनात्मक दृष्टि भी बदलनी होगी-यूँ उनके स्तर से इस बिन्दु पर पूर्व अमेठी नरेशों के पदचिन्हों पर

चलना बेमानी है, उन्हें ही नहीं, अब तो किसी भी रचनाधर्मी को हिमालय से हिन्द महासागर और कच्छ से कलकत्ता तक पहले से ही व्याप्त विरूपताओं तथा आसन्न अनेकानेक अपस्थितियों के निराकरण के निमित्त सभी को एक स्वतंत्र एवं अपने-अपने दायित्व बोधी नागरिक जैसा ही जीवन प्रदान करने के लिए लेखनी का इस्तेमाल करना होगा। इस उद्देश्य को मूर्तरूप में लाने के लिए उन्होंने अपनी किशोरावस्था तक के कितने ही प्रकरणों को खँगाला, विशेषकर अपने अग्रज राजकुमार रणवीर सिंह से मिले स्नेहिल साहचर्य के, उनके देश की संस्कृति और स्वदेशी के प्रति लगाव, गोवंश के प्रति श्रद्धाभाव तथा भगवान गणेश की प्रथम सम्पूज्यता से जो सम्बन्धित थे। सादगी को माध्यम बनाकर यूँ उन्होंने खादी-वस्त्रों तथा गाँधी टोपी के प्रयोग को प्रचारित किया; उनके कार्यक्रमों के अंतर्गत ऐच्छिक प्रचार को अपूर्व प्राथमिकता मिली। तथ्यत: उन्होंने अमेठी में बालमन्दिर से लेकर स्नातकोत्तर महाविद्यालय प्रारम्भ किये, अपना राज्य रही अमेठी के कोने-कोने में सर्वजनहिताय अनेक विद्यालय खोले जिससे कि आने जाने की सुविधाओं से विरल ग्रामीण बच्चे थोड़े ही समय में अपनी-अपनी कक्षाओं में पहुंच सकें। राजर्षि के हृदय की निस्सीमता तो देखिये-उन्होंने आसपास के जनपदों के नवजात प्रत्येक विद्यालय को लाखों रुपये इसलिये दान किये कि वित्त न्यूनता के कारण उनके छात्रों की शिक्षा दुष्प्रभावित न हो। लोकप्रिय कृति ''कविता कंकोष'' से सर्वसुलभ सूचना के अनुसार ही उन्होंने अपनी पारम्परिक सारस्वत प्रतिभा का इस्तेमाल स्फुट काव्य-सर्जना में किया, तथ्यत: घनाक्षरी, सवैया, हरिगीतिका, छप्पय कुण्डलियाँ, रौला, दौहा प्रभृति काव्य-भंगिमाओं में स्वयं के हृदयोद्गार शब्दायित करने में उन्हें महारत हासिल थी। ईश्वर की भक्ति-अनुरक्ति महर्षि दयानन्द के व्यक्तित्व की अप्रतिमता, देश के जन्माष्टमी-दशहरा, दीपावली, स्वातंत्र्य एवं गणतंत्र दिवस प्रभृति कमोबेश समस्त पारम्परिक पर्वो के अतिरिक्त राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, सरोजनी नायडू, रफी अहमद किदवई, शरच्चन्द्र वसु, गोविन्द वल्लभ पंत, पं. नेहरू, शास्त्री, जैसे राष्ट्र के दिग्गज कर्णधारों को भी उन्होंने पद्यात्मक ही नही, गद्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की। तात्पर्यत: गद्यात्मक लेखनाभिव्यक्ति में भी वह वैशिष्ट्य सम्पन्न थे। उनके विचार में हृदयोद्गारों की सीमित एवं सुसरल शब्दाभिव्यक्ति 'नावक के तीर' जैसी प्रभविष्णुता वाली होती हैं जबकि गद्याधारित कथ्य अपने विस्तार के कारण जितना असहज-उतना ही दुष्पाच्य। तथ्यत: अमेठी क्षेत्र से इतर अंचलों में अपने बहुआयामी दायित्व को निभाते रहने के प्रक्रम में अपनी वंश-परम्परा से जुड़ी रचनात्मक विधा (कविता) उन्हें पर्याप्त रूपेण प्रियकर थी। यूँ द्रष्टव्य है भारतीय संस्कृति के अप्रितम माहात्म्य को व्याख्यापित करती उनकी निम्नांकित काव्य रचना-

भारत की संस्कृति है विश्व को अनोखी देन,
सत्यं शिवं सुन्दरम है जिसकी प्रस्तावना।
वसुधा कुटुम्ब की है मूल स्रोत ओत प्रोत
प्राणिमात्र दयापात्र भरी भव्य भावना।

नीति-रीति यथायोग्य 'रणंजय' न्याय
सुष्ठु को सुखद दुष्टजन को भयावना।
विद्या-बल-धन तथा सेवा धर्मयुक्त सदा
जीवन सरल हो विचार हो सुहावना।

'वैदिक धर्म' के प्रचार-प्रसार को चतुर्दिक शान्ति, स्वार्थशून्यता तथा अणुबम्ब की परिहार्यता को रेखांकित करती यह कविता भी न केवल हम भारतीयों के लिए दृष्टिदा है, इसके माध्यम से मानवीय संस्कृति के समूलोन्मूलन के लिये तत्पर शक्तियों को राजर्षि महोदय संकेत भी करते हैं कि उनका सोच आत्यघाती है समष्टि का पोषक नहीं। यथा :-

निश्चय है होगा नहीं जग में शान्ति प्रसार।
जब तक वैदिक धर्म का होता नहीं प्रचार,
होता नहीं प्रचार स्वार्थ चारों दिक् फैला
तन सुन्दर है किन्तु हुआ है मन अति मैला।
ज्ञानहीन विज्ञान प्रलय का लाता है भय
ऐटम बम को लिये समझते उन्नति निश्चय।।

अंग्रेजी को स्वदेश के लिए असार्थक भाषा बताते हुए राजर्षि महोदय हिन्दी को ही सर्ववरीय मानते हैं क्योंकि ये आर्यावर्त्त की भाषा रही है, देवभाषा संस्कृत की प्रथम पुत्री है, पाठक के मानस में उत्कृष्ट जीवन मूल्यों को जागृत करके हमारे व्यक्तित्व को परिष्कृत भी करती है। सर्व सुग्राह्य और मुहावरेदार भाषा में हिन्दी की भव्यता के प्रति उनके अभिव्यक्ति लाघव पर कोई भी काव्य प्रेमी गद्गद हो उठेगा। यूँ है यह –

भारत दिव्य देश की भारती है भाषा भव्य,
अथवा आर्यावर्त्त की आर्य भाषा मानिये।
अरबी ज्यों अरब की, तो हिन्दी भी हिन्द की है
होकर आजाद पूर्ण रूप पहिचानिये।
द्रविण प्राणायाम अभ्यासी जो द्रविण जन
पकड़े नहीं सीधी नाक सत्य ही जानिये।
गये अंग्रेज न अभीष्ट उनकी छत्रछाया
कृपया अंग्रेजी का न अब तम्बू तानिये।।

'महर्षि वन्दना' शीर्षकीय एक षटपदी स्वामी दयानन्द के अकल्पनीय व्यक्तित्व को समर्पित है। यथा: 'वैदिक मत के पुनरुद्धारक महासुधारक/ब्रह्मचर्य की मूर्ति, अहिंसा धर्म प्रचारक//विश्वप्रेम से ओत-प्रोत निष्पक्ष विचारक/सुधी बली निर्भय सन्यासी जगदुपकारक//श्री दयानन्द कविराज का अतिकृतज्ञ संसार है/वे अद्वितीय वेदज्ञ थे, नमस्कार शतवार है।''

नूतन वर्षागमन पर राजर्षि जी ने प्रत्येक वर्ष लेखनी का सदुपयोग किया। 'कविता कंकोष' में ऐसे ही अवसर की रौला, रुचिरा, दोहा, वीर, हरिगीतिका, गीत में विरचित कई कवितायें सुलभ हैं। रामराज्य, विजय दशमी, दीपावली, होली तथा राष्ट्रीय त्यौहारों पर विरचित अनेक कवितायें सर्वथा चित्ताकर्षक भी। ''स्वतंत्रता सर्व सुखस्य मूलम्'' भाववाली रचना के अंतर्गत कतिपय चौपदों में खादी, मद्यपान, नसबन्दी, सत्य और अहिंसा, नारी-अपमान, प्रभृति शुभाशुभ युगीन सत्य संदर्भित हैं।

अपने वक्त के अधकचरा लेखन करने वाले तथाकथित साहित्यकारों को वह बड़ी गुरुता से डाटते, वह भी कविता को माध्यम बनाकर। ''कलिकाल-कुकवि'' शीर्षकीय अपनी एक रचना में उनके स्तर से कवियों के एक वर्ग को डाट पिलाने की शैली तो देखिये- ''काव्य करना तो नहीं हैं जानते, किन्तु अपने को शिरोमणि मानते/बेतुकी तुकबंदियों को जोड़कर/शुद्ध पिंगल शास्त्र से मुख मोड़कर/मंच पर सम्मेलनों में बैठते/और पैसे अधिक सबसे ऐंठते/मान पाने को सुरीली तान है/गीत गाने का न यद्यपि ज्ञान है।।'' एक दोहे से अंतत: उन्होंने कहा था-''कवि होना है कठिन कवि ईश्वर का नाम/रचनायें जिसकी सकल, मनमोहक अभिराम।'''राजर्षि' यूँ वस्तुत: सभी को एक सम्मिलित संदेश देते कि किसी सुयोग्य रचनाकार की गुरुवाई में ही कवि बनने का प्रयास करें जिससे कि हिन्दी का समुचित संवर्द्धन हो सके, रचनाकार को सम्मान मिले और ''कविरेव प्रजापति:'' की ऋग्वेदीय मान्यता यथेष्टरूपेण प्रतिष्ठित हो सके।

तत्वतः समस्त देवगुणों से सम्पन्न रणंजयजी उदात्त व्यक्तित्व थे। स्वातंत्र्योत्तर काल में उन्होंने देश के सहस्रों नेताओं को अपनी सामाजिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक सेवा, सादगी तथा विद्वत्ता से प्रभावित किया; हिन्दी प्रचार के साथ-साथ शिक्षा के प्रसार के प्रक्रम में देश को दिशा दी। शान्त चित्त वह मानव कल्याणकामी व्यक्तियों में स्वामी दयानन्द सरस्वती के पाँक्तेय थे ही, उनके सभी निर्णय 'ज़मीनी हकीकत' से जुड़े होते, इसलिये वे त्रुटिशून्य भी रहे। वासुदेव कृष्ण से मिलते-जुलते सोच वाले तथा ग्रामीण क्षेत्रीय समस्याओं से सर्वथा अवगत! कृष्ण ने स्वयं को मुसना कवि बताया था। यूँ रणंजय जी कवि रूप में शुक्राचार्य के समकक्ष भी थे, गोवंश के रक्षक-संरक्षक भी। अतिरिक्त एक बात और दोनों ही राजवंशीय थे-राज-सिंहासन के प्रति कतई निर्लिप्त। कमोबेश साढ़े पांच सहस्र वर्षो से श्रीकृष्ण भगवान रूप में सर्वमान्य रहे हैं। पौराणिक मान्यता के अनुसार श्रेष्ठतम याकि आदर्श राजपुरुष वह नहीं जिसने लड़ाइयों में बड़े खून खराबे के पश्चात् विजयश्री हथियाई हो, पराजित नृपत्ति के कोषगार लूट-लूटकर अपनी कीर्ति को बहुगुणित किया हो; आदर्श नरेश माने जाने का वही नृपत्ति अधिकारी है जिसने अपनी प्रजा को सुख सम्पन्न भी रक्खा हो, साथ ही अपने अवसानोपरान्त भी वह सराहा जाता रहे। वासुदेव कृष्ण की तरह ही आज राजाजी हम सब के लिये अविस्मरिणीय हैं ही, असंभव नहीं कि भविष्य के अंतराल में अहर्निश सुगबुगाती उनकी अनष्ट्य कीर्ति को कलियुग का आदर्श राजा अथवा 'राजर्षि' रूप विस्मृत न कर पाये।

हृदय की अनेकानेक कोशिकाओं में सहसा ही स्पन्दित हुई सर्वसम्मान्य जननायक के सर्वानुकरणीय व्यक्तित्व से सम्बन्धित एक प्रकरण। ये मेरी उपर्युक्त प्रत्याशा को सम्पुष्ट भी करता है। इसे सार्वजनीन करने के लोभ का संवरण संभवतः असमीचीन होगा। ज्ञातव्य है जनपद रायबरेली के अंतर्गत लखनऊ की ओर मुंह किये राजमार्ग पर ही बछरावाँ नाम का एक कस्बा भी है। मेरे अनुमान अमेठी के आज के महाविद्यालय से कुछ ही वर्ष पूर्व बछरावा का '' श्री गांधी विद्यालय हायर सेकण्डरी-स्कूल खुला था। ग्यारहवीं का छात्र था मैं। कॉलेज के वार्षिकोत्सव के अवसर पर लगभग बारह बजे रात्रि तक चले कवि सम्मेलन की अध्यक्षता महामधवा की तरह दृश्यमान राजर्षिजी ने ही की थी। समापन से पूर्व उन्होंने नन्हीं-नन्हीं कुछ कवितायें सुनाने के बाद अपने संक्षिप्त भाषण में आशीर्वाद स्वरूप कहा था कि विद्यार्थियों के साथ-साथ आसपास के गावों से आये काव्यप्रेमी भी ज्यादा-से-ज्यादा रचनात्मकता से जुडें क्योंकि इससे रचनाकार की प्रतिभा में निखार आता ही है, समाज के किशोर व युवावर्ग को सदियों की परतंत्रता से अवमुक्त देश के क्षेत्रीय-परिक्षेत्रीय विकास के लिये नये-नये रास्ते खुलते हैं। भाषा की लोकप्रियता भी बढ़ती है। और हाँ मैं चाहता हूँ कि पूरे देश में सर्वत्र हिन्दी की कृतियाँ ही पढ़ी जायें। प्रत्येक पुस्तकालय अपने-अपने क्षेत्र के लिये एक प्रकाश स्तंभ की भूमिका निभाये।

> अपने शत्रुओं से प्यार करो, और जो तुम्हारा अनिष्ट चाहें, उन्हें आशीर्वाद दो ; जो तुमसे घृणा करें, उनका मंगल करो और जो तुम्हारी निन्दा अथवा तुमसे द्वेष करें और तुम्हें सतायें, उनके लिए प्रभु से प्रार्थना करो।
>
> – महात्मा ईसामसीह

राजा चक्रधरसिंह की साहित्य-सेवा

प्रो. अश्विनी केशरवानी

01 जनवरी 1946 को पांच देशी रियासतों क्रमशः रायगढ़, धरमजयगढ़, जशपुर और सक्ती को मिलकार रायगढ़ जिले का निर्माण किया गया था। 1956 में राज्य पुनर्गठन के पश्चात् सक्ती और खरसिया तहसील के कुछ भाग बिलासपुर जिले में सम्मिलित कर दिये गये। रायगढ़ नगर के नाम पर जिले का नाम 'रायगढ़' रखा गया है। जिले के गठन के पूर्व रायगढ़ एक फ्यूडेटरी स्टेट की राजधानी था। फ्यूडेटरी स्टेट्स गजेटियर के अनुसार रायगढ़ नाम की उत्पत्ति ''राई'' नामक एक कटीले वृक्ष की अधिकता के कारण हुआ माना जाता है। डॉ. रामकुमार बेहार के अनुसार 'राय' अर्थात् 'बड़ा जामुन' की अधिकता के कारण इसका नाम रायगढ़ पड़ा। वर्तमान रायगढ़ जिले के उत्तर में जशपुर और सरगुजा जिला, दक्षिण में महासमुंद और बलोदाबाजार जिला, पूर्व में झारखंड प्रांत के रांची और उड़ीसा प्रांत के संबलपुर जिला, पश्चिम में जांजगीर-चांपा जिला स्थित है। रायगढ़ की पहचान यहां का सांस्कृतिक, साहित्यिक, संगीत और कत्थक नृत्य है। यहां प्रतिवर्ष होने वाले चक्रधर समारोह से इसे आज पूरे देश में ख्याति मिली है। भारतेन्दु काल से लेकर आज तक यहां साहित्यकारों के द्वारा लेखन होता आ रहा है। यहां के संगीत और उत्कृष्ट रचनाकार राजा चक्रधरसिंह ने इसे पूरे देश में विख्यात कर दिया। सुप्रसिद्ध कवि शुकलाल पांडेय ने 'छत्तीसगढ़ गौरव' में भी लिखा है :-

महाराज हैं देव चक्रधर सिंह बड़भागी।
नृत्य वाद्य संगीत ग्रंथ रचना अनुरागी ।
केलो सरितापुरी रायगढ़ की बन पायल।
बजती है अति मधुर मंद स्वर से प्रतिपल पल।
जल कल है, सुन्दर महल है निशि में विपुल द्युतिधवल।
है ग्राम रायगढ़ राज्य के, सुखी संपदा युत सकल।।

गणेश मेला से चक्रधर समारोह तक :- रायगढ़ में 'गणेश मेले' की शुरूआत कब हुई इसका कोई लिखित साक्ष्य नहीं मिलता। मुझे मेरे घर में रायगढ़ के राजा विश्वनाथ सिंह का 8 सितंबर 1918 को लिखा एक आमंत्रण पत्र माखनसाव के नाम मिला है जिसमें उन्होंने गणेश मेला उत्सव में सम्मिलित होने का अनुरोध किया गया है। इस परम्परा का निर्वाह राजा भूपदेवसिंह भी करते रहे। पंडित मेदिनी प्रसाद पांडेय ने 'गणपति उत्सव दर्पण' लिखा है। 20 पेज की इस प्रकाशित पुस्तिका में पांडेयजी ने गणेश उत्सव के अवसर पर होने वाले कार्यक्रमों को छंदों में समेटने का प्रयास किया है। गणेश चतुर्थी की तिथि तब स्थायी हो गयी जब कुंवर चक्रधर का जन्म गणेश चतुर्थी को हुआ। बालक चक्रधरसिंह के जन्म को चिरस्थायी बनाने के लिए 'चक्रधर पुस्तक माला' के प्रकाशन की शुरूआत की थी। इस पुस्तक माला के अंतर्गत पंडित पुरुषोत्तम प्रसाद पांडेय के कुशल संपादन में पंडित अनंतराम पांडेय की रचनाओं का संग्रह 'अनंत लेखावली' के रूप में नटवर प्रेस रायगढ़ से प्रकाशित किया गया था। कहते हैं रायगढ़ रियासत के राजा जुझारसिंह ने अपने शौर्य और कला, नृत्य और साहित्य की त्रिवेणी के रूप में ख्याति दिलायी।

नान्हे महाराज से चक्रधर सिंह तक का सफर :- दरअसल रायगढ़ दरबार को संगीत, नृत्य और कला के क्षेत्र में ख्याति बरसों से आयोजित होने वाले गणेश मेला उत्सव में मिली। बाद में यह जन्मोत्सव के रूप में मनाया जाने लगा। क्योंकि इस दिन (19 अगस्त सन् 1905 को) रायगढ़ के आठवें राजा भूपदेवसिंह के द्वितीय पुत्ररत्न के रूप में 'चक्रधरसिंह' का जन्म हुआ। वे तीन भाई क्रमश: श्री नटवरसिंह, श्री चक्रधरसिंह और श्री बलभद्रसिंह थे। चक्रधरसिंह को सभी ''नान्हे महाराज'' कहते थे। उनका लालन-पालन यहां के संगीतमय और साहित्यिक वातावरण में हुआ। उनकी प्रारंभिक शिक्षा रायगढ़ के मोती महल में हुई। आठ वर्ष की आयु में सन् 1914 में उन्हें रायपुर के राजकुमार कॉलेज में दाखिल कराया गया। नौ वर्ष तक वहां के कड़े अनुशासन विद्याध्ययन करने के बाद सन् 1923 में प्रशासनिक ट्रेनिंग के लिए छिंदवाड़ा चले गये। कुशलतापूर्वक वहां की प्रशासनिक ट्रेनिंग पूरी करके रायगढ़ लौटने पर उनका विवाह बिंद्रानवागढ़ के जमींदार की बहन से हुआ। जिनके गर्भ से श्री ललित कुमार सिंह, श्री भानुप्रताप सिंह, मोहिनी देवी और गंधर्वकुमारी देवी का जन्म हुआ। 15 फरवरी 1924 को राजा नटवरसिंह की असामयिक मृत्यु हो गयी। चूंकि उनका कोई पुत्र नहीं था अत: रानी साहिबा ने चक्रधरसिंह को गोद ले लिया। इस प्रकार श्री चक्रधरसिंह रायगढ़ रियासत की गद्दी पर आसीन हुए। 04 मार्च सन् 1929 में सारंगढ़ के राजा जवाहरसिंह की पुत्री कुमारी बसन्तमाला से राजा चक्रधरसिंह का दूसरा विवाह हुआ जिसमें शिवरीनारायण के श्री आत्माराम साव सम्मिलित हुए। मैं उनका वंशज हूँ और मुझे इस विवाह का निमंत्रण पत्र मेरे घर में मिला। उनके गर्भ से सन् 1932 में कुंवर सुरेन्द्रकुमार सिंह का जन्म हुआ। उनकी मां का देहांत हो जाने पर राजा चक्रधरसिंह ने कवर्धा के राजा धर्मराजसिंह की बहन से तीसरा विवाह किया जिनसे कोई संतान नहीं हुई।

नृत्य, संगीत और साहित्य की त्रिवेणी के रूप में :- राजा बनने के बाद चक्रधरसिंह राजकीय कार्यो के अतिरिक्त अपना अधिकांश समय संगीत, नृत्य, कला और साहित्य-साधना में व्यतीत करने लगे। वे एक उत्कृष्ट तबला वादक, कला पारखी और संगीत प्रेमी थे। बल्कि वे एक अच्छे साहित्यकार भी थे। उन्होंने संगीत के कई अनमोल ग्रंथों, दर्जन भर साहित्यिक और उर्दू काव्य तथा उपन्यास की रचना की। उनके दरबार में केवल कलारत्न ही नहीं बल्कि साहित्य-रत्न भी थे। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री भगवतीचरण वर्मा, पंडित माखनलाल चतुर्वेदी, श्री रामेश्वर शुक्ल ''अंचल'', डॉ. रामकुमार वर्मा और पं. जानकी बल्लभ शास्त्री को यहां अपनी साहित्यिक प्रतिभा दिखाने और पुरस्कृत होने का सौभाग्य मिला। अंचल के अनेक लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार, जिनमें पं. अनंतराम पांडेय, पं. मेदिनीप्रसाद पांडेय, पं. पुरुषोत्तमप्रसाद पांडेय, पं. लोचनप्रसाद पांडेय, डॉ. बल्देवप्रसाद मिश्र और ''पद्मश्री'' पं. मुकुटधर पांडेय आदि प्रमुख थे, ने यहां साहित्यिक वातावरण का सृजन किया। सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. बल्देवप्रसाद मिश्र रायगढ़ दरबार में दीवान रहे। श्री आनंद मोहन बाजपेयी उनके निजी सचिव और आचार्य महावरीप्रसाद द्विवेदी उनके पथ-प्रदर्शक थे। इनके सानिध्य में राजा चक्रधर सिंह ने कई पुस्तकों की रचना की। उनमें बैरागढ़िया राजकुमार, अल्कापुरी और मायाचक्र (सभी उपन्यास), रम्यरास, रत्नहार, रत्नमंजूषा (सभी काव्य), काव्य कानन (ब्रज काव्य), जोशे फरहत और निगारे फरहत (उर्दू काव्य) आदि प्रमुख हैं। इसके अलावा नर्तन सर्वस्वम, तालतोयनिधि, रागरत्नमंजूषा और मुरजपरन पुष्पाकर आदि संगीत की अनमोल कृतियों का भी उन्होंने सृजन किया है।

संस्कृत, हिन्दी और उर्दू साहित्य में अवदान :- रायगढ़ के राजा चक्रधरसिंह अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी और उर्दू भाषा साहित्य के जानकार ही नहीं बल्कि उसके उत्कृष्ट रचनाकार भी थे। वे हिन्दी में ''चक्रप्रिया'' और उर्दू में ''फरहत'' के नाम से रचना करते थे। 'चक्रप्रिया' के नाम से उन्होंने बहुत सी संगीत की रचनाओं का प्रणयन किया है। उनकी दो ठुमरियां देखिये :-

(1) स्थायी – मोहे छेड़ो नाहि श्याम
गुजरिया मैं घर की अकेली। मोहे.......
अंतरा
प्रेम की बतियां में नहीं जानत
दूर अजहुं मेरो धाम। मोहे.
अंतरा रात अंधेरी बादर घेरे
चक्रप्रिया से है काम ।

(2) स्थायी – मोरी गलिन कब एहो मोहन।।
अंतरा
बिरह घटा देखो घिर घिर आवत
कब मोहे दरश दिखैहो मोहन । मोरी.....
बिजली चमके जियरा लरजे
कब तक हरि कल पैंहो । मोरी.....
मो मन धीर धरत ना 'चक्रप्रिया'
सांची कहो कब ऐहो मोहन।। मोरी.....

डॉ. बल्देव ने 'रायगढ़ का सांस्कृतिक वैभव' में लिखा है- यथा नाम तथा रूपम् को चरितार्थ करने वाला संस्कृत काव्य है''रत्नहार''सचमुच काव्य-रसिकों का कंठहार है। कोलकाता से संवत् 1987 में प्रकाशित इस पुस्तक का प्रकाशन साहित्य समिति रायगढ़ ने किया है। इसमें संस्कृत के ख्यात-अख्यात् कवियों के 152 चुनिंदा श्लोक राजा चक्रधरसिंह द्वारा किये गये हैं। उन्होंने लिखा है – 'जब मैं राजकुमार कालेज रायपुर में पढ़ रहा था, उसी समय से ही मुझे संस्कृत साहित्य से विशेष अनुराग हो चला था। संस्कृत काव्यकाल की कितनी ही कोमल घड़ियां व्यतीत हुई थीं। उन घड़ियों की मधुर स्मृति आज भी मेरे मानस-पटल पर वर्तमान की भांति स्पष्ट रेखाओं में अंकित है। 'रत्नहार' उसी मधुर-स्मृति का स्मारक रूप है।' संस्कृत काव्य की विशेषता बताते हुए राजा चक्रधरसिंह लिखते हैं-'भाव-व्यंजना, शब्द-विन्यास, पद-लालित्य और कल्पना की उड़ान में संस्कृत कवि विश्व साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं। उपमाओं की छटा तो संस्कृत की निजी सम्पत्ति है ही उसकी गौरवपूर्ण सामग्री भी है।' कवियों की काव्य-व्यंजना का विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा है-'नव कुसुमिता आम्र लतिका और प्रेमाकुल मलयानिल के प्रेम विनिमय का अनूठा अभिनय इन्हीं संस्कृत कवियों की आंखों में देखिए –

इयं संध्या दूरादहमुपगतो हन्त मलयात्। तवै कान्ते गेहे तरुणि।
वत नेष्यामि रजनीम्। समीरेणोक्तैवं नवकुसुमिताचूतलतिका।
घुनानमूर्द्धानं न हि नहि नहीत्येव कुरूते।।''

राजा चक्रधर ने श्रृंगाररस के दुर्लभ उदाहरण देकर अपनी श्रृंगारप्रियता का प्रदर्शन किया है। श्रृंगार के संयोग और विलप्रलम्भ दोनों रूपों के अनेकानेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। संस्कृत कवियों द्वारा नारी के रूप में चमत्कारपूर्ण वर्णन की भी उन्होंने प्रशंसा की है। 'रत्नहार' में राजा साहब ने संस्कृत के श्लोकों का गद्यानुवाद न कर भावानुवाद किया है। वे लिखते हैं-'गद्यानुवाद में न तो काव्य का रहस्यपूर्ण स्वर्गीय आनंद रह जाता है और न ही उसकी अनिर्वचनीय रसमाधुरी। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कवितापूर्ण कल्पनाएं गद्य रूप में आते ही कथनमात्र-सी रह जाती हैं।'

उस काल में ब्रजभाषा की बढ़ती उपेक्षा से चिंतित रायगढ़ के राजा चक्रधरसिंह ने उनकी उत्कृष्ट रचनाधर्मिता के महत्त्व को बतलाने के लिए खड़ीबोली और पड़ीबोली (ब्रजभाषा) के पाठकों के लिए ''काव्य कानन'' ग्रंथ का प्रकाशन किया। 'काव्य कानन' में पांच प्रकरण हैं। वे शृंगार के प्रकरण में नायिका के नख-शिख वर्णन, प्रेमांकुरण, विरह-निवेदन, लज्जाशीलता, केलि भवन के रति रंग के विपरीत रति, विरह विह्वलता, षड्ऋतु वर्णन, प्रिय मिलन, संकेत स्थल, अभिसार और दूतियों की सहायता विषयक रचनाओं को बड़े यत्न के साथ काव्य कानन में रखा है। 'आंख' के दो उदाहरण प्रस्तुत हैं :-

(1) अनियारे दीरघ गनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि और कछु जिहि बस होत सुजान।।
(2) अमिय हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार।।

इसी प्रकार भौं, चितवन, चिबुक, तिल, पलकें बिंदी, अधरोष्ठ के उदाहरण मिलते हैं। 'काव्य कानन' में प्रसिद्ध कवियों के ऋतु वर्णन को विशेषरूप से सम्मिलित किया गया है। इससे संकलनकर्त्ता की प्रकृति सौंदर्यपरक रुचि का पता चलता है। देव, पद्माकर, सेनापति, बिहारी यहां छाये हुए हैं। यहां राधा-कृष्ण की भक्ति-विषयक शांतरस की सरिता बहती है :-

देव सबै सुखदायक संपति, संपत्ति सोई जु दंपति जोरी।
दंपति दीपति प्रेम प्रतीति, प्रतीति की प्रीति सनेह निचोरी।
प्रीत तहां गुन रीति विचार, विचार की बानी सुधारस बोरी।
बानी की सार बखानो सिंगार, सिंगार को सार किसोर किसोरी।

'काव्य कानन' में 1001 रचनाएं हैं जहां शताधिक ख्यात-अख्यात कवियों की बानगी देखी जा सकती है, जिनमें कबीर, सूर, मीरा, तुलसी, केशव, देव, पद्माकर, सेनापति, मतिराम, ठाकुर, बोधा, आलम, नंददास, रसलीन, बिहारी, भूषण, घनानंद, रसखान, रतनाकर, मीर, रधर आदि प्रमुख है।

''रम्य रास'' राजा चक्रधरसिंह की अक्षय कीर्ति का आधार है। यह श्रीमद्भागवत् के दशम स्कंध के रसाध्यायी के आधार पर लिखा गया उच्चकोटि का काव्य है। इसमें शिखरिणी छंद का सुंदर प्रयोग हुआ है। उन्हीं के शब्दों में-''सुवंशस्था गाथा श्रुति मधुर लावे शिखरिणी।'' डॉ. बलदेव लिखते हैं कि 'रम्य रास' को पढ़ते हुए कभी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की ''सुरम्य रूप, रस राशि रंजिते। विचित्र वर्णा भरणे कहां गई'' जैसी कविता का स्मरण हो आता है तो कभी हरिऔंध की ''रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु विंबानना'' जैसी संस्कृत पदावली की याद आती है। 'रम्य रास' 155 वंशस्थ वृत्त का खंडकाव्य है। आरंभ में मंगलाचरण दिया गया है और समापन में भगवान श्रीकृष्ण के पुनर्साक्षात्कार की कामना की गई है। एक छंद के होने से इसका प्रवाह कहीं बाधित नहीं होता और आख्यान के निर्वहन में प्रयुक्त छंद समर्थ भी है। इसका वस्तु विन्यास भी सुसंगठित है।

डॉ. ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श' के अनुसार-'मध्यप्रदेश' में विंध्यप्रदेश के पच्चीसों राजाओं का उल्लेख मिलता है जिन्होंने उच्च कोटि की काव्य रचना की है। मध्यकाल में इन नरेश कवियों ने भक्ति और रीति कालीन काव्यधारा को संतुष्ट किया है। इनमें रायगढ़ के कला मर्मज्ञ राजा चक्रधर सिंह का नाम अग्रगण्य है। वे आधुनिक युग के कवि, शायर और सुलेखक थे।' कवि के रूप में उनका 'रम्यरास' जिसे वंशस्थ छंदों में लिखा गया है, आज भी लोगों के पास सुरक्षित है। इसमें भगवान श्रीकृष्ण की रासलीला का सरस वर्णन किया गया है। इसमें खड़ीबोली की तत्सम शब्द प्रधान शैली में कविवर हरिओम जी की शैली का प्रभाव दिखाई देता है। पेश है इसकी एक बानगी :-

मुखेद की स्निग्ध, सुधा समेत थी
लिखी हुई विश्व विभूति सी लिए।
शरन्निशा सुन्दर सुन्दरी समा,
अभिन्न संयोग वियोग योगिनी।
विशुद्ध शांति स्फुट थी प्रभामयी
खड़ा हुआ उर्ध्व नभ प्रदेश में,
मृगांक रेखा वषु में प्रसार के
द्विजेश था कान-सा नरेश का।

वर्णवृंतों की शैली तत्सम प्रधान संस्कृत निष्ठ शब्दावली के प्रति राजा चक्रधरसिंह का बड़ा मोह था। उनकी भाषा में अलंकारिता थी :-

शशांक सा आन कांत शांत था,
निरभ्र आकाश समान देह थी
शरन्निशा में लसते ब्रजेश
शरच्छय के नर मूर्तरूप से
सजे हुये थे शिखिपंख केश में
तड़ित्प्रभा सा पट पीत था लसा
गले लगी लगी थी वनमाल सोहतो
ब्रजेश वर्षा छविधाम थे बने।

डॉ. आदर्श ने राजा चक्रधरसिंह को द्विवेदी कालीन प्रमुख प्रबंध काव्य रचयिताओं में से एक माना है। उनकी रम्यरास नागपुर विश्वविद्यालय में एम. ए. के पाठ्यकम के लिए स्वीकृत है।

राजा चक्रधरसिंह हिन्दी और उर्दू में समान गति से रचना करते थे। उन्होंने चार उर्दू गजल की किताबें लिखी हैं जिसमें 'निगारे फरहत' (1930), 'जोशे फरहत' (1932) के अलावा 'इनाएत-ए-फरहत' और 'नग्मा-ए-फरहत' हैं। उनकी पहली दो पुस्तकें प्रकाशित हैं जबकि बाद की दोनों पुस्तकें अप्रकाशित। 'जोशे फरहत' और 'निगारे फरहत' लिखा है जो देवनागरी लिपि में प्रकाशित हुआ है। ये दोनों गजल संग्रह है'। 'निगारे फरहत' की भूमिका हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि श्री भगवतीचरण वर्मा ने लिखी है। इसी प्रकार 'जोशे फरहत' संवत् 1989 (सन 1932) में छपी है। इसमें 178 गजल संगृहीत हैं। देखिये खमसा का एक भाव :-

खालिक ने ये दिन हमको दिखाया है जो फरहत
आंखों में समा और समाया है जो फरहत
गुलशन का तमाशा नजर आया है जो फरहत
फिर मोस में गुलजोश पे आया है जो फरहत
क्योंकर वा अनादिल को ये मस्ताना बना दे।

उनकी गजलों में मुहावरेदारी और वंदिशा काबिले तारीफ है -

मिल के कतरा भी दरिया से दरिया बना
हक से बंदा भी मिला के खुदा हो गया।

एक गजल की चंद पंक्तियां भी पेश हैं :-

राजे दिल आज उनको सुनायें हम
राज उल्फत की उनको दिखाये हम
रूठ जायेंगे अगर वे मनाकर उन्हें
अपने पहलू में लाकर बिठायेंगे हम।

दरअसल राजा चक्रधरसिंह कौमी एकता के हिमायती थे। उन्हीं के शब्दों में ''उर्दू और हिन्दी एक भाषा-एक ही जुबान के दो पहलू हैं। पंडितों ने उसी भाषा में संस्कृत के शब्द भरकर उसे हिन्दी का रूप दे डाला, मौलवियों और मुल्लाओं ने उसी जुबान में अरबी-फारसी के अल्फाज का जखीरा रखकर उसे उर्दू कहना शुरू कर दिया।" उनका कहना था कि पहले हिन्दी और उर्दू में तो कोई फर्क ही नहीं था। उन्होंने मीर, खुसरो और कबीर का उदाहरण देकर इस तथ्य को समझने का प्रयास किया है :-

बीसों का सिर काट लिया। ना मारा ना खून किया। - खुसरो

कबीर इश्क की माता दुई को दूर दिल से
जो चलना राह नाजुक है हम ना सिर को बोझ भारी क्या - कबीर

राजा चक्रधरसिंह मात्र कवि या शायर नहीं थे बल्कि वे साहित्य के एक चिंतक भी थे। उनका चिंतन परंपरा से हटकर नहीं है। यहां भारतीय और अरबी-फारसी के दर्शन एक बिंदु में मिलते दिखाई देते हैं। ''उर्दू शायरी की सबसे बड़ी विशेषता है, बुतपरस्ती''। बुतपरस्ती यहां सौन्दर्योपासना के लिए प्रयुक्त हुआ है। सवाल यह उठता है कि सौंदर्य की उपासना माशूकी की या परमतत्व की या दोनों की है ? राजा साहब के शब्दों में - 'इश्क हकीकी में, ईश्वर-प्रेम में ठीक यही होता है अर्थात् लौकिक-प्रेम में जैसा होता है। कौन कह सकता है कि इस बुतपरस्ती में बजाय इश्क हकीकी एकदम इश्कमिजाजी का, सांसारिक प्रेम की चर्चा है। क्या सूरदास ने श्रृंगार की ओट में भक्ति नहीं बतलाई है ? क्या मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत में सिर्फ राजा-रानी के प्रेम की बात ही लिखनी चाही थी ?क्या कबीर दास ने 'खेललेनहेरवा दिन चार' में सिर्फ एक नई नवेली नायिका को ही नसीहत देने का इरादा किया था ? उर्दू शायरों ने शमा और परवाना, गुल और बुलबुल, कातिल और मकतूल, मर्ज और गौर की बातों को बहुत पसंद किया है, तो तुलसी ने चातक की। राजा साहब ने उर्दू की बड़ी विशेषता बतलाई है, मुहावरेदारी जो उस्तादों के हजारों वर्षो के अनुभव से शब्दगत होता है। 'जोशे फरहत' में दोनों ही विशेषताएं दिखाई देती हैं। इश्क हकीकी का एक उदाहरण देखिये :-

उलझ क्यों रहा ओस की बूंद पर है
उधर देख खूबी का दरिया जिधर है
भटकता है नाहक ही देरो-हरम में
नजारा उसी का ये पेशे नजर है
उसी के सहारे टिका आसमां है
उसी के उजाले में रौशन कमर है
समा जाय वहशत का नख्शा कुछ ऐसा
न आए नजर बुत किधर रब किधर है।

इश्क मिजाजी का दूसरा उदाहरण पेश है :-

नजर आ गया रूए जेबा किसी का
समाया है आंखों में जलवा किसी का
जो उसके जुल्फे पेंचों का मारा हुआ है
न ही उसके सर है सौदा किसी का
बुतों में भी है ढूंढता हूं खुदा को
मेरा दिल नहीं और जोया किसी का
तू अपनी खबर ले मेरा क्या है जाहिद
बला से तेरी मैं हूं बंदा किसी का
गिरती है बस बिजलियां दिल के उपर
निगर फेर कर मुस्कुराना किसी का
मेरा नाम है इश्कबाजों में फरहत
बनाया है किस्मत ने शैदा किसी का।

''**निगारे फरहत**'' उर्दू गजलों का संग्रह है। उर्दू का छंद भंडार बहुत कम है इसलिए यहां गजल को ही प्राथमिकता दी जाती है। गजल बहुत नाजुक विधा है परन्तु फैज अहमद फैज, फिराक गोरखपुरी आदि ने उसे वैचारिक स्वरूप दिया। राजा चक्रधरसिंह पुरानी संस्कृति पर ही कायम रहे अर्थात् उनकी गजलें माशूका और जाम तक ही सीमित हैं, हालांकि उसमें कहीं-कहीं इश्क हकीकी की भी झलक है। एक शेर पेश है :-

मिल के कतराभी दरिया से दरिया बना
हक से बन्दा भी मिल के खुदा हो गया।
जरा उनकी तिरछी नजर हो गई
इधर की खुदाई उधर हो गई।

माशूक के प्रति लगाव सीमातीत होता है, अर्ज है -

डर है उसे कि मुझे सीने से लगा न ले
मेरे गले में रहता है खंजर अलग अलग
डर है माशूक बिंध न जाए।

यहां माशूक के युवा सौंदर्य का पर्याय है, उसका हृदय से लगाना प्रलय है लेकिन बागों में बहार पतझर बन कर आती है -

कयामत है लगाना दिल हसीनों से जवां होकर
बहारे बारा हस्ती रंग लाती है खिजां होकर ।

राजा चक्रधरसिंह आज हमारे बीच नहीं हैं न राजशाही का जमाना है। बस उनकी एक ही तमन्ना थी-

न जिंदगी में कभी बात तुमने की फरहत
मजार पर मेरे दो फूल क्यों चढ़ा के चले ?

''बैरागढ़िया राजकुमार'' राजा चक्रधरसिंह का सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यास है। रायगढ़ के दीवान और लोकप्रिय साहित्यकार डॉ. बल्देवप्रसाद मिश्र ने उसका नाट्य रूपांतरण कर उसे और भी लोकप्रिय बना दिया था। उपन्यास के बारे में राजा चक्रधरसिंह लिखते हैं-'जिस समय मैं रायपुर के राजकुमार कॉलेज का विद्यार्थी था, उसी समय मुझे साहित्य और संगीत में रुचि हो गई थी। ईश्वर की कृपा से यह रुचि उत्तरोतर बढ़ती ही गई। कॉलेज से निकलकर शासन सम्बंधी शिक्षा प्राप्त करने के लिए मैं कुछ दिनों तक छिंदवाड़ा में आनरेरी असिस्टेंट कमिश्नर का काम करता रहा। सरकारी काम से अवकाश मिलने पर मैं वहां अनुकूल जल, पवन और सुरम्य प्राकृतिक दृश्यों का आनंद उठाता हुआ अपनी प्रिय रानी के साथ साहित्य सम्बंधी चर्चा किया करता था।' यहीं रानी की प्रेरणा से उन्हें उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली। छिंदवाड़ा की प्राकृतिक सुषमा के बीच वे अपनी सुखद स्मृति को सदैव के लिए स्थिर कर देना चाहते थे। उन्होंने अपने ही अंधकारमय अतीत में घुसकर राजकुमार बैरागढ़िया से आत्म साक्षात्कार किया जो उनके पूर्व पुरुष थे। उनके अनुसार जिस जाति का कोई इतिहास ही नहीं वह भविष्य में कहां तक स्थिरता प्राप्त कर सकता है? यही सोचकर मैंने अपना कर्त्तव्य समझा कि यदि मैं कोई कथा लिखूं तो अपने ही प्राचीन गौरव की कथा लिखूं। मेरे पूर्वज इन्हीं राजकुमार के वंश में उत्पन्न हुए। ऐतिहासिक घटनाओं के लिए कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं होने पर राजा साहब ने इस उपन्यास का कलेवर किंवदंतियों के आधार पर तय किया है। यही कारण है कि इस उपन्यास में यथार्थ कम, कल्पना की उड़ानें अधिक हैं।

राजा चक्रधरसिंह के कुशल निर्देशन में यहां के अनेक बाल कलाकारों को संगीत, नृत्यकला और तबला वादन की शिक्षा मिली कि वे देश-विदेश में रायगढ़ दरबार की ख्याति को फैलाएँ। इनमें कार्तिकराम, कल्याणदास, फिरसूदास और बर्मनलाल की जोड़ी ने कत्थक के क्षेत्र में रायगढ़ दरबार की ख्याति पूरे देश में फैलाई। निश्चित रूप से 'रायगढ़ कत्थक घराना' के निर्माण में इन कलाकारों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। राजा चक्रधरसिंह स्वयं एक उत्कृष्ट तबला और सितार वादक तथा विलक्षण ताण्डव नर्तक थे। संगीत, नृत्य कला और साहित्य के आयोजन में उन्होंने अपार धनराशि खर्च की जिसके कारण उन्हें ''कोर्ट ऑफ वार्ड्स'' के अधीन रहना पड़ा। अनेक संगीत सम्मेलनों, साहित्यिक समितियों और कला मंडलियों को वे गुप्त दान दिया करते थे। सन् 1936 और 1939 में इलाहाबाद में आयोजित अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन के वे सभापति चुने गये थे। लखनऊ में आयोजित अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन में दतिया के नरेश ने राजा चक्रधरसिंह को ''संगीत सम्राट्'' की उपाधि से सम्मानित किया था। ऐसे कला साधक राजा चक्रधरसिंह का 7 अक्टूबर 1947 को अल्पायु में निधन हो गया। उनके निधन से एक चकमता सितारा डूब गया लेकिन जब-जब संगीत, नृत्यकला और साहित्य की चर्चा होगी तब-तब उन्हें याद किया जायेगा।

का भयो जो सबही जग जीत सु लोगन को बहु त्रास दिखायो।
और कहा जु पै देस बिदेसन माहिं भले गज गाहि बँधायो।।
जो मन जीतत है सब देस वहै तुमरे नृप हाथ न आयो।
लाज गई कछु काज सन्यो नहिं लोक गयो परलोक गमायो।।

– गुरू गोविन्द सिंह

मालव मनीषी : डॉ. रघुवीर सिंह

– डॉ. पूरन सहगल

कुछ विभूतियाँ ऐसी होती हैं जो अपने युग को गौरवान्वित करती हुई अपनी दिव्यता और भव्यता के कारण इतिहास और साहित्य के पृष्ठों पर अपनी अमिट छवियाँ निर्धारित कर जाती हैं। ऐसे गौरवशाली युगपुरुषों पर कलम चलाना जहाँ सौभाग्य का उदय है वहीं ''नेति-नेति'' का विषय भी है। डॉ. रघुवीर सिंह भले ही राजपुरुष थे, उनके नाम के साथ सदा महाराजकुमार का पद जुड़ा रहा, किन्तु मैं उन्हें राजकुमार के स्थान पर राजयोगी कहना अधिक उचित समझता हूँ। मालवा में दो राजयोगी हुए एक राजयोगी भरथरी (भर्तृहरि) दूसरे महाराज कहे जाने वाले डॉ. रघुवीर सिंह जी। एक ने वीतराग के उदय होने पर राज का त्याग किया और सिद्ध हो गए। दूसरे ने राज्य भार को वहन करते हुए उसके विकारों एवं प्रभावों से मुक्त होकर साहित्य साधन करने के लिए योग धारण किया। प्रथम ने शिवाराधना करते हुए शतकत्रय का सृजन किया, दूसरे ने सरस्वती की आराधना करते हुए अनेक ग्रंथों का सृजन किया। एक शिववत् रहे दूसरे जनकवत्।

डॉ. रघुवीर सिंह जी ने जिस ''नटनागर शोध संस्थान की स्थापना की और आजीवन सृजनरत रहते हुए अनेक शोधार्थियों का मार्ग प्रशस्त किया वह संस्थान आज मालवा का शोधतीर्थ है। अनेक शोधार्थी इतिहास की गुत्थियाँ सुलझाने के निमित्त इस शोधतीर्थ पर आकर अपने शोध को जहाँ शोधते हैं वहीं प्रमाणिकता भी देते हैं। प्रसन्नता की बात तो यह है कि आज उनके पश्चात् इस शोधतीर्थ को डॉ. महेन्द्रसिंह जी राणावत जैसे इतिहास मर्मज्ञ का दिशा बोध एवं संरक्षण प्राप्त है।

मेरा परिचय डॉ. रघुवीर सिंह जी से 1969 ई. में हुआ। तब मैं संत पीपाजी पर शोधकर रहा था। मैं जब भी गया वे मुझे संस्थान में अध्ययनरत दिखे। अपने संस्थान की पुस्तकों के प्रति उस राजऋषि को अत्यंत प्यार था। वे उन ग्रंथों को केवल नाम से ही नहीं शक्ल से भी पहचानते थे। उनका परिचय उनका वह ग्रंथालय ही था।

परिचय :- मध्यभारत में सीतामऊ राज्य के पूर्व महाराजा सर रामसिंह के ज्येष्ठ पुत्र महाराजकुमार डॉ. रघुबीरसिंह का जन्म 23 फरवरी 1908 ई. को सीतामऊ रियासत की आपातकालीन राजधानी गाँव लदूना के राजमहल में हुआ था। वर्तमान में यह स्थान मध्य प्रदेश के मन्दसौर जिले में स्थित है। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। मिडिल की पढ़ाई के लिए उन्होंने सीतामऊ में स्थित श्रीराम हाईस्कूल में प्रवेश लिया। इसके पश्चात् 1920 ई. में डेली कॉलेज इन्दौर में प्रवेश लिया किन्तु कुछ समय में अस्वस्थता के कारण उन्हें वापस लौटना पड़ा। हाईस्कूल की परीक्षा मुंबई विश्वविद्यालय, बड़ोदरा से 1924 ई. में तथा इन्टरमीडिएट की परीक्षा 1926 ई. में प्राइवेट विद्यार्थी के रूप में पास की। तदनन्तर इन्होंने 2 वर्ष तक श्रीराम हाईस्कूल सीतामऊ में अध्यापन का कार्य भी किया। 1928 ई. में बी.ए. की परीक्षा शिक्षक विद्यार्थी के रूप में पास की। इसके पश्चात् होलकर कॉलेज इन्दौर में अध्ययन किया और 1930 ई. में एल.एल.बी. की उपाधि आगरा विश्वविद्यालय से प्राप्त की। इसके बाद उन्होंने श्रीराम हाईस्कूल में

अवैतनिक शिक्षक के रूप में 3 वर्ष तक अध्यापन किया। आगरा विश्वविद्यालय से ही 1933 ई. में इतिहास में शिक्षक विद्यार्थी के रूप में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद आगरा विश्वविद्यालय से 1936 ई में प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. सर जदुनाथ सरकार के निर्देशन में शोधकार्य 'मालवा इन ट्रांजिशन' इतिहास विषय पर उनको डी.लिट्. की उपाधि प्रदान की गई। आगरा विश्वविद्यालय से डी.लिट्. की उपाधि प्राप्त करने वाले वह पहले विद्यार्थी थे। छात्र जीवन में रघुबीरसिंह की रुचियाँ भी अद्भुत थीं। फोटोग्राफी तथा खेल से उनका गहरा लगाव था। वे क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी थे। चित्रकला में भी उनकी रुचि थी। इसी रुचि के कारण उन्होंने मुम्बई के जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स से डिप्लोमा भी किया। उन्होंने 1926 से 1928 ई. के मध्य अनेक चित्रों का चित्रांकन किया। समस्त चित्रों का विषय प्रकृति या इतिहास से संबंधित हैं।

रघुबीरसिंह किशोरावस्था में ही शिक्षा ग्रहण करते हुए हिन्दी और अंग्रेजी में हस्तलिखित पत्रिका 'किरण' निकालते थे। यही पत्रिका उनकी वैचारिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनी। 1926 ई. से वे हिन्दी भाषा की 'सरस्वती' 'माधुरी', 'चाँद', 'सुधा', 'क्षत्रिय' तथा 'बालसखा' जैसी सुप्रसिद्ध पत्रिकाओं में नियमित रूप से लिखने लगे। डॉ. रघुबीरसिंह के विचार प्रारम्भ से ही उदारवादी थे। उन्हें मूर्तरूप देने के लिए सीतामऊ राज्य के लिए नवीन संविधान का निर्माण किया जिसे दिसम्बर 1938 ई. में लागू किया गया। जनता की राज्य शासन में भागीदारी के लिए इसमें राज्य परिषद् की व्यवस्था की गई। साथ ही इसमें शासन समिति का भी प्रविधान था। इसमें स्वयं डॉ. रघुबीरसिंह दिसम्बर 1938 से अगस्त 1941 ई. तथा जुलाई 1945 से जून 1948 ई. तक शासन समिति के अध्यक्ष पद पर रहे। इसी प्रकार राज्य परिषद् के अध्यक्ष पद पर मई 1939 से अगस्त 1941 ई. तथा जुलाई 1945 से जून 1946 ई. तक रहे। साथ ही 1932 से 1941 ई. तक सीतामऊ रियासत की उच्च न्यायालय के न्यायाधीश भी रहे। इस दौरान राज्य की प्रशासनिक गतिविधियों के साथ ही प्रायमरी शिक्षा, स्वास्थ्य एवं ग्रामीण विकास की गतिविधियों में सलंग्न रहे।

सन् 1939 में जब द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ तब ब्रिटिश सरकार ने देशी रियासतों से सहायता की अपील की। सेना, घोड़े एवं हथियार के अलावा राजकीय परिवार, जागीरदार, जमींदार के युवा लोगों से ब्रिटिश सेना में भाग लेने का दबाव डाला गया। तब राजा रामसिंह ने अपने ज्येष्ठ पुत्र रघुबीरसिंह को ब्रिटिश सेना में भर्ती होने के लिए भेजा। डॉ. रघुबीरसिंह ने ओ.टी.सी. (ऑफिसर ट्रेनिंग कॉलेज) इन्दौर में प्रवेश लिया व इण्डियन कोर के लिए सैन्य प्रशिक्षण 1 अक्टूबर 1940 से 28 फरवरी 1941 ई. तक प्राप्त किया। इसके पश्चात् डॉ. रघुबीरसिंह 1 अगस्त 1941 ई. को रावलपिण्डी में इण्डियन आब्जर्वर कोर के कैप्टन पद पर नियुक्त हुए। उसके बाद 12 सितम्बर 1941 ई. को पश्चिमोत्तर सीमा पर स्थित क्वेटा में स्थायी रूप से इमरजेंसी कमीशण्ड ऑफिसर के रूप में नियुक्ति की गई। इसके बाद 24 अगस्त 1942 ई. से 10 सितम्बर 1942 ई. तक पेशावर में ऑफिसर प्रशिक्षण प्राप्त किया, तत्पश्चात् पेशावर व नौशेरा में नियुक्ति हुई। इसी वर्ष अक्टूबर को डॉ. रघुबीरसिंह मद्रास प्रेसीडेन्सी से अतिसंवेदनशील क्षेत्र सोपनूर व कालीकट में प्रेक्षक के रूप में विशेषतौर पर भेजे गये। यहाँ पर वे 18 अक्टूबर 1942 से 10 परवरी 1943 तक बने रहे। तत्पश्चात् तीन सप्ताह के लिए विशेष प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए जूहू बम्बई भेजे गये। इस विशेष प्रशिक्षण को प्राप्त करने के बाद मेजर के रूप में पदोन्नत होकर मद्रास प्रेसीडेन्सी भेजे गये। यहाँ पर उनकी प्रथम नियुक्ति पल्लावरम व इसके बाद वाल्टेयर में सेना के रूप में अन्तिम समय तक बने रहे। किन्तु अप्रैल 1945 ई. को सेना के कमीशन को त्यागपत्र देकर चले आये।

डॉ. रघुबीरसिंह विद्यार्थी जीवन से ही राजनैतिक गतिविधियों में भाग लेते रहे थे। वे चेम्बर ऑफ प्रिन्सेस के सम्मेलनों एवं कार्यवाहियों में सीतामऊ रियासत के प्रतिनिधि के रूप में सक्रिय भाग लेते थे। ब्रिटिश अधिकारियों एवं राजनैतिक प्रतिनिधियों के सीतामऊ राज्य से संबंध तथा समय-समय पर उनके

दबाव से वे ब्रिटिश सत्ता के प्रति मन-ही-मन खिन्न हो गये थे। उन्होंने भारतीय देशी रियासतों पर गम्भीर अध्ययन कर इस विषय पर एक ग्रंथ 'इण्डियन स्टेट्स एण्ड द न्यू रिजीम' लिखी जो 1938 में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक भारतीय विश्वविद्यालयों में पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकृत की गई थी। इधर निरन्तर राजनैतिक गतिविधियों में दिन-प्रतिदिन नये-नये बदलाव आ रहे थे। मालवा के छोटे-छोटे राज्यों एवं उसके आसपास के भूभागों को मिलाकर मालवा नामक प्रान्त का निर्माण 1945-47 में किया जा रहा था, जिसमें डॉ. रघुबीरसिंह को 1946 ई. में गठित सेन्ट्रल इण्डिया रीजन कमेटी में एक सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया। तब सेन्ट्रल इण्डिया एजेन्सी के अधीनस्थ ग्वालियर इन्दौर व अन्य रियासतों को मिलाकर 'मध्यभारत' नाम से नया प्रान्त 1948 में बनाया गया।

लेखन एवं हिन्दीसेवा :- डॉ. रघुबीरसिंह एक प्रतिभाशाली लेखक थे। वे स्कूल के दिनों से ही हस्तलिखित पत्रिकाओं में लिखने लगे थे। 1927 ई. से ही पत्र-पत्रिकाओं में निबंध, आलोचनात्मक समीक्षा, छोटी कहानी, ऐतिहासिक विवरण आदि लिखना आरम्भ कर दिया था। तब इन्हें हिन्दी की विशिष्ट पत्रिकाओं में प्रकाशित किया जाता था। राज्य का सामान्य काम निबटाते हुए भी उनमें राष्ट्रीय दृष्टि, राष्ट्रीय कर्त्तव्यबोध का जागरण हो चुका था। सुप्रसिद्ध पत्रिका 'चाँद' के नवम्बर 1928 ई. के ऐतिहासिक 'फांसी अंक' में प्रकाशित उनका लेख 'फ्रांस की राज्य क्रान्ति के कुछ रक्तरंजित पृष्ठ' उनकी उसी राजनैतिक विचारधारा का प्रतिबिम्ब है। इस अंक के सम्पादक आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने महाराजकुमार डॉ. रघुबीरसिंह के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा था-''आपकी कलम विद्या व्यसनी ही नहीं बल्कि गरीबों का मित्र क्रान्ति का समर्थक और जन समाज का एक नागरिक प्रमाणित करती है।'' चाँद का यह अंक ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया था। इस अंक में अनेक सुप्रसिद्ध लेखकों ने नकलीनाम से लेख लिखे थे, किन्तु सीतामऊ राज्य के युवा राजकुमार ने अपने ही नाम से निर्भीक होकर लेख लिखा था, जिसके फलस्वरूप वे ब्रिटिश सरकार की निगाह में आ गये थे।

भारत द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद डॉ. रघुबीरसिंह का पैतृक राज्य सीतामऊ भारतीय संघ में विलय हो गया था। अब उनके लिए किसी प्रकार का बंधन नहीं था। अत: उन्होंने कांग्रेस पार्टी की सदस्यता ग्रहण कर राजनीति में सक्रिय होने के लिए खादी धारण कर ली। डॉ.रघुबीरसिंह साहित्य एवं इतिहास के क्षेत्र में उस समय तक प्रसिद्ध हो चुके थे। अत: उन्हें तत्कालीन मध्यभारत से 13 मई 1952 ई. को राज्यसभा का सदस्य नामांकित किया गया। वे इस पद पर 1962 ई. तक बने रहे। वे हिन्दी के साथ ही अंग्रेजी, मराठी तथा फारसी के भी ज्ञाता थे साथ ही अपनी क्षेत्रीय बोली के अच्छे प्रवक्ता थे।

डॉ. रघुबीरसिंह ने भारतीय इतिहास के शोधपरक प्रबंध एवं लेख ही नहीं लिखे वरन् हिन्दी साहित्य को भी आपकी देन अमूल्य है। हिन्दी गद्य काव्य लेखन की प्रेरणा आपको रायकृष्णदास से मिली। प्रेमचंद के उपन्यासों को भी आपने पढ़ा था तथा उनसे पत्र-व्यवहार भी होता था। डॉ. रघुबीरसिंह ने हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं पर अनेक ग्रंथ लिखे। 'बिखरे फूल' 1933 ई. में प्रकाशित हुआ, इसमें 14 गद्य काव्यों का संग्रह है। 'जीवनधूलि' 1947 ई. में प्रकाशित हुआ जिसमें 18 गद्य काव्यों का संग्रह है। 'सप्तदीप' 1938 ई. में प्रकाशित हुआ। इसमें 6 निबंध एवं एक कहानी संगृहीत हैं। 'शेष स्मृतियाँ' का प्रकाशन 1937 ई. में हुआ। इस ग्रंथ का गुजराती और मलयालम में अनुवाद हो चुका हैं। इसमें ताज एक स्वप्न की शेष स्मृतियाँ डॉ. रघुबीरसिंह की कृतियों में सबसे अधिक प्रसिद्ध निबंध संग्रह है। उनके शोध ग्रंथ 'मालवा इन ट्रांजिशन' के हिन्दी संस्करण 'मालवा में युगान्तर' पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद द्वारा 1947 ई. को 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' प्रदान किया गया। एक अन्य कृति 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' पर उत्तरप्रदेश सरकार ने फरवरी 1955 ई. में विशेष पुरस्कार प्रदान किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन इलाहाबाद ने सितम्बर 1975 ई. में 'साहित्य वाचस्पति' की मानद उपाधि से सम्मानित किया। उत्तरप्रदेश

हिन्दी संस्थान, लखनऊ ने डॉ. रघुबीरसिंह को आजीवन साहित्यिक सेवा के लिए 1978 ई. में विशेषरूप से सम्मानित किया था। रघुवीर सिंह एक महान् इतिहासवेत्ता थे। मध्यकालीन व उत्तर मध्यकालीन भारत के इतिहास में उनका विशेष योगदान ही नहीं रहा अपितु भावी शोधकत्ताओं के लिए वे आधार स्तम्भ एवं प्रेरणादायक भी रहे हैं। राजस्थान के इतिहास को समग्ररूप से देखने का सर्वप्रथम एवं सफल प्रयास डॉ. रघुबीरसिंह ने ही किया। राजस्थान इतिहास विषय पर अनेक ग्रंथ लिखे परन्तु उनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' है। रघुबीरसिंह ने 'दुर्गादास की जीवनी' लिखी जिसे जीवनी के बजाय समकालीन भारतीय इतिहास कहना अधिक उपयुक्त होगा। मुगल इतिहास के लिए यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है। इसी प्रकार महाराणा प्रताप पर लिखे गये ग्रंथ की प्रमाणिकता पर कोई उंगली नहीं उठा सकता। रतलाम का प्रथम राज्य, मालवा इन ट्रांजिशन तथा इसका हिन्दी अनुवाद 'मालवा में युगान्तर' डॉ. रघुबीरसिंह के ऐसे ग्रंथ हैं जिनका सीधा मालवा के इतिहास से संबंध है किन्तु फिर भी इन ग्रंथों में राजस्थानी शासकों की गतिविधियों, उनका मालवा से संबंध, मुगल राजपूत संबंध, राजस्थानी शासकों की मालवा नीति, उनका मुगल तथा मराठों से संबंध, मालवा में मराठों का सत्यनिष्ठ सुन्दर और सम्यक् इतिहास लिखकर मील का पत्थर गाड़ दिया। नवीनतम खोजों पर आधारित पूर्व मध्यकालीन भारत डॉ. रघुबीरसिंह द्वारा लिखित ऐसा ग्रंथ है जो दिल्ली की तत्कालीन मुसलमानी सल्तनत के उत्थान, विकास और पतन का सर्वथा नये ढंग से लिखा गया क्रमबद्ध आलोचनात्मक इतिहास है। 'मालवा के महान विद्रोहकालीन अभिलेख' डॉ. रघुबीरसिंह द्वारा सम्पादित ऐसा ग्रंथ है जो 1857 के महान विद्रोह के समय सीतामऊ राज्य का वकील इन्दौर स्थित एजेन्ट टू दि गवर्नर जनरल के यहाँ नियुक्त था उसके दवारा भेजे गये पत्र 1857-58 ई. की घटनाओं पर प्रकाश डालते हैं।

ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना के साथ ही ऐतिहासिक आधार स्रोतों का व्यापक स्तर पर संकलन, सम्पादन एवं अनुवाद करने का कार्य भी डॉ. रघुबीरसिंह ने किया है। उनका इस क्षेत्र में योगदान मौलिक ग्रंथों के प्रणयन से कम नहीं है। उनके सम्पादित ग्रंथों में शाहजहाँनामा, जहाँगीरनामा, फुतूहात.इ. आलमगीरी, हिस्ट्री ऑफ जयपुर, रतनरासो और वचनिका आदि अनेक ग्रंथ, 'ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब' का हिन्दी अनुवाद 'औरंगजेब' एवं विभिन्न शोध-पत्रों अकबरकालीन केशवदास रायसेन का शासक सलहदी तंवर, मध्यकालीन मन्दसौर में हुई भारतीय इतिहास की कुछ निर्णायक घटनाएँ, मराठा शासकों, सेनानायकों और अधिकारियों के हिन्दी-पत्र सनदें, रामपुरा क्षेत्र वहाँ का चन्द्रावत राजवंश, झाबुआ राज्य और बोलियो, बुले-बखर, होलकर का नमक हराम बख्शी भवानीशंकर, पेशवा राज्य की सम्पर्क भाषा हिन्दी, मुहम्मद तुगलक का राजधानी परिवर्तन, धरमाट का युद्ध और महेशदास कृत बिन्हैरासो, अहमदनगर का किला और उसकी विभिन्न भूमिकाएँ, भारतवर्ष के इतिहास की कुछ गलतियाँ, कीर्तिस्तम्भ आदि विभिन्न शोध-पत्रों और ग्रंथों से डॉ. रघुबीरसिंह ने लुप्त कड़ियों को जोड़ा और नूतन जानकारी प्रस्तुत की। ऐसे महायोगी, इतिहासमर्मज्ञ, साहित्य साधक, विनम्र एवं कीर्तिपुरुष, मालवलोकमणि, राजपुरुष किन्तु राजऋषि डॉ. रघुवीर सिंह जी की अनेक स्मृतियाँ आज भी शेष हैं। जब स्मृतियाँ शेष हैं तब वे अशेष कैसे हो सकते हैं। मालवी बोली से उन्हें इतना प्यार था कि वे सदा मालवी में ही वार्तालाप करते थे। उन्हें प्रणाम! वन्दन!!

कुँवर सुरेश सिंह की साहित्य साधना

डॉ. अनुज प्रताप सिंह

उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ जनपद में भागीरथी की वाम भुजवल्लरी पर अवस्थित कालाकाँकर का राजभवन छायावाद में हिन्दी का केन्द्र रहा है। प्रदेश ही नहीं देश के प्रसिद्ध साहित्यकारों, स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं ने यहाँ पधारकर इस स्थल को विशेषरूप से जीवन्त कर दिया है। जहाँ इतिहास और संस्कृति सरस्वती की सेवा में निज को अर्पित करती हैं- वहाँ निश्चित रूप से सद् साहित्य की सर्जना होती है। काकाकाँकर के भूतपूर्व नरेश राजा रामपाल सिंह जी 'हिन्दुस्तान' नाम का हिन्दी समाचार पत्र निकालते थे। तब हिन्दी के पत्रों का सर्वथा अभाव था। कालान्तर में इसका कार्यालय कालाकाँकर में खुला और पूज्य पं. मदन मोहन मालवीय जी इसके सम्पादक बने। तद्युगीन साहित्यकार और पत्रकार वहां प्रायः पधारा करते थे। राजा साहब ने बहु व्यय करके इसको चलाया था।

कुँवर सुरेश सिंह राजा रामपाल सिंह के पौत्र और राजा रमेश सिंह के पुत्र थे। उनका विवाह हमारे जन्म ग्राम के दक्षिण सोननदी के किनारे उत्तर प्रदेश-मध्य प्रदेश की सीमा पर स्थित वरदीराज की राजकुमारी प्रकाशवती से हुआ था। उनके गुण, कर्म और स्वभाव की चर्चा अनेक साहित्यकारों ने की है। कुँवर साहब स्वयं अनेक संस्मरण उनसे सम्बन्धित सुनाया करते थे। अमेठी के राजर्षि रणंजय सिंह कालाकांकार की भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे।

मैं 7 नवम्बर 1987 ई. को कालाकाँकर में उनसे मिलने गया था। प्रकृति की रमणीक छटा में निवासित गाँव गंगा कें कल-कल विनाद से गूँजित घर, आँगन, गली और राजभवन को देखा। वहाँ के लोग स्वस्थ और प्रसन्न दिखाई पड़े। कुँवरसाहब परम व्यावहारिक, हँसमुख, व्यंग्य-विनोदकार और गुणग्राही रचनाकार थे। वे मिलकर भाव विभोर हो गये थे। बातों की चर्चा में पारिवारिक सम्बन्धों और साहित्य की भी चर्चाएँ हुई। अब वे दिन चले गये। 'कोउ जग रहा न रही कहानी' (जायसी)। सबसे पहले उन्होंने कालाकाँकर नाम पड़ने का कारण बताया कि गंगा नदी के कटाव को रोकने के लिए किनारे-किनारे कंकण लाकर डाले गये-जिससे इसका नाम कालाकाँकर पड़ा।

कुँवर सुरेश सिंह का जन्म 7 अगस्त 1910 ई. को कालाकाँकर के राजभवन में हुआ था। उनकी हाईस्कूल की शिक्षा कालविन कॉलेज लखनऊ, इण्टर - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में हुई थी। स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के कारण उनकी शिक्षा अवरुद्ध हो गयी। काशी में उनके संरक्षक म.म.पं. मदन मोहन मालवीय थे। 1930 ई. के नमक आन्दोलन में सम्मिलित होने के कारण उनको जेल-यात्रा करनी पड़ी। तदनन्तर भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत जेल एवं नजरबन्दी भी हुई। वे कांग्रेसी आन्दोलन में सदैव सक्रिय रहे। इसी कार्य में लग जाने के कारण उनकी विद्यालयी शिक्षा व्यवस्थित रूप से सम्पन्न न हो सकी। परन्तु उन्होंने स्वाध्याय से हिन्दी, संस्कृत, बंगला एवं अंग्रेजी का स्तरीय अध्ययन किया। इसके साथ उन्होंने जीवविज्ञान का भी गहन और व्यावहारिक अध्ययन किया तथा पंछी की विविध जातियों और उनके विविध क्रियाकलापों पर अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना की। इसी बीच वे सन् 1952-1964 ई. तक विधान सभा (उ.प्र.) के सदस्य भी रहे।

रचनाएँ :- अपने जीवन के विविध पक्षों में कार्य करते हुए वे साहित्य के विविध कार्यों में लगे रहे। बानर, कुमार, किसान (मासिक), दरिद्रनारायण, हिन्दुस्तान (साप्ताहिक) एवं अधिकार (दैनिक) पत्र- सभी जगह पत्रिकाओं के सम्पादन कार्य में वे लगे रहे। इनके साथ उनकी मौलिक रचनाएँ इस प्रकार हैं-

1. हमारी चिड़ियाँ (1940 ई.);
2. जापानी खतरा (1940 ई.);
3. चिड़िया खाना (1944 ई.);
4. हमारे जानवर (1946 ई.);
5. जीवों की कहानी (1946 ई.);
6. हमारे जीव-जन्तु (1954 ई.);
7. खेती के शत्रु (1955 ई.);
8. जीवों की दुनिया (1957 ई.);
9. जीव-जगत् (1958 ई.);
10. 'असली मुर्गाछाप (1958 ई. कहानी संग्रह);
11. समुद्र के जीव-जन्तु (1958 ई.);
12. 'किताब की कहानी' (1958 ई.);
13. 'पक्षियों की दुनिया' (1959 ई.);
14. 'कुमार' (1959 ई.);
15. आओ गिनें (1960 ई.);
16. रेंगने वाले जीव (1966 ई.);
17. शिकार के पक्षी (1971 ई.);
18. यादों के झरोखे (1980 ई.);

आदि उनकी प्रकाशित कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त हमारे जलचर, हमारे कीट पतंग, हमारे पेड़ पौधे, कीड़े-मकोड़े, स्तनपायी जीव, भारतीय पक्षी, पिंजड़े के पक्षी, घर की सैर, यह अनहोनी दुनियाँ एवं चाँद-तारा आदि लगभग एक दर्जन पुस्तकें भारत सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों द्वारा पुरस्कृत हैं।

वास्तव में कालाकाँकर हिन्दी तीर्थ है। वहाँ के राजभवन के पुस्तकालय में हिन्दी की अप्रकाशित दुर्लभ रचनाएँ हैं। वहाँ स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों और हिन्दी सेवियों की भीड़ लगी रहती थी। सुमित्रानंदनपंत, पं. रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', रायकृष्ण दास, सोहनलाल द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, गोपाल राम गहभरी, प्रताप नारायण मिश्र, महादेवी वर्मा, बालमुकुन्द गुप्त, नरेन्द्र शर्मा, सियारामशरण गुप्त, निर्मलजी, शंकरदेवजी विद्यालंकार, रामकुमार वर्मा, धीरेन्द्र वर्मा, जैनेन्द्र, डॉ. नगेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर आदि हिन्दी सेवी अनवरत आते रहा करते थे। 19.08.1931 को पंतजी पहली बार कालाकाँकर गये और 1941 तक राजभवन के कुछ दूर 'नक्षत्र' नामक स्थान पर रहे। प्रतिदिन शाम को वे राजभवन आते और साहित्यिक चर्चा में रस लेते थे।

महात्मा गाँधी, पं. मदन मोहन मालवीय, पं. जवाहरलाल नेहरू, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, सरदार वल्लभभाई पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, रफीक अहमद किदवई आदि राजनीतिज्ञों से भी कुँवर साहब का नैकट्य सदैव बना रहा। उनको गाँधीजी ने व्यक्तिगत रूप से कई पत्र लिखे थे। पूज्य मालवीयजी तो 'हिन्दुस्तान पत्र का सम्पादन वहीं रहकर करते रहे और जब वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ने गये तो मालवीयजी ही उनके संरक्षक रहे।

अनवरत साहित्य सेवा के उपलक्ष्य में भारत सरकार ने 1971 ई. में उनको 'पदमश्री' की मानद उपाधि से समलंकृत किया। कालान्तर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने उनको साहित्य वाचस्पति की उपाधि दी।

पूज्य पं. रामनरेश त्रिपाठी को वे अपना साहित्यिक गुरु मानते थे। अपने जीवन तक त्रिपाठीजी भी कुँवर साहब को साहित्यिक उत्साह देते रहे। 1930 ई. में जब वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ते थे, तो कार से प्रयाग 'हिन्दी मन्दिर' होकर ही बनारस जाया करते थे। एक बार जब कुँवर साहब 'हिन्दी मन्दिर' में पुस्तकें खरीद रहे थे, तो वहीं त्रिपाठीजी से परिचय हुआ था। जब त्रिपाठीजी को यह ज्ञात हुआ कि क्रेता कालाकाँकर के हैं, तो उन्होंने बड़े स्नेह से अपना परिचय दिया। इसके साथ ही कालाकाँकर के वंश के हिन्दी प्रेम और मालवीयजी के 'हिन्दुस्तान के अरमानों को चिरजीवी रखने के लिए कहा। जब वे

नमक आन्दोलन में जेल गये, तो त्रिपाठीजी उनसे मिलने के लिए कई बार गये थे। साथ-साथ बाल साहित्य-रचना के लिए प्रेरणा भी देते रहे। जब वे जेल से छूटे तो त्रिपाठीजी ने उन्हें अपने बालपत्र 'बानर' का सम्पादक बना दिया। यहीं से उनकी हिन्दी-सेवा का प्रारम्भ हुआ। त्रिपाठीजी वर्ष के कुछ दिन कालाकाँकर में अवश्य बिताते थे। जब त्रिपाठीजी कालाकाँकर में होते तो वहाँ के गाँव भर के रामायणी उनको घेरे रहते थे। स्कूल के छात्र भी उनसे मिलकर गदगद हो जाते थे। 'मिलन', 'पथिक' 'कविता कौमुदी' तथा ग्रामगीतों के संकलन के कार्य की सराहना वे बार-बार करते थे। त्रिपाठीजी 1959 ई. में अन्तिम बार कालाकाँकर पधारे थे।

दूसरा संस्मरण उन्होंने निरालाजी का सुनाया: जो उन्हीं की ओर से इस प्रकार है ''निरालाजी का मैंने सर्वप्रथम दर्शन 1930 ई. में किया। लाहौर कांग्रेस से लौटकर मैं लखनऊ में बीमार पड़ा था। एक दिन दुलारे लाल भार्गव के साथ निरालाजी मेरे भाई पूज्य राजा अवधेशसिंह से मिलने लखनऊ की कोठी पर आये। भाई साहब से मेरी अस्वस्थता और हिन्दी प्रेम को सुनकर निरालाजी वहाँ से चुपचाप उठकर कमरे में चले आये; अपना परिचय देकर मेरे पास बैठ गये। उन्होंने मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछताछ करने के उपरान्त वहीं बैठे-बैठे अपनी दो कविताएँ एक कागज पर लिखकर मुझे आशीर्वाद के रूप में दीं और कहा-''इन्हें स्वस्थ होने पर पढ़ियेगा। राजा साहब से आपके हिन्दी प्रेम के बारे में सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है।'' जब पंतजी कालाकाँकर में रहने लगे तो वे प्राय: आया करते थे। वे पंतजी के साथ 'नक्षत्र' में रहते और गाँववालों में घुलमिल जाते थे। एक बार वे होली पर आये तो हमलोग गाँव घूमने निकले; उन्हें हम लोगों की पार्टी से अलग होकर गाने बजाने वाले होरिहारों के बीच ताल ठोकते हुए चलना अधिक पसन्द आया। शाम को धमार की पार्टी हुई तो निरालाजी ने उसमें प्रमुख रूप से भाग लिया। एक वर्ष उन्होंने दशहरा यहीं मनाया। किसी ने मजाक में उनसे कुम्भकर्ण बनने को कहा, तो वे बड़े जोर से हँसकर बोले-''मैं तैयार हूँ लेकिन यहाँ भी कहीं वही हाल न हो जो हमारे पड़ोस के गाँव में एक बार हुआ था।'' मेरे पूछने पर उन्होंने बताया- ''मेरे पड़ोस में एक बहुत बनने वाले बन्नू पाण्डेय थे-जो अपने को बड़ा मजाकी लगाते थे; एक बार दशहरे पर मेरे पास आकर बोले निरालाजी! क्या बताऊँ कुम्भकर्ण का पाठ करनेवाला अचानक बीमार पड़ गया है। यदि आप कष्ट करें तो रामलीला सफल हो जाये ?मैंने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और कुम्भकर्ण बनकर राम-लक्ष्मण से युद्ध करने आ गया। दोनों भाइयों ने मेरे ऊपर तीर चलाये तो मैंने राम बने हुए लड़के को पकड़ लिया। वह बेचारा रुआँसा होकर हाथ जोड़कर लक्ष्मण की ओर इशारा करके बोला- मेरा नहीं, इसी लक्ष्मण का तीर आपको लगा है, मुझको छोड़ दो। लक्ष्मण बने लड़के ने जब यह हाल देखा, तो वह तीर-कमान फेंककर भाग खड़ा हुआ और मैंने हंसकर राम को छोड़ दिया तो वे मुकुट आदि उतारकर नौ दो ग्यारह हो गया। इतना होने पर मैंने पण्डितजी की ओर मुड़कर कहा-''आइए हनुमानजी आप से ही दो हाथ हो जाये। उस बार जब आप लंका को जलाकर भाग गये थे, तो मैं सो रहा था। पंडितजी की घिघ्घी बँध गयी और उनकी जान-में-जान तब आई जब मैं जोर से हँसकर अपनी जगह जा बैठा। लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये और पंडितजी का उसी दिन से मजाक करना छूट गया।'' यह किसा सुनकर हमारे यहाँ के विनोदी सज्जन चुपके से खिसक गये।

निरालाजी गोश्त बहुत अच्छा पकाते थे। जब वे कालाकाँकर आते तो लोगों की प्रार्थना पर कभी-कभी बनाया करते थे। माननीय राजा अवधेश सिंह शाकाहारी थे, पर हम लोग आनंदित होते थे। एक बार निरालाजी बरसात में कालाकाँकर आये, तो कुकुरमुत्ते की तरकारी बनाकर खिलाये। गाँव में उसको खुम्भी कहा जाता है। मीरजापुर में उसको खुखुड़ी कहते हैं। वह प्राय: बलुई जमीन में बादलों की कड़क के समय जमीन से निकलती है। कुकुरमुत्ता तो 'सूखी या सड़ियल लकड़ियों तथा गोबर से प्रभावित स्थानों पर उगता है। वह शीघ्र विनश्य होता है, उसकी गंध भी बुरी होती है; उसको कोई नहीं खाता है। दोनों के पैदा होने का समय समप्राय होता है। खुम्भी या खुखुड़ी का स्वाद गोश्त जैसा होता है। निरालाजी उसको

पुष्पों में ऊँचा बताते थे। जब मैं अल्मोड़ा में कई वर्षो तक बन्द था तो उन्होंने 26.06.1947 को एक पत्र दिया (प्रकाशित, सम्मेलन पत्रिका श्रद्धांजलि अंक पृ. 396) इसी प्रकार के पत्राचार चलते रहे। 'कुकुरमुत्ता की रचना पर मैंने उनको बधाई दी थी। नजरबन्दी से छूटकर एक दिन मैं निरालाजी से प्रयाग में मिला तो उन्होंने मुझसे मेरी फोटों माँगी, तो मैं संकुचित हुआ, बोले-डरें नहीं मैं शादी के लिए नहीं, कुकुरमुत्ता के लिए माँग रहा हूँ। घर जाने पर मुझको कुकुरमुत्ता की कुछ प्रतियाँ प्राप्त हुई। उन्हीं दिनों बच्चनजी ने एक हवा छोड़ी थी कि उसमें निरालाली ने अपने को कुकुरमुत्ता और पंतजी को गुलाब दर्शाया है, ठीक नहीं है। पंतजी मेरी प्रार्थना पर यहाँ रुके थे- वे मेरे आश्रित नहीं थे। न तो निरालाजी का क्षोभ ही था। निराला और पन्त से सम्बन्धित उन्होंने अनेक संस्मरण सुनाये। उनके पत्रों की भी उन्होंने चर्चा की।

पंतजी 'नक्षत्र' में रहते थे। दोपहर का भोजन वहीं जाता था। शाम का वे राजभवन में ही भोजन करते, कविताएँ भी सुनाते और सोने के लिए 'नक्षत्र' में चले जाया करते थे। दो सेवक उनके साथ रात को वहाँ रहा करते थे। उनको अचार बहुत प्रिय था। नौका विहार, घूमना, एकान्त में चिन्तन, जब किसी किताब को वे अन्तिम रूप देने लगते तो बहुत व्यस्त हो जाया करते थे। कभी-कभी वे चुपचाप बहुत देर तक बैठते; फटे कपड़े सीते, गुनगुनाते तथा यदाकदा गाँव में घूमने भी चले जाया करते थे। उनकी सबसे बड़ी आत्मीयता हो गयी थी।

कुँवर साहब निर्भीक, साहसी और स्पष्टवादी थे। एक बार मालवीयजी ने गुरुमुख होने के लिए (मंच लेने लिए) कुँवर साहब को जनसमूह में बुलाया, तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि न ''मैं नहीं हो सकूँगा।'' लोगों ने कहना प्रारम्भ किया कि मालवीयजी आप पर बहुत नाराज होंगे। पर जब वे शाम को उनसे मिलने गये, तो वे प्रसन्नता से बोले- 'तुमने ठीक किया, मैं जानता था कि तुम राजा रामपाल सिंह के कदमों पर चलोगे।'

मैंने सवेरे गंगा-स्नान किया। ऐसा खुला दृश्य या तो यहाँ या काशी में मिलता है। बारहदरी के आगे मैंने स्नान किया। उगते हुए सूरज की किरणें सीधी पड़ रही थीं। बारहदरी का अधिकांश हिस्सा गंगाजी में ही है। जब मैं स्नान, सूर्य नमस्कार और नित्य पूजन करके राजभवन वापस आया तो कुँवर साहब अपने सुपुत्र श्री शिरीशजी के साथ जलपान के लिए प्रतीक्षातुर थे। वात्सल्य रस में डूबे हुए कुँवर साहब के साथ जलपान में मुझको अपार सुख मिला। दिन में भी कई सुखद संस्मरण सुनने को मिले। मैं कुछ देर तक बाहर निकलकर चबूतरे पर धूप में बैठकर गंगा के दृश्य का सुख लेता रहा। अनेक स्मृतियाँ आती रहीं। कई बार इस प्रकृति के आसपास राजवैभव को भी मैंने देखा; क्या दिन वह रहा होगा और क्या आज है। नाम मात्र के लोग आज राजभवन से जुड़े हैं, नहीं तो बैठने की जगह नहीं मिलती थी। अब कहाँ ड्योढ़ी, प्रतिहारी और सेना। सब कुछ अतीत के गर्त में चला गया, पर कालाकाँकर और कुँवर साहब का हिन्दी प्रेम यथावत बना हुआ है।

मैंने रात का भोजन सबके साथ किया, वहीं दूरदर्शन भी देखा। सामने विशाल पुस्तकालय (निजी) पढ़ने-लिखने, चिंतन, मनन, शयन, मिलन और वार्त्तालाप के विविध स्थान तथा साज-सज्जा दिखाई पड़ी। वास्तव में वे साहित्यकार थे।

मैं दूसरे दिन अमेठी चला आया। मैं कालाकाँकर के विविध संस्मरण में डूबा ही था कि 30 दिसम्बर 1987 को सांय 7/20 के आकाशवाणी के समाचार से ज्ञात हुआ कि हिन्दी तीर्थ कालाकाँकर का एक सजग पुरोहित अब नहीं रहा।

काव्यकला मर्मज्ञ रावराजा यदुराज सिंह

डॉ. किरन पाल सिंह

साहित्यिक दृष्टि से यदि देखा जाए तो भरतपुर राज्य का इतिहास अति समृद्धशाली रहा है। यहाँ के राजा और प्रजा दोनों ही हिंदी-प्रेमी और हिंदी-सेवी रहे हैं। भरतपुर वंशीय राजाओं के दरबार में हिंदी कवियों को विशेष सम्मान प्राप्त था। वे साहित्यकारों के आश्रयदाता तो थे ही, स्वयं भी अच्छी कविताएँ किया करते थे। इस प्रकार से अनुमान लगाया जाए तो इनके द्वारा तथा इनसे प्रोत्साहन प्राप्त रचनाकारों ने प्रभूत साहित्य की रचना की, लेकिन दुर्भाग्य से उचित संरक्षण न मिलने पर इन राजाओं का अधिकांश साहित्य नष्ट हो गया। जो उपलब्ध हो सका उसके आधार पर हम ठाकुर बदन सिंह, महाराजा बलदेव सिंह, महाराजा बलवंत सिंह, रावराजा अजीत सिंह तथा राव कृष्णदेवशरण सिंह 'गोप' की रचनाओं की विवेचना इसी ग्रंथ में पीछे कर चुके हैं। यहाँ हम उन्हीं के वंशज रावराजा यदुराज सिंह रचित साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं, जो परिमाण तथा परिणाम दोनों ही दृष्टियों से उच्चस्तरीय है। यद्यपि इनकी भी पूरी रचनाएँ प्राप्त नहीं हो सकी हैं, फिर भी 'रसिक छैल' ग्रंथ के रूप में जो संगृहीत हैं, वही इन्हें सम्मान्य सिद्धहस्त-श्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में खड़ा करने में सक्षम हैं।

रावराजा यदुराज सिंह, महाराज जसवंत सिंह (सन् 1850-1893) के पौत्र थे और रावराजा रघुनाथ सिंह के सुपुत्र। महाराजा जसवंत सिंह के चार राजकुमारों में से दो की अकाल मृत्यु हो गई। शेष दो में से बड़े कुमार रामसिंह (सन् 1893-1900) भरतपुर के राजसिंहासन पर बैठे और छोटे कुमार रघुनाथ सिंह को रावराजा की उपाधि प्रदान की गई। उनके बाद यही उपाधि हमारे वर्ण्य कवि यदुराज सिंह को भी प्राप्त हुई।

कुँवर यदुराज सिंह जी का जन्म 30 नवंबर, 1912 को भरतपुर राजपरिवार के सेवर स्थित महलों में हुआ। माता श्रीमती मोहन कौर तथा पिता रावराजा रघुनाथ सिंह (सन् 1887-1943) की इकलौती संतान होने के कारण भरपूर लाड प्यार तथा तत्कालीन महाराजा बृजेन्द्र सिंह (सन् 1918-1995) के समवयस्क एवं 'कुँवर काकाजी' (चाचाजी) होने के कारण संपूर्ण परिवार-राज्य में आदर-सम्मान भी प्राप्त था। ''कुँ. यदुराज सिंह की शिक्षा राजवंश की परम्परा के अनुसार विशिष्ट विद्यालयों में ही प्रारम्भ की गई। बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि होने के कारण वे उच्च श्रेणी से उत्तीर्ण होते रहे। तत्कालीन राजवंश की शिक्षा व्यवस्था के अनुसार इन्हें मेयो कॉलेज अजमेर तो नहीं भेजा जा सका किन्तु सेन्टपीटर कालेज आगरा से उन्होंने कक्षा 10 की परीक्षा उत्तीर्ण की। अपने पिता के इकलौते पुत्र होने के कारण उनको आगे पढ़ने से विमुख रहना पड़ा क्योंकि घर खेती की व्यवस्था भी उन्हें ही देखनी पड़ी।'' (डॉ. रामरतन शास्त्री-'रसिक छैल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व', पृ. 2, सं.जन. 2001)

युवा होने पर 24 वर्ष की आयु में सन् 1936 में इनका विवाह हो गया खैर (अलीगढ़) के एक निकटवर्ती गाँव घरबरा के श्रेष्ठ ठिकानेदार की सुपुत्री हरेन्द्रकौर के साथ। राजघराना था, न किसी प्रकार की कोई कमी और न ही कोई चिंता, अतः दाम्पत्य जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था। चार संतानों से फलीभूत हुए कुँवर साहब, जिनमें सबसे छोटे पुत्र का अल्पकाल में ही निधन हो गया था। शेष दो पुत्री और

एक पुत्र कुँवर रघुराज सिंह अपनी वंश परंपरा का निर्वाह करते हुए सानंद जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

अभिसूच्य है कि यदुराज सिंह को-''काव्य प्रतिभा विरासत रूप में मिली, क्योंकि आपके पिता रावराजा रघुनाथ सिंह के यहां अनेक कवियों का आवागमन बना रहता था अनेकों कवियों को आपसे स्थायी वृत्तियां भी मिलती थीं। उनके सत्संग का प्रभाव आपके शिशु हृदय में कविरूप में आविर्भूत हो गया। प्राचीन कवियों के काव्य-ग्रन्थों का इन्होंने गम्भीरतम अध्ययन किया है। उसी के परिणामस्वरूप इनकी सर्वाधिक रचनाएँ ब्रजभाषा प्रधान हैं। आपकी रचनाओं का एकमात्र लक्ष्य श्रीराधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का वर्णन है। आपकी श्रृंगार रस सम्बन्धी रचनाएँ अत्यधिक श्रुतिमधुर हैं।'' (द्र. डॉ. कुंजबिहारी लाल गुप्त - स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ - प्र.खं., पृ. 209-210, प्रका. हिन्दी साहित्य समिति, भरतपुर, संवत् 2017) इससे आभासित है कि ये कुँवर बचपन से साहित्य साधना करने लगे थे। इनका साहित्यिक नाम था 'रसिक छैल'। ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली में कविता करते थे रावराजा। इनका कोई महाकाव्य तो प्रकाश में नहीं आया परंतु प्रचलित सभी परंपराओं की रचनाएँ मिलती हैं इनके काव्य में। वंश परंपरा के अनुसार भगवान् कृष्ण आराध्य हैं इनके। अत: उनके गुण-गायन के साथ रासलीला, चीरहरण, ब्रज की होली, प्रकृति के विविध रूपों का वर्णन, लोकगीत आदि का बड़ा ही सुंदर चित्रण किया है।

माँ सरस्वती के अनन्य उपासक रावराजा यदुराज सिंह 58 वर्ष की आयु में, 8 मई 1970 को महापथ गमन कर गए।

रावराजा यदुराज सिंह की रचनाओं का एक संग्रह प्रकाश में आया है- ''रसिक छैल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व'' नाम से, जिसका संपादन किया है प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डॉ. रामरतन शास्त्री ने। शास्त्रीजी ने इसे दो भागों में विभाजित किया है- प्रथम भाग है गीत खण्ड और द्वितीय कवित्त खण्ड। गीत खण्ड में छोटी-बड़ी कुल मिलाकर 64 कविताएँ हैं जिनमें कुछ मुख्य हैं-लोकगीत, चीरहरण लीला, बंसिया बजत बहुरि वन वन में, ताजमहल, वर्षा विहार, होरी, मानवता की पुकार, समस्या पूर्ति आदि। कवित्त खण्ड में विविध छंदों से युक्त श्रीकृष्ण लीला वर्णन, संयोग तथा विप्रलम्भ श्रृंगार परक कवित्त, होली, ऋतुवर्णन तथा विविध फुटकर छंद समाहित किए हैं। इसके साथ ही विद्वान ग्रंथकार डॉ. रामरतन शास्त्री ने 'रसिक छैल' द्वारा वर्णित नायक-नायिका भेद, अलंकार तथा नवरस वर्णन का बड़ा ही विवकेपूर्ण प्रतिपादन किया है ग्रंथ के प्रारंभ में ही।

ब्रजभाषा के और ब्रजक्षेत्र के जाने-माने कवि थे यदुराजसिंह 'रसिक छैल'। जितना इनके व्यक्तित्व में आकर्षण था उससे कहीं अधिक प्रभावशाली थे इनके गीत और इनकी गायन शैली। केवल कवि या गीतकार ही नहीं एक अच्छे संगीतकार भी थे। इन्होंने अपनी रचनाओं को ''एक सौ से अधिक घनाक्षरी छन्दों में विविध विविध विषयों को अत्यन्त सरसता से वर्णित किया है। और तो और प्रसिद्ध लोकोक्तियों तथा मुहावरों को काव्यात्मक रूप देकर सरस बना देना उनकी काव्य प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है। आकाशवाणी देहली एवं मथुरा से अनेक बार उनकी कवितायें व गीत प्रसारित किये जाते रहे हैं। ब्रज माधुरी कार्यक्रम के तो वे मूर्धन्य गीतकार रहे हैं।'' (डॉ. रामरतन शास्त्री-रसिक छैल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 4) राजसी वैभव में पले-बढ़े थे राजा साहब, लेकिन क्रोध-अहं से शून्य हृदय में कोमल भावों का संचरण होता था जिन्हें अपनी कल्पना में बाँधकर उतार लेते थे कोरे कागज पर। इस प्रकार बहुत कुछ लिखा और बहुत कुछ गाया। यहाँ इनके उपलब्ध साहित्य के कुछ अंशों-कुछ विविध रूप-रसों में पगी रचनाओं पर साहित्यिक दृष्टि से विचार करते हैं। इनमें प्रमुख हैं-साहित्य, चीरहरण लीला, रासलीला, बाँसुरी, लोकगीत, होली, ऋतुवर्णन, समस्यापूर्ति, देश-गौरवगान तथा श्रृंगारपरक रचनाएँ।

साहित्य :- कवि रसिक छैल को राष्ट्रभाषा हिंदी और उसके काव्य से अगाध प्रेम है। साहित्य और साहित्यकार इनके जीवन-प्राण हैं। इनके अतिरिक्त इन्हें सब कुछ नीरस लगता है फलत: अन्य किसी से

परिचय पूछना अथवा अपना परिचय देना बेमानी समझते हैं। देखिए इनका निम्न पद। 'मैं किससे क्या पहिचान करूँ' कविता शीर्षक से –

''जिस जीवन में साहित्य नहीं,
उस जीवन ने क्या चक्खा है।
जिस जीवन में कुछ राग नहीं,
उस जीवन में क्या रक्खा है।।
फिर ऐसे नीरस जीवन पर,
मैं क्यों मन में अभिमान करूँ।
अपना पथ है दो ही क्षण का,
मैं किससे क्या पहचान करूँ।।'' (गीत खण्ड, पृ. 8)

कवि केवल यहीं पर इतिश्री नहीं करता, वह और आगे बढ़कर प्रभु से विनय करता है कि अंत समय मेरे सामने कविगण खड़े हो काव्य पाठ करते रहें।

''इच्छा है यही प्रभु से है विनय,
जब अन्त समय मेरा आये।
कवि वृन्द खड़ा कुछ कहता हो,
अरु शान्ति चहुँ दिशि छा जाये।।
हों गुंजित स्वर से 'छैल' भुवन,
ऐसे में, मैं प्रस्थान करूँ।
अपना पथ है दो ही क्षण का,
मैं किससे क्या पहचान करूँ।। (वही, पृ. 9)

चीरहरण लीला : भरतपुर राजवंश के आराध्य देव हैं ब्रजनंदन श्रीकृष्ण भगवान्। अपने इष्ट की उपासना में रसिक छैल ने उनकी विविध लीलाओं का मधुर गान किया है। अन्य भक्त कवियों की भांति इन्होंने भी श्रीकृष्ण की प्रेम लीलाओं का साकार वर्णन विविध छंदों–रागरागिनियों के माध्यम से किया है। द्रष्टव्य है ब्रजबिहारी द्वारा ब्रज–बनिताओं के चीरहरण का एक घनाक्षरी छंद –

''कैसी बान आन कें परी है ये हटीले कान्ह,
नित्य नये ऊधम करौ हौ सखियान सौं।
घट पटकौ औ अटकौ हौ घाट बाटन में,
अटकौ नां हटके खिजाऔ बतियान सौं।।
भोरी ब्रजनारी व्यर्थ छेड़त 'रसिक छैल',
इन्हें न सताओ यों अनौखौ घतियान सौं।
चोर–चोर लीन्हैं चीर तीर जमुना तें हाय,
कैसी अनरीत नग्न देखौ अँखियान सौं।। (वही, पृ. 13)

रासलीला : श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ रासलीला की थी। वंशी की मधुर–मोहिनी धुन सुनकर गोपियाँ सब कार्य छोड़कर कान्हा के पास आ गई जहाँ वन में सुखदायी–मदहोश करने वाली शीतल पवन प्रवाहित हो रही थी। कामदेव के इशारे पर वसंत ऋतु के बिना ही चारों ओर सुंदर पुष्प खिल गये। गोपी–कृष्ण की यह महारास लीला शरद पूर्णिमा की रजत चंद्रिका में सम्पन्न हुई। प्रभु की माया थी कि यह रात्रि तीस दिन

के बराबर हुई पर किसी को इसका आभास तक नहीं हुआ। प्रस्तुत है यह लीला पद –

''करकैं सुधिवा उन गोपिन की बसिया कर धार बजाय दई।
सब मोह लिए नर–नार चराकर शीतल पौन बहाय दई।।
रितुराज बिनां विकर्सी कलियाँ रतिराजहु तीर चलाय दई।
नहिं भेद लख्यौ किनहूँ जग में दिन तीसहु रात बनाय दई।।'' (वही, पृ. 17)

बाँसुरी : बाँसुरी का विशेष महत्त्व रहा है श्रीराधा–कृष्ण लीला वर्णन में। श्रीकृष्ण भगवान् का परम प्रिय वाद्य यंत्र रहा है बाँसुरी। उसकी मधुर ध्वनि से ब्रज के नर–नारी, पशु–पक्षी ही नहीं देव–किन्नर सभी मोहित हो जाते हैं। यद्यपि यह बाँसुरी बाँस की बनी हुई है तथापि गोपियों ने इसे सदैव अपनी सौतन के रूप में देखा है। कारण यह सदैव श्रीकृष्ण के अधरों का पान करती रहती है। बाँसुरी की सुमधुर तान जैसे ही गोपियों के कानों में पड़ती है, वे वैसे ही, उसी स्थिति में सब कार्य छोड़कर, बावरी–सी होकर उसी धुन में खो जाती हैं और फिर बाद में उसे बुरा–भला कहती हैं। इस संदर्भ में द्रष्टव्य है रसिक छैल का 'बाँसुरी'–शीर्षक का निम्न पद–

''सुनत ही तान कान बावरी भई हैं सब,
भूलीं खान–पान कोऊ आँगन परी रहै।
तात मात त्यागे कुल कान हू विसार दई,
छूटे घट पट प्रीत हिय में भरी रहै।।
कैसी निर्मोहिन नै ब्रजवनिता मोहि लई,
जीवन को नाश करै चुप्प ना धरी रहै।
'रसिक छैल' बाँसुरी ने बाकी कुछ छोडयौ ना,
बाँसुरी निगोड़ी तौऊ अधर धरी रहै।।''
(डॉ. रामरतन शास्त्री–रसिक छैल : व्यक्तित्व, काव्य–विवेचन, पृ. 20–21)

लोकगीत : आंचलिक–लोकगीतों का विशेष महत्त्व है। इनमें ग्रामीण क्षेत्रों की जातीय–सामाजिक परंपरा ही नहीं देश की सांस्कृतिक विरासत के भी दर्शन होते हैं। भरतपुर–मथुरा के आस–पास का क्षेत्र लोकगीतों के लिए विख्यात है। यहाँ ब्रज संस्कृति के जीवंत स्वरूप के दर्शन होते हैं। ''बहु आयामी काव्य–प्रतिभा के धनी कवि रसिक छैल ने ब्रज, श्रीकृष्ण और ब्रजवासियों को जितनी निकटता से देखा और उस दृष्ट भावना में बैठकर जो अनुभव किया वह कवि–मनीषा का उत्कृष्ट रूप है। श्रीकृष्ण का माधुर्यरूप सर्वत्र भक्ति भावनाओं के साथ व्याप्त होकर ब्रज–भूमि को माधुर्य से युक्त कर देता है। इस माधुर्य का सर्वव्याप्त रूप ब्रज के लोकगीतों में विद्यमान रहता है।'' (वही, पृ. 6) वास्तव में इन गीतों में जीवन का उत्कृष्ट स्वरूप उभर कर सामने आता है जो श्रोताओं और पाठकों को प्रफुल्लित कर देता है। देखिये रसिक छैल का यह लोकगीत जिसमें सुंदर नेत्रों के विविध लक्षणों को बड़े ही सुंदर ढंग से उभारा गया है –

''मत मारै नजरिया के बान,
बलम मोरे लग जइ हैं।।
।।1।।
बड़े–बड़े कजरारे प्यारे,
इनकी अनौखी पान।
बलम मोरे लग जइ हैं।।

।।2।।
पलपल पलक पेंतरा पलटत,
भौंहें बनी हैं कमान।
बलम मोरे लग जइ हैं।।
।।3।।
झुक झूमें जी में अर जइ हैं,
ये सब गुन की खान।
बलम मोरे लग जइ हैं।।
।।4।।
'छैल' छिपे घूँघट के पर मां,
करि हों चोट महान।
बलम मोरे लग जइ हैं।।
मत मारे नजरिया के बान,
बलम मोरे लग जइ हैं।'' (वही, गीत खण्ड, पृ. 3)

होली : ब्रज क्षेत्र में होली का विशेष महत्त्व है खेलने में ही नहीं, गायन में भी। मुख्य त्यौहार आने से महीने भर पहले से ही नर-नारी एक दूसरे पर रंग-गुलाल डालना शुरू कर देते हैं। गली-मोहल्ला सर्वत्र मस्ती छा जाती है। ब्रज के आराध्य श्रीकृष्ण और आराध्या राधिका रानी से जोड़कर फाग खेला जाता है। जहाँ देखिये वहीं राधाकृष्ण के नाम पर होली के गीत और रसिया गाये जाते हैं। किसी ने कृष्ण का रूप धारण किया तो किसी ने राधिका का, और एक दूसरे पर रंग-पिचकारी से बौछार कर रहे हैं। ऐसे ही एक दृश्य का चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं कवि रसिक छैल एक कवित्त के माध्यम से -

''रंग-बिरंगे दुकूलन कौं ओढ़ चालीं आलीं,
घटा सम दरसै सुअंबर गुपाल के।
चलैं फिचकारी मेह बरसै ज्यों धारन सौं,
दामिनि दमकैं बेंदी नीकी बीच भाल के।।
बाजैं मृदंग ढप गरज घन बीच भई,
झींगुर से झिंगारे हैं नूपुर विशाल के।
''रसिक-छैल'' होरी बीच वशी ऋतुआई है
उड़ रहे बादल बहुरंगी गुलाल के।'' (वही, कवित्त खण्ड, पृ. 26-27)

ब्रज में होली के अवसर पर यदि रसिया न गाया जाय तो होली का आनंद आधा रह जाता है। हमारे विवेच्य राजा रसिक छैल कृष्ण भक्त तो थे ही। अत: अपने आराध्य रसिया कन्हैया के लिए यदि रसिया न लिखते-न गाते तो उनका लीला वर्णन अधूरा रह जाता और फागुन की मस्ती का रंग भी फीका पड़ जाता। आप भी लीजिए आनंद उनके रसिया का -

''तेरा नटवर नन्द किशोर, जसोदा हमते अटकै री।।
छोटी उमर बड़ौ है ढ़ोटौ, लगै सूधरौ है पर खोटो।
छीना झपटी करै लिपट मेरे गल सौं लटकैं री।। तेरा नटवर ......
मार कांकरी गागर फोरै, ऊँगरी पकर मेरी बाँह मरोरै।

नथ दुलरी कर देय हार हियरा कौ झटकै री।। तेरा नटवर ...
नाहीं करूँ नेक नहिं मानें, मन मानी अपनी ही तानें।
नैनन सैन चलाय कमर पै करधन मटकै री।। तेरा नटवर .....
'रसिक छैल' बिन मन नहिं लागै, दर्शन पाय प्रीत अति जागै।
सबरे जगके सुख मिलै दु:ख तनते सटकै री।।
तेरा नटवर नन्द किशोर जसोदा हमते अटकै री।। (वही, गीत खण्ड, पृ. 81-82)

ऋतुवर्णन :- कवि की प्रेरणा है प्रकृति। प्रकृति की आकर्षक कोमल चेष्टाएँ कवि-मन को उद्वेलित-तरंगायित करती हैं। वह प्रकृति के परिवर्तन (ऋतु-परिवर्तन) से प्रभावित भी होता है। इस सभी के परिणाम स्वरूप कवि अपनी लेखनी से प्रकृति के विभिन्न अवयवों-ऋतुओं को रूपायित करता है। कवि छैल भी इससे अछूते नहीं रहे। इन्होंने भी अपने काव्य का ऋतु-वर्णन से श्रृंगार किया है। फलत: बसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त आदि सभी का सुंदर-सरस तथा अलंकृत चित्रण किया है। अवलोकनार्थ प्रस्तुत है इनके दो कवित्त-प्रथम पद में कवि वसंत के आगमन पर उसका स्वागत करता है-

''नव किसलस उगे डालियों पर,
विहँगों का दल अब चहक उठा।
हैं सुमन खिले दिशि में अनन्त,
वन उपवन सारा महक उठा।।
कुछ फल गदराये नये नये,
दाड़िम के सर पर सजा ताज।
रितुराज आज तेरा स्वागत,
सज गया बसन्ती सकल साज।।'' (वही, पृ. 56)

कवि दूसरे पद में सावन मास में वर्षा-ऋतु का वर्णन कर रहा है -

''चमकी चपला चहुँ चंचल है,
अबलानन चित्त चुरावनौं है।
घुमड़ाय घिरीं घन की ये घटा,
घहराय अटा हु दुरावनौं है।।
बरसैं बुंदियाँ बन-बागन में,
पिक दादुर बोल सुनावनौ है।
सखि साँच कहौं ऋतु पावस में,
यह सावन मास सुहावनौं है।। (वही, कवित्त खण्ड, ऋतुवर्णन, पृ. 32)

अनुप्रास अलंकार के प्रयोग ने कवित्त तथा वर्ण्य विषय को अति लावण्य बना दिया है। रसिक छैल के काव्य में ऐसी रमणीयता अनेक स्थलों पर प्रदर्शित हुई है।

रस-निरूपण :- कवि 'रसिक छैल' रसिक प्रवृत्ति के हैं। श्रृंगार रस पर तो इन्होंने साधिकार रचनाएँ की ही हैं परंतु अन्य सभी रसों का वर्णन करने में भी ये अग्रणी रहे हैं - उन्हें भी अपने काव्य में समुचित स्थान दिया है।

श्रृंगार वर्णन :- कवि रसिक छैल का मुख्य प्रतिपाद्य है श्रृंगार वर्णन। यहाँ पर इनके श्रृंगार वर्णन के साथ ही इनके द्वारा प्रयुक्त अन्य रसों की भी चर्चा करते हैं। काव्य शास्त्रों में नव रस माने गए हैं – श्रृंगार, हास्य, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत, करुण तथा शांत। बाद में भक्ति और वात्सल्य को भी रस मान लिया गया है। रसिक छैल ने यद्यपि सभी रसों को स्थान दिया है अपने काव्य में लेकिन इन्हें संयोग श्रृंगार सबसे प्रिय रहा है। अपने एक छंद में इन्होंने यह स्वीकार भी किया है। देखिए –

''शनि जब आवत है चौथौ पुनि मांस अन्त,
कोई कह करुण को करुणा जनाते हैं।
एक वीर रौद्र वीभत्स और भयानक कहैं,
जेते हैं प्रसन्न मन हास्य को सुनाते हैं।।
जिनका है शान्त मन शान्त का ही ध्यान धरै,
भक्ति करन हारे अद्‌भुत मनाते हैं।
'रसिक छैल' चित्त को न भाते ये आठों रस,
सुन्दर संयोग श्रृंगार सज बनाते हैं।।''
(डॉ. रामरतन शास्त्री–रसिक छैल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. 58)

ध्यातव्य है कि कवि ने इस छंद में सभी नव रसों का उल्लेख भी कर दिया है। श्रृंगार रस को 'रसराज' कहा जाता है। काव्य में प्राय: सर्वाधिक प्रयोग हुआ है इसका। भारतीय नरेशों की अधिकांश रचनाएँ श्रृंगार रस से परिपूर्ण हैं। सामंतशाही परिवेश के कारण रावराजा यदुराज सिंह की आसक्ति भी इसी ओर रही। श्रृंगार रस के दोनों ही रूपों, संयोग तथा वियोग को उचित स्थान दिया है इन्होंने अपनी रचनाओं में। श्रृंगार के दोनों ही रूपों की हम यहाँ उद्धरणों सहित चर्चा करते हैं।

संयोग श्रृंगार :- ''परस्पर अनुराग युक्त नायक-नायिका के दर्शन, स्पर्शन आदि के वर्णन द्वारा जहाँ श्रृंगार रस की अनुभूति होती है, वह संयोग श्रृंगार रस कहलाता है।'' (वही, पृ. 59-60) नायक-नायिका (प्रेमी-प्रेमिका) के एक दूसरे को देखने, स्पर्श करने अथवा वार्त्तालाप करने की दशा में जिन प्रेम-भावों की उत्पत्ति होती है वह रति भाव-श्रृंगार रस के अंतर्गत आते हैं। ऐसे भावों-अनुभावों को मन में सँजोए, यौवन-मद भार से युक्त सज-धज कर नायिका, नायक से मिलने जा रही है। उस समय का, संयोग श्रृंगार का अति मोहक-रागात्मक चित्र प्रस्तुत किया है कवि छैल ने निम्न छंद के द्वारा –

''यौवन संभार एक तिय चली प्यारे पास,
किंकिंण हू बाजै ज्यों धनुष टनकार है।
भौंहे कमान बर्नी नैन दीखें खड्‌ग सम,
ठंडी लै उसास जैसे तीर सनकार है।।
कटि अति छीन और उरज कठोर ताके,
नीकी मुसकान ज्यों विद्युत घनकार है।
''रसिक छैल'' प्यारी के रूप रंग मंच मानौ,
काम के जगाने को नूपुर झनकार है।।'' (वही, कवित्त खण्ड, पृ. 7)

संयोग श्रृंगार का ही एक अन्य उद्धरण देखिए। इस छंद में कवि ने एक ऐसी नवयुवती का वर्णन किया है जिसका योवन पूरे उभार पर है, जिसमें रति लीला के सभी लक्षण द्रष्टव्य हैं, अब उसे न घर की

सुध-बुध और न ही स्वयं की। उसका शृंगार ढीला पड़ गया है और शरीर कंपायमान हो रहा है-

''सरकी भाल बेंदी नैन कैसे उनीदे आज,
क्षत है कपोल बढ़ी लालिमा अधर की।
धरकी है छाती कुच कोर कढ़ी आँगी खुली,
काँपत हैं गात मेंहदी छूटी क्यों कर की।।
करकी हरी चूरी फिरें अति घबरानी सी,
ढीले सिंगार सेज साजी किन सुघर की।
घरकी न सुधि बुधि रही है ''रसिक छैल,''
रात कित जागी लट खूट गई सर की।।'' (वही, पृष्ठ 8)

कवि का यह छंद लाटानुप्रास- अलंकार का अति उत्तम उदाहरण है। 'शब्द अर्थ एकै रहै, अन्वय करतहिं भेद' अर्थात् जहाँ 'शब्द-अर्थ एक रहते हैं पर अन्वय करने पर वाक्यार्थ बदल जाता है, वहाँ लाटानुप्रास अलंकार (अनुप्रास का एक भेद) होता है।' (द्र. बृहत हिन्दी कोष, सं. कालिका प्रसाद, पृ. 986, ज्ञानमण्डल लिमि., वाराणसी, पु.मु. 2005) प्रस्तुत छंद में 'करकी' शब्द की आवृत्ति हुई जिसमें प्रथम करकी मेंहदी छूटी क्यों करकी' का अर्थ है हाथ की मेंहदी छूट गई तथा दूसरी करकी-'करकी हरी चूरी' का अन्वय करने पर अर्थ आता है प्रियतम से मिलन के समय हरी चूड़ियाँ टूट (कड़क) गई।

विप्रलम्भ शृंगार :- शृंगार रस की वास्तविक महिमा वियोग पक्ष में ही है। जब नायक-नायिका में अगाध प्रेम होता है परंतु किन्हीं कारणों से मिलन नहीं हो पाता, ऐसी स्थिति में दोनों के मन में जो असह्य वेदना होती है, साहित्याचार्यों के अनुसार वहाँ विप्रलम्भ शृंगार होता है। मिलन के अवसर पर तो प्रेमी-प्रेमिका का साक्षात् प्रेम प्रकट होता है लेकिन विरह की दशा में प्रेम की आत्मा के दर्शन होते हैं। वस्तुत: विरह प्रेम की कसौटी है। प्रेम की इसी पराकाष्टा को दर्शाया है सूरदास ने गोपियों के माध्यम से - 'ऊधो विरही प्रेम करे' कहलवाकर।

कवि 'रसिक छैल' ने विप्रलम्भ शृंगार का अनेकश: वर्णन किया है जिनमें अभिलाषा-हेतुक, ईर्ष्या-हेतुक, प्रवास-हेतुक तथा शाप-हेतुक छंदों की सरल शब्दों में बड़ी ही सुंदर और मार्मिक रचनाएँ की हैं। जब प्रेमी-प्रेमिका का मिलन नहीं हो पाता तो विछोह-वियोग में प्रेमिका को न तो दिन में चैन पड़ता है और न रात्रि में। उसकी नींद उड़ जाती है, खाना-पीना, हँसना-बोलना सभी छूट जाता है। प्रेमी के बिना कहीं भी, किसी भी दशा में उनका मन नहीं लगता। द्रष्टव्य तत्संदर्भित निम्न पद-

''उड़ जात नींद सूनी सेज नाहीं नीकी लगै,
सिर कौ ना दर्द जात काई खसबोई सौं।
धीरता रहै नां अरु वीरता रहै नां नैक,
ध्यान हट जात तीखी सेल और सिरोही सौं।।
''रसिक छैल'' कैसी द्विविधा में पड्यौ है मन,
चित्त ना लागत काहू जग की हँसी ही सौं।।
छूट-जात खान-पान कछु नां सुहात तब,
मन लग जात जब काहू निरमोही सौं।।(वही, पृ. 21)

विरह की दशा में दु:ख का प्रत्यक्ष अनुभव तो होता ही है, सुखद अनुभूतियों का स्मरण भी दु:खद रूप में बना रहता है। कवि रसिक छैल विरहिणी की इसी दशा के दर्शन करा रहे हैं अपने इस पद में-

''सब बीत गई रस की रतियाँ,
मग मोहन मूरत ही मुख की।
वट बागन बाखर बारिन की,
मन मौज करीं सगरे सुख की।।
तब आँखन आँख चाहत हों,
अब आस टरी उनके सुख की।
मन ''छैल'' नहीं पल रैन परै,
कछु पार नहीं हमरे दु:ख की।। (वही, पृ. 20-21)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि 'रसिक छैल' ने काव्य में श्रृंगार के साथ-साथ अन्य रसों का भी प्रयोग किया है। उन्होंने हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत, शांत, भक्ति तथा वात्सल्य सभी रसों के सटीक और सुंदर उद्धरण दिए हैं अपनी रचनाओं में। विस्तार भय के कारण इन सीमित पृष्ठों में इन सभी का प्रतिदर्श प्रस्तुत करना तो संभव नहीं है लेकिन पाठकों की जिज्ञासा शांत करने के लिए एकाधिक उद्धरण यहाँ दिए जा रहे हैं। देखिए वीर रस की एक छंद जो इन्होंने भरतपुर के महान् योद्धा महाराजा जवाहर सिंह की तलवार को लेकर बनाया था -

''निकस मियान घड़ी एक ना विराम लेत,
चपला सी चमक्क शत्रु छाती बिदार है।
बिज्जुली झमक्के नहिं सक्के अरिनाशत में,
अश्वमार हातीशर वीरन में पार है।
''रसिक छैल'' सूजा के सुत हौ जवाहर जू,
तेरी सब पैज पूरी राखी करतार है।
कट्ट-कट्ट मुंडन के झुंड अवसिक्त करे,
अति ही प्रचंड बंड तेरी तरवार है।।'' (वही, पृ. 44)

वात्सल्य रस की भी सुदंर झाँकी प्रस्तुत की है कवि ने एक अन्य पद में। बाल-क्रीडाएँ-तुतला कर बोलना, आँगन में मटक-मटक कर चलना, पास बुलाने पर दूर भाग जाना आदि ऐसी क्रियाएँ हैं जिन्हें देखकर माता-पिता का हृदय वात्सल्य से उमड़ आता है। शिशु की ऐसी ही चेष्टाओं को दर्शाया है कवि ने निम्न कवित्त में -

''छोटे से मुख से कछू तोतली सी बात कहे,
निकट जो बुलावै तो आप भजे दूरियाँ।
कौतुक नवीने करै मन बीच मोद भरै,
माता पिता कौं रहत प्रेम परि पूरियाँ।।
''रसिक छैल'' होवै जो कबहू मलीन मन,
करदे प्रसन्न कर करकैं खिलूरियाँ।
प्यारो लगै है खेलै, बीच महलन के,
माकै मटकै सरोज नैन लटकै लटूरियाँ।।'' (वही, रसिक छैल काव्य : एक विवेचन, पृ. 69 - 70)

कवि के प्रदाय पर सूक्ष्म दृष्टि डाली जाए तो सहज ही में आभास हो जाता है कि इनके काव्य में सभी रसों का समन्वित प्रयोग हुआ है। पढ़ने और सुनने पर भी एक विशेष आनंद की प्राप्ति होती है।

नायक-नायिकाभेद :- प्रौढ़ कवि हैं रसिक छैल-विशेष प्रतिभा के धनी। इन्होंने अपने काव्य में नायक-नायिका भेद का निरूपण भी किया है। यद्यपि किसी महाकाव्य की रचना नहीं की इन्होंने जिसके अंतर्गत नायक और नायिका के चयन की आवश्यकता पड़े, अपने शास्त्रीय ज्ञान को प्रदर्शित करने हेतु इन्होंने जहाँ नायक के विभिन्न गुणों-धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त, भेदों का सोदाहरण वर्णन किया है, वहीं दूसरी ओर नायिका भेदों में स्वीया, मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, परकीया, सामान्या आदि नायिका-रूपों को भी परिभाषित किया है। यहाँ पर उदाहरण स्वरूप एक नायक 'धीर प्रशान्त नायक' तथा एक नायिका, 'परकीया नायिका' वर्णन पर दृग्पात् करते हैं।

धीर प्रशान्त नायक :- धीर प्रशान्त नायक उस नायक को कहते हैं जिसमें नायक के त्याग आदि सामान्य गुण प्रचुर मात्रा में हों और जो ब्राह्मणादिक उच्च वर्ण का हो।" (द्र. डॉ. रामरतन शास्त्री-रसिक छैल ; व्यक्तित्व, पृ. 13) रसिक छैल ने कई छंद लिखें हैं धीर प्रशान्त नायक के व्यक्तित्व वर्णन में। इनका एक छंद नीचे दिया जा रहा है -

"रहि रूप सदां हमरौ थिर ये,
यहि ज्योति बढै सबरे सुख की।
बल भौंहन बीच रहै मद कौ,
न तु ताकत 'छैल' घटे तन की।।
जु कही सुकरी नकरी नकही,
बस बात रहै अपने मन की।
सुन मात यही वर माँगत हूँ,
नहिं आंट कटै तरु तापन की।।" (वही, पृ. 14)

परकीया नायिका :- "परकीया नायिका वह नायिका होती है जो नायक की पत्नी नहीं होती अपितु वह नायक की हृदय साम्राज्ञी होती है। उसके चितवन स्वरूप को नायक सर्वथा याद करता रहता है और अपने तन-मन की सुधि विसार देता है। (वही, पृ. 17) ऐसी नायिका गुप्तरूप से परपुरुष से प्रेम करती है। एक उद्धरण प्रस्तुत है कवि छैल की रचनाओं से -

"देखी नारि लालपट ओढैं एक गाँव माँहि,
अति ही प्रवीन निज जीवन सम्हार में।
कटि अति छीन और उरज कठोर गोल,
सुन्दर बदन चन्द्र उग्यौ ज्यों पहार में।।
"रसिक छैल" जादू है टोना है कि मंत्र-जंत्र,
भूल्यो राग रंग जब कीनी आँख चार में।
एक पग चलीं ढुकी फिर अंगड़ाई लई,
हँसि हिय लै गई हमारौ गस हार में।। (वही, पृ. 18)

'कवि छैल' रावराजा यदुराज सिंह ने देश-भक्ति, मानवता, समाज में समानता का अधिकार, मातृभाषा प्रेम, समस्यापूर्ति, नथ टूट गई झगरे में, वर्षा-विहार, क्यों आज खुली है मधुशाला, गजल,

ताजमहल आदि जैसे अनेक शीर्षकों से रचनाएँ की हैं-कुछ छोटी तो कुछ लंबी, सभी सुंदर और मार्मिक। कविताओं के माध्यम से कवि संसार की नश्वरता, मानव के उत्थान-पतन, जन्म-मृत्यु जैसी सत्यता की कहानी भी समझा जाता है पाठकों को। अपनी लंबी कविता 'ताजमहल' के मिस कवि यह बताना नहीं भूला कि जिस शहंशाह शाहजहाँ के एक इशारे पर विश्व में खलबली मच जाती थी, जिसके शासन में बहने वाली गंगा-झेलम आदि के अथाह जल से करोड़ों-अरबों मनुष्यों की प्यास बुझती थी, समय और भाग्य के दुश्चक्र में फँसकर ताजमहल बनवाने वाला वही बादशाह कारागार की एक अँधेरी कोठरी में पड़ा एक घूंट पानी के लिए तड़प रहा है। देखिए कवि की ये पंक्तियाँ -

> ''जिस शाहजहाँ की भृकुटी से, जाता था यह संसार दहल।
> उसने कैदी बनकर काटे, अपने जीवन के अन्तिम पल।।
> जिसके शासन में बहती हो, गंगा यमुना, झेलम, चंबल।
> वह एक अन्धेरे कारागृह में, तड़फ गया पीने को जल।
> कैसे कोई विश्वास करे, यह भाग्य चक्र इतना चंचल।
> बन्दी गृह में सड़ जायेगा, बनवाने वाला ताजमहल।।''

(वही, गीत खण्ड, पृ. 33)

कवि की सभी रचनाएँ उत्कृष्ट श्रेणी की हैं जो पाठक और श्रोता के मन में गहरे तक उतर जाती हैं।

भाषा-शैली :- कवि रसिक छैल ब्रजभाषा क्षेत्र के रहने वाले हैं और मातृभाषा भी ब्रजभाषा ही है इनकी, अत: स्वभावत: इनकी प्राथमिकता ब्रजभाषा में कविता करने की रही है। लेकिन इसके साथ ही इन्होंने खड़ीबोली में भी कविताएँ की हैं। ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों पर इनका समान अधिकार रहा है। राजा साहब ने प्राचीन कवियों के काव्य-ग्रंथों का गहन अध्ययन किया है। संगीत शास्त्र का इन्हें अच्छा ज्ञान था। जो कुछ कमी थी वह इनके दरबार में आने वाले विद्वान् कवियों के संपर्क से दूर हो गई। इस प्रकार इन्हें पिंगल छंद शास्त्र की भी अच्छी जानकारी हो गई थी जिसका प्रमाण हैं इनके द्वारा रचित दोष मुक्त छंद। ब्रजभाषा हो अथवा खड़ीबोली, इन्होंने सर्वत्र सरल भाषा का ही प्रयोग किया है अपने काव्य में। जटिल भाषा से दूर रहे हैं। मुहावरों तथा लोकोक्तियों का अधिक नहीं सीमित प्रयोग किया है। तारे तोड़ना, जले पर नमक छिड़कना, रातभर पीस्यौ और पारी में सकेरौ (कठिन परिश्रम किया पर फल बहुत कम मिला) जैसे मुहावरे इनकी कविताओं में न केवल निखार ला देते हैं वरन् उन्हें नुकीला भी बना देते हैं।

रसिक छैल प्रधानत: शृंगारिक कवि हैं अत: इनके काव्य में सरस, सरल एवं कोमल पदों का आधिक्य है और काव्य गुणों से युक्त भी। काव्य के तीनों प्रधान गुणों, अर्थात् माधुर्य, ओज तथा प्रसाद से परिपूर्ण हैं इनकी रचनाएँ। शृंगार के सभी पक्षों का बहुत कमनीय वर्णन किया है अत: इनकी कविताएँ माधुर्य गुण से ओत-प्रोत हैं। देखिए एक उद्धरण -

> ''सरकी भाल बिन्दी नैन कैसे उनीदे आज,
> क्षत हैं कपोल बढ़ी लालिमा अधर की।
> धरकी है छाती कुच कोर कढी आंगी खुली,
> कंपत है गात मेंहदी छूटी क्यों कर की।।'' (वही, पृ. 35)

वीर रस-प्रधान कविताओं में कवि ने ओज गुण का प्रयोग किया है। जो श्रवण मात्र से ही श्रोता को सहज ही आनंद की रसानुभूति करादे वह कविता प्रसाद गुण से युक्त होती है। प्रसाद गुण का एक

उदाहरण देखिए छैल के कवित्त का –

> ''सुनत ही तान कान बावरी भई हैं सब
> भूली खान-पान कोऊ आँगन परी रहै।
> तात-मात त्यागे कूल कान हू विसार दई,
> छूटे घट-पट प्रीत हिय में भरी रहे।।'' (वही, पृ. 38)

अलंकारों का बहुविध प्रयोग किया है कवि ने जिसमें अनुप्रास और उसके उपभेद (छेकानुप्रास, वृत्त्यानुप्रास, लाटानुप्रास), रसिया तथा यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, व्याजोक्ति आदि सम्मिलित हैं। यहाँ एकाधिक उद्धरण देना कदाचित अनुचित न होगा वरन् कवि की प्रतिभा को प्रदर्शित करने के लिए यह आवश्यक ही होगा। अत: प्रस्तुत हैं रसिक छैल के दो पद –

> ''चंचल चितौन सौं चटाक चित्त चोर-चोर,
> चन्द्रमुखी चोक्खी चन्द्रहास सी चलावती।
> हेर-हेर हँसन सु हियरा हिरावै हाय,
> हटकै हटीली हाथ होटन हलावती।।
> 'रसिक छैल' राजै रंगीली रली रूप राशि,
> रीझे रिझावरत को रोकत रुलावती।
> जग-जग जोति जुरी जोवन के जोर जार्की,
> जर-जर कीन्हौ जग जरिन जलावती।।'' (वही, कवित्त खण्ड, पृ. 17)

अनुप्रास अलंकार का अद्‌भुत चित्रण किया है कवि ने अपने इस छंद में। इस छंद में च, ह, र और ज वर्णो की अनेक बार आवृति हुई है जो अनुप्रास अलंकार की द्योतक है।

एक अन्य छंद में उत्प्रेक्षा अलंकार की छटा द्रष्टव्य है –

> ''केश शिर सोहत ज्यौं कारी घटा घिरिआई,
> इन्द्रधनु भौंह नैन मीन अनियारी के।
> बैन कोकिला के दंत विद्युत से राज रहे,
> भूषण हू चमकै ज्यौं दीप अँधियारी के।।
> 'रसिक छैल' प्यारे की आमन की आस लगी,
> आँसू ढ़रकावै झर लाये बरसारी के।
> नूपुर कौ शब्द मानौ झींगर झिंगार भई,
> चन्द्र सम अंग लसै प्यारी मतवारी के।।'' (वही, पृ. 14)

कवि ने उपमेय में उपमान की संभावना दर्शाकर संपूर्ण पद में उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रदर्शन किया है। अंत में कवि अपने राष्ट्र के गौरव की रक्षा और राष्ट्रवासियों की सुख-समृद्धि की कामना करता हुआ कहता है –

> ''नित नूतन प्रेम परस्पर हो जनते जन नैंकन जीय जरै।
> तन भारत भूमि सुकाज लगै, निज गौरव के हित जीय धरै।
> बरसें घन औ उपजें धन-धान, नहीं प्रभु कौ पल ध्यान टरै।
> हरषै छवि 'छैल' छटा छिटकें, सुख सम्पत्ति सों सब देश भरै।।

हट जाय घटा दु:ख की जग सों, अँसुआ नहिं नैंनन नैंक ढरैं।
निज कर्म करें सगरी जनता, शुभ कर्म सों जीवन नैंक टरैं।।
हँसते हिय औ हुलसात रहैं, नहिं रोग जरा जग जान परैं।
बस 'छैल' मिलै मन शान्ति तभी, सुख सम्पत्ति सों सब देश भरैं।।

(वही, कवित्त खण्ड, पृ. 42-43)

अपने काव्यों में अनेक छंदों का प्रयोग किया है 'छैल' जी ने, जिनमें दोहा, सोरठा, सवैया, कवित्त, घनाक्षरी, रूपधनाक्षरी, तोटक, कुंडलिया, मोतीदाम आदि विशेषोल्लेख्य हैं। इनका जन्म राजघराने में हुआ, रावराजा थे। उनपर कोई प्रतिबंध नहीं था लेकिन अपनी छंदबद्ध-रसासिक्त रचनाओं के द्वारा पाठकों-साहित्य-प्रेमियों के मानस-पटल पर एक सशक्त शृंगारिक कवि और आँचलिक लोकगीतकार के रूप में अपनी स्पष्ट छाप अंकित करने में पूर्ण सफल हुए हैं। यद्यपि हिंदी साहित्येतिहास में कहीं उल्लेख नहीं मिलता इनका, जबकि इसके पात्र हैं ये, फिर भी रावराजा यदुराज सिंह 'रसिक छैल' के हिंदी-अवदान को भुलाया नहीं जा सकता।

अब्दुर्रहीम खानखाना की कामना

आनीता नटवन्मया तब पुर: श्रीकृष्ण या भूमिका
व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि।
प्रीतो यद्यसि ता: समीक्ष्य भगवन् तद् वाञ्छितं देहि मे
नो चेद्ब्रूहि कदापि मानय पुनर्मामीदृशीं भूमिकाम्।।

हे भगवन् श्रीकृष्ण! आपकी प्रसन्नता के लिये आजतक नट की भाँति जो चौरासी लाख स्वाँग मैंने आपके सामने धारण किये हैं, यदि उनको देखकर आप प्रसन्न हैं तो मेरी मन: कामना पूर्ण कीजिये; और यदि आप प्रसन्न नहीं हैं तो साफ कह दीजिये कि अब फिर ऐसा कोई स्वाँग मेरे सामने मत लाना।

राजर्षि विश्वनाथ प्रताप सिंह कृत 'एक टुकड़ा धरती : एक टुकड़ा आकाश'

डॉ. अनुज प्रताप सिंह

उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद (प्रयाग) जनपद में एक माण्डा राज्य था, जिसका भारत सरकार में विलय हो चुका है। इसी राज्य के अन्तिम शासक (राजा) राजर्षि विश्वनाथ प्रताप सिंह थे; जिन्होंने वर्षो तक राज्य का कार्यभार वहन किया था। उनकी जन्म तिथि 25 जून 1931 है। स्वाध्याय, व्याख्यान, कविता, कला, समाज-सेवा और राजनीति से लगाव उनको प्रारम्भ से ही रहा है। माण्डा और कंतित (विजयपुर) राज्यों से कुछ गाँवों को लेकर माण्डा राज्य के द्वितीय पुत्र छत्रसाल ने डइया राज्य की स्थापना की थी। उसी राज्य के अन्तिम शासक राजा भगवती प्रसाद सिंह के राजर्षि तृतीय पुत्र थे। जब माण्डा राज्य नि:सन्तान हो गया, तो उत्तराधिकारी के लिए चिन्ता हुई। सुयोग्य एवं वंश के क्षत्रिय कुमारों की खोज होने लगी। पंचायतें होने लगीं। राज्य-कार्य राजमाता साहिबा और सरकारी सहयोग से चल रहा था। अन्त में अनुभवी लोगों ने निर्णय लिया कि डइया के राजकुमारों में से ही किसी को माण्डा का उत्तराधिकारी बनाया जाय। राजामाता साहिबा ने अपना प्रतिनिधि डइया में भेजा। राजा भगवती प्रसाद सिंह ने प्रतिनिधि से अपनी इच्छा व्यक्त की -''मुझको पांच राजकुमार हैं, बड़े के लिए डइया का राज्य है; शेष चार में से माननीया जिसको चाहें- उसको अपना उत्तराधिकारी बना सकती हैं।'' विविध माध्यमों से राजमाता साहिबा ने कुँवर विश्वनाथ प्रताप सिंह का चयन अपने उत्तराधिकारी के रूप में किया। माण्डा के पट्टीदार या गुजारेदारों ने इस निर्णय का घोर विरोध किया। उस विरोध का सामना राजमाता साहिबा ने अपने कुशल प्रबन्धन से किया।

राजर्षि की प्राथमिक शिक्षा क्षत्रिया कालेज-वाराणसी (अब उदय प्रातप कालेज) में हुई। उनके साथ संगीनधारी अंगरक्षक रहा करते थे। उनके योग्य संरक्षक रखे गये ; जो हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत का अच्छा ज्ञान दे सकें, अनुशासन सिखा सकें। बहुत ढंग से उनकी शिक्षा हुई थी। वे अनवरत वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में भाग लिया करते थे। वहाँ की शिक्षा के उपरान्त उनकी स्नातक शिक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हुई। उन्होंने बी.ए., बी.एस.सी., एम.ए., एल.एल.बी. की। वे एम.एस.सी. करना चाहते थे, पर पाठ्यक्रम को देखकर उन्होंने नहीं किया; कहा कि ''ये सब तो मैं वैसे भी जानता हूँ।'' भाभा परमाणु केन्द्र में वे शोधकार्य करने जाना चाहते थे, पर राजनीति में आ जाने के कारण न जा सके।

आचार्य बिनोबा भावे से उन्होंने दीक्षा ली थी। उनके पास जो कुछ राज्य-सम्पदा थी-उसको उन्होंने भू-दान यज्ञ में दे दिया था। वे सच्चे सर्वोदयी थे। वे पवनार आश्रम से सदैव जुड़े रहे। वे स्वयं श्रमदान करते थे। सन् 1935 ई. में सर्वोदय आन्दोलन के जनक आचार्य विनोबा भावे पदयात्रा करते इलाहाबाद विश्वविद्यालय में आये थे। उस समय उनसे राजर्षि की निकटता विशेष हो गयी थी।

एक दिन जब राजर्षि सत्ता से अलग होकर सांसद का चुनाव लड़ रहे थे, तो वे पैदल जनसम्पर्क कर रहे थे। उसी समय जब मैं श्री प्रभात शास्त्री (पूर्व प्रधानमंत्री, हिन्दी सा.स. प्रयाग) के दारागंज वाले घर पर गया, तो वे बड़ी उत्सुकता से कहने लगे-'' आजु तोहार राजा आइ रहेन हो। हम त घबराइ गए; उनकर का रूप देखे रहे और आजु का देखिरहा हुई। आएन त कहेन-'कहैं शास्त्री जी का समाचार अहै ? फेरि बैठका मैं बैठि गएन।'' शास्त्री जी ने एक संस्मरण सुनाया-''मैंने अपनी आँखों से इनका वैभव देखा

है। इलाहाबाद शहर इनकी राज्य-सीमा में था। हमलोग टैक्स जमा करने के लिए माण्डा जाया करते थे। तीन दिन की भोजन-सामग्री और रहने की तैयारी करके जाते थे। मैं अपने पिताजी के साथ कई बार गया था। गढ़ी के सामने हजारों लोगों की भीड़ लगी रहती थी। लोग बाग में बनाते खाते और रहते थे। दर्शन के लिए लोग लालायित रहते थे। प्रात:काल सूरज निकलने के साथ वे भगवावस्त्र में गढ़ी की छत पर एक बड़े लोटे में जल लेकर आते थे, सूर्य को अर्घ देते थे, लोटा को नीचे मुखकरके 10 मिनट तक हाथ जोड़कर खड़े रहते और फिर भीतर चले जाते। प्रजा माण्डानरेश की जय-जयकार करती रहती। वह दृश्य देखकर मैंने आज उनको पैदल चलते हुए देखा। इसी दारागंज में 26 संस्कृत पाठशालाएँ चलती थीं-जिनके ब्रह्मचारियों और आचार्यों को माण्डानरेश की ओर से वृत्ति मिलती थी।''

राजा साहब राजनीति में आकर सफल और ईमानदार रहे। प्राय: कांग्रेस से निकलनेवाले लोग ध्वस्त हो गये, पर उन्होंने अपनी सरकार बनाकर दिखा दिया। उन्होंने हिन्दूवादी और इस्लामी दलों को एक मंच पर ला दिया। आज नहीं हैं, पर उनके उठाये हुए मुद्दे सक्रिय हैं। दलितों के लिए दिये गये उनके निर्णय सदा अमर रहेंगे। बोफोर्स का मामला ईमानदारी की तरह याद किया जाता रहेगा। उन्होंने हर स्तर पर ईमानदारी की रक्षा की है। वे बेदाग चले गये।

साहित्य, कला और चित्रकारी में उनकी अद्‌भुतगति थी। उनके चित्रों की प्रदर्शनियाँ कई बार लग चुकी हैं। प्रतीक, बिम्ब, व्यञ्जना और व्यंग्य के भावों को वे चित्रों से बहुत अच्छे ढंग से चित्रित कर देते थे।

कविता के क्षेत्र में राजर्षि महोदय मध्यवर्गीय वामपंथी ठहर पाते हैं। एक फकीराना चिन्तन और दलितोद्धार की भावना उनमें थी। शोषण का उन्होंने सर्वत्र विरोध किया है। भले से उन्होंने कुछ दिनों तक राज्य किया था, पर उनकी सर्वोदयी चेतना कभी खण्डित न हुई। चकबन्दी के समय अनेक गाँवों में माण्डा रियासत की भूमि थी। अधिकारियों ने उनके सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने एक उत्तर दिया-''जिस भूमि पर जिसका कब्जा है, उसके नाम बिना कुछ लिये कर दिया जाय। लोगों को इससे अपार हर्ष हुआ।

देशी रियासतों के विलय के उपरान्त राजर्षि ने जो उत्कर्ष किया वह कोई राजवंश न कर सका। प्रधानमंत्री होने के साथ उन्होंने देश के लोक मानस का नेतृत्व किया, सत्ता-परिवर्तन किया। विश्व में अपनी ईमानदारी, सादगी और कर्त्तव्यपरायणता का उन्होंने मानक स्थापित किया। साहित्य, समाज और शासन में उन्होंने सम्मान प्राप्त किया। शासन में रहते हुए उन्होंने अपने किसी परिजन या सम्बन्धी को अतिरिक्त काम नहीं दिया न कभी किसी का शोषण किया। राजकीय वाहन का वे परिवार, मित्र, सम्बन्धी, या निजी कार्य के लिए उपयोग कभी नहीं करते थे। शासन के प्रभाव से अनेक अधिकारी उनको लाभ देना चाहते थे, पर उन्होंने किसी से कुछ भी लेना स्वीकार नहीं किया। आज उनके जैसे कितने लोग हैं ? उन्होंने अपनी छवि स्वयं बनायी। सत्ता के भीतर और सत्ता के बाहर वे एक से रहे। बड़े-से बड़े लोगों, सुख और सुविधाओं को उन्होंने नकारने या छोड़ने में संकोच नहीं किया। सबको उन्होंने अपने मानकों या मूल्यों के अनुरूप ही स्वीकार किया।

ऐसे लोग नाम मात्र के होते हैं जो बहुमुखी प्रतिभा रखते हैं, उनमें से भी नाम मात्र के लोग ऐसे होते हैं जो बहुमुखी सर्वोच्चता रखते हैं। 'एक टुकड़ा धरती : एक टुकड़ा आकाश' के कवि राजर्षि विश्वनाथ प्रताप सिंह ऐसे लोगों में से ही हैं। जहाँ देश की महान् प्रतिभाएँ घोटाले काण्ड में फँसी हुई हैं – वहीं उनकी ईमानदारी सुरक्षित है। अन्य गुणों के साथ वे हिन्दी के अच्छे कवि भी हैं। उनकी कविताओं का यह पहला संग्रह है जिसको राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ने 1996 ई. में प्रकाशित किया है। दूसरा संग्रह भी है। ये कविताएँ यथार्थ की अनुभूतियों से गुजर कर रची गयी हैं। अपने आसपास घूमते बवण्डर के महिमामण्डन की नहीं हैं। इनमें अपनी नहीं; औरों की चिन्ता अधिक की गयी है। इनमें मनुष्यता की गहरी झलक है। चलते हुए मुहावरे भावों को गम्भीरता प्रदान करते हैं। आगे उन्हीं के शब्दों को लें- ''पर इतना

जरूर है कि अन्दर किसी ताप से कोई भाप उठी होगी। किस स्पर्श से वह भाप पसीज बूँद-बूँद बह चली, मैं नहीं कह सकता। पर लगता है अन्दर पुनर्जन्म हो गया'' (भूमिका से)। वास्तव में काव्य-रचना से कवि पुनर्जन्म पाता है। उस जन्म से जो काया बनती है- वह अमर होती है।

संकलन में दो खण्ड हैं- 1. तरु-राग 2. कही अनकही। कविताओं का स्वरूप लघु, पर प्रभावकारी है। रचनाकार ने अपने जीवन और विडम्बना को बड़े ढंग से कहा है। आज रीति, नीति और दलित या उपेक्षित की कौन सुनने वाला है। जो सुख-दु:ख का ताना-बाना बुनते-बुनते समाप्त हो जाते हैं। गरीबी की रेखा के नीचे के आदी हो जाते हैं। सब ऊपर ही-ऊपर देखते हैं, कौन दिल के दर्द को ढूँढता है, मूल समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रह जाती है -

यहाँ कौन सुनता
तरु का वह राग
जो था
एक टुकड़ा धरती
एक टुकड़ा आकाश (पृ. 13)

रचनाकार ऊँचाइयों से घबराता है, एक मध्यम वर्ग में अपना स्थान बनाता है। वह आम आदमी के साथ रहना चाहता है। आशावद्ध है कि कहीं तो ठहराव मिलेगा, अपनी परिधि मिलेगी। वह निवेदन करता है कि मुझको मत उठाना, अपनी जगह पर रहने देना -

मुझे उठाने की चेष्टा न करना
अँगुलियों के बीच से सरक जाऊँगा
ऊँचाइयों से
अब
घबराता हूँ - (पृ. 15)

वह हर क्षण को अपना समझकर उसमें जीता है। ऐसे क्षण में कुछ कहा नहीं जाता है। ऐसा ही क्षण जो भोगा जा रहा हो। वह सब का होता है, सहज यथार्थ होता है -

वह क्षण इतिहास का नहीं
मेरा है
वही जो सबके साथ होता है (पृ. 16)

आज सबसे कठिन सच के आधार पर रहना है। सच्चाई बहुत अच्छी वस्तु है, पर मात्र उसी पर टिकना कितना कठिन है -

लगता है
सच्चाई कोई प्याज है
पर
खाली प्याज पर
रह भी कौन सकता है (पृ. 17)

आज आदमी प्रचार-प्रसार में ही जीना चाहता है, वह जिन्दगी को समाचार समझता है। यह कटु, पर टटका यथार्थ है। आदमी इश्तहार हो गया है। आज के मानव का बहिर्जगत् मुख्य हो गया है। कवि तो महान् संघर्षों के मध्य अपने को जिन्दा रखता है। विडम्बनाओं पर वह कहता है -

फंदा वही है
खुद पहने
तो गुनाह
जल्लाद पहनाये
तो इन्साफ (पृ. 120)

विचारों के साथ कविता में शिल्प और तेवर का भी अपना अनिवार्य महत्त्व है। कवि को इसमें पूरी सफलता मिली है। व्यंग्य में कोई जोड़ नहीं है। कविता की शब्दावली और संरचना-विधान व्यावहारिक है। अंग्रेजी और फ़ारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग है। कविता में नयी उपमाएँ प्रयुक्त हैं

सच्चाई का प्याज (पृ. 17) (80), खेत के बाजरे की उपमा उन्होंने ईसा से दी है। स्थान-स्थान पर बिम्ब-विधान बड़े सार्थक हैं (पृ. 18, 35, 53, 54) जहाँ इतिवृत्तात्मक और वर्णनात्मक शैली है- वहाँ भी व्यंग्य-प्रयोग बड़े चुटीले हैं। उपमा के साथ-साथ दृष्टान्त और उदाहरण भी बड़े सटीक है (पृ. 113)। संग्रह के कुछ चित्र बड़ी सार्थक व्यंञ्जनाएँ करते हैं। क्षणिकाएँ अपना एक लम्बा आयाम बनाती हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना में व्यञ्जना का उपयोग सबसे अधिक है। श्लेष और अन्योक्तियाँ भी अपना विशेष महत्त्व रखती हैं।

कवि ने किसी वाद के घेरे में न पड़कर अपनी अनुभूतियों को एक ईमानदारी के साथ उकेरने का सफल और सजग प्रयास किया है। वाम-दक्षिण के घेरों से हटकर कवि मध्यम मार्गी है। वह प्रयोग से अधिक यथार्थ के नजदीक है। प्रस्तुत संग्रह आज की हिन्दी कविता में विशेष स्थान बनाता है।

आज मात्र उनकी कहानी रह गयी है। एक लम्बी बीमारी के उपरान्त दिल्ली के अपोलो अस्पताल में गुरुवार अपराह्न पौने तीन बजे उन्होंने अन्तिम साँस ले ली। दिनांक 26 नवम्बर 2008 ई. उनका अन्तिम दिन हो गया। अन्त में दिन शनिवार मार्ग शीर्ष शुक्ल पक्ष-2, विक्रम सम्वत् 2065 तदनुसार 29 नवम्बर 2008 ई. को दोपहर में राजर्षि के पूर्वजों की कोठी से एक लम्बी शव-यात्रा निकली। राजकीय व्यवस्था और जनमानस के हृदय विदारक स्वर के साथ 'राजा नहीं फकीर' की अन्तिम यात्रा संगम घाट की ओर चलती रही। रास्ते में अपार भीड़ थी। राजमार्ग मकान के दरवाजों और छतों से लोग अन्तिम प्रणाम कर रहे थे। शव-यात्रा पर किसी शायर के शेर की एक पंक्ति की याद आ रही है।

''राही पहुँच गया जनाजा जा रहा है अब।''

अन्त में संगम की रेती पर राजर्षि की शव-यात्रा अपराह्न दो बजकर तेईस मिनट पर पहुँची फिर सेना के अधिकारियों ने तिरंगे झण्डे में लिपटे हुए पार्थिव शरीर को कंधा देकर चिता पर रखा। उपस्थित लोगों ने अन्तिम नमन किया। लगभग तीन बजकर दस मिनट पर राजर्षि के बड़े पुत्र श्री अजय सिंह ने चिता को अग्नि दी और सतत्तर वर्ष की स्मरणीय यात्रा करके राजर्षि पंचतत्त्व में विलीन हो गये।

'कोउ न रहा जग रही कहानी' (जायसी)
''ऊँ द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ऊँ शान्तिः पृथिवी
शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्र्वेदेवाः शान्तिब्रह्मशान्तिः
सर्व ऊँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।।97।।
ऊँ शान्तिः शान्तिः शान्तिः (यजुर्वेद, अध्याय 36)

की ध्वनि वायुमण्डल और संगम की धाराओं में गूँजती हुई विलीन हो गयी।

सम्मान्य विशेष सहयोगदाता

1. **प्रो. घासीराम वर्मा**, द्वारा – महर्षि दयानंद गर्ल्स कॉलेज ऑफ साइंस झुनझुनू (राजस्थान) –333001
2. **श्री शेर सिंह डागर**, A– 47, साउथ एक्सटेंशन– II, नई दिल्ली – 49
3. **श्री सच्चिदानंद जोशी**, निदेशक – द शेमरॉक, 171, दक्षिण वनस्थली, मंदिर लेन, बल्लूपुर, देहरादून (उ.खं.) – 248001
4. **निदेशक** – सूरजमल मेमोरियल एजूकेशन सोसाइटी (रजि.), C–4, जनकपुरी, नई दिल्ली – 110058
5. **श्री पूनम राम चौधरी**, 2 अभयगढ़ स्कीम, केंद्रीय विद्यालय के सामने जोधपुर (राज.) – 342001
6. **कुँवर रघुराज सिंह**, काकाजी की कोठी, भरतपुर (राज.) – 321001
7. **डॉ. चंद्रकेतु तेवतिया**, 49/9 बंगला रोड़, कमला नगर, दिल्ली – 7
8. **श्री सुखवीर सिंह तेवतिया**, बी–22, विजय नगर, बवाना, दिल्ली – 39
9. **डॉ. शैलेश तोमर**, तोमर नर्सिंग होम, A– 5, नंदन वाटिका, सिरसा (हरियाणा) 1250501
10. **डॉ. राकेश सोलंकी**, द सोलंकी हॉस्पिटल, पुष्प वाटिका कालोनी, फतेहपुर सीकरी रोड़, भरतपुर (राज.) – 321001
11. **श्री श्रीकांत जैन**, श्रीभगवत भवन, कवि भगवत मार्ग (जैन गंज), ऐतमादपुर (आगरा) – 283202
12. **डॉ. अनमोल रतन सिद्धू**, वरिष्ठ एडवोकेट, 221, सेक्टर–21–A चंडीगढ़ 160022
13. **श्री अरविंद राठी**, 124FF फलोर सत्य निकेतन मार्केट, नई दिल्ली–110021
14. **श्री संतोष ठाकुर**, महामंत्री जाट सभा, 61, फाईन एवेन्यु फेस–2, नयापुर, कोलार रोड़, भोपाल (म.प्र.) – 462042
15. **श्री ओमपाल सिंह राठी**, अध्यक्ष प्रदेश जाट महासभा उत्तराखंड, 39 इन्दर रोड़, देहरादून (उ.खं.) –248001
16. **डॉ. हेमेन्द्र सिंह राजोरिया**, 24/208, महाराजा प्रापर्टी, अनिरुद्ध नगर, भरतपुर (राज.) – 321001
17. **प्रो. सतपाल सिंह**, मकान नं. 412, डिफेंस कालोनी, हिसार (हरियाणा)
18. **श्री तेजपाल चौधरी**, D2A/95A, जनकपुरी, नई दिल्ली – 58
19. **श्री भारूराम गौदरा**, 40/2, बजाज नगर एन्क्लेव, जयपुर (राज.) – 302015
20. **श्री इकबाल मोहम्मद**, 73 चक्खूवाला, चकराता रोड़, देहरादून, (उ.खं.) – 248001

इस ग्रंथ के सम्मान्य लेखक

1. **डॉ. अनुज प्रताप सिंह :** पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष (हिं.वि.), 'मीरा भवन', 1228-ए, वार्ड-9, राजा विजयपुर कोठी, सिविल लाइंस, मीरजापुर (उ.प्र.), 331001/मो.-08127449946
2. **प्रो. अश्विनी केशरवानी :** 'राघव', डागा कालोनी, बरपाली चौक, चांपा-जांजगीर (छ.ग.) पिन-495671/मो.-09425223212
3. **डॉ. ओउम प्रकाश अवस्थी :** 3 कटरा अब्दुलगनी (लक्ष्मी टाकेज के पास), फतेहपुर (उ.प्र.)-212601/मो.-09651794919
4. **डॉ. ओंकार नाथ चतुर्वेदी :** पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष (हिं.वि.), 'प्रणव', 130/4 शिवाजी लेन, सिविल लाइंस, स्टेशन रोड, कोटा (राज.), 325001/09460696454
5. **प्रो. कल्याण सिंह शेखावत :** पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष (राजस्थानी वि.), 15 सुभाष बोस कॉलोनी, डिफेंसलैब रोड, रातनाडा, जोधपुर (राज.), 324002/मो.-09314710752
6. **डॉ. किरन पाल सिंह :** 'पारिजात': 196 दक्षिण वनस्थली, मंदिर मार्ग, बल्लूपुर, देहरादून (उ.खं.), 248001/मो.-09456157016
7. **आचार्य कृष्णतीर्थ**, 42/140, कृष्ण कुंज, मथुरा रोड, सिविल लाइंस, आगरा (उ.प्र.), 282002 मो. 09568335333
8. **डॉ. कौशलेन्द्र पाण्डेय :** 130, मारुतिपुरम्, फैजाबाद रोड, लखनऊ (उ.प्र.), 226016 मो. -09236227999
9. **डॉ. गंगा प्रसाद बरसैंया :** पूर्व प्राचार्य, ए-7, फॉरच्यून पार्क, जी-3, गुलमोहर, भोपाल (म.प्र.), 462039/मो.-09425376413
10. **डॉ. चंद्रिका प्रसाद द्विवेदी 'चंद्र':** 15/1488, आचार्य नगर, रतहरा, इलाहाबाद रोड, रीवा (म.प्र), 486001/मो.-09407041430
11. **डॉ. जया :** प्राचार्य अग्रवाल कन्या महाविद्यालय, किशनगढ़ (राज.)
12. **डॉ. जशवंतभाई डी. पंड्या :** प्रोफेसर एवं अध्यक्ष (हिं.वि.), गुजरात विद्यापीठ, आश्रम रोड, अहमदाबाद (गुजरात), 380014/मो.-09426346457
13. **डॉ. जितेन्द्र कुमार सिंह 'संजय' :** असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, प्रभारी प्राचार्य, श्री भगवान सिंह स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भगवानपुरम्, दुबारकलाँ-231210, मिर्जापुर (उ.प्र.)/मो.-09473614545
14. **प्रो. जुगमन्दिर तायल :** 7बी, फ्रेंड्स कॉलोनी, अलवर (राज.), 301001/मो.-07597365880
15. **डॉ. देवेन्द्र कुमार सिंह गौतम :** प्रोफेसर एवं अध्यक्ष (हिं.वि.), जय नारायण व्यास, विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.), 342005/मो.-09468845939
16. **श्रीमती पद्मिनी श्वेता सिंह :** उपसचिव- प्रभाश्री ग्रामोदय सेवा आश्रम, देवगढ़, शिवद्वार - 231210, सोनभद्र (उ.प्र.)/मो.-08765802304
17. **डॉ. परेश कुमार पाण्डेय :** 5/4/75-बी, लक्ष्मणपुरी कॉलोनी, अमीनागंज, फैजाबाद (उ.प्र.), 224001/मो.-09415182942
18. **श्री पवन बख्शी :** pawanbakhshi56@gmail.com मो.-07018603559 द्वारा : श्री राजेन्द्र तिवारी, देवीनगर, पाँवटा साहिब - 173025 जि. सिरमौर (हि.प्र.)

19. **डॉ. पूरन सहगल :** निदेशक - मालवा लोक संस्कृति अनुष्ठान, 'कृष्णायन', उषागंज, मनासा-458110 जि. नीमच (म.प्र.)/मो.-09424041310
20. **डॉ. बद्री प्रसाद पंचोली :** बी-6, दातानगर, रेम्बल रोड, अजमेर (राज.), 305001 दूरभाष-01452-425664
21. **डॉ. ब्रजेन्द्र कुमार सिन्हा :** 'प्रतीक्षा', यमुनापुरी, पश्चिमी प्रभुनाथ नगर, छपरा (सारण) बिहार - 241301/मो.-09431692226
22. **प्रो. भीमसेन निर्मल :** साभार-'संकल्प'-हिन्दी दिवस-90, पृ. 179
23. **डॉ. महेन्द्र सिंह तंवर :** प्रबंधक-महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र, मेहरानगढ़ म्यूजियम ट्रस्ट, दुर्ग जोधपुर (राज.)/मो.-09413058965
24. **डॉ. माधव प्रसाद पाण्डेय :** पूर्व एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष (हिं.वि.), निकट इलाहाबाद बैंक, अमेठी (उ.प्र.), 227405/मो.-09450048773
25. **डॉ. मिथिलेश कुमारी मिश्र :** वाणी वाटिका, सैदपुर, आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-800004 बिहार/मो.-09430212579
26. **डॉ. राज नारायण राय :** पूर्व प्रोफेसर एवं प्राचार्य, भारतीय सैन्य अकादमी, 'नारायणीयम', 227, पंडितवाड़ी, फेज-2, पो.-प्रेमनगर, देहरादून, 248007/ दूरभाष- 0135- 2773124
27. **श्री रामगोपाल 'राही' :** लेखक-कवि-समीक्षक, मोहल्ला-गणेशपुरा, वार्ड-4, पोस्ट-लाखेरी-323615 जिला बूँदी (राज.)/मो.-09982491518
28. **श्री राम जन्म सिंह :** हिंदी प्रवक्ता (से.नि.), ग्राम व पोस्ट - दामा, 276204, जिला - आज़मगढ़ (उ.प्र.)/मो.-09839453851
29. **डॉ. राम नारायण शर्मा :** 'रामायण', 695/3, सिविल लाइंस, रानी लक्ष्मीबाई पार्क के सामने, झाँसी (उ.प्र.), 284001/मो.-09839161827
30. **पंडित राम सागर शास्त्री :** 'शास्त्री भवन', अमहिया, रीवा (म.प्र.), मो.-09424668262
31. **श्री ललित शर्मा :** जैकी स्टूडियो,13 मंगलपुरा, झालावाड (राज.), 326001/मो. -09829896368
32. **डॉ. वी.पी. मुहम्मद कुंज मेत्तर :** प्रोफेसर एवं संकायाध्यक्ष (से.नि.), द्वारा परमबिल मेडिकोज, पोस्ट-मण्णणचेरी, अलपूझा, 688538 (केरल)/मो.-09447962666
33. **डॉ. शिववंश पाण्डेय :** 'लीलाधाम', 3/307 न्यू पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना- 800013 बिहार मो.-09430253666
34. **डॉ. श्याम बिहारी श्रीवास्तव :** अनन्य कॉलोनी, सेंवढ़ा-475682, जिला-दतिया (म.प्र.) मो. - 09827815769
35. **श्री सुख वीर सिंह तेवतिया :** बी-22 विजयनगर, बवाना, दिल्ली - 110039/मो. -09990980757
36. **डॉ. सुषमा शर्मा :** 'प्रेम मंजरी', डी-20, चोमू हाउस, जनपथ, सी-स्कीम, जयपुर (राज.) मो.-09799065542
37. **डॉ. सेवाराम त्रिपाठी :** पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष (हिं.वि.)-'रजनीगंधा', 06, शिल्पी उपवन, श्रीयुतनगर, अनंतपुर, रीवा (म.प्र.) - 486002 मो.-09425185272
38. **डॉ. हरिदास व्यास:** मकान नं.2, गली सं.2, ग्राम-चौपासनी, जोधपुर-342014 मो.-07014165275
39. **डॉ. हरिविष्णु अवस्थी :** अवस्थी चौराहा, टीकमगढ़ (म.प्र.) - 472001/मो.-09407873003

परतंत्र भारत में हिंदी - सेवी
देशी रियासतें
(सन् 1359 - 1948)
1. मजीठा
2. कपूरथला
3. नाभा
4. पटियाला
5. बीकानेर
6. जोधपुर
7. किशनगढ़
8. जयपुर
9. अलवर
10. भरतपुर
11. बूंदी
12. झालावाड़
13. उदयपुर
14. सीतामऊ
15. नरवरगढ़
16. सेवढ़ा
17. टीकमगढ़
18. ओरछा
19. नई गढ़ी
20. रीवा
21. विजयराघोगढ़
22. हाथरस
23. आगरा
24. ओयल
25. तेरवां
26. भिनगा
27. दरियाबाद
28. असोथर
29. कालाकांकर
30. बलरामपुर
31. अवध
32. अमेठी
33. मांडा
34. सिंगरामऊ
35. मझौली
36. देवगढ़
जम्बू-कशमीर
हिमाचल
पंजाब
उत्तराखंड
हरियाणा
दिल्ली
उत्तर प्रदेश
राजस्थान
नेपाल
सिक्किम
भूटान
अरुणाचल
असम
नागालैंड
मेघालय
मणिपुर
बनैली
सूर्यपुरा
डुमराव
बिहार
बांगला देश
त्रिपुरा
मिजोरम
भुज
गुजरात
राजकोट
मध्य प्रदेश
झारखंड
पं.बंगाल
छत्तीसगढ़
रायगढ़
संबलपुर
ओडिसा
खुर्दा
गंजाम
महाराष्ट्र
रायगढ़
सतारा
तेलंगाना
राजमहेन्द्री
कर्णाटक
आंध्र
तमिलनाडु
केरल
तंजाऊर
तिरुविताकुर
68°
72°
76°
80°
84°
88°
92°
96°
36°
32°
28°
24°
20°
16°
12°
8°

गागरोन

महाराजा प्रतापराव - संत पीपाजी
(सन् 1359-1420)

दिल्ली-आगरा

सम्राट अकबर
(सन् 1542-1605)

बीकानेर

महाराजा पृथ्वीराज
(सन् 1549-1600)

जोधपुर

महाराजा जसवंत सिंह
(सन् 1626-1678)

ओरछा

महाराजा छत्रसाल
(सन् 1649-1734)

सितारगढ़

शंभुराज भोंसले 'नृपशंभु'
(सन् 1657-1689)

असोधर

महाराजा भगवतंराय खीची
(सन् 1670-1735)

जोधपुर

महाराजा अजीत सिंह
(सन् 1678-1724)

बूंदी

महाराजा बुध सिंह
(सन् 1685)

बूंदी

महाराजा विष्णु सिंह
(मृत्यु सन् 1821)

किशनगढ़

महाराजा सावंत सिंह नागरीदास
(सन् 1699-1764)

भरतपुर

राजा बदन सिंह
(सन् 1723-1756)

भरतपुर

राजा बलदेव सिंह
(सन् 1823-1825)

भरतपुर

राजा बलवंत सिंह
(सन् 1826-1853)

जयपुर

महाराजा सवाई प्रताप सिंह
(सन् 1764-1803)

रीवा

महाराजा जय सिंह
(सन् 1765)

अलवर

राजा बख्तावर सिंह
(सन् 1776-1815)

जोधपुर

महाराजा मान सिंह
(सन् 1782-1844)

रीवा

महाराजा विश्वनाथ सिंह
(सन् 1789-1854)

उदयपुर

महाराजा जवान सिंह
(सन् 1828)

उदयपुर

महाराजा सज्जन सिंह
(सन् 1874)

सीतामऊ

महाराजा कु. रत्नसिंह 'नटनागर'
(सन् 1808-1863)

तिरुवितांकुर

महाराजा स्वातितिरुनाल
(सन् 1813-1846)

बलरामपुर

महाराजा दिग्विजय सिंह
(सन् 1819-1882)

महदौना अवध

महाराजा मानसिंह द्विजदेव
(सन् 1820-1870)

रीवा

महाराजा रघुराज सिंह
(सन् 1823)

पटियाला

राजा नरेन्द्र सिंह
(सन् 1845-1862)

पटियाला

महाराजा राजेन्द्र सिंह
(सन् 1872-1900)

कपूरथला

राजा फते सिंह अहलूवालिया
(सन् 1802-1837)

कपूरथला

राजा विक्रम सिंह
(सन् 1853)

मजीठा

सरदार लहनासिंह मजीठिया

विजयराघवगढ़

ठाकुर जगमोहन सिंह
(सन् 1857-1899)

बनैली

राजा कमलानंद सिंह
(सन् 1876-1910)

हाथरस

राजा महेन्द्र प्रताप
(सन् 1886-1979)

दरियाबाद

राय राजेश्वर बली
(सन् 1889-1944)

सूर्यपुरा

राधिकारमणप्रसाद सिंह
(सन् 1890-1971)

नईगढ़ी (रीवा)

ठाकुर गोपालशरण सिंह
(सन् 1891-1960)

बनैली

कुमार गंगानंद सिंह
(सन् 1898-1970)

ओरछा

महाराजा वीर सिंह जू देव
(सन् 1898-1956)

अमेठी

राजकुमार रणवीर सिंह
(सन् 1899-1921)

झालावाड़

महाराजा राजेन्द्र सिंह
(सन् 1900-1943)

अमेठी

राजर्षि रणंजय सिंह
(सन् 1901-1988)

रायगढ़

राजा चक्रधर सिंह
(सन् 1905-1947)

भरतपुर

रा.रा. यदुराज सिंह
(सन् 1912-1970)

सीतामऊ

महा डॉ. रघुवीर सिंह
(सन् 1908)

माण्डा

राजा विश्वनाथ प्रतापसिंह
(सन् 1931-2008)

डॉ. किरन पाल सिंह

जन्म : 7 जुलाई, 1940, ग्राम- भटौना, जिला- बुलंदशहर (उ.प्र.)।

शिक्षा : एम.ए. (हिंदी), डी. फिल.(डॉक्टर ऑफ फ़िलासफी); डी.एम.एल.टी. (मेडिकल)।

कार्यक्षेत्र : 40 वर्षों तक पराचिकित्सा क्षेत्र में सेवा । सन् 1999 में ऑयल एण्ड नैचुरल गैस कॉरपोरेशन लि. चिकित्सालय, देहरादून से सेवा-निवृत्त। विभाग में अपने तकनीकी कार्यों के साथ ही राजभाषा-राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार-व्यवहार पर विशेष बल। पेट्रोलियम तकनीकी शब्दावली-निर्माण में योगदान।

प्रकाशित कृतियाँ

स्व-लिखित :
1. संक्षिप्त चिकत्सा निर्देशिका - 1986
2. गरिमामयी राजभाषा हिन्दी - 2004
3. हिंदी के दिवंगत अल्पायु रचनाकार - 2016

संकलित :
1. हिंदी महिमा सागर - 2014

संपादित (ग्रंथ) :
1. 'गोमती से गंगोत्री' श्री नित्यानन्द स्वामी अभिनन्दन ग्रंथ, प्रथम मुख्यमंत्री - उत्तराखंड - 2003
2. राजभाषा हिंदी : चिंतन और चेतना - 2007
3. 'संस्तवन एक आलोक पुरुष' का : पूर्व प्रधानमंत्री - चौधरी चरण सिंह स्मृति-ग्रंथ - 2010

संपादित(पत्रिकाएं):
1. 'देवांशी' प्रथम उत्तरांचल गाँव का मेला - 2000
2. 'उत्तरपथ' उत्तरांचल राज्य खेल - 2001

आलेख : विविध विषयों पर लगभग डेढ़ दर्जन से अधिक आलेख राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं तथा पुस्तकों में प्रकाशित।

सम्मेलनों-संगोष्ठियों में सहभागिता एवं पत्र-प्रस्तुति :
1. भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली द्वारा मॉरीशस में आयोजित 'आठवाँ अंतरराष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन' - 1996

2. भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र, मुंबई में 'नाभिकीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी अध्ययन तथा अनुसंधान' विषय पर आयोजित अखिल भारतीय संगोष्ठी - 1986
3. भारतीय सुदूर संवेदन संस्थान, देहरादून द्वारा आयोजित तकनीकी हिंदी संगोष्ठी - 1998
4. ओ.एन.जी.सी. लिमिटेड, देहरादून में आयोजित अंतरराष्ट्रीय हिंदी संगोष्ठी - 1999
5. भारतीय राजभाषा विकास संस्थान, देहरादून द्वारा देश के हिंदी और हिंदीतर भाषी विभिन्न नगरों में आयोजित अखिल भारतीय राजभाषा संगोष्ठियां (1998 से 2016 तक लगातार)

पुरस्कार : तीन आलेखों पर नगद पुरस्कार प्राप्त

सम्मान :
1. 'राजभाषा गौरव' - 2001, 2003, 2011, 2013 व 2015 - भारतीय राजभाषा विकास संस्थान, देहरादून।
2. 'कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर सारस्वत समान' - 2012- भारतीय वाङ्मय पीठ, कोलकाता (प.बगाल)।
3. 'साहित्य शिरोमणि सम्मान उपाधि' - 2014 - भारतीय वाङ्मय पीठ, कोलकाता (प.बंगाल)।
4. 'भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र स्मृति हिन्दी साहित्य सेवी सम्मान' - 2016 - अंतर्राष्ट्रीय साहित्य समिति, मुरादाबाद (उ.प्र.)।
5. 'हिन्दी भाषा भूषण सम्मान' - 2016 (मानद उपाधि) - साहित्य-मण्डल, श्रीनाथद्वारा (राजस्थान)।
6. 'हिन्दी भषा भूषण सम्मान' - 2017 - (मानद उपाधि) श्री गोविन्द हिन्दी सेवा समिति (रजि.), मुरादाबाद (उ.प्र.)।

विदेश-भ्रमण : नेपाल तथा मॉरीशस।

संप्रति : भारतीय राजभाषा विकास संस्थान, देहरादून के कार्यक्रम निदेशक के रूप में राजभाषा हिंदी के उन्नयन एवं प्रचार-प्रसार में संलग्न।

प्रकाशनाधीन ग्रंथः भारतीय नरेशों की हिंदी-सेवा

लेखनाधीन ग्रंथ : हिंदी की अभिवृद्धि में दिवंगत राजनेताओं का अवदान
अल्पज्ञात - अल्पख्यात - अल्पायु रचनाकार

संपर्क-सूत्र : 'पारिजात', 196 दक्षिण वनस्थली, मंदिर मार्ग, बल्लूपुर, देहरादून(उत्तराखंड) - 248001
दूरभाष : 0135-2751553 / मोबाईल : 09456157016

निःशुल्क वितरण के लिए

भारतीय नरेशों की हिंदी-सेवा

संविधान में संघ की राजभाषा के रूप में मान्यता प्राप्त हिंदी भाषा के विकास तथा प्रचार-प्रसार के अभियान के अंतर्गत भारतीय राजभाषा विकास संस्थान की विभिन्न गतिविधियों में से एक है राजभाषा हिंदी से संबंधित विषयों के साथ-साथ विविध विषयों पर हिंदी भाषा में रचित, संकलित एवं संपादित कृतियों का प्रकाशन और प्रसार। संस्थान के प्रकाशनों में राजभाषा हिंदी की गरिमा और महिमा, भाषा-चिंतन तथा हिंदी भाषा और संस्कृति जैसे भाषा-विशिष्ट विषयों के साथ-साथ काव्य और कथा जैसी विधाओं के माध्यम से रचित साहित्यिक विषयों को भी समाहित किया गया है। जनसामान्य के दैनिक जीवन से जुड़े पर्यावरण और विज्ञान से संबंधित विषयों पर भी पुस्तकों के प्रकाशन के द्वारा जहां इन विषयों के माध्यम से हिंदी भाषा को समाज के सभी वर्गों के बीच लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया गया है वहीं हिंदी भाषा के पक्षधर रहे किसान-नेता तथा अपनी रचनाओं के माध्यम से हिंदी भाषा और साहित्य-जगत को आलोकित करने वाले दिवंगत अल्पायु रचनाकारों से जन-जन को परिचित कराने एवं उन्हें प्रेरित करने के उद्देश्य से ऐसी विभूतियों के सम्मानार्थ उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर पुस्तकें प्रकाशित करने से भी यह संस्थान पीछे नहीं रहा है। प्रकाशन हेतु निरंतर नये विषयों की चिंतन-यात्रा का नया पड़ाव है '*भारतीय नरेशों की हिंदी-सेवा*'। राजकाज के असंख्य दायित्वों का निर्वहन करते हुए अपनी लेखनी के माध्यम से हिंदी भाषा का सम्मान और इसकी सेवा करने वाले राजाओं-महाराजाओं के व्यक्तित्व और कृतित्व पर आधारित यह पुस्तक पाठकों के मन में हिंदी के लिए थोड़ा भी आदर और सेवा की भावना उत्पन्न कर सकी तो सुधीजनों का सहयोग और संस्थान का प्रयास सार्थक हो जाएगा।

भारतीय राजभाषा विकास संस्थान
देहरादून

ISBN : 978-93-83651-04-7